आप्तपरीक्षाप्रवचन प्रथम द्वितीय भाग

[प्रथम भाग]

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थबोधदीधितिमालिने ।
नमः श्रीजिनचन्द्राय मोहध्वांतप्रभेदिने ॥ १ ॥

तत्त्वार्थसूत्रकारके मंगलाचरणमें वन्दनीय आप्तकी परीक्षामें प्रकृत ग्रन्थका निर्माण—जान लिया है समस्त तत्त्वार्थको जिसने ऐसा ज्ञानसूर्यस्वरूप और मोहरूप अंधकारको नष्ट करनेवाले जिन चन्द्रस्वरूप प्रभुको मेरा नमस्कार हो। यह आप्तपरीक्षा ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्रकी रचनामें जो मङ्गलाचरण आया है उस मङ्गलाचरणमें हितोपदेश वीतराग सर्वज्ञदेवको नमस्कार किया है। जो मङ्गलाचरण इस प्रकार है:—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥

इसका अर्थ है कि मोक्षमार्गके नेताको, कर्मरूपी पहाड़के भेदनेवालेको और समस्त तत्त्वोंके जाननहारको उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए नमस्कार हो। इस मङ्गलाचरणके स्पष्टीकरणके लिए यह आप्तपरीक्षा ग्रन्थ बना है। इस मङ्गलाचरणको सुनकर एक यह जिज्ञासा हो सकती थी कि मोक्षमार्गका नेता यह वीतराग सर्वज्ञ ही कैसे हो सका? अन्य कोई आप्त क्यों नहीं माना गया? तब आप्तकी परीक्षा करना आवश्यक हो गया। आप्तकी परीक्षा होनी है आप्तके कहे हुए वचनोंकी मीमांसा करनेमें जिन गुरुवोंने जो-जो वाणी कही है उसपर पूर्वापर विचार करनेसे यदि वह युक्ति और शास्त्रके अविरुद्ध बनता है तो उसे आप्त कहा जा सकता है। जिसके वचनोंसे युक्तिसे भी विरोध आये और स्वयं पूर्वापर विरोधी वचन कहदे तो उसे आप्त न कह सकेंगे। बस इस कुञ्जीके आधारपर आप्तकी परीक्षा की जायगी। उस आप्तपरीक्षा ग्रन्थके प्रारम्भमें श्री विद्यानन्द स्वामीने यह मङ्गलाचरण किया है कि जिसने समस्त तत्त्वार्थको जान लिया है ऐसा ज्ञानसूर्य और जिसने मोह-अंधकारको दूर कर दिया है ऐसे जिनचन्द्र सर्वज्ञदेवको नमस्कार हो।

शास्त्रके आदिमें मङ्गलाचरण किये जानेके कारणकी जिज्ञासा—

अब इस मङ्गलाचरणके बाद ग्रन्थके वक्तव्य विषयकी प्रारम्भिक मीमांसा पर उतरिये। सर्वप्रथम जिज्ञासा यह है कि जो सूत्रकारने मङ्गलाचरण किया है वह परमेष्ठी प्रभुका स्तोत्र शास्त्रके आदिमें क्यों किया गया ? आप्तका परीक्षण करनेसे पहिले इसपर विचार किया जारहा है कि शास्त्रकार आचार्यने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीका स्तोत्र किस कारणसे किया है ? वैसे तो जो वीतराग आचार्य ग्रन्थ-रचना करते हैं—सभी मनसे, वचनसे, कायसे किसी भी प्रकार परमेष्ठीका स्तवन कर लेते हैं। स्वय ही मङ्गलाचरणपर आप्तकी परीक्षा करनेके लिए बनाय जा रहे इस ग्रन्थमें परमेष्ठीका स्तवन किया गया है। इस ग्रन्थमें मङ्गलाचरणमें कहा है कि प्रभु सूर्यकी तरह हैं और चन्द्रकी तरह हैं। जैसे सूर्यके उदयमें समस्त पदार्थोंका भली प्रकार प्रकाश हो जाता है इसी प्रकार सर्वज्ञदेवके ज्ञानमें त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ प्रतिभासित हो गए हैं, ज्ञानमें द्रव्य गुण, पर्याय सभी प्रकट ज्ञात हुए हैं। तो नाना पदार्थोंका प्रतिभास हुआ है उसके लिए यहाँ सूर्यकी उपमा दी गई है। जैसे सूर्य अपनी हजारों किरणों द्वारा पदार्थको प्रकाशित कर देता है इसी प्रकार यह केवलज्ञानरूपी सूर्य अपनी अनन्त किरणों द्वारा समस्त तत्त्वार्थोंका प्रतिभास कर लेता है। ये वीतराग सर्वज्ञदेव चन्द्रकी तरह बताये गए हैं। जैसे पूर्णचन्द्रका उदय अधकारको भेद देता है, पूर्ण चन्द्रकी किरणें जहाँ छिटक रही हैं वहाँ अधकार तो नहीं रहता। इसी प्रकार जहाँ भगवानके वीतरागता और स्वच्छता प्रकट हुई है वहाँ मोहरूप अन्धकार न रह सकेगा। चन्द्रकी उपमा देनेका एक कारण यह भी है कि जैसे चन्द्रमा अन्धकारका दूर करता है साथ ही दिनभरके ग्रीष्मके सतापको भी दूर कर देता है, इसी प्रकार जगतके जीवोको अनादि कालसे मोहका सताप लग रहा था, उस मोहसतापको भी समाप्त कर दिया है प्रभुने, इस कारण वे जिनेन्द्र चन्द्रकी तरह हैं। ऐसे अद्भुत सूर्य चन्द्र स्वरूप परमेष्ठीको नमस्कार किया गया है। शास्त्रकारने भी अपने मङ्गलाचरण द्वारा भगवत् परमेष्ठीका स्तवन किया है। तो उस हीकी मीमांसा चलेगी कि शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीका स्तोत्र किस कारणसे किया गया है ? इसके समाधानमें कहते हैं

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः ॥ २ ॥

भगवत्परमेष्ठीके गुणस्तोत्रमें श्रेयोमार्गकी सिद्धि होनेके कारण शास्त्रादिमें मुनिपुङ्गवो द्वारा प्रभुगुणस्तोत्रका विधान—परमेष्ठीके प्रतापसे मोक्षमार्गकी भली प्रकार सिद्धि होती है। इस कारणसे मुनिश्रेष्ठने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीके गुण स्तोत्रको किया है। परमेष्ठीका अर्थ है जो परमपदमें स्थित हो। परमपद है वह जहाँ पूर्णतया वीतरागता प्रकट हो गई हो और सर्वज्ञता भी प्रकट हो गयी हो। ऐसे पदको परमपद कहते हैं। इस परमपदमें स्थित जो परम आत्मा है

उनको भगवत् परमेष्ठी कहते हैं। उनका प्रसाद क्या है ? स्वच्छता। उनका प्रसाद उनको ही आत्मलाभ दे रहा है। पर जो पुरुष ऐसे परमेष्ठीके गुणोंका ध्यान करता है उसका भी मन प्रसन्न हो जाता है। प्रसन्न होनेका अर्थ है स्वच्छ हो जाना। तो भले मनसे उपासना किया गया भक्त प्रसन्न कहा जाता है। वस्तुतः यह प्रसन्नता भक्त की है जो कि भक्तने परमेष्ठीके गुणोका ध्यान करके अपने आत्मामे निर्मलता प्रकट की है। पर उसके आश्रयभूत होनेके कारण उपचारमे भगवान परमेष्ठीका प्रसाद कहा जाता है, और कृतज्ञ जन इस ही प्रकारसे निरखते हैं। तो भगवान परमेष्ठीके प्रसादमे मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है इस कारण मुनिश्रेष्ठने शास्त्रके आदिमे भगवत् परमेष्ठीके गुणोका स्तोत्र किया है। श्रेयोमार्गका अर्थ है श्रेयका कल्याणका मार्ग।

परनिःश्रेयस व अपरनिःश्रेयसके भेदसे श्रेयके दो प्रकार—श्रेय दो प्रकारके होते हैं (१) परश्रेय और (२) अपरश्रेय। श्रेय, निश्रेयस, मोक्ष, निर्वाण ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं। तो निःश्रेयस दो प्रकारका कहा गया है—परनिश्रेयस और अपरनिश्रेयस। परनिश्रेयसका अर्थ है उत्कृष्ट कल्याण, जिसके आगे और उत्कृष्टता न रहे अर्थात् पूर्ण उत्कृष्ट है। उस पराकाष्ठारूप कल्याणको परनिश्रेयस कहते हैं। परनिश्रेयस समस्त कर्मोका मोक्षस्वरूप है। सूत्रकारने भी स्वयं कहा है कि बंधके हेतुओंका अभाव होनेसे और कर्मकी निर्जरा होनेसे समस्त कर्मोंका सदाके लिए पूर्णतया छुटकारा हो जानेका नाम मोक्ष है। तो यह परमोक्ष सिद्ध भगवानके कहा गया है। और उस परमोक्षसे पहिले अपरमोक्ष होता है -वह है आर्हंत्यरूप। अरहत भगवान भी मुक्त कहे जाते हैं। वे अपरमुक्त कहलाते हैं। घातिया कर्मोंका क्षय होनेसे अनन्त चतुष्टय स्वरूपका जो लाभ होता है उसको अपर निश्रेयस कहते हैं। कर्म ८ प्रकारके होते है जिनमें ४ घातिया कर्म है और ४ अघातिया कर्म हैं। घातिया कर्म है—ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। जो कर्म ज्ञानको आवृत करे सो ज्ञानावरण है। ज्ञानावरणका क्षय हो जानेसे अरहत भगवानके अनन्तज्ञान प्रकट हुआ है। जो दर्शन गुणका घात करे वह दर्शनावरण है। इस कर्मके क्षय हो जानेसे अरहन्त देवके अनन्तदर्शन प्रकट हुआ है। जो सम्यक्त्व और चारित्रको वेसुध करदे, मोहित करदे इस आत्माको सम्यक्त्व और चारित्रमे पतित करदे शिथिल करदे उसे कहते हैं मोहनीय कर्म। मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे परम प्रसाद प्रकट हुआ है जिससे वहाँ अनन्त सुखकी व्यक्ति हुई है वीर्यान्तराय कर्म कहते है आत्म शक्तिमे विघ्न डालने वाले कर्मको। उसके क्षय होनेसे प्रभुके अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है। इस प्रकार अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त आनन्द और अनन्त शक्तिरूप परम आत्माके अपर निश्रेयस कहा जाता है। यद्यपि गुण विकासकी दृष्टिमे सिद्ध भगवन्तमे और अरहन्त भगवन्तमे कोई अन्तर नही है वह भी स्वच्छ सर्वज्ञ ज्ञानानन्दमय है और अरहन्त भगवान भी स्वच्छ सर्वज्ञ और आनन्दमय हैं। फिर भी अघातिया कर्मका सद्भाव

होनेसे शरीरमे रहना, मध्यलोकमे रहना आदिक बाह्य बातें पाई जा रही हैं और सिद्ध भगवन्तमे ये बाह्य सम्पर्क भी नही रहे, विशुद्ध केवल आत्मा ही आत्मा परिपूर्ण विकसित है, इस कारणसे सिद्ध भगवानके पदको परनिश्रेयस कहते हैं। और अरहन्त भगवानकी अवस्थाको अपरनिश्रेयस कहते हैं।

समस्त कर्म विप्रमुक्त आत्मविशेषकी सिद्धि—इस प्रसङ्गमे यह बात विचारणीय हो जाती है कि क्या किसी आत्म विशेषके समस्त कर्मोंका मोक्ष भी हो सकता है? परनिश्रेयसके लक्षणमे कहा गया है कि जहाँ समस्त कर्मोंका मोक्ष हो जाय उसे परनिश्रेयस कहते हैं। तो क्या कोई आत्मविशेष ऐसा भी अद्भुत प्रवल हो जाता है कि उसके समस्त कर्मोंका क्षय हो जाय? इस मीमांसाका विचार कर रहे हैं कि हाँ कोई आत्म विशेष ऐसा भी हो जाता है कि जिसके समस्त कर्मोंका विप्रमोक्ष होजाता है। इसका समर्थन करने वाले प्रमाण मौजूद हैं। देखिये! युक्तिबलसे अनुमान प्रयोगसे विचार कीजिए। कोई आत्मा विशेष समस्त कर्मोंसे पूर्णतया छुटकारा पा लेता है, क्योंकि समस्त बन्धहेतुत्व भाव अर्थात् सम्वर और निर्जरावान होनेसे। इस अनुमान प्रयोगमें प्रतिज्ञा तो यह की गई है कि कोई आत्मा विशेष समस्त कर्मोंसे छुटकारा पा लेता है, और इसको सिद्ध करनेके लिए साधन यह बताया गया है कि चूंकि वह आत्मा सम्वर और निर्जरावान हुआ है, सम्वर कहते हैं बन्धके कारणोंका अभाव होनेसे। तो सभी कर्मबन्धके कारण उसके दूर हो गए हैं और उसने कर्मनिर्जरा भी की है। तो जहाँ नवीन कर्मोंका आना रुक जाय और सत्तामे रहने वाले कर्मोंकी पूर्णतया निर्जरा हो जाय वहाँ ऐसा अवकाश होता ही है कि एक भी कण न रहे। तो समस्त कर्मोंका अभाव होनेका ही नाम परनिश्रेयस है। इस अनुमान प्रयोगके समर्थनमें व्यतिरेक व्याप्तिके अनुसार विचार कीजिए अनुमान प्रयोगमे यह बताया गया है कि कोई आत्मा विशेष समस्त कर्मोंसे छुटकारा पा लेता है क्योंकि समस्त बन्धहेतुत्व भाव और निर्जरा वाला होनेसे। तो व्यतिरेक व्याप्तिमे साध्यके अभावमे साधनका अभाव बताया जाता है और व्यतिरेक व्याप्ति अनुमान प्रयोगको सिद्ध करनेके लिए पूर्ण समर्थ हुआ करती है। जैसे कोई अनुमान प्रयोग करता है कि इस पर्वतमे अग्नि है धूम होनेसे। तो व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा यों बताया जाता है कि जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम नहीं होता और यह व्याप्ति अन्वय व्याप्तिसे भी प्रबल है। और, इस व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि यहाँ धूम है इस कारण अग्नि होनी ही चाहिए। इसी तरहकी व्यतिरेक व्याप्ति इस अनुमान प्रयोगमे बनाई जा रही है। जो पुरुष समस्त कर्मोंसे छूटा हुआ नहीं है वह समस्त सम्वर निर्जरावान नहीं है जैसे संसारके प्राणी, इनमे सारे कर्म मौजूद हैं। सम्वर निर्जरा भी नही हो रही है, परन्तु कोई आत्मविशेष यदि समस्त बन्धहेतु भाव और निर्जरा वाले हैं तो वे नियमसे समस्त कर्मोंसे छुटकारा पा लेते हैं।

जीवके बन्धकी सिद्धिमे आशङ्का व उसका समाधान—उक्त अनुमान प्रयोगको सुनकर कोई शङ्काकार यह कह रहा है कि पहिले तो आत्माके बन्धकी सिद्धि ही कर लीजिए। जब पहिले आत्मामे बन्धकी सिद्धि कर सकें तब आगे यह प्रयत्न कीजिए कि कोई आत्मा विशेष समस्त कर्मोसे छूटा हुआ भी हो जाता है। जब आत्माके बन्ध ही सिद्ध नही हैं और बन्धके हेतु ही सिद्ध नही हैं तब बन्ध हेतुके अभाव वाला है कोई आत्मा विशेष यह सिद्ध होगा ही कहांसे ? प्रतिषेध तो तब किया जाय जब कि कोई विधि होती हो। प्रतिषेध सभी विधिपूर्वक ही हुआ करते हैं, तो पहिले यह ही सिद्ध कर लीजिए कि आत्माके साथ बन्ध लगा हुआ है। बन्ध ही सिद्ध नही हो रहा है तो जब आत्माके साथ बन्ध ही असिद्ध है तो बन्धका अभाव होनेपर फिर निर्जरा किसकी बताओगे ? क्योकि निर्जराका स्वरूप कहा गया है—बन्धफलका अनुभव करना सो निर्जरा है। तो जहाँ बन्ध ही सिद्ध नही है तो उसका फल अनुभवमे आयगा ही कहाँसे ? तो बन्ध असिद्ध है, बन्धफलका अनुभवन असिद्ध है तो समस्त कर्मोकी निर्जरा वाला है कोई आत्मविशेष यह भी असिद्ध हो जाता है तो जब बताये गये अनुमान प्रयोगमे साधन ही असिद्ध हो रहा है, न तो बन्ध हेतुवोका अभाव सिद्ध है और न कर्मनिर्जरा सिद्ध है। तब फिर असिद्ध साधनसे साध्यकी सिद्धि कैसे की जा सकती है ? कोई भी साधन असिद्ध होता हुआ साध्यकी सिद्धि करनेमे समर्थ नही हो सकता है। इस प्रकार इस प्रसङ्गमे शङ्काकारका यह मन्तव्य है कि न बन्ध सिद्ध है न बन्ध हेतुवोका अभाव सिद्ध है, न कर्मनिर्जरा सिद्ध है। तब कोई आत्म विशेष समस्त कर्मोसे छुटकारा पा लेता है यह सिद्ध हो ही नहीं सकता है। शङ्काकारकी उक्त शङ्काका समाधान करनेके लिए आचार्य कहते हैं कि शङ्काकारने यहाँ अपनी आशङ्का विना विचारे ही की है। शङ्काकारका मतव्य है कि बन्धहेत्वभाव और कर्मनिर्जरा वाला होना असिद्ध है और इस असिद्धताका मूल कारण बताया है कि आत्मामे बन्ध ही सिद्ध नही है। सो यह शङ्का अविचारितरम्य ही है। सो अब यहाँ यही समझा जा रहा है कि बन्धकी सिद्धि प्रमाणसे प्रसिद्ध है। उसके विषयमे अनुमान प्रयोग है कि यह ससारी जीव बन्ध वाला है परतन्त्रता होनेसे। जैसे किसी बड़े दृढ साकलमे स्तम्भसे बधा हुआ हाथी परतन्त्र है इस कारण वह बन्धवाला है। बड़ा बलशाली हाथी जब किसी शृङ्खलासे किसी पेड़ या स्तम्भमे बांध दिया जाता है तो वह बन्ध वाला है यह कैसे समझा गया ? यो कि वह परतन्त्र हो गया। इसी प्रकार यह ससारी जीव जब परतन्त्र नजर आ रहा है तो उससे सिद्ध होता है कि यह ससारी जीव बन्धवान है। यह बात स्पष्ट समझमे आ ही रही है क्योकि इसके देह परिग्रह लग रहा है तो हीन साधनका परिग्रह लगा हुआ होनेसे यह ससारी जीव परतन्त्र है यह भली भाँति सिद्ध होता है। जैसे कि कोई काम वेदनाके वेगमे परतन्त्र होता हुआ वेश्याके घरका परिग्रह बना लेता है तो ऐसा वह श्रोत्रिय ब्राह्मण भी हो सो पर तन्त्र ही तो कहा जाता है। इसी प्रकार जब देह परिग्रह लगा है तो यह

संसारी जीव भी परतंत्र है।

संसारी जीवके पारतन्त्र्य व बन्धनकी सिद्धि—यहाँ मूल जिज्ञासा यह हुई थी कि शास्त्रकारोंने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीका स्तोत्र किस कारणसे किया है? उसके समाधानमें बताया गया था कि चूंकि परमेष्ठीके प्रसादसे मोक्ष मार्गकी सिद्धि होती है इस कारणसे मुनिश्रेष्ठने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन किया है। इसी सम्बन्धमें मोक्षके सम्बन्धमें विवरण किया गया था कि मोक्ष दो प्रकारका होता है। परमोक्ष और अपरमोक्ष। परमोक्ष नाम है समस्त कर्मोंसे छुटकारा हो जानेका। तो इस प्रसङ्गको सुनकर शङ्काकारने यह कहा कि समस्त कर्मोंसे किसीका छुटकारा हो जाता है यह बात सिद्ध तो कीजिए। तब इसकी सिद्धिमें अनुमान प्रयोग किया गया था कि कोई आत्मा विशेष सब कर्मोंसे मुक्त हो जाता है क्योंकि किसी आत्म विशेषमें समस्त कर्मोंके बन्ध हेतुओंका अभाव पाया जाता है और कर्मोंकी निर्जरा पाई जाती है। इस अनुमान प्रयोगपर शङ्काकारने यह आपत्ति दी थी कि पहिले यह तो सिद्ध कर लेवें कि जीवोंमें कर्मबन्ध होता है। बन्ध ही जब सिद्ध नहीं है तब बन्धके हेतुओंका अभाव और कर्मका क्षय व निर्जरा सिद्ध करना तो व्यर्थ प्रयत्न है। तब यहाँ बन्धकी सिद्धि की जा रही है कि जीव बन्धनवान है, क्योंकि वह परतन्त्र हो रहा है। जो जो परतंत्र नजर आये समझना चाहिए कि यह बन्धनवान है। जैसे बड़ी मजबूत श्रृंखलासे खम्भेके साथ हाथीको बाँध दिया जाय तो वह परतंत्र नजर आता है, उससे सिद्ध है कि यह बन्धनवान है तो इसी प्रकार संसारी जीव भी परतंत्र हैं, इस कारणसे वे बन्ध वाले प्रसिद्ध ही हो जाते हैं। अब यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि कैसे जानें हम कि ये संसारी जीव परतंत्र हैं? लोकमें अनेक मनचले पुरुष ऐसे दिख रहे हैं जो किसीके वश नहीं रहना चाहते या नहीं रहते। अपने दिल माफिक स्वतंत्रतासे जो मनमें आया सो ही करते हैं तो वे परतंत्र तो नहीं नजर आये फिर कैसे सिद्ध हुआ कि ये संसारी जीव पराधीन हैं? उसकी सिद्धि करनेके लिए यह अनुमान दिया गया कि ये संसारी जीव परतंत्र हैं। क्योंकि इनके साथ हीन साधनका परिग्रह जुड़ा हुआ है। जो पुरुष हीन साधनके परिग्रहमें लगाव रख रहे हैं समझना चाहिए कि वे परतंत्र हैं। जैसे बड़े उच्च घरानका भी कोई ब्राह्मण हो और उसे काम वेदनाके कारण वेश्यागृहका परिग्रह लग गया हो तो चूंकि वह हीन स्थान है, वेश्या घर जघन्य जगह है तो हीन स्थानमें रुचि कर लिया, हीन स्थानका परिग्रह लगा लिया तो उससे सिद्ध है कि यह ब्राह्मण अब पराधीन हो गया है। तो ऐसे ही इन संसारी जीवोंकी भी बात समझिये कि चूंकि इसने हीन स्थानका परिग्रह बनाया है इस कारण ये सभी संसारी जीव परतंत्र हैं।

शरीरकी हीनस्थानरूपता—हीनस्थान क्या चीज है? शरीर। अहो, इस जीवके लिए शरीरका सम्बन्ध होना कलंक है, हीन साधन है। जैसे शरीरके सम्बन्धके

कारण ही जीवकी बरबादी हो रही है, यह मोही जीव इस शरीरको पाकर अहंकार ममकार करता है। इस शरीरको निरखकर ऐसा अनुभव करता है कि यह मैं हूं और संसारमें बड़ा श्रेष्ठ हूं, अपनेको बड़ा चतुर मानता है और शरीरके साथ बंधा है, फंसा है, यह कितनी परतंत्रता है और यह कितनी बरबादी है इसका भी कुछ ख्याल नहीं रख रहा है। तो हीन स्थान है शरीर, और शरीरका परिग्रह रखने वाले ये संसारी जीव हैं। यह बात प्रसिद्ध ही है। अब इसीका सम्बन्ध रखने वाली एक जिज्ञासा होती है कि यह शरीर हीन स्थान कैसे कहा जा रहा है ? जिसे हीन स्थान या परिग्रह बताकर जीवको परतंत्र कहा जा रहा वह शरीर हीन स्थान किस तरह है ? उसकी सिद्धि करनेके लिए एक अनुमान प्रयोग सुनो ! शरीर हीन स्थान है, क्योंकि यह आत्माके दुःखका कारणभूत है। जो जो बात आत्माके दुःखका कारणभूत हो वह इसके लिए हीन स्थान है। जैसे कारागृह। कोई पुरुष कैदमें रहे तो वह कैद चूंकि उसके लिए दुःखका कारण है इस कारण वह हीन स्थान है। शरीर दुःखका कारण है यह बात अप्रसिद्ध नहीं है। जगतमें सब जीवोंपर दृष्टि डालकर परख लीजिए कि सभी जीव इस शरीरके कारण ही दुःखी हो रहे हैं। इन्हीं मनुष्योंको देखिये ! शरीर लगा है तब क्षुधा तृषा रोग आदिक अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ इस जीवपर आती हैं और उन आपत्तियोंमें इस जीवको क्लेश सहना पड़ता है। मानो किसीके पुण्योदय है, भूख प्यास आदिककी वेदनायें शान्त करनेकी बड़ी अच्छी सुविधायें हैं। अनेको बार खाना पीना मनमाने ढङ्गमें रहना आदिकी सुविधायें हैं उसको भी जब किसी प्रकारका रोग हो जाता है तो वह उस रोगसे परेशान रहा करता है। कैसा ही कोई पुण्यवान पुरुष हो उसको भी ये रोग आदिककी अनेक व्याधियां हैरान कर डालती हैं। बड़े बड़े पुण्यवन्त पुरुष भी इन रोगोंके शिकार होते पाये गए हैं। तो यह शरीर दुःखका ही कारण रहा। और, मानो कोई समय ऐसा व्यतीत हो कि कोई रोग ही न हो तो भी शरीरको निरखकर जो माने कि यह मैं हूं उसके कारण माने कि यह मेरी माता है, पिता है पुत्र है, शत्रु है, मित्र है, आदिक, ऐसा अन्य लोगोंमें ममकार करने लगा। अब जहाँ इसको ममता उत्पन्न हुई वह उसके आधीन हो गया। उसकी सेवा खुशामदके लिए अपनी सारी जिन्दगी लगाने लगा। तो दुःखका कारण यह शरीर बना ना। न होता शरीर तो क्यों ऐसा अहंकार ममकार करता यह? और फिर दुःखका हेतुभूत है यह शरीर। इसको अधिक क्या बताया जाय ? कहाँ तो यह आनन्द धाम ज्ञानमात्र यह परम पवित्र आत्म द्रव्य जो किसी शरीरके बन्धनमें यह जन्मे मरे, फिर जन्में मरे, उन सब भवोंमें इस शरीरके साथ रहा करता है। यह शरीर दुःखका कारणभूत है, इस कारणसे यह हीनस्थान है। ऐसा हीनस्थान शरीर जिसका परिग्रह लग गया वह पुरुष परतन्त्र है।

देवोंके शरीरकी भी हीनास्थानरूपता—अब यहाँ कोई शङ्काकार कहता

है कि यहाँ यह बताया जा रहा है कि शरीर हीनस्थान है दुःखका कारणभूत होनेसे। लेकिन यह बात सब जगह ठीक नही बैठती। देखो! देवोंका शरीर जो वैक्रियक शरीर है, जिनको हजारो वर्षोंमे भूख-प्यास लगती है, सो उनके कण्ठसे अमृत झर जाता है और वे तृप्त हो जाते हैं, उनके शरीरमे हाड, खून आदिक नही हैं, उनको शारीरिक रोग नही हुआ करता है। तो ऐसा बढ़िया शरीर देवोंको मिला हुआ है वह तो दुःखका कारण नहीं बन रहा। तब उक्त अनुमान प्रयोगमे जो हेतु दिया है वह पक्षमे अव्यापक है अर्थात् शरीर हीनस्थान है दुःखका कारण होनेसे। तो सारे शरीर दुःखके कारण हैं नहीं, सब शरीरोंमे दुःख हेतुपना व्याप्त नहीं रहा है। तब यह अनुमान असिद्ध हो गया? इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि भली भाँति विचार करके निर्णय करेंगे तो यह प्रमाणसिद्ध पायेंगे कि देवोंका शरीर भी दुःखका कारणभूत है, क्योंकि भले ही वे देव वैक्रियक शरीर वाले होनेसे उनके क्षुधा, तृषा आदिक का दुःख नहीं रहता अथवा खाँसी, ज्वर आदिक रोग वहा नहीं रहते, लेकिन जिस समय उन देवोका मरण होता है, आयुका क्षय तो उनके भी हुआ करता है, चाहे कितने ही सागरकी आयु हो, लेकिन जब आयुका अन्त होता है तो मरण होता है। तो मरणकालमे उनको कितना दुःख हुआ करता है। वह दुःख यहाँके मनुष्योके मरण समयके दुःखसे भी कई गुना दुःख है। वे समझ रहे हैं कि मेरा सुन्दर शरीर, वैक्रियक शरीर, रोगरहित शरीर, जहाँ कभी बुढापा नही आया करता, ऐसे भले शरीरसे छुटकर अब मुझे गन्दे शरीरमें जन्म लेना होगा। यह नियम है कि देव मर कर मनुष्य या तिर्यञ्च होते हैं, उनकी कोई अन्य गति नहीं होती। देव मरकर पुन. देव नही होते, तथा देव मरकर नारकी भी नही होते। वहाँ भी वैक्रियक शरीर है लेकिन वह अशुभ वैक्रियक है। तो देव मरकर देव नहीं होते, मनुष्य होते हैं। सो देखिये! मनुष्यका और तिर्यञ्चोका शरीर वही गदा शरीर है, देव मरकर तिर्यञ्च होगा तो या तो पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च होगा या एकेन्द्रिय। देव मरकर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीव नही होते। एकेन्द्रिय जीव हुए तो जडकी तरह जिन्दगी उनकी गुजरेगी। वृक्ष हुए, खडे हैं, हिल डुल नही सकते, कोई व्यवहार नहीं हो सकता पृथ्वी, जल, आदिक कुछ भी हो गए तो वहाँ भी उनको दुःखी ही रहना पड रहा है। और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च हुए तो हाड मास, खून आदिकके पिण्ड ही तो पायेंगे। मनुष्य हुए तो यहाँ भी हाड मास आदिक अपवित्र शरीर पायेंगे। तो उन देवोको मरते समय बहुत कठिन दुःख होता है। तब शरीर दुःखका कारणभूत है, यह बात जो कही गई है वह सङ्गत है, पक्षमे अव्यापक हेतु नही है। इसके अतिरिक्त अन्य भी बात समझिये कि उन देवोंके भी जब शरीर लगा हुआ है तो शरीरमे आत्मा बुद्धि करनेमे और वहाँ की देवाङ्गनाओंको ये मेरी देवाङ्गनायें हैं इस तरहकी बुद्धि रखनेसे उनको प्रसन्न करनेमे कितना आकुल व्याकुल होना पडता है। एक शरीरका ही रोग तो नही है, पर मानसिक दुःख तो उनको बहुत अधिक है। एक दूसरेकी सम्पत्तिको

देखकर देव वहां झूरता रहता है। क्यों यह झूरना बना हुआ है? यों कि शरीरको मानते कि यह मैं हू और उसके सम्बन्धमें यह चिन्तन होता कि मेरेको ऋद्धि कम है, इसके कितनी अधिक है तो ये सारे मानसिक क्लेश भी तो इस शरीरके सम्बन्धसे हुए। तो यह शरीर दु:खका कारणभूत है, यह बात भली प्रकार सिद्ध है।

बन्धकी सहेतुकताकी सिद्धि—अब यहाँ निर्णय रखिये कि शरीर दु:खका कारणभूत है इस कारण वह हीन स्थान है, और हीन स्थानभूत शरीरका इस आत्माको परिग्रह लगा हुआ है। इस कारणसे यह आत्मा परतन्त्र है और परतन्त्र होनेसे यह बन्धवान है यह सिद्ध हो जाता है। इस तरह यह प्रसिद्ध हुआ कि ससारी आत्मा बन्धवान है। जब जीवोंकी बन्धवत्ता सिद्ध हो गयी तब आगे यह बात भी सिद्ध हो जायगी कि कोई आत्मा विशेष ऐसा है कि जिसके बन्धके हेतुवोंका अभाव है और बन्धकी निर्जरा अथवा कर्मकी निर्जरा हो रही है, इस प्रकार जब सम्वर और निर्जरावान कोई जीव होता है, यह सिद्ध होता है तो यह सिद्ध होना स्वाभाविक ही है कि फिर कोई आत्मा समस्त कर्मोंसे छूटा हुआ हो जाता है। बस जो सब कर्मोंसे विप्रमुक्त है उसीको कहते हैं परमुक्त। उसका होगया पर विश्लेषस, इस तरह सक्षेपसे बन्धकी सिद्धि की गई जहाँ बन्ध सिद्ध हो गया वहाँ यह भी सिद्ध हो जायगा कि बन्धके हेतु भी कोई हुआ करते है, क्योंकि यदि बन्धको अहेतुक मान लिया जायगा तब बन्ध नित्य हो बैठेगा। जो-जो पदार्थ अहेतुक होते हैं वे पदार्थ नित्य हो जाया करते है। जीवकी सत्ता अहेतुक है, जीवकी सत्ताको किसीने बनाया नही है। तो सिद्ध है कि यह जीव नित्य है। जो कार्य अहेतुक होता है वह नित्य हुआ करता है। ऐसा अन्य दार्शनिकोंने भी कहा है कि जो सत् है किन्तु कारण रहित है वह नित्य होता है। सत् है तो उसकी सत्ता सिद्ध होगयी। अब कारण उसका कुछ है नहीं। तो जिसका कारण कुछ नहीं है उसका विनाश फिर कैसे होगा? विनाश हुआ करता है कारण वाले कार्यका। कारण खतम हो गया या विपरीत कारणका योग हो गया तो उसका विनाश हो जाता है। तो जो सत् है और कारण रहित है वह नित्य हुआ करता है ऐसा नाना दार्शनिकोंने भी कहा है। सो यदि वह बन्ध अहेतुक मान लिया जायगा तो यह नित्य बन बैठेगा। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि ससारी जीवमें बन्ध लगा हुआ है, और जब बध होता है तो उसका कोई कारण भी हुआ करता है।

बन्धके हेतुओंका निर्देश—अब जरा कारणपर विचार करियेगा कि बन्धके कारण क्या हुआ करते हैं? बन्धके कारण ५ प्रकारके होते हैं। (१) मिथ्यादर्शन, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। ये ५ बंधके कारण हैं और किस तरह कारण बनते हैं इसको स्पष्ट समझनेके लिए जरा बन्धके बारेमें कुछ विशेष जानकारी कीजिए। बन्ध संक्षेपसे दो प्रकारका कहा गया है (१) भाव

बन्ध और (२) द्रव्यबन्ध। आत्माके साथ किन्हीं विषय विपरीत भावका बन्धन लग जाय यह तो कहलाता है भावबन्ध और आत्मद्रव्यके साथ कुछ अन्य कार्माण द्रव्योंका सम्बन्ध लग जाय उसको कहते हैं द्रव्यबन्ध। यह आत्मा अनादि, अनन्त, अहेतुक ज्ञायकस्वरूपमय है, याने आत्माके सत्त्वके ही कारण आत्मामें क्या स्वरूप बसा हुआ है, यह कोई यदि परखेगा तो उसको यह परिचय मिलेगा कि यह आत्मा एक ज्ञान-प्रकाश स्वरूप है और यह ज्ञानज्योति सहज है, आत्माके सत्त्वका प्राणभूत है, यही तो इस आत्माका सर्वस्व है। अब ऐसे पवित्र ज्ञान भावके साथ जो रागद्वेष तथा क्रोधादिक कषाय अज्ञानभावोंका बन्धन है जुट गया है यह कहलाता भावबन्ध। तो यह भावबन्ध क्रोध, मान, माया, लोभ रागद्वेष, अज्ञानरूप है तो ऐसा क्रोधाद्यात्मक भावबन्ध भली भाँति परिचयमें आ जायगा, क्योंकि इस बन्धनमें तो पड़े हुए हैं। यदि कोई आत्मा अपने उस भावबन्धको निरखेगा तो समझ जायगा कि हाँ मेरे साथ भावका विकट बन्धन जुड़ा हुआ है। कहाँ तो मैं ज्ञान भावस्वरूप और कहाँ मेरे साथ ये क्रोधादिक कषायें, विषयभाव घुल मिल करके जुट गए। कितना विकट भावबन्धन है, ऐसा क्रोधाद्यात्मक भावबन्धका कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, और कषाय है। तथा अज्ञानरूप भावका बन्धन भी जीवके साथ है। जहाँ क्रोधाद्यात्मक भावबन्ध तो रहा नहीं, किन्तु केवल ज्ञान प्रकट नहीं हुआ है उसके पहिले तो वह अज्ञान कहलाता है औदयिक अज्ञान, ज्ञानकी कमी। अल्पज्ञता, तो अल्पज्ञताकी स्थिति भी एक बन्धन है। तो ऐसा अज्ञानरूप बन्ध होता है योगके कारण। इस तरह भावबन्ध मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके कारण हुआ करता है।

मिथ्यादर्शन हेतुक भावबन्ध—अब यह समझियेगा कि क्रोधाद्यात्मक भावबन्धका हेतु मिथ्या दर्शन किस प्रकार है? वह यों है कि मिथ्यादर्शनका सद्भाव होनेपर क्रोधाद्यात्मक भावबन्ध होता है और मिथ्यादर्शनका अभाव होनेपर क्रोधाद्यात्मक भावबन्ध नहीं होता है। यहाँ मिथ्यादृष्टि जीवोंके क्रोधाद्यात्मक भावबन्धकी चर्चा समझियेगा। अज्ञानी जीवोंका विपरीत धारणा वाला जो क्रोधाद्यात्मक भावबन्ध हुआ है वह मिथ्या दर्शनके कारणसे हुआ है। मिथ्यादर्शनमें इस जीवने यह श्रद्धान किया कि यह विषय क्रोधादिक करनेका है। जो पदार्थ क्रोधादिक किए जाने योग्य नहीं हैं उनमें यह श्रद्धा बनी है इन मिथ्यादृष्टि जीवोंको यह मामला तो क्रोध करनेके योग्य ही है और इस सम्बन्धमें जो मैं क्रोध कर रहा हूँ सो मैं बड़ी चतुराईका काम कर रहा हूँ। यहाँ तो क्रोध किया ही जाना चाहिये था। इस तरह पर परिणतियोंको निरखकर उनमें क्रोध किया ही जाना चाहिए, इस तरहकी श्रद्धा मिथ्यादर्शन है और इस मिथ्यादर्शनके कारण ये मिथ्यादृष्टि जीव क्रोधाद्यात्मक भावोंमें बन्ध रहे हैं। इस तरह क्रोधाद्यात्मक भावबन्धका कारण मिथ्या दर्शन सिद्ध हो जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक किये जानेका जो साधन नहीं है उस साधनमें क्रोधा-

ठिक किए जाने ही चाहियें ये क्रोधादिकके विषय ही हैं, इस रूपसे जो श्रद्धान होता है वह विपरीत अभिप्राय है। इस विपरीत अभिप्रायरूप मिथ्यादर्शनको सभी लोग भावबन्धका हेतु मान जायेंगे। तो ऐसे मिथ्यादर्शनके सद्भाव होनेपर द्रव्य-क्रोधादिक बन्ध हुआ करते हैं और ऐसे द्रव्य क्रोधादिक बन्धरूप अन्तरङ्ग कारणके होनेपर, भाव-बन्धका सद्भाव सिद्ध ही है अर्थात् मिथ्यादर्शनके होनेपर द्रव्य क्रोधादिकका भी बंध है और भाव क्रोधादिकका भी बन्ध है। और जब मिथ्यादर्शनका अभाव हो जाता है तो तदनुकूल भाव क्रोधादिकका बन्ध नही होता। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि भाव-बन्ध मिथ्यादर्शन हेतुक है।

अविरति, प्रमाद, कषाय व योग हेतुओसे होने वाले भावबन्ध— अब मिथ्यादर्शन हेतुक बन्धमे जो और हीन बन्ध हैं वे बन्ध अविरति हेतुक बताये गए हैं। मिथ्यादर्शनके होते सते जिस प्रकारका भावबन्ध होता है उस भावबन्धकी कथा नहीं कह रहे किन्तु मिथ्यादर्शनका अभाव होनेपर और अविरति भावका सद्भाव होनेपर जिस प्रकारका भावबध हो सकता है ऐसे मिथ्यादर्शन हेतुक भावबन्धमे हीन बध वाला भावबन्ध अविरत हेतुक हुआ करता है। जिस जीवको सम्यग्दर्शन हो गया ऐसे ज्ञानी जीवके भी कोई अप्रकृष्ट भावबन्ध हुआ करता है। वह भावबन्ध अविरति भावके होनेपर जाना ही जा रहा है और उससे हलका भावबन्ध प्रमाद हेतुक हुआ करता है। जिस पुरुषके मिथ्यादर्शन नही रहा अविरतिभाव नहीं रहा, किन्तु विरत हो गया है ऐसे व्रती पुरुषके प्रमाद होनेपर भावबन्धकी उपलब्धि पाई जाती है। तो यह भावबध प्रमाद हेतुक कहलाया और इस भावबन्धसे भी अप्रकृष्ट भावबन्ध कषाय हेतुक होता है। जिस जीवके सम्यग्दर्शन हो गया और विरत भी हो गया प्रमादरहित भी हो गया। सप्तम गुण स्थान अथवा इससे और ऊपरके गुणस्थानोंमे है तो उसके मिथ्या-दर्शन अविरति और प्रमाद ये तीनों कारण नष्ट होनेपर भी कषायका सद्भाव तो पाया ही जा रहा है। उस कषायके सद्भावमें भावबन्ध होता है, उससे और हीन भाव बन्ध अज्ञानरूप कहा जाता है। अर्थात् जहाँ कषायें भी दूर हो गई क्षीणमोह हो गया, ऐसे १२ वें गुणस्थानमे भी चूंकि केवलज्ञान तो अभी हुआ नहीं तो केवलज्ञान न होने तक अज्ञानभाव कहा जाता है। अज्ञान भाव औदायिक अज्ञान भाव है। यहाँ मिथ्याज्ञानरूप अज्ञान भावकी बात नहीं कह रहे। तो ऐसे अज्ञानरूप भावबन्ध क्षीण-कषाय जीवके भी होता है। यह भावबन्ध योग हेतुक हो रहा है। इस तरह योगके सद्भावमे यह हीन भावबन्ध हो गया है। अब यहाँ विचारणीय बात एक यह है कि सयोग केवली भी क्षीणकषाय है अर्थात् कषाय उनके नहीं रहे तो मिथ्यादर्शन अवि-रति, प्रमाद, कषाय, इतने कारण न होकर योग कारण तो है ही। तो क्या वहाँ भी अज्ञानरूप भावबन्ध है? विचार करनेपर विदित होगा कि जहाँ केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है वहाँ अज्ञानरूप भावबन्ध नहीं कहा जा सकता। ये केवली भगवान तो जीवन-

मुक्त हैं। इनके अपरनिश्रेयस हो गया है, इनको तो मुक्त ही कहा जाना चाहिए। तो इस तरह क्रोधाद्यात्मक भावबन्ध ५ प्रकारके कारणोंसे होता है। यह बात भली भांति बता दी गई है।

बन्धहेतुओंकी हीनाधिकता व द्रव्यबन्धका परिचय—अब इतना कथन सुननेके पश्चात् यह न समझ बैठें कि इस तरह यह भावबन्ध एक-एक कारणसे ही होता है। इसके लिए यह जान लेना चाहिए कि जो मिथ्या दर्शन हेतुक भावबन्ध है वह सभी कारणों द्वारा हो रहा है। जो अविरतिहेतुक भावबन्ध है वह मिथ्यादर्शन हेतुक नहीं हो रहा किन्तु प्रमाद, कषाय और योगके कारणसे भी हो रहा है। इस तरह पूर्व पूर्व बन्धके होनेपर उत्तर उत्तरके बन्ध कारणका सद्भाव रहता ही है। जैसे कि जो कषाय हेतुक बन्ध है वह योग हेतुक तो है गा ही। तथा जो प्रमाद हेतुक बन्ध है वह योग और कषाय दोनों हेतुवोंके द्वारा भी होगा। जो अविरति हेतुक भाव बन्ध है वह योग कषाय और प्रमाद इन कारणोंके द्वारा भी होगा और मिथ्यादर्शन हेतुक भावबन्ध है, वह शेषके सभी हेतुओं द्वारा भावबन्ध होता है। इस तरह मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद कषाय और योग इन ५ प्रकारके प्रत्ययोंकी बन्ध हेतुता है ही, पर इसकी सामर्थ्यसे अज्ञान भी बन्धका कारण कहलाता है तो जो अज्ञान भावबंध का कारण बताया गया है वह अज्ञान केवल क्षीण कषाय होनेपर ही हो सो नहीं, किन्तु वह औदयिक अज्ञान मिथ्यादर्शनके होनेपर भी है और आगे केवलज्ञान होनेसे पहिले सर्वत्र है। इस तरहसे बन्धको ६ कारणों द्वारा भी कहा गया है। इस तरह बन्ध दो प्रकारके बताये गए हैं १ भावबन्ध और २ द्रव्यबन्ध। द्रव्यबन्ध कहलाता है कार्माण वर्गणाके परमाणुओंका आत्माके साथ बन्ध हो जाना। परमाणु परमाणुओं का परस्परमें बन्ध हो जाता है और वहाँ निमित्त होते हैं जीवके मिथ्यादर्शन आदिक भाव। तो भावबन्ध भी मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन कारणों द्वारा हुआ करता है इस विषयमें अनुमान प्रयोग भी किया जा सकता है कि द्रव्यबन्ध मिथ्यादर्शन आदिक कारणों द्वारा होता है क्योंकि बन्ध होनेसे। जैसे कि भावबन्ध मिथ्यादर्शन आदिक कारणोंसे होता है उसी प्रकार द्रव्यबन्ध भी मिथ्यादर्शन आदिक भावोंके होनेपर होता है। इस तरह द्रव्यबन्ध भी मिथ्यादर्शनादि हेतुक है यह सिद्ध हुआ। इस तरह बन्धकी संसारी जीवोंमें प्रसिद्धि हुई। और बन्धके कारण भी प्रसिद्ध हो गए।

सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय, व अयोग होनेपर मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाय योगहेतुक बन्धका अभाव--अब यह बतलाते हैं कि बन्धके कारणोंका कहीं अभाव भी हो जाता है। इस प्रसङ्गमें मूल चर्चा यह थी कि कोई आत्मा विशेष समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है क्योंकि कहीं बन्धके हेतुवोंका अभाव और कर्मोंकी निर्जरा पाई जाती है तो इस ही हेतुके सब अङ्गोंको सिद्ध करनेके लिए

मुक्त हैं। इनके अपरनिश्रेयस हो गया है, इनको तो मुक्त ही कहा जाना चाहिए। तो इस तरह क्रोधाद्यात्मक भावबन्ध ५ प्रकारके कारणोंसे होता है। यह बात भली भांति बता दी गई है।

बन्धहेतुओंकी हीनाधिकता व द्रव्यबन्धका परिचय—अब इतना कथन सुननेके पश्चात् यह न समझ बैठें कि इस तरह यह भावबन्ध एक-एक कारणसे ही होता है। इसके लिए यह जान लेना चाहिए कि जो मिथ्या दर्शन हेतुक भावबन्ध है वह सभी कारणों द्वारा हो रहा है। जो अविरतिहेतुक भावबन्ध है वह मिथ्यादर्शन हेतुक नहीं हो रहा किन्तु प्रमाद कषाय और योगके कारणसे भी हो रहा है। इस तरह पूर्व पूर्व बन्धके होनेपर उत्तर उत्तरके बन्ध कारणका सद्भाव रहता ही है। जैसे कि जो कषाय हेतुक बन्ध है वह योग हेतुक तो होगा ही। तथा जो प्रमाद हेतुक बन्ध है वह योग और कषाय दोनों हेतुवोंके द्वारा भी होगा। जो अविरति हेतुक भाव बन्ध है वह योग कषाय और प्रमाद इन कारणोंके द्वारा भी होगा और मिथ्यादर्शन हेतुक भावबन्ध है, वह शेषके सभी हेतुओं द्वारा भावबन्ध होता है। इस तरह मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद कषाय और योग इन ५ प्रकारके प्रत्ययोंकी बन्ध हेतुता है ही, पर इसकी सामर्थ्यसे अज्ञान भी बन्धका कारण कहलाता है तो जो अज्ञान भावबन्ध का कारण बताया गया है वह अज्ञान केवल क्षीण कषाय होनेपर ही हो सो नहीं, किन्तु वह औदयिक अज्ञान मिथ्यादर्शनके होनेपर भी है और आगे केवलज्ञान होनेसे पहिले सर्वत्र है। इस तरहसे बन्धको ६ कारणों द्वारा भी कहा गया है। इस तरह बन्ध दो प्रकारके बताये गए हैं १ भावबन्ध और २ द्रव्यबन्ध। द्रव्यबन्ध कहलाता है कार्माण वर्गणाके परमाणुओंका आत्माके साथ बन्ध हो जाना। परमाणु परमाणुओं का परस्परमें बन्ध हो जाता है और वहाँ निमित्त होते हैं जीवके मिथ्यादर्शन आदिक भाव। तो भावबन्ध भी मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन कारणों द्वारा हुआ करते है इस विषयमें अनुमान प्रयोग भी किया जा सकता है कि द्रव्यबन्ध मिथ्यादर्शन आदिक कारणों द्वारा होता है क्योंकि बन्ध होनेसे। जैसे कि भावबन्ध मिथ्यादर्शन आदिक कारणोंसे होता है उसी प्रकार द्रव्यबन्ध भी मिथ्यादर्शन आदिक भावोंके होनेपर होता है। इस तरह द्रव्यबन्ध भी मिथ्यादर्शनादि हेतुक है यह सिद्ध हुआ। इस तरह बन्धकी संसारी जीवोंमें प्रसिद्धि हुई। और बन्धके कारण भी प्रसिद्ध हो गए।

सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय, व अयोग होनेपर मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाय योगहेतुक बन्धका अभाव—अब यह बतलाते हैं कि बन्धके कारणोंका कहीं अभाव भी हो जाता है। इस प्रसङ्गमें मूल चर्चा यह थी कि कोई आत्मा विशेष समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है क्योंकि कहीं बन्धके हेतुवोंका अभाव और कर्मोंकी निर्जरा पाई जाती है तो इस ही हेतुके सर्व अङ्गोंको सिद्ध करनेके लिए

इस प्रकरणमे प्रथम तो यह बताया है कि ससारी जीवोंके बंध होता है। फिर बताया है कि ससारी जीवोंके बन्धका कारण है, अब बतला रहे हैं कि किसी आत्मविशेषमें बन्धके कारणोंका अभाव हो जाता है। बन्धके कारणोंके प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शनादि भावोंका सद्भाव हो गया है। जैसे कि जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तो मिथ्यादर्शन हट जाता है। मिथ्यादर्शन था भावबन्धका कारण। तो मिथ्यादर्शनका प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शन भावका जब अभ्युदय होता है तो मिथ्यादर्शन दूर हो जाता है क्योंकि मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन ये परस्पर सप्रतिपक्षी भाव हैं। मिथ्यादर्शन रहनेपर सम्यग्दर्शन नही होता। सो यह बात जीवमे अनादिसे चली आ रही थी। अब काल-लब्धिमे अन्तरङ्ग विशुद्धि आदिक कारणोसे जब सम्यग्दर्शन प्रकट होता है तो वहाँ मिथ्यादर्शन नही ठहर सकता। जैसे कि उष्ण स्पर्शके होनेपर शीतस्पर्श नही ठहर सकता क्योंकि ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इसी तरह सम्यग्दर्शनके होनेपर मिथ्या दर्शन हट जाता है। तो देख लीजिये कि बन्धका कारणभूत मिथ्यादर्शनका अभाव हो गया ना! तो जिस तरह सम्यग्दर्शनके होनेपर मिथ्यादर्शन दूर होजाता है यो ही विरतिभावके होनेपर अविरतिभाव भी निवृत्त हो जाता है क्योंकि यह भी सप्रतिपक्ष भाव है। जब तक अविरतिभाव चल रहा था तब तक जीवके विरतिभाव नही हो सक रहा था। अब विरतिभावका अभ्युदय हो गया है तो अविरतिभाव नही ठहर सकता। अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण कषायके अनुदय होनेपर आत्मा की विशुद्धि बढनेपर विरतिभाव प्रकट हो जाया करता है। तो वहा अविरतिभाव न रहा जो कि भावबन्धका हेतु बन रहा था। तो इस तरह बन्ध हेतुका अभाव हुआ। अब आत्माके अप्रमादकी परिणति होती है तो वहाँ प्रमादभाव नही ठहरता। ये दोनों भाव भी परस्पर विरुद्ध हैं। जीवके जब तक प्रमादभाव चल रहा था तब तक प्रमाद हेतुक भाव बन्ध हो रहा था। प्रमाद भावके समाप्त होनेपर तद्धेतुक भावबन्ध भी समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार जब अकषाय भाव आता है तो कषायहेतुक भावबध नही होता। कषायें दश गुणस्थान तक पायी जाती हैं। १० वे गुणस्थानके अन्तमें बचे हुए सूक्ष्म लोभकषायका भी अभाव हो जाता है। उसके बाद यह जीव अकषाय कहलाता है। तो ऐसी अकषाय अवस्था आनेपर कषाय हेतुक भावबन्ध नही हो रहा। तो यहाँ भी यह सिद्ध हुआ कि बन्धके हेतुका अभाव हो गया। इस प्रकार जब अयोग अवस्था आती है तब योग हेतुक भावबन्ध नहीं हुआ करता। इस तरह बन्धहेतुवोंके अभाव होनेपर बन्धका भी अभाव हो जाता है। इस हीको सम्वर कहते हैं। जो आगे कर्म न आयें उसका नाम सम्वर है। इसको सूत्रजीमे कहा है—'आश्रवनिरोधः सम्वर' तो इस तरह बन्ध हेतुवोका सर्वथा अभाव हो जाता है, यह बात प्रमाणसे सिद्ध हो गयी।

सूत्रोक्त गुप्ति समिति आदि भावोंकी सम्यग्दर्शनाद्यात्मकता होनेसे

रत्नत्रयभाव द्वारा समस्त बन्ध हेत्वभावकी सिद्धि—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि आस्रवका निरोध सम्वर है और वह सम्वर बताया गया है गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रसे। तो सूत्रकारका स्वयं सिद्धान्त भी है जिसके विषयमें सूत्र भी कहा गया है—स गुप्तिसमिति धर्मानुप्रेक्षापरीक्षापरीषहजयचारित्रै। तो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि सम्वर इन कारणोंसे हुआ करता है। सम्यग्दर्शन आदिकके कारणोंसे सवर नहीं बताया गया। फिर यहाँ सम्यग्दर्शन आदिकके कारण मिथ्यादर्शन आदिक दूर होते और उन बन्ध हेतुओंके अभाव होनेसे सम्वर होता, यह बात कैसे कही जा रही है ? इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं। सूत्रकारके उस कथन में जहाँ कि बताया गया है कि सम्वर गुप्ति, समिति आदिक भाव द्वारा होता है और इस कथनमें जहाँ कि कहा जा रहा है कि सम्यग्दर्शन आदिकके होनेपर सम्वर होता है। इन दोनों कथनोंमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है क्योंकि गुप्ति समिति आदिक भाव सम्यग्दर्शन आदिक रूप ही होता है। कहीं भी गुप्ति आदिक भाव सम्यग्दर्शनसे रहित न मिलेंगे। और, जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ सम्यग्ज्ञान तो है ही, और किसी न किसी अशमें चारित्र भी है। प्रमादरहित होना, कषायरहित होना, योगरहित होना ये सब चारित्रके ही तो भाव हैं। इस तरह सिद्ध हुआ कि रत्नत्रयके अभ्युदयसे सम्वर होता है। तो इस कथनमें किसी भी प्रकारका दोष नहीं है। यहाँ तक इस प्रकरणमें यह सिद्ध किया गया कि कोई संसारी जीव बन्धवान हुआ करते हैं और उनका यह बन्ध मिथ्यादर्शन आदिक हेतुओंसे हुआ करता है। और किसी आत्मविशेषमें सम्यग्दर्शन आदिकका अभ्युदय होनेसे मिथ्यादर्शनादि बन्ध कारण हट जाया करते हैं। इस तरह कोई आत्मविशेष ऐसा होता है कि जिसमें समस्त कर्म हेतुओंका अभाव हो जाता है। कोई आत्मा विशेष समस्त कर्मोंसे छूट जाता है। इस साध्यकी सिद्धि करनेमें जो हेतु दिया गया था उसका आधा अश प्रमाणसे सिद्ध कर दिया। हेतुमें कहा गया था कि किसी आत्मा विशेषमें समस्त कर्मबन्ध हेतुओंका अभाव हो जाता है और सर्व कर्मोंका क्षय हो जाता है। तो इस तरह बंध हेतुओंका अभाव सिद्ध करके अब कर्मक्षयकी बात कही जा रही है।

किसी आत्मविशेषके समस्तकर्मक्षयकी सिद्धि—किसी आत्मामें पूर्वमें उपार्जित किए हुए कर्म समस्त रूपसे निर्जीर्ण हो जाते हैं, क्योंकि जो कर्मबन्ध था उस का अन्तमें विपाक हुआ करता है। तो अनुमान प्रयोग यहाँ यह बना कि किसी आत्मा में समस्तरूपसे पूर्वबद्धकर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं, क्योंकि वे पूर्व उपार्जित कर्म विपाकांत हैं अर्थात् उनके अन्तमें विपाक होता है। इस ही अनुमान प्रयोगको व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा पुष्ट कर रहे हैं कि जो निर्जीर्ण नहीं हुआ करते वे विपाकांत भी नहीं हुआ करते। जैसे काल (समय) कभी खतम नहीं होता कि समयका अत्यन्त विपाक भी नहीं हुआ करता, लेकिन ये कर्म तो अन्तमें विपाक वाले ही हुआ करते हैं इस कारण

से ये कर्म निर्जीर्ण हो जाते है। कर्मोंका अन्तमें विपाक हुआ करता है यह बात असिद्ध नहीं है। यह भी अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हो जाता है। वह प्रयोग इस प्रकार है कि कर्म विपाकांत होता है, क्योंकि फलावसान होनेसे। इसका अन्तमे फल प्राप्त होता है, इसलिए इसका विपाक हो जाता है। जैसे धान्य आदिक। धान्यवृक्ष लगे तो उनका अन्तमे फल तो निकलता है और जब फल निकल आया हो वे वृक्ष सूख जाते हैं। उनका विपाक हो जाता है इसी प्रकार कर्मोंका भी फल जीवोंको प्राप्त होता है। तो उससे सिद्ध होता है कि कर्मोंका विपाक आ गया। और जब कर्मोंका विपाक सिद्ध हो गया तो कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं, यह बात भी भली भांति सिद्ध हो जाती है। अब यदि यहाँ यह सोचा जाय कि कर्म निर्जीर्ण नहीं होते अथवा उनका फल प्राप्त नहीं होता तब तो कर्मको नित्य हो जाना पड़ेगा। जिसका फल न होवे विपाक न आये वह तो सदाकाल ही रहा करेगा। जैसे कि कालका कोई फल या विपाक नहीं होता, तो यह काल धारा अनन्त काल तक ही चलती रहती है, पर कर्मों मे यह बात नहीं है। कर्म नित्य नहीं हुआ करते क्योंकि यदि कर्म नित्य हो जायें तो कर्मोंका सदैव फलानुभव होगा, पर ऐसा नहीं है, उनका फल होता है और विपाक होता है, इस कारणसे कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है। अब जिस आत्मामे विशेष कर्मों का सम्वर हो रहा हो और कर्मोंकी निर्जरा चल रही हो तो उसका कोई समय ऐसा अवश्य ही आ जाता है कि जहाँ सर्व कर्मोंका अभाव हो जाता है। बस यहाँ अब हेतुओंका अभाव होगा और पूर्वबद्ध कर्मोंका क्षय हो जायगा वहाँ समस्त कर्मोंका क्षय होना प्रसिद्ध ही है। इस तरह कोई आत्मा समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है यह बात प्रमाणसे सिद्ध हो जाती है।

परमेष्ठीके प्रसादसे निःश्रेयस मार्गकी सिद्धि होनेसे शास्त्रादिमे परमेष्ठीगुणस्तोत्रकी संगतता—किसी आत्मामे पूर्वबद्ध समस्त कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं, क्योंकि वे कर्म विपाकान्त हैं। इस अनुमान प्रयोग द्वारा यह सिद्ध हुआ कि कहीं कर्मोंकी निर्जरा अवश्य होती है। अब देखिये! जैसे आत्मा विशेषमे ये कर्म ना आये नहीं और वहाँ हो गया पूर्वबद्ध कर्मोंका समस्तरूपसे निर्जरण तो उसका फल यह होगा कि उस आत्मविशेषमे समस्त कर्मोंका अभाव होकर कर्मोंका पूर्णतया क्षय हो ही जायगा। तो जहाँ समस्त कर्मोंका पूर्णरूपसे अभाव हो जाता है और इस ही कारण कर्मके कार्यभूत शरीरादिक भी नहीं रहते हैं उसे कहते हैं परनिःश्रेयस, और जहाँ अरहंत अवस्था है, सशरीर भगवान हैं वहाँ कहलाता है अपरनिःश्रेयस तो इस तरह दो प्रकारके निःश्रेयस हुए, पर निःश्रेयस और अपरनिःश्रेयस, इस निःश्रेयसका मार्ग सिद्ध होता है परमेष्ठीके प्रसादसे। तो निःश्रेयसका मार्ग क्या है? यह आगे भी कहा जायगा और संक्षेपमे यह समझ लीजिए कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह निःश्रेयसका मार्ग है, उस मार्गकी सिद्धि, प्राप्ति, भली प्रकार उसकी जानकारी ये

सब परमेष्ठीके प्रसादसे होते हैं, इसी कारण सूत्रकारोंने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन किया है। इस प्रसङ्गमें मूल प्रश्न यह था कि सूत्रकारोंने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीका स्तवन किस कारणसे किया है। उसका समाधान यह हुआ कि चूंकि परमेष्ठीके गुणस्तवनसे कल्याण मार्गकी सिद्धि होती है इस कारणसे सूत्रकारों ने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीका गुणस्तवन किया है। अब परमेष्ठीका अर्थ देखिये। परमेष्ठी तो अरहन्त भगवान परमेष्ठी हैं। क्योंकि उनके प्रसादसे परमागमके अर्थका निर्णय होता है। प्रभु अरहन्त देवकी दिव्यध्वनि खिरती है और उस मूल ध्वनिके विस्तारमें लोग तत्त्वार्थका निर्णय करते हैं। तो जितना जो कुछ आगम है उसका मूल कारण परपरमेष्ठी अरहंत भगवान हैं। उसके बाद अपरपरमेष्ठी गणधरदेव आदिक हैं, दिव्यध्वनिको झेलकर जिन्होंने उस वाणीका विस्तार किया, पृथक पृथक शब्दरचना द्वारा जीवोंको सम्बोधा वे अपर परमेष्ठी कहलाते हैं। तो अपर परमेष्ठी गणधर देव आदिकसे भी परमागमके अर्थका निर्णय होता है। इस तरह अपर परमेष्ठी गणधरदेव आदिकके द्वारा परमागमकी शब्द रचना हुआ करती है। और वह शब्द सदर्भ द्वादशांगके रूपमें होता है। इस तरह पर परमेष्ठी और अपरमेष्ठी द्वारा परमागमके अर्थ शब्द और लिपिकी सिद्धि होती है। तो शिष्यजनोंको अथवा कल्याणार्थी पुरुषोंको परमार्थकी प्राप्ति परपरमेष्ठी और अपरपरमेष्ठी द्वारा हुई है। और उनसे फिर उनके शिष्योंका परमागमके अर्थका बोध होता है, इस तरह गुरु पूर्व क्रम से गुरुओंसे शिष्योंने और उन शिष्योंसे अन्य शिष्योंने, इस तरह क्रम परम्परासे आचार्योंने परमागमका अर्थ पाया। इस तरह यहाँ यह सिद्ध होता है कि इस समस्त श्रेयोमार्गकी जानकारीका मूल तो अरहन्त परमेष्ठी हैं इसी कारण परमेष्ठीके गुणस्तवन किए गए हैं कि उनसे हमारे मोक्ष मार्गकी सिद्धि हुई है और उनसे ही हमें मोक्षमार्गमें बढ़नेका बल प्राप्त होता है। इस तरह परमेष्ठीके प्रसादसे जो प्रधान लक्षणभूत मोक्षमार्ग है उसकी सिद्धि हुआ करती है।

परमेष्ठीके प्रसादका विवरण—अब परमेष्ठीका प्रसाद क्या है उस प्रसाद के सम्बन्धमें वर्णन करते हैं। प्रसाद परमेष्ठियोंका यही है कि उनके जो विनेय शिष्य हैं उन शिष्योंके प्रसन्न मनके वे विषय रहा करते हैं। अर्थात् भक्तजन प्रसन्न मनसे उपासना करते हैं तो प्रसन्न मनसे उपासना किए गए भगवान प्रसन्न कहलाते हैं। तो प्रसन्न मनके विषयमें होना ही परमेष्ठीका प्रसाद है। वैसे तो जो वीतराग सर्वज्ञदेव हैं, रागद्वेष न होनेके कारण उनके तुष्टिरूप प्रसाद हुआ करता है और न कभी क्रोधादिक सम्भव है। जिससे स्वयं वीतराग मुनीशोंमें यह घटाया नहीं जा सकता कि वे प्रसन्न हो गए हैं। जब वीतराग हुए तो न उनमें हर्ष आयगा न संतोष, तृप्तिके भाव भी नहीं आते और न क्रोधादिकके भाव आते। वे तो रागद्वेष रहित होकर सदा ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहते हैं। हाँ उन परमेष्ठी अरहन्त देवके आराधक पुरुषोंके द्वारा प्रसन्न मन

से उपासना किए गए भगवान प्रसन्न कहलाते हैं। जैसे कि प्रसन्नमनसे कोई रसायन औषधिका सेवन करे तो रसायनके सेवनसे उसका फल आरोग्य जब पा लेता है तो फिर ऐसा कहता है कि—इस औषधिके प्रसादसे हम लोगोंको आरोग्य प्राप्त होता है। अब वे बतलायें कि यह रसायन अचित्त औषधि है उसमे प्रसाद कहाँसे आयगा ? तब जैसे औषधि सेवन करके यह कहा जाता है कि औषधिके प्रसादसे हमको आरोग्य मिला है इसी प्रकार प्रसन्न मनसे भगवानकी उपासना की गई और उसके फलसे पुण्यबन्ध हुआ सुख सुविधा प्राप्त हुई अथवा श्रेयोमार्गकी जानकारी हुई, धर्ममार्गमे लगे, तब यह कहा जाता है कि भगवानके प्रसादसे हमको श्रेयोमार्गकी प्राप्ति हुई है। इस तरह परमेष्ठीके प्रसादसे सूत्रकारोको श्रेयोमार्गकी सिद्धि हुई है। इस कारण यह कहना युक्त ही है कि शास्त्रके आदिमे परमेष्ठीका गुणस्तवन करना ही चाहिए।

परमेष्ठीगुणस्तोत्रके प्रयोजनका निर्णय—अब परमेष्ठीका गुणस्तवन किसलिए किया जाता है ? इस सम्बन्धमे मूल बात कह दी गई कि चूंकि भगवानके प्रसादसे हमको धर्ममार्गकी प्राप्ति हुई है अथवा कल्याण हुआ है इस कारणसे शास्त्रके प्रारम्भमे परमेष्ठीका गुणस्तवन किया जाता है। इस सम्बन्धमे कोई लोग यह कहते हैं कि मङ्गलके लिए भगवानका गुणस्तवन किया जाता है। तो उनसे यह पूछना चाहिए कि मङ्गलके लिए परमेष्ठीका गुणस्तवन किया जाता मानते हो तो यह बतलाओ कि परमेष्ठीके गुणस्तवनसे साक्षात् मङ्गल होता है या परम्परासे मङ्गल प्राप्त होता है ? यहाँ मङ्गलका अर्थ कुछ लोककल्याण मान लीजिए अथवा मुक्ति मान लीजिए। तो साक्षात् मङ्गल तो परमेष्ठीके गुणस्तवनसे नही होता, क्योंकि यदि परमेष्ठीके गुणस्तवनसे साक्षात् मङ्गल हो जाय तो जैसे ही भगवानकी स्तुति की या नमस्कार किया तो तुरन्त ही मोक्ष हो जाना चाहिए। पर किसी भी जीवके प्रभुके नमस्कार करते ही मुक्ति नही हुई है। तो साक्षात् मङ्गलके लिए परमेष्ठीका गुणस्तवन नहीं हुआ अथवा वह गुणस्तवन साक्षात् मङ्गलके लिए नही है। यदि कहो कि परमेष्ठीका स्तवन परम्परा मङ्गलके लिए हैं तो इसमे किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। हाँ, परमेष्ठीका गुणस्तवन होता है भगवानके गुणोपर ध्यान होता है, अपने स्वरूपकी दृष्टि होती है तब आत्मतत्त्वकी उपासनाके बलसे कर्मक्षय होता है और मुक्ति प्राप्त होती है। तो यों भगवानके गुणस्तवनसे परम्परया मङ्गल प्राप्त हो इसमें कोई आपत्ति नही है। होता ही है ऐसा—जब परमेष्ठीका गुणस्तवन किया जाता है तो भगवानके आत्मामे विशुद्धि विशेष प्रकट होती है और जब विशुद्ध परिणाम अधिक प्रकट हुए तो इस स्तवन करने वाले पुरुषके विशेष धर्म सिद्ध होता है। और जहाँ विशेष धर्मका उदय हुआ तो अधर्म नष्ट हो जाता है। और फिर जहाँ अधर्म कर्म नहीं रहे उससे फिर सुखकी प्राप्ति होती है। मङ्गलका अर्थ है--मग सुख लाति इति मगलं। जो सुखको उत्पन्न करे सो मङ्गल है। सो भगवानकी गुणस्तुति

करनेसे उत्तम सुख उत्पन्न होता है। तो यों परम्परासे गुणस्तवन द्वारा मङ्गल प्राप्त होता है, इसमें किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं है अथवा भगवानके गुणस्तवनसे आत्मामें शुद्धि प्रकट हुई और शुद्धि प्रकट होनेसे पापोंका क्षय हुआ तो यह पापरूप मङ्गल भी इस स्तवन करने वालेके बन गया। मङ्गलका अर्थ भी यही है—म पाप गालयति इति मगल—जो मलको, पापको, कर्मको ध्वस्त करदे उसे मङ्गल कहते हैं। यदि भगवानका स्तवन करनेसे अधर्मरूप मलका परम्परासे ध्वंस हो जाता है यह बात सङ्गत ही है। किन्तु साक्षात् मङ्गल मिले सो बात नहीं होती, याने परमेष्ठीके गुणों का स्तवन करनेमें तुरन्त ही सब कार्य नष्ट हो जायें और मोक्षलाभ हो जाय, सो बात नहीं होती है। अब रही परम्परा मङ्गल प्राप्तिकी बात कि भगवानके गुणस्तवनसे परम्परासे मङ्गल प्राप्त होता है। तो परम्परासे मङ्गलकी प्राप्ति तो सत्पात्र दानसे जिनेन्द्र भगवानके पूजन आदिकसे भी प्राप्त हो जाता है। तब यह तो सिद्ध नहीं हुआ कि भगवानके गुणस्तवनसे ही वह मङ्गल प्राप्त होता है। परम्पराकी प्राप्ति गुणस्तवनसे भी हो जाती है जिनेन्द्रके पूजन आदिकसे भी होती है, सत्पात्रके दान करनेसे भी होती है। तब गुणस्तवन मङ्गलके लिए है, ऐसा नियम नहीं बनता। गुणस्तवनका प्रयोजन मङ्गल प्राप्ति नहीं है, किन्तु श्रेयोमार्गकी सिद्धि है। गुणस्तवन से एक ज्ञानप्रकाश होता है और मोक्ष मार्गकी जानकारी बन जाती है। अब शङ्काकार यदि यह कहे कि हम तो मङ्गलका यह अर्थ करते हैं कि मग मानने है मोक्षमार्ग की प्राप्तिसे उत्पन्न हुआ प्रशमसुख उस प्रशम सुखको जो प्रदान करे उसे मङ्गल कहते हैं। वह प्रशम सुख जिसके द्वारा आये वह है परमेष्ठीका गुणस्तोत्र। तो इस तरह परमेष्ठीके गुणस्तवनसे मङ्गल प्राप्त हो गया। अथवा मङ्गलका हम अर्थ करेंगे कि जो मोक्षमार्गकी सिद्धिमें बाधा करने वाला मल है पाप है उसको जो गला देवे सो मङ्गल है। इस तरहका अर्थ करके फिर यह सिद्ध कर लेंगे कि परमेष्ठीका गुणस्तवन मङ्गलके लिए होता है। तो इसके उत्तरमें यह समझना चाहिए कि ऐसा कहनेमें भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि परमेष्ठी भगवानके गुणस्तवनसे परम्परया यह बात सिद्ध होती है अथवा उसी समय मोक्षमार्गमें बाधा देने वाले कर्म दूर हो सकते हैं और उस समय मोक्षमार्गकी जो प्राप्ति हुई है रत्नत्रयकी जानकारी हुई है उससे जो एक प्रशम सुख उत्पन्न हुआ है याने कषाय न करनेसे अपने आप आत्मामें जो सहज सुख उत्पन्न होता है सो होता ही है, इसमें भी किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। इस तरह यह बात भी जो ग्रन्थान्तरमें कही है, युक्त हो जायगी कि शुरुमें अथवा बीचमें अथवा अन्तमें बुद्धिमान पुरुषोंके लिए मङ्गल करना ही चाहिए। तो उन कार्योंमें विघ्न न रहे इसकी सिद्धिके लिए जिनेन्द्र भगवानका गुणस्तवन किया जाता है। इस तरह यह बात सिद्ध हुई कि परमेष्ठीके गुणस्तवन करनेसे मोक्ष मार्गकी सिद्धि होती है। सो इसी कारण शास्त्रके आदिमें मङ्गलाचरण किया जाता है।

परमेष्ठीगुणस्तोत्रकी मंगलरूपता व मंगलार्थता—अब शङ्काकार कहता

हैं कि इस तरह तो यह सिद्ध होगा कि भगवानका गुणस्तवन स्वयं मङ्गल है, किन्तु मङ्गलके लिए नहीं है। याने जब परमेष्ठीका गुणस्तवन किया और गुणस्तवन करने से पाप गल गया, विघ्न दूर हो गया प्रणय सुख उत्पन्न हो गया तो यह गुणस्तवन स्वयं मङ्गल बन गया। उसे मंगलके लिए हैं" यह न बताना चाहिए। इसके उत्तरमे कहते है कि देखिये ! भगवानके गुणोंकी स्तुति स्वयं मंगलरूप भी है और वह मंगल के लिए भी बनती है। मंगल शब्दके अर्थपर दृष्टि दी जाय जिस अर्थ वाला मंगल है वह मंगल माना जायगा तो वह मंगल अन्य अर्थ वाले मंगलके लिए समर्थ होता है। जैसे जब मङ्गलका यह अर्थ किया कि जो मलका गलन करदे नष्ट करदे, पापका ध्वंस करदे वह मङ्गल कहलाता है। तो जिनेन्द्र भगवानका स्तवन पापोंको नष्ट करने वाला है इस तरह वह मङ्गलरूप है, और उस मङ्गलका कार्य यह भी हुआ कि मंग अर्थात् सुखको जो ला देवे। तो पापका क्षय होनेसे सुख उत्पन्न हुआ। तो देखो ! वह मङ्गल स्वरूप होकर मङ्गलके लिए बन गया। अब दूसरी प्रकार भी निरखिये ! जब मङ्गलका यह अर्थ किया जायगा कि जो मङ्गको उत्पन्न करे सो मङ्गल है। तो सुख-दायकपना अर्थ करनेपर यह मङ्गल स्वयं मङ्गल बना अर्थात् जिनेन्द्र भगवानका गुण-स्तवन सुख देने वाला है। इस तरह वह स्तवन स्वयं मङ्गल बना। पर वह मङ्गल पापके नाश करनेके लिए समर्थ होता है तो उस समय वह पाप गालनरूप मङ्गलके लिए बना करता है। अब तीसरा प्रकार भी देखिये ! अब दोनों अर्थ वाला मङ्गल है यह जिनेन्द्र स्तवन, यह सबरूपमे रखेंगे तब अन्य मङ्गलके लिए यह मङ्गल बन जाता है। अन्य मङ्गल क्या ? जो पुरुष मोक्षमार्गमें लगा हुआ है। तो जिस क्षणका परि-णाम है वह मंगलरूप है और उस परिणामके बाद फिर विशुद्ध परिणाम भी तो होगा। तो वह और उत्कृष्ट विशुद्ध आत्मा भी मांगलिक हैं, तो उत्तरोत्तर मंगल अर्थात मंगलके लिए बनाया जा रहा है, तो यों पर अपर मंगलकी संतति सिद्ध होती है। इस तरह भगवान जिनेन्द्रका गुणस्तवन स्वयं मंगलरूप होकर उत्कृष्ट मंगलके लिए समर्थ हो जाता है।

परमेष्ठीगुणस्तोत्रके प्रधान प्रयोजनका अन्तिम शंका समाधान पूर्वक निर्णय—अब इस प्रसंगमे कोई जिज्ञासु यह कहता है कि परमेष्ठीका गुणस्तवन शिष्टाचारके परिपालनके लिए किया जाता है या निर्विघ्न में वगुण परिपूर्ण हो जाते हैं इस सिद्धिके लिए किया जाता है। इस जिज्ञासुका अभिप्राय यह है कि शास्त्र बनाते समय शास्त्रकी आदिमे जो मंगलाचरण किया जाता है, परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन किया जाता है सो वह शिष्ट आचरणके पालनके लिए किया जाता, याने सभ्य पुरुषो को शास्त्ररचनेसे पहिले कोई मंगलाचरण किया जाना चाहिए, ऐसी सभ्यताका उसके तकाजा है, उसकी पूर्तिके लिए गुणस्तवन किया जाता है। यह शङ्काकारका अभिप्राय है कि परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन इसलिए किया जाता है कि कहीं नास्तिकताका दोष

न लग जाय। अर्थात् यह ईश्वरको मानने वाला है, प्रभुको ध्याने वाला है यह बात बनी रहे। कहीं यह प्रभुका द्वेषी है यह सिद्ध न हो जाय, ऐसे नास्तिकताके दोषको दूर करनेके लिए गुणोंका स्तवन किया जाता है अथवा शंकाकारका यह आशय है कि जिस शास्त्रको रचनेके लिए बैठे हैं वह शास्त्र बिना विघ्न बाधाके परिपूर्ण हो जाय इसके लिए मंगलाचरण किया जाता है, ऐसे इन ३ प्रकारोंका उद्देश्य रखकर जिज्ञासु यह अपनी आशंका रख रहा है कि परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन तो इन तीन बातोंके लिए है श्रेयोमार्गकी सिद्धिके लिए गुणस्तवन बतानेकी बात संगत नहीं बैठती। और लोकमें भी सभी प्राणी यह समझ जाते हैं कि यह सभ्यताका पालन किया गया है। इन जिज्ञासुवोंसे केवल इतना ही कहना पर्याप्त है समाधानमें कि यदि भी यह नियम नहीं बना सकते कि गुणस्तवन ही शिष्टाचार पालनके लिए समर्थ है या नास्तिकताके परिहारके लिए या निर्विघ्न शास्त्र समाप्तिके लिए समर्थ है क्योंकि ये तीनों बातें तपश्चरणसे भी सिद्ध हो जाती हैं।

भगवद्गुणस्तोत्रके प्रयोजनका प्रकरण—प्रकरण यह चल रहा था कि कुछ लोग यह मानते हैं कि भगवानके गुणोंका स्तवन शिष्टाचारके पालनके लिए किया जाता है अथवा नास्तिकताके दूर करनेके लिए किया जाता है अथवा निर्विघ्न रूपसे शास्त्रकी समाप्ति हो जाय इसके लिए किया जाता है। इन शङ्काकारोंका अभिप्राय श्रेयोमार्गकी सिद्धिका प्रयोजन खण्डित करता है। उनके इस व्यक्त अभिप्रायसे यह जाहिर होता है कि उनका मतव्य यह है कि भगवान परमेष्ठीका गुणस्तवन मोक्षमार्गकी सिद्धिके लिए नहीं किया जाता है किन्तु इन तीन प्रयोजनोंमें किया जाता है। उन शङ्काकारोंके अभिप्राय समीचीन नहीं हैं क्योंकि ऐसा आशय रखने वाले ये शङ्काकार भी यह बात ऐसी ही है, ऐसा नियम नहीं बना सकते। शिष्टाचारके पालन आदिक प्रयोजनोंके लिए ही परमेष्ठीका गुणस्तवन है इस तरहका नियम इस कारण नहीं बना सकते कि इन प्रयोजनोंकी सिद्धि तो तपश्चरणादिक अन्य बातोंसे भी हो जाती है। कोई यहाँ यह सन्देह न करे कि तपश्चरण आदिक शिष्टाचार पालन आदिकके लिए नहीं होता, क्योंकि जो तपश्चरण किया जाता है वह भी शिष्टाचारके पालनके लिए भी हो सकता है नास्तिकताका परिहार करनेके लिए भी हो सकता है और जो स्वाध्याय आदिक कार्य शुरू किया है या शास्त्ररचना आदिका कार्य शुरू किया है उसकी निर्विघ्न पूर्तिके लिए भी तपश्चरण सम्भव हो सकता है। तब यह नियम न बना सके ये शङ्काकार कि भगवान परमेष्ठीका गुणस्तवन ही शिष्टाचार पालन आदिकके लिए होता है।

भगवद्गुणस्तोत्रका प्रयोजन मात्र शिष्टाचारपरिपालनादि माननेपर स्तोत्रकी अनिमियतताका प्रसङ्ग—यहाँ शङ्काकार यह कहता है कि नियमसे हमारी बात सिद्ध न हो सकी तो मत हो, पर अनियमसे अर्थात् एवकार लगायें बिना

तो यह बात सिद्ध हो जायगी कि भगवान परमेष्ठीका गुणस्तवन शिष्टाचार पालन आदिकके लिए होता है। एवकार न लगायेंगे कि गुणस्तवन शिष्टाचार पालनके लिए ही होता है या शिष्टाचार पालनके लिए भगवन् गुणस्तवन ही होता है। हम किसी और एवकार न लगायेंगे, यों सामान्यतया कहेंगे तो यों अनियमसे तो सिद्ध होजायगा कि भगवान परमेष्ठीका गुणस्तवन शिष्टाचार पालन आदिकके लिए कहा गया है। इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि यदि अनियमसे यह बात मानते हो तो मान लो, लेकिन नियम तो सिद्ध न हो सका कि शास्त्रकी आदिमे शास्त्रकारोको भगवत्गुण-स्तवन करना ही चाहिए। तो यहाँ बात नियमकी चल रही थी। जिसका नियम बन सके उस बातके कहनेमे बल हुआ करता है। भगवत् परमेष्ठीका गुणस्तवन श्रेयोमार्ग की सिद्धिके लिए होता है। यह तो नियमके अन्तर्गत किसी न किसी प्रयोगमे आजाता है। पर शङ्काकारके आशयके अनुसार तो यह भी नियम न बन सकेगा कि शास्त्रकारो को फिर शास्त्रकी आदिमे भगवान परमेष्ठीका गुणस्तवन करना ही चाहिए!

शास्त्ररचनाके आदिमे परमेष्ठीगुणस्तोत्रकी अवश्यम्भाविता—यहाँ कोई शङ्काकार यह कहे कि नियम नही बनता है तो मत बनो और शास्त्रकी आदिमे शास्त्रकारोको भगवत्गुणस्तवन करना ही चाहिए, यह नियम नही होता है तो यह भी मत हो, क्योकि ऐसा सम्भव है कि किन्ही ग्रन्थोमे वह मगलाचरण नही भी किया जाता है। परमेष्ठीका गुणस्तवन शास्त्रकी आदिमे नहीं भी किया जाता है। तो इस शकाके समाधानसे यह जानना चाहिए कि कोई भी शास्त्रकार किसी भी शास्त्रका प्रारम्भ करता हो तो नियमसे उसके किसी न किसी रूपमे भगवानके गुणस्तवनकी प्रवृत्ति होगी ही। चाहे निबद्ध मगलाचरण किया जाय अर्थात् पद्योमे बाँध करके, स्वय रच करके मङ्गलाचरण किया जाय या पद्योमे ही बाँधकर स्वयका रचा हुआ न हो, ऐसा कुछ किया जाय, वचनसे किया जाय, मनसे किया जाय। विस्तारसे करे कोई मगलाचरण या सक्षेपसे करे, शास्त्रकारोके द्वारा प्रभुस्तवन शास्त्रकी आदिमे अवश्य ही किया जाता है। और यह ऋषी सन्तोकी स्वाभाविक प्रकृति है। उसे कौन रोके? यदि शास्त्रके आदिमें किसी भी रूपमे गुणस्तवन न किया जाय ख्याल तक भी न किया जाय मनमे भी प्रभु गुण न सोचा जाय, ऐसी स्थिति यदि किन्हीके बनती है तो उनमे फिर साधुता ही नही रहती क्योकि प्रभुकृत उपकारका इसने विस्मरण कर दिया। किसी भी रूपमे प्रभुके गुणोंका स्मरण ही नही हो रहा है। ऐसे जडबुद्धि वाले कोई लेखक भले ही लेखक नाम धरायें पर उनमे साधुपना नही रह सकता। जो साधु होगा वह किए हुए उपकारको भूल नही सकता। सज्जन पुरुषोकी यह रीति है कि वे कृत उपकारका विस्मरण नही करते। तो कोई भी शास्त्रकार जब किसी शास्त्रकी रचना करने बैठता है तो जिसके उपदेशकी परम्परासे यह ज्ञान मिला है जिस ज्ञानको शास्त्र शब्दोमे निबद्ध करना चाह रहा है। अपना उपयोग सही ठिकाने

लगानेके लिए और उपचारत परजीवोंके उपकारके लिए जो भी शास्त्र रचना प्रारम्भ करेगा उसको प्रभुका गुणस्तवन वचनसे हो, कायसे हो, मनसे हो, किसी भी प्रकार हो, हुए बिना रहेगा नहीं।

स्वगुरुस्मरणमें भी परमेष्ठी गुणस्तोत्रका समर्थन—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि अपने गुरुका स्मरण पूर्वक शास्त्र रचना कर ली जायगी क्योंकि जिस गुरुने पढ़ाया है साक्षात् उस गुरुका स्मरण करले उनकी उपासना करले तो उससे ही कृतज्ञता बन जायगी और शास्त्रके सही रचयितापनेका नाम पा लिया जायगा। सो इस समाधानसे सुनो! प्रकृत बात ही तो समर्थित की गई। प्रकरण यह था कि परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन शास्त्रकी आदिमें किया जाता है। यहाँ शङ्काकार कह रहा है कि शास्त्रके आदिमें अपने गुरुका स्मरण कर लेगा कोई। तो सुनो! अपने गुरुका स्मरण करना ही तो परमेष्ठीका स्तवन है, क्योंकि अपने गुरु भी तो परमेष्ठीमें ही अन्तर्गत हैं। तो अपने गुरुको गुरुरूपसे स्मरण किया किसी शिष्यने, तो वह भी परमेष्ठीका गुणस्तोत्र ही सिद्ध होता है यों अधिक विस्तार और विवाद करना व्यर्थ है, यह युक्तिसिद्ध बात है। शास्त्रकार इतना कृतज्ञ होता है कि वह शास्त्र रचनेके समय शास्त्रके प्रारम्भमें प्रभुगुणस्तवन, परमेष्ठी गुणस्तवन करता ही है। अब वह गुणस्तवन चाहे विस्तारका हुआ हो अथवा संक्षेपका हुआ हो, और कभी शास्त्रके आदिमें गुणस्तवनका श्लोक भी न दिया गया हो तो भी प्रथम ही प्रथम जो शब्द लिखे गए होंगे उन्हीं शब्दोंमें ध्वनित हो जाता है प्रभुका गुणस्तवन अथवा वचनसे कर लिया होगा। कोई भी साधु सज्जन पुरुष अपने गुरुका विस्मरण नहीं कर सकता है। गुरुका विस्मरण करने वाला पुरुष बुद्धिमें आगे बढ़ ही नहीं सकता है, उसका ज्ञान व्यक्त हो ही नहीं सकता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि परमेष्ठीका गुणस्तवन श्रेयोमार्गकी सिद्धिके लिए होता है। जैसे कि दूसरी कारिकामें कहा गया है कि मोक्षमार्गकी सिद्धि परमेष्ठीके प्रसादसे होती है, इस कारण शास्त्रके आदिमें मुनिश्रेष्ठ परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन किया करते हैं।

सूत्रकारके मंगलाचरणका अवतरण—यों सामान्यतया परमेष्ठीके गुणस्तवन की अनिवार्यता बताकर अब आगे परमेष्ठीका गुणस्तवन क्या है, जिस गुणस्तवनको सूत्रकारोंने शास्त्रकी आदिमें किया है। ये समस्त ग्रन्थ सूत्रकारके एक मंगलाचरणकी पुष्टिमें बनाये गए हैं। तो उस टीकाका मंगलाचरण अब यहाँ पूछा जा रहा है कि वह परमेष्ठीका गुणस्तवन कौनसा है? इस प्रश्नपर अब ग्रन्थकार तत्त्वार्थसूत्रकारका सूत्ररचनाके आदिमें हुआ मंगलाचरण बताते हैं—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥ ३ ॥

आप्तवन्दनाका प्रयोजन—सूत्रकार आचार्यने मंगलाचरणमें कहा है कि मोक्षमार्गके नेता कर्मरूपी पर्वतके भेत्ता और सकल तत्त्वोंके ज्ञाता प्रभुको उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए नमस्कार करता हूं। इस वाक्यमें युक्तिके आधारपर अनुमान प्रयोग भी होता है। मैं इन तीन विशेषणोंसे युक्त प्रभुको क्यों वन्दना करता हूं। उसका हेतुरूप बनता है तद्गुण लब्धियर्थित्वात् अर्थात् उन गुणोंकी प्राप्तिका अर्थी होनेसे। जो जिन गुणोंकी प्राप्तिका इच्छुक होता है वह उसको वन्दना करता हुआ देखा गया है। जैसे कि शास्त्र विद्याका गुण चाहने वाला पुरुष शास्त्रविद्याके जानकारका अभिवादन करता है और शास्त्रविद्याके प्रसङ्गकी उपासना करता है। इसी प्रकार जो जिस विद्याका चाहने वाला है वह उस विद्यावान और उस विद्याके प्रसंगकी उपासना करते हैं। तो यह मैं भी इन तीनों गुणों की प्राप्तिका इच्छुक हूं अर्थात् मोक्षमार्ग पर लगू और दूसरे जीव भी मोक्षमार्गपर चलें। कर्म पहाड़को मैं नष्ट करूं और समस्त तत्त्वों का जाननहार मात्र रहूं। ऐसा मैं इच्छुक हूं। तो जो मोक्षमार्गके प्रणेता हैं, कर्म पहाड़के भेदने वाले हैं, समस्त तत्त्वोंके जानकार हैं उन प्रभुको वन्दन करता हूं। इस नीतिके अनुसार शास्त्रकारने शास्त्रके प्रारम्भमें स्तवन किया है और श्रोताजनोंने और उसके व्याख्याता पुरुषोंने परमेष्ठीका इन गुणोंके द्वारा स्तवन किया है। परमेष्ठी दो प्रकारके हैं-पर और अपर उत्कृष्ट परमेष्ठी तो वे हैं जो पूर्ण वीतराग हैं और सर्वज्ञ हैं और जो एक देश वीतराग हैं तथा आत्मज्ञ हैं अवधिज्ञान, मन पर्याय ज्ञानके भी धनी हैं वे अपर परमेष्ठी कहलाते हैं। इन परमेष्ठियोंको इन तीन विशेषणोंके द्वारा स्तवन करता हूं। इन परमेष्ठियोंके प्रसादसे मोक्षमार्गकी सिद्धि हुआ करती है। सस्तवन करनेका प्रयोजन मोक्षमार्गकी ससिद्धि है। क्यों स्तवन किया जा रहा है? इसका समाधान है कि उनके प्रसादसे मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है। वह मोक्षमार्गकी सिद्धि कैसे होती है? तो सिद्ध परमेष्ठीके ध्यान द्वारा साधक पुरुष अपने आपमें आत्मानुभूतिके लिए बढ़ता है। यों उनके प्रसादसे मोक्षमार्गकी ससिद्धि होती है। अरहंत परमेष्ठीकी तो साक्षात् दिव्यध्वनि भी सुननेमें आती है। उनका साक्षात् दर्शन भी प्राप्त होता है। जिनकी मुद्राके दर्शनसे, दिव्यध्वनिके श्रवणसे मोक्षमार्गकी प्रगति होती है। आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठीके सत्संगसे, उनके उपदेशके श्रवणसे श्रेयोमार्गकी प्रगति होती है, इस कारणसे परमेष्ठीका स्तवन किया है और परमेष्ठी के स्तवनका प्रयोजन यह भी है कि जो उनमें गुण हैं उन गुणोंकी प्राप्तिका इच्छुक यह स्तवन करने वाला है। अब उक्त मंगलाचरणमें जो तीन प्रकारके विशेषण दिये गए हैं वे भगवान सूत्रकारने क्यों कहे हैं? उन विशेषणोंसे कौनसे इष्टकी सिद्धि है अथवा कौनसे अनिष्टका परिहार है? बुद्धिमान पुरुष जो भी कार्य करता है उसमें प्रयोजन दो होते हैं। इष्टकी सिद्धि और अनिष्टका परिहार। तो तीन विशेषणोंके द्वारा जो भगवानका स्तवन किया गया है तो उन तीन विशेषणोंमें कौनसी असाधारणता है? क्यों इन तीन विशेषणोंके द्वारा स्तवन किया गया है इस प्रकारकी आशंका

होनेपर उन तीन विशेषणोंके देनेका प्रयोजन कहते हैं।

> इत्यसाधारणं प्रोक्तं विशेषणमशेषतः
> पर-सङ्कल्पिताप्तानां व्यवच्छेदप्रसिद्धये ॥ ४ ॥

मङ्गलाचरणकथित तीन विशेषणोंकी प्रयोजकता--उक्त मङ्गलाचरण में जो तीन असाधारण विशेषण दिए गए हैं वे विशेषण दूसरोंके द्वारा कल्पना किए गए आप्तोंका निराकरण करनेकी प्रसिद्धिके लिए दिए गए हैं अर्थात् अन्य एकान्तवादियों द्वारा जो माने गए देव हैं उन देवोंमें वास्तविक देवत्व नहीं है, क्योंकि उनमें मोक्षमार्गका प्रणेतापन, कर्मपहाड़का भेत्तापन और सकल तत्त्वोंका ज्ञातापन नहीं पाया जाता। तो कल्पना किए गए अन्य आप्तोंके व्यवच्छेदके लिए ये तीन असाधारण विशेषण कहे गए हैं। विशेषादियों द्वारा, क्षणिकवादियों द्वारा एवं अन्य एकान्तवादियों द्वारा जो कल्पित किए गए आप्त हैं उनका समस्तरूपसे व्यवच्छेद बतानेके लिए तीन असाधारण विशेषण आचार्योंने कहे हैं, क्योंकि उनके माने गए ईश्वर आदिकमें ये तीन विशेषण सम्भव नहीं होते क्योंकि उनमें बाधक प्रमाण मौजूद है। भगवान चार घातिया कर्मोंके नष्ट करने वाले वीतराग सर्वज्ञदेवमें ही उन तीन विशेषणोंके सद्भावको सिद्ध करने वाले प्रमाण बनते हैं। इस कारण ये असाधारण विशेषण अनिष्ट परिहारके लिए बताये गए हैं। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि अन्य एकान्तवादियोंने जो आप्त माना है उनके आप्तपनेमें क्या दूषण है जिससे कि उनके आप्तपनेका निराकरण करनेके लिए ये असाधारण विशेषण कहे गए हैं? और दूसरी बात यह बतायें कि इस तरहका अन्य योग व्यवच्छेद करनेसे परमेष्ठीको जो सिद्ध किया है उनमें आप्तपना निश्चित् किया है सो उनको आप्तपना निश्चित् करनेसे कौनसी बात प्रतिष्ठित बनती है? याने अन्य ईश्वरको आप्तपनेका व्यवच्छेद किस दूषणके बलपर किया है? तथा उनका निराकरण करके जो एक महात्मा परमेष्ठियोंको आप्तरूपमें निश्चित् किया है तो उसमें क्या प्रतिष्ठा की जा रही है? यदि अन्य महेश्वर आदिकको भी आप्त मान लिया जाय तो क्या दूषण आता है और अरहन्त परमेष्ठीको आप्तरूपमें सिद्ध कर लिया तो कौन सा लाभ मिल जाता है? इस प्रकारकी शङ्का होनेपर ग्रन्थकार आचार्य महोदय आगेकी कारिका में इस शङ्का का समाधान करते हैं।

> अन्ययोगव्यवच्छेदान्निश्चिते हि महात्मनि।
> तस्योपदेशसामर्थ्यादनुष्ठानं प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

अन्ययोगव्यवच्छेद होनेसे विशेष्यका दृढ़निर्णय होनेके कारण विशे-

पणोंकी सार्थकता—अन्ययोगका व्यवच्छेद होनेसे किसी महात्मामें आप्तपनेका निश्चय हो जाता। और उस प्रभुके उपदेशकी सामर्थ्यसे प्रतिष्ठा होती है वर्तव्यकी, प्रश्न यह किया गया था कि सूत्रकारने जो मङ्गलाचरण किया है कि मोक्षमार्गके नेता कर्मपहाड़के भेदने वाले सर्व तत्त्वोंके ज्ञाताको मैं उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिए नमस्कार करता हूं। इस मङ्गलाचरणमें इन तीन विशेषणोंसे प्रशंसा करनेका प्रयोजन क्या है? उसका उत्तर यह दिया गया है कि इन तीन गुणोंके उपदेशसे यह निश्चय हो जाता है कि जिसमें तीन गुण न हों वह तो प्रभु नहीं है और जहाँ ये तीनों गुण पाये जायें वह प्रभु है। तो अन्य योगका व्यवच्छेद हो अर्थात् अन्य कुदेवमें आप्तपना मान लिया जाय, ऐसा यही अन्य योगव्यवच्छेद है। उससे तो निश्चय होता है कि अरहंत सर्वज्ञ वीतराग ही महान आत्मा हैं। दूसरा प्रश्न यह था कि अन्ययोग व्यवच्छेद करके किसी एक महान आत्मामें आप्तपना निश्चय करनेपर करना क्या पड़ा है? क्यों इतना श्रम किया जा रहा है? उसका भी समाधान इस कारिकामें आया कि जब निर्णय हो जाता है कि सत्य आप्त है तब उसके उपदेशके माध्यमसे भव्य जीव अपने शान्तिके काममें लग जाते हैं। तो चारित्रकी प्रतिष्ठा तब ही हो पाती है जब चारित्रमें उत्कृष्ट प्रसिद्ध हुए किसी महान् आत्माका उपदेश प्राप्त हो। इस तरह मङ्गलाचरणके दो प्रयोजन हैं- एक तो सत्य आप्तका निर्णय करना, दूसरा - सत्य आप्तका निर्णय करके उसके उपदेशके अनुसार अपना संयम बनाना।

प्रकृत विशेषणोंकी अन्ययोगव्यवच्छेदकत्व प्रयोजकता यहाँ शङ्काकार कहता है कि दूसरे देवोंका खण्डन किया। उनका खण्डन किए बिना भी तो भगवान परमेष्ठीके तत्त्वोपदेशका अनुष्ठान प्रतिष्ठाको प्राप्त हो ही जाता है, फिर अन्य देवके देवत्वका योगव्यवच्छेदका काम क्यों करना पड़ा? अर्थात् अन्य देवका खण्डन मत कीजिए! किन्तु अपने माने गए, भगवान अरहन्तके माने गए उपदेशपर चले आपका कार्य हो ही जायगा, फिर अन्ययोग व्यवच्छेदकी क्या जरूरत है? वीतराग सर्वज्ञदेव का जो उपदेश है वह अविरुद्ध उपदेश है सही उपदेश है उस उपदेशपर लग जायेंगे, अन्य देवोंके देवत्वके निराकरणसे क्या प्रयोजन है? तो अन्ययोगव्यवच्छेदके बिना भी सब तत्त्वोपदेशके बलसे नियमका अनुष्ठान बन सकता था तो वहाँ जो यह प्रयोजन बताया जा रहा है कि ३ विशेषण जो दिए गए हैं वे अन्य योगके व्यवच्छेद करनेके लिए दिए गए हैं, यह कथन युक्त नहीं बचता। अब इनके समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकारका आशय यह था कि अन्य देवके मिथ्यापनको जाहिर न करे, उनके देवत्वका खण्डन न करे, उनमें यह विशेषण नहीं, ऐसा बयान न करें और अपने माने हुए सर्वज्ञकी वाणीके अनुसार चलें तो यह भला था, क्योंकि यह कथन अविरुद्ध कथन है। और, दूसरे देवोंका निराकरण न करना पड़े। यद्यपि शङ्काकारका अभिप्राय सज्जनताकी निगाहसे ठीक जच रहा हो, लेकिन प्रसङ्ग तो यह है कि बिल्कुल

सत्य और असत्य देवोंका निर्णय किए बिना किसीके उपदेशपर निशङ्क होकर चलना बन नही सकता। जब यह दृष्टिगत हो रहा है कि किसी सन्तका कहा हुआ वचन और तरह है किसीका और तरह है, तो उनमे निर्णय तो करना ही पड़ेगा कि वास्तविक तत्त्व कौन सा है। और, वास्तविक तत्त्वका निर्णय करके जब चलेंगे तो यह निश्चय करना होगा कि यह सत्य वक्ता है और यह रागी वक्ता है। बस, यह निर्णय तो इन तीन विशेषणोमे पड़ा हुआ है। तो परस्पर विरुद्ध आगमका प्रणयन हो जाने से तत्त्वका निश्चय नही बन सकता। फिर तो यह दृष्टि बनानी होगी कि चाहे किसी का भी कहा हुआ शास्त्र हो, सभीपर चलना चाहिए। तो तत्त्वका निश्चय कहाँ हुआ ? वे सब शास्त्र तो परस्पर विरोध डालने वाले हैं। तो परस्पर विरुद्ध आगमका प्रणयन होनेसे तत्त्वका निश्चय नही बन सकता है और ऐसी स्थितिमे उन समस्त शास्त्रोमेसे कोई एक यह ही शास्त्र ठीक है, इसका उपदेश प्रमाणभूत है यह निश्चय तो नहीं किया जा सकता। और जब उपदेशकी प्रमाणताका निश्चय नही हो सकता तो उससे फिर अनुष्ठानकी प्रतिष्ठा भी नही बन सकती याने उस उपदेशमे जो कुछ करनेको कहा गया है वह किया ही जायगा, किया ही जाना चाहिए या कल्याणार्थी जन उसे करने लगेंगे, ऐसा कोई व्यवहार नही बन सकता है। इस कारणसे इन तीन विशेषणोके द्वारा आप्तकी बन्दना करना युक्तिसङ्गत है।

कर्तव्यपथपर चलनेके लिए उपदेशके सत्यत्व व असत्यत्वके निर्णयकी आवश्यकता – अब शङ्काकार कहता है कि मोक्षके उपायका कुछ भी कर्तव्य बताये कोई उसके उपदेशमे तो कोई विवाद करता ही नही है और न उन वक्ताओको कोई विवाद रहता है। तब अरहन्तके उपदेशकी तरह ईश्वर कपिल आदिकके भी उपदेश हो तो उन उपदेशोमे भी कर्तव्यकी प्रतिष्ठा तो हो ही जाती है। अर्थात् ससारके सकटोंसे मुक्ति पानेके विचारके प्रसङ्गमे जिन-जिन सतोने उपदेश दिया है वे सब अनुष्ठानके योग्य हैं। ५ पापोका सब त्याग बताते हैं, जीवघातका सब परिहार कराते हैं तो उनके उपदेशोमे कमी क्या रही ? जो करना चाहिए, खोटी आदतोसे हटना चाहिए, अच्छे सस्कारोमे लगना चाहिए यह ही तो सब कहा करते हैं। फिर अन्य योगव्यवच्छेद करके परमेष्ठियोका निश्चय किया जा रहा है। सो ऐसा क्यो किया जा रहा है ? अथवा अन्यका निराकरण करके किसी एकका परमेष्ठीपना निश्चित कैसे हो सकता है ? जब सभी मोक्षका उपदेश करते हैं और वे सभी अनुष्ठानके योग्य हैं, पापोसे सभी निवृत्ति करने वाले हैं तब वहा अन्य योगव्यवच्छेद भी उचित नही जचता और अनुष्ठान, सयम व्रत, विधान आदिक भी सभीके उपदेशके अनुसार प्रतिष्ठा पा रहे हैं। उक्त शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि इस प्रकारकी शङ्का करनेवाले पुरुष भी विशेषज्ञ नही हैं। यदि यो ही कबूल कर लिया जाय कि अरहतके उपदेशसे भी मोक्षके उपायकी बात मिलती है और अन्य देवोंके उपदेशसे भी मोक्षके उपायकी

बात मिलती है तब उसमें अन्ययोगव्यवच्छेदकी क्या जरूरत है ? और, किसी एकके परमेष्ठीपनके निश्चयकी भी क्या आफत पड गई है ? ऐसा कहने वाले लोग समझदार नहीं हैं। इस तरह तो समीचीन उपदेश और मिथ्या उपदेशमे कोई विशेषता ही न रहेगी। फिर तो कोई जो कुछ कहे, सभी कुछ मान लिया जाना चाहिए। यह उपदेश सत्य है यह उपदेश मिथ्या है, ऐसा निर्णय किए बिना कोई भी पुरुष नि शक होकर कल्याणके मार्गमे लग नहीं सकता।

वक्ताके निर्दोषित्वकी परख होनेपर उपदेशमें स्वत प्रामाण्य—उपदेशकी सत्यता और असत्यताका निर्णय कैसे होगा ? वह होगा युक्तियोसे परख होनेपर और उनके वक्ताओकी निर्दोषता विदित होनेपर। वक्ताके वचन, वक्ताकी निर्दोषता ध्यानमे आनेसे उपदेश स्वत प्रमाणभूत हो जाता है। तो समीचीन और मिथ्या उपदेशका निर्णय बनाये रहनेके लिए आवश्यक है कि हम सत्य वक्ताका निर्णय करें। उस ही निर्णयके प्रसङ्गमे तीन विशेषणोंमे कहकर आप्तको नमस्कार किया गया है। सूत्रके जितने भी कथन किए गए है वे सब सासारिक सङ्कटोसे मुक्ति पानेके लिए किए गए हैं। ज्ञानविज्ञान बढाकर परस्पर चर्चा करते रहनेके लिए सतोका ग्रन्थनिर्माण नहीं होता। उनके ग्रन्थोका एक उद्देश्य रहता है कि ससारके सब सङ्कटोसे सदाके लिए निवृत्ति हो जाय और इतना महान कार्य करनेके लिए सम्यक ज्ञान और सच्चे निर्णयकी आवश्यकता होती ही है। सम्यग्ज्ञान समीचीन वक्ताके उपदेशके निमित्तसे प्राप्त होता है। तब यह निर्णय करना आवश्यक हुआ कि समीचीन वक्ता कौन है ? सूत्रकारके मङ्गलाचरणमे यह सब ध्वनित होता है कि जो स्वय मोक्षके मार्गमे लगा हुआ हो और उस मोक्षके मार्गमे अन्तिम मजिलपर पहुचा हो ऐसा परम पुरुष मोक्षमार्गका नेता कहलाता है और उनके उपदेशसे ही भव्य जीव नि शक होकर उस कर्तव्यमे लगा करते हैं, ऐसी स्थिति तब ही प्राप्त होती है जबकि कर्मोंका विनाश हो जाता है। उनका स्वरूप होता है इतना निर्मल कि समस्त तत्त्व अपने आप उनके ज्ञानमे ज्ञात होता रहता है। यो इन तीन विशेषणोसे युक्त भगवान के इन गुणोकी प्राप्तिके लिए सूत्रकारोने अभिनन्दन किया है।

विशेषवादसम्मत मोक्षमार्गानुष्ठानका विशेषवादियो द्वारा समर्थन—अब यहां शङ्काकार कहता है कि विशेषवादियो द्वारा माना गया जो आप्त है आगम प्रसङ्ग है उसका जितना भी मोक्षमार्गसे सम्बन्धमे अनुष्ठानका उपदेश है वह तो युक्त ही है, क्योकि इसमे कोई बाधक प्रमाण नही आता है। उनका उपदेश है कि श्रद्धाविशेषसे सहित सम्यग्ज्ञान जो कि वैराग्यका निमित्तभूत है वह सम्यग्ज्ञान जब उत्तम सीमाको प्राप्त हो जाता है तो वही तो निश्रेयसका हेतु होता है अर्थात् लोकमे जो सर्वोपरि कल्याण है, मुक्ति है उसका कारण बन जाता है, अर्थात् सम्यग्ज्ञान ही एक

वैराग्यका उत्कृष्ट निमित्त होता है। उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त होता हुआ सम्यग्ज्ञान ही मोक्षका हेतु है और इसके सम्बन्धमें यह भी खुलासा किया गया है कि श्रद्धान कहलाता क्या है? श्रद्धान विशेष वह क्या है जिससे युक्त होकर सम्यग्ज्ञान परम निश्रेयस का हेतु बनता है। वह श्रद्धाविशेष है उपादेय तत्त्वोंमे उपादेयरूपसे और हेय तत्त्वोंमे हेयरूपसे श्रद्धान करना कि पदार्थ जो तत्त्व ग्रहण करने योग्य हैं उनमें उपादेय बुद्धि होना और जो पदार्थ हेय हैं उन हेय तत्त्वोमे हेयबुद्धि होना बस यही श्रद्धान कहलाता है और सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं इसको भी विशेषवादमे यह बताया गया है कि जो पदार्थ जिस तरह अवस्थित हैं उनको उस प्रकारसे जान लेना उसका नाम सम्यग्ज्ञान है और वैराग्य क्या चीज है? जो सम्यग्ज्ञानके मूलपर अपना विस्तार बनाता है, जिसका सम्यग्ज्ञान हेतु है ऐसा वह वैराग्य है रागद्वेषका विनाश हो जाना। सब इन सबका अनुष्ठान क्या कहलाया? रागद्वेषका विनाश हो, यथावस्थित पदार्थका ज्ञान हो, उपादेयमें उपादेयरूपका अभिप्राय बने आदिक समस्त प्रक्रियावोंका अनुष्ठान किया गया है वह भी अनुष्ठान है। उस सम्यग्ज्ञानकी भावनाका अभ्यास होना अथवा वैराग्यका, ज्ञानका, श्रद्धानका ज्ञानाभ्यास होना यही अनुष्ठान है। तो उस उपदेशमे श्रद्धान, ज्ञान और वैराग्य बताया है। और तीनोंकी भावनाका अभ्यास करना इसका अनुष्ठान बताया गया है। सो देखिये! इस मोक्षमार्गके अनुष्ठानका जो उपदेश किया गया है वह न प्रत्यक्षसे बाधित है और न अन्य प्रमाणसे। इस मोक्षमार्गके अनुष्ठानका उपदेश प्रत्यक्षसे यों बाधित नहीं कि जो जीवनमुक्त पुरुष है वे तो प्रत्यक्ष द्वारा जीवन मुक्तिका अनुभव कर लेते हैं। देखिये! मोक्ष और मोक्षमार्ग मोक्षमार्गका अनुष्ठान इन सबकी चर्चा चल रही है। विशेषवादके अनुसार। यह सब प्रत्यक्ष सिद्ध बात है। जो जीवनमुक्त हुए हैं वे प्रत्यक्ष द्वारा अपनी जीवनमुक्तिका अर्थात् अपर निःश्रेयसका अनुभव कर लेते हैं। तो इस निःश्रेयसके उपायका अनुष्ठान प्रत्यक्षसे बाधित नहीं है और जो छद्मस्थ जीव हैं वे रागद्वेषके अभावसे उसका अनुमान करते हैं। यों अनुमान से भी बाधा नहीं आती है। वे यों अनुमान कर लेते कि जिस जीवमें हर्ष और विषाद नहीं रहे रागद्वेष नहीं रहे वे जीवनमुक्त हैं, उनको निःश्रेयस प्राप्त हो गया है। तो लो अनुमानसे भी विशेषवादके निश्रेयस मार्गोपदेशमे कोई बाधा न आई और आगम की बात देखें तो यह उपदेश प्रकट दिया ही गया है कि जीवित अवस्थामे भी विद्वान राग और द्वेषसे मुक्त हो जाते हैं, ऐसा विशेषवादमे स्पष्ट लिखा हुआ है। जीवन्नेवहि विद्वान् संहर्षायासाभ्यां विमुच्यते। तो अनुमान और आगमसे भी मोक्षमार्गके अनुष्ठान मे कोई बाधा नहीं आई। इन सब प्रमाणोंसे भी यह सिद्ध हुआ कि मोक्षमार्गका अनुष्ठान ज्ञान श्रद्धाविशेष और वैराग्यके उपायसे चलता है। इस ही अनुष्ठानमें जीवनमुक्तिकी तरह परममुक्ति भी सम्भव होती है। जीवनमुक्तिका अर्थ है शरीरसहित स्थितिमें मुक्ति होना, परममुक्तिका अर्थ है कि शरीर भी न रहे ऐसी परममुक्ति हो। जन्म मरण बिल्कुल न रहे तो जीवनमुक्ति, जिस प्रकार अभी सिद्धि की गई है उस

प्रकार परममुक्ति भी सिद्ध हो जाती है तब कोई भी प्रमाण उक्त उपदेशमे बाधक नही है क्योंकि जो उपदेश दिया गया है विशेषवादमे उससे विपरीत विरुद्ध अर्थ कोई भी प्रमाण व्यवस्था नहीं बना सकता। सभी प्रमाण प्रत्यक्ष अनुमान आदिक सभी इसी उपदेशका समर्थन करते हैं। जैसा कि विशेषवादके सिद्धान्तमे उपदेश किया गया है।

ज्ञेय विषयोके विपरीत ज्ञानमें नि.श्रेयसोपायकी असंभवता बताते हुए उक्त आशंकाका समाधान—उक्त शङ्काके द्वारा सिद्ध करनेका यह अभिप्राय है शङ्काकारका कि जब विशेषवाद आदिक अन्य मतोमे भी अपने माने हुए आप्तका उपदेश सही बनता है तब उनका व्यवच्छेद करनेके लिए मङ्गलाचरणमे तीन विशेषण दिए हैं, यह कथन कैसे युक्त बन सकता है ? अब इस शङ्काका समाधान करते हैं। शङ्काकारकी उक्त शङ्का सीधे सुननेमे बडी भव्य लग रही है किन्तु उसपर जब विचार किया जाय तो यह शङ्का विचार सह नही सकती अर्थात् विचार करनेपर इस शङ्काका उच्छेद हो जायगा। उपदेशमे जो यह बताया है कि उपादेयमे उपादेयरूपसे बुद्धि होना श्रद्धा विशेष है यह कथन भी ठीक है। जैसा जो पदार्थ अवस्थित है उसका उस प्रकारसे ज्ञान कर लेना यह भी समीचीन है और राग द्वेषका प्रक्षय होना वैराग्य है। ये सब बातें समीचीन हैं पर मूलमे विपरीतता तो यह बसी हुई है कि श्रद्धा विशेषमे जो विषय बनाया जाता है, जिस तरहसे पदार्थोंके स्वरूपकी श्रद्धा करायी जाती है उन पदार्थोंका उस तरह स्वरूप तो नहीं है। जिस बातको अभी उक्त शङ्कामे छुवा ही नही गया है उस बातपर दृष्टिपात कीजिए ! श्रद्धा विशेषका लक्षण किया है ठीक है सम्यग्ज्ञानका लक्षण बनाया है ठीक है, वैराग्यका भी लक्षण ठीक है, पर श्रद्धामें जो बात बढ लायगा कि वस्तुका स्वरूप इस प्रकार है, भेदरूप है, अभेदरूप है जिस तरहमे वह लायगा वह विषय तो सही नहीं बैठता। यह कहना तो उपयुक्त है कि जो पदार्थ जिस रूपसे अवस्थित है उसका उस रूपमे परिज्ञान कर लेना सम्यग्ज्ञान है पर उस रूपमे बताये नही, उल्टे रूपमें प्रतिपादन करे तो ज्ञान सम्यग्ज्ञान तो न रहा। ज्ञानका लक्षण तो भला किया पर ज्ञानमे जो विषय बनाया जाता है विशेषवादमे वह विषय तो खुरा नही उतरता अर्थात् जैसा ज्ञानने सोचा है वैसा पदार्थमे स्वरूप तो नही पाया जाता, इस कारण उक्त उपदेश समीचीन नही हो पाता है। विशेषवादमे बताया गया है कि पदार्थ ६ होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। ये ६ पदार्थ तो उपादेय हैं और वे सदात्मक हैं, सद्भावात्मक हैं तथा प्रागभाव प्रध्वसाभाव अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव ये असदात्मक हैं। इस तरह इन सब पदार्थोंकी जैसी व्यवस्था विशेषवादमें वर्णन की है उस प्रकार उनकी स्वरूप सिद्धि तो नहीं होती है क्योंकि प्रथम तो यह देख लीजिए कि द्रव्यादिक जो ६ पदार्थ बताये गए हैं उनको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं मिलता। ६ पदार्थ तो तब

ही कहलायेंगे ना कि वे ६ स्वतन्त्र एक एक हो और एक दूसरेसे भिन्न भिन्न हो तब ही तो उनकी सख्या ६ कही जा सकेगी। लेकिन उन छहोंमे एक समवाय नामका पदार्थ तो इस तरह विशेषवादमे माना गया है कि वह एक है। द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य विशेष इन सबसे भिन्न है किन्तु जिस प्रकार समवाय माना गया है एक उस तरह द्रव्य गुण आदिकसे भिन्न एक हो गुण द्रव्यादिकसे भिन्न एक हो, कर्म अन्य पदार्थोंसे भिन्न एक हो सामान्य उन सबसे भिन्न एक हो विशेष उन सबसे भिन्न एक हो ऐसा तो माना ही नही गया है, फिर द्रव्यादिक ६ पदार्थ वहाँ कैसे सिद्ध हो जावेगे ? इसको स्थूल विधिसे यो समझ लीजिये कि द्रव्य एक नहीं माना गया है, किंतु ९ माने गए हैं। तो ६ पदार्थोंकी सख्या कैसे सही हो जायगी ? गुण भी २४ माने हैं, एक कहाँ रहा ? कर्म ५ माने गए हैं, यह भी एक न रहा, सामान्य भी पर सामान्य अपर सामान्य आदिक अनेक व्यवस्थाओमे व्यवस्थित किया गया है। विशेष भी विविध माने गए हैं वे तो स्पष्ट ही हैं। तो द्रव्यादिक ६ पदार्थ जैसे वर्णित किए गए हैं वैसे सिद्ध तो नही हो रहे। तो ज्ञानमे जो बात बतायी है वह उस तरह है नही। अत इस ज्ञानके अनुकूल श्रद्धा, ज्ञान, अनुष्ठान नि श्रेयसका साधक कैसे हो सकता है ?

द्रव्य पदके अर्थ होनेके नाते द्रव्यके एकत्वकी असिद्धि—अब विशेषवादी कहता है कि जो समाधानमे यह आपत्ति बताई कि समवायकी तरह द्रव्य एक नही होता, सो सुनो ! द्रव्यपदका अर्थ है पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, आकाश, काल दिशा, आत्मा और मन। ये ९ द्रव्य होते हैं। तो द्रव्य पदार्थ एक कैसे नही होता ? ये जो ९ द्रव्य हैं ये तो द्रव्य पदके अर्थ हैं, मायने द्रव्य पदके द्वारा क्या क्या ज्ञात होता है यह भेदरूप सूचित होता है। हैं तो वे सब द्रव्य ही। तो द्रव्य पदार्थ एक सिद्ध हो जाता है। उत्तरमे कहते हैं कि वाह ! कह भी रहे हैं कि द्रव्य पदका अर्थ ये ९ द्रव्य हैं और फिर कहते हो कि द्रव्य पदका अर्थ एक रहा। अरे लक्षणसे पहिचाननेके लिए किए गए तो वे ९ फिर द्रव्य पदार्थ एक कैसे रह गया ? शायद यह कहो कि सामान्य और सज्ञाके नामसे द्रव्य पदार्थ एक कहलायगा। यद्यपि द्रव्य ९ हैं फिर भी सामान्य रूपसे वह द्रव्य है और सबका द्रव्य द्रव्य नाम है। द्रव्य शब्दसे भी बोला जाता है इस कारणसे द्रव्य पदार्थ एक हो जायगा। इस तरह यदि विशेषवादी ऐसा प्रतिपादन करें द्रव्य पदार्थको एक सिद्ध करनेके लिए तो सुनो ! ऐसा कहनेमे भी द्रव्य पदार्थ सिद्ध नही होता है, क्योकि सामान्य जो सज्ञा बनायी तो सामान्य सज्ञा सो सामान्यवानको विषय करेगा। याने सामान्य सज्ञा है द्रव्य। तो इस सामान्य सज्ञा सामान्यवानको विषय करनेसे अब ९ पदार्थ ग्रहणमे नहीं आये। सामान्य सज्ञासे सामान्यवान ग्रहणमें आया और उस द्रव्यपदका अर्थ तो यदि सामान्यपद मान लेते हो तब तो उस द्रव्य शब्दसे विशेषमे परिणति नही हो सकती। यदि यह मानकर चलो कि द्रव्य एक सामान्य सज्ञा है और उस सामान्य सज्ञासे उस द्रव्यसे उन पृथ्वी आदिक ९ पदार्थोंका

ग्रहण होता है। जो सामान्यसंज्ञा सामान्यवानको विषय करे उसका अर्थ सामान्य पदार्थ बने तो विशेषमे कैसे परिणति बन सकती है। और, इस तरह द्रव्य पदार्थ एक सिद्ध भी नही हो सकता है। यदि वह सामान्यसंज्ञा विशेषमे प्रवृत्त होने लगे तो द्रव्य पदार्थ एक कहाँ रहा ? वे तो ६ हो गए। पृथ्वी आदिकमे द्रव्य यह जो संज्ञा है वह द्रव्यत्व सामान्यके सम्बन्धके कारणसे है। तब वहाँ द्रव्यत्व एक रहा, पर कोई द्रव्य एक नही कहलाया। द्रव्य ऐसी जो संज्ञा हुई है वह विशेषवादकी पद्धतिके अनुसार द्रव्यत्वके सम्बन्धसे हुई है। तो द्रव्यत्व सामान्यका उनमे सम्बन्ध है इसलिए उसका नाम द्रव्य पड़ा है। तो इस तरह एक तो द्रव्यत्व कहलाया, द्रव्य तो एक नही कहलाया। फिर ६ पदार्थ हैं सद्भूत हैं आदिक वर्णन करेंगे वह संगत कहाँ होगा ? तो जो वैशेषिकोने कहा कि श्रद्धा ज्ञान और अनुष्ठानसे निश्रेयसकी प्राप्ति होती है सो यह शब्द तो बडा भला है, लेकिन ज्ञानमे जाना क्या जाता है ? जो कुछ ज्ञेय बना है विशेषवादमे वह वस्तु स्वरूपके अनुरूप नही है। तब मिथ्याज्ञानसे और मिथ्याज्ञानके अनुरूप अनुष्ठानसे निश्रेयसकी प्राप्ति कैसे हो सकेगी ? प्रथम तो यह विरुद्ध बन रहा है कि ६ पदार्थ माने हैं मगर पदाथ ६ कहाँ हैं ? सामान्य तक भी एक नही है। केवल समवायको एक माना है ? तब फिर द्रव्यगुण आदिक ये एक कैसे कहला सकते हैं ?

द्रव्यलक्षणके एकत्वसे द्रव्यके एकत्वकी असिद्धि—शङ्काकार कहता है कि द्रव्यका लक्षण तो एक है क्यो द्रव्यकी आलोचनामे इतना बढकर चल रहे हो। द्रव्य एक है क्योंकि द्रव्यका लक्षण एकसे इस तरहसे द्रव्य पदार्थ एक है, यो सिद्ध हो जायगा। इसके उत्तरमे कहते हैं कि द्रव्यका लक्षण यदि एक है तो रहो, उसमे हमे कोई आपत्ति नही दिया करते, द्रव्य पदार्थ तो वह न बन जायगा। द्रव्य लक्षण एक होनेसे द्रव्य पदार्थ एक नही बना करता। यदि द्रव्य लक्षणको एक होनेसे द्रव्य पदार्थ एक मान लिया जाता है तो क्या द्रव्य लक्षण हीका नाम द्रव्य पदार्थ है सो तो है नही द्रव्य लक्षण जुदी बात है। द्रव्य पदार्थ जुदा पदार्थ है। तो यह कहकर पूर्वलक्षणको पुष्ट करना युक्त नहीं है कि द्रव्य लक्षण एक है। द्रव्य लक्षणके एक होनेसे द्रव्य पदार्थ भी नही बन जाता, क्योंकि द्रव्य पदार्थ तो लक्ष्य है और लक्ष्य द्रव्य यदि कुछ नही है, द्रव्य लक्षण ही द्रव्य पदार्थ बन जाय तो जब लक्ष्य कुछ नही तो लक्षण कुछ भी नही हो सकता है, इस लिए द्रव्य लक्षण जुदी चीज हो और, उस द्रव्य लक्षणके द्वारा जैसी चीज है वह लक्ष्यभूत पदार्थ जुदी चीज है। विशेषवादमे ऐसा माना है कि पृथ्वी आदिक तो लक्ष्य है और द्रव्यका लक्षण किया गया है कि क्रियावान हो गुणवान हो और समवायी कारण हो। तो अब यहाँ यह देखिये ! कि लक्ष्य तो अनेक है और यहाँ लक्षण एक ही प्रयुक्त किया गया है तो अनेक लक्ष्योमे एक लक्षण कैसे प्रयुक्त हो गया क्योंकि लक्षण तो प्रतिव्यक्तिमे भिन्न भिन्न रहता है। जो ही द्रव्य लक्षण पृथ्वी

है। यदि तो उस आदिकमें नहीं हो सकता, क्योंकि द्रव्यका लक्षण तो असाधारण रूपसे भिन्न हुआ होगा। तो यह कथन भी सहज सिद्ध बनता है कि पृथ्वी आदिकके लक्षण हैं और उन सबका लक्षण एक है। वस्तुतः जितने भी पदार्थ हैं उनके लक्षण उनमें ही पाये जायेंगे। भले ही जातिकी अपेक्षा उनमें एक नाम व्यवहार कर दिया जाय लेकिन जितने साधारण धर्म हैं, साथ ही विशेष धर्म भी होता है। तो प्रत्येक पदार्थ अपने अपने विशेष धर्मके नहीं है। भिन्न-भिन्न ही हुआ करते हैं।

लक्षणको साधारणासाधारणतया बताकर भी उनमें द्रव्यके एकत्वकी सिद्धि—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि द्रव्यका लक्षण जो पृथ्वी आदिकका बन रहा है सो पृथ्वी आदिक गुण आदिकसे भिन्न होते हैं, इस कारण यह द्रव्य लक्षण असाधारण धर्म है और पृथ्वी आदिक ९ में यह लक्षण समानरूपसे पाया जाता है इसलिए साधारण धर्म है याने द्रव्यका जो लक्षण कहा गया है वह न एकान्तसे साधारण है और न एकान्तसे असाधारण है। पृथ्वी आदिक ९ द्रव्य गुण कर्म आदिकसे निराले हैं, इस दृष्टिसे तो उनमें असाधारण धर्म पाया जा रहा है। असाधारण धर्मका यह काम है कि वह अन्यका व्यवच्छेद करेगा। याने अन्य पदार्थोंसे निराला वह दिखायगा इस दृष्टिसे तो यह असाधारण धर्म है और पृथ्वी आदिक ९ में वह पाया जाता है इसलिए यह साधारण धर्म है। यदि यों साधारण असाधारण दो धर्म न माने जायें तो लक्षणमें जो अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषके निराकरणकी बात कही जाती है वह कैसे सिद्ध होगी? असाधारण और साधारण दोनों प्रकारकी बात मानी जानेपर ही अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषके निराकरणकी विधि बनती है, समस्त लक्ष्यभूत व्यक्तियोंमें व्यापक जो एक लक्षण है उसे बताना सो अव्याप्तिका परिहार है। तो साधारण धर्मकी दृष्टिसे ही तो यह बताया जा सका है कि यह लक्षण समस्त लक्ष्योंमें रहता है। सो यह लक्षण साधारण हुआ ना, इसी प्रकार अलक्ष्यसे यह लक्षण अलग है याने यह लक्षण अलक्ष्यमें नहीं जाता है ऐसा कोई बताये, तब ही तो अतिव्याप्ति का परिहार होता है सो इसमें असाधारण धर्मकी बात आ गयी अर्थात् यह लक्षण अलक्ष्यसे अलग है। तो यह इसमें असाधारणता पाई गई। इस तरह जितने लोग लक्ष्य लक्षणके जानने वाले हैं सब समझते हैं कि लक्षणमें असाधारणपना और साधारणपना हुआ ही करता है। सो इसका भी जो द्रव्यलक्षण कहा है उसमें भी साधारणपना और असाधारणपना रहेगा ही। अब इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि लक्षणमें असाधारण और साधारण दोनों विधियोंसे मान लिया जाय तो एक द्रव्य पदार्थ तो सिद्ध नहीं होता क्योंकि द्रव्य लक्षणसे भी अन्य कोई लक्ष्यभूत एक द्रव्य पाया ही नहीं जाता है, क्योंकि अब तो द्रव्य लक्षणसे द्रव्य पदार्थको मान लिया है। तो एक द्रव्य पदार्थ तो सिद्ध नहीं हो सकता।

उपचरित एकत्वसे पारमार्थिक एकत्वकी असिद्धि—अब यहाँ वैशेषिक

कहते है कि पृथ्वी आदिक ९ द्रव्य तो है किन्तु उन ९ द्रव्योमे एक द्रव्य लक्षण रहता है इस कारण उस एक द्रव्य लक्षणके योगसे एक द्रव्य पदार्थ कहलाने लगेगा। समाधानमे कहते है कि इस तरहका कहना केवल उपचार मात्र रहेगा। जैसे कोई कहता है कि पुरुष लाठी है यह लाठी पुरुष है अथवा किसी पुरुषको पुकारते हैं कि ऐ लाठी ! यानि वह पुरुष लाठी लिए हुए था तो लाठीके सम्बन्धमे उस पुरुषको यह लाठी इस नामसे कह दिया, तो क्या सचमुचमे वह पुरुष लाठी हो गया ? लाठी तो नहीं हुआ किन्तु व्यवहार इस तरहका प्रसिद्ध है ही। तो इसे कहेगे उपचार कथन ! अथवा जैसे कोई अमरूद बेचने वाला ही पुरुष सडकपर चला जा रहा है तो उसे लोग यही कहकर पुकारते हैं कि ऐ अमरूद इधर आवो ! बुलाया पुरुषको पर अमरूद कहकर, क्योकि अमरूदका सम्बन्ध है, अत उपचारमे अमरूद रख लिया। यो उपचारसे कुछ नाम रख लेनेपर वास्तवमे वह वही नही बन गया। इसी तरह पृथ्वी जल, अग्नि आदिक पदार्थ ९ ही विशेषवादमे और एक लक्षणके सम्बन्धमे एक कहे जा रहे हैं तो यह सब उपचार मात्र रहा। स्वय तो एक न रहा, स्वय तो वे ९ पदार्थ हो गए। अथवा ९ की भी क्या बात कहे—जितनी तरहकी पृथ्वी हैं, जितने उसके कण-कण हैं उनपर दृष्टि दे तो पृथ्वी भी नाना हैं। तो एक द्रव्य पदार्थकी व्यवस्था नही बनती तब यह कहना कि ६ पदार्थ हैं और उनका इस तरहसे ज्ञान करना, श्रद्धान करना यह निश्रेयसका मार्ग है। तो ज्ञेय पदार्थ जब सही ज्ञानमे न आया तो वह ज्ञान निश्रेयसका मार्ग कैसे बनेगा ?

द्रव्योमे द्रव्यलक्षणके एकत्वकी भी असिद्धि—अब दूसरी बात सुनो ! जो यह कहा है कि द्रव्य लक्षण एक है और उस एक द्रव्य लक्षणके सम्बन्धसे द्रव्य पदार्थ ९ कहलाते हैं तो लक्षण भी तो एक नही है। स्वय विशेषवादमे यह कहा गया है कि पृथ्वी आदिक ५ क्रियावान द्रव्योमे ही क्रियावत् गुणवत् समवायि कारण द्रव्य है, इस प्रकारका लक्षण घटित होता है। द्रव्य ९ माने हैं, उनमे आकाश, आत्मा कहाँ क्रियावान हैं ? वे तो निष्क्रिय माने गए हैं- तो क्रियावान जो पृथ्वी आदिक ५ पदार्थ हैं उनमे ही तो द्रव्यका लक्षण गया। निष्क्रिय आकाश, काल, दिशा और आत्मा ये चार पदार्थ माने गए हैं, उनमे क्रियावानपना घटित नही होता है। तो लो लक्षण भी एक न रहा सबका। अब इन ४ पदार्थोमे यह लक्षण बना कि गुणवत समवायि कारण द्रव्य --जो गुणवान है और समवायि कारण है सो द्रव्य है। तो लक्षण एक न रहा, लक्षण दो हो गए। कुछ हैं क्रियावान द्रव्य और कुछ हैं निष्क्रिय द्रव्य। तो लक्षण दो हो गए। फिर यह कहना कैसे सही रहा कि एक द्रव्य लक्षणके योगसे ९ द्रव्य पदार्थ एक ही कहलाते हैं। अब तो सक्षेपसे सक्षेप भी करेंगे तो यह कहना पडेगा कि दो द्रव्य लक्षणोके सम्बन्धसे दो ही द्रव्य पदार्थ होते हैं।

द्रव्यलक्षणत्वके योगसे द्रव्यलक्षणके एकत्वकी व द्रव्यलक्षणके एकत्व

से द्रव्यके एकत्वकी सिद्धिके प्रयासकी विडम्बना- अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि दोनो ही द्रव्य लक्षणोमे एक द्रव्य लक्षणत्व तो पाया ही जा रहा है याने द्रव्य-लक्षण दो हैं पर उनमे द्रव्यलक्षणत्व तो एक है । यदि पहिले द्रव्यलक्षण है कि क्रियावान गुणवान समवाय कारण है तो यह भी तो द्रव्यलक्षण ही है । दूसरा द्रव्य लक्षण है गुणवान समवाय कारण द्रव्य कहलाता है । तो यह भी द्रव्यलक्षण है । तो जैसे ६ द्रव्योमे एक द्रव्य लक्षण होनेसे एक कह रहे थे तो वहाँ यह विरोध किया समाधानकर्ताओने कि द्रव्य लक्षण एक कहाँ पाया जा रहा है ? दो द्रव्य लक्षण हैं तो अब यो समझ लेना चाहिए कि दो द्रव्य लक्षण भी द्रव्य लक्षणत्वके सम्बन्धमे एक द्रव्य लक्षण कहलाने लगेंगे । तो यो द्रव्य लक्षणत्वके सम्बन्धसे दोनों द्रव्य लक्षण एक द्रव्य लक्षण कहलाये और एक द्रव्य लक्षणके सम्बन्धमे ६ पदार्थ एक पदार्थ कहलाये । अत उक्त मान्यतामे किसी भी प्रकारका दोष नहीं आता है । जैसे कि विशेषवाद सम्मत चर्चा की गई थी । समाधान—एक द्रव्य लक्षणत्वके सम्बन्धसे द्रव्य लक्षण एक कहलायेंगे और फिर उस द्रव्य लक्षणके सम्बन्धसे ६ द्रव्य पदार्थ एक कहलायेंगे । ऐसा माननेमे दोष है क्योंकि उन दो द्रव्य लक्षणोमे रहने वाला वह एक द्रव्य लक्षणत्व है क्या चीज ? जैसे कि पदार्थ ६ बतलाये हैं—द्रव्य गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय । तो यहाँ जो द्रव्य लक्षणत्व कह रहे हो वह कौनसा पदार्थ है ? वह सामान्य तो है नहीं क्योंकि सामान्य तो द्रव्य गुण कर्मके आश्रय होता है और द्रव्य लक्षण द्रव्य है नहीं, क्योंकि द्रव्य लक्षणको द्रव्य मान लेनेपर फिर द्रव्यसे भिन्न कोई द्रव्य लक्षण न बनेगा । द्रव्य लक्षणको तो द्रव्य मान बैठे तो द्रव्य लक्षण जब कुछ न रहा तो द्रव्य लक्षणके बिना द्रव्य पदार्थ लक्ष्यभूत सिद्ध कैसे हो सकेगा ? तो यो द्रव्य लक्षणको ही द्रव्य मान लिया तो अपने आपके वचनका विघात हो जाता है, अपने ही मतका विनाश हो जाता है । तो द्रव्यलक्षणत्व सामान्य पदार्थ तो रहा ।

गुणात्मकरूपसे कल्पित द्रव्यलक्षणत्वके भी योगमे द्रव्यलक्षणके एकत्व की व द्रव्यलक्षणके एकत्वसे द्रव्यके एकत्वकी सिद्धिके प्रयासकी विडम्बना यदि कहो कि द्रव्यलक्षणत्वका गुण कहा जा सकता तो गुण भी नहीं है । गुणका भी लक्षण यह किया गया है वैशेषिक सूत्रोमे कि जो द्रव्यके आश्रय हो, स्वय गुणरहित हो, सयोग तथा विभागमें निरपेक्ष कारण हो उसे गुण कहते हैं, तो यह गुण लक्षण भी उसमें नहीं पाया जाता सूत्र है उनका 'एकद्रव्यमगुण सयोगविभागेष्वनपेक्ष कारणम्" तो यह गुणका लक्षण द्रव्यलक्षणत्वमें नहीं पाया जाता, इस कारण द्रव्य-लक्षणत्वके योगसे द्रव्य लक्षणमे एक कहनेकी बात कपोलकल्पित है । यहाँ कोई तत्त्व हो नहीं, पदार्थ ही नहीं केवल बात ही बात बनाई जा रही है । शङ्काकार कहता है कि द्रव्य लक्षण ज्ञानरूप है । अत उसे गुण मान लेना चाहिए । याने जो द्रव्य लक्षण बताया गया है एक तो यह क्रियावत् गुणवत् समवायी कारण, दूसरा यह गुणवत

समवायी कारण तो ये दोनो द्रव्य लक्षण ज्ञानरूप हैं इन शब्दोके बोलते ही कुछ ज्ञान होता है और उस ज्ञान द्वारा हम फिर बोध करते है तो ज्ञानरूप होनेसे उन दोनो द्रव्यलक्षणोका गुण मान लिया जाना चाहिए। इसके समाधानमे कहते हैं कि यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि यदि उन दोनो लक्षणोको ज्ञानरूप मान लिया जायगा तो पृथ्वी आदिकमे उनका रहना असम्भव हो जायगा क्योंकि पृथ्वी आदिक ८ द्रव्य अचेतन है और उनमें ज्ञान तो पाया नही जाता और द्रव्य लक्षण है ज्ञानरूप तो उनमे ज्ञान नही पाया जाता सो इसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्यलक्षण ही नही पाया जाता, क्योंकि अब इन दोनो द्रव्य लक्षणोको ज्ञानरूप मान लिया गया है। ज्ञानरूप दोनो द्रव्य लक्षण अब पृथ्वी आदिक अचेतन द्रव्योके असाधारण धर्म नही है। अब तो द्रव्य लक्षण केवल आत्मामे ही पहुच सकेगा। क्योकि ज्ञानका अधिकरण आत्मा ही है। तो द्रव्य लक्षण ज्ञानरूप है और ज्ञान गुण है। इस तरह द्रव्य लक्षणोको गुण बताना ठीक नही है। शङ्काकार कहता है कि जैसे द्रव्य लक्षणमे एकत्व ज्ञानात्मक होनेसे सिद्ध किया जा रहा था और वह यदि सिद्ध नही हो सकता है तो द्रव्य लक्षणको शब्दात्मक मान लीजिए। तो यो शब्दात्मक दो द्रव्य लक्षणोमे गुणपना सिद्ध हो जायगा। और इस तरहसे भी गुणपना सिद्ध होनेसे एकपना होनेसे द्रव्य लक्षण है वह ६ द्रव्योके सकेतपर भी एक ही द्रव्य कहलायगा। समाधानमे कहते हैं कि द्रव्य लक्षणोको शब्दात्मक माननेपर भी गुणपना सिद्ध नही किया जा सकता। इसमे भी जो दोष ज्ञानात्मक द्रव्य लक्षण माननेपर दिये गये थे। वे सभी दोष शब्दात्मक द्रव्य लक्षणके माननेपर आते हैं, इस कारण द्रव्य लक्षणोको गुणपना नही सिद्ध किया जा सकता है।

द्रव्यलक्षणको कर्मपना मानकर शकाकारकी इष्टसिद्धिकी विपरीतता

जिस प्रकार द्रव्य लक्षणोसे न एक द्रव्यपना सिद्ध होता है न गुणपना सिद्ध होता है और इसी तरह कर्मपना भी सिद्ध नही होता है क्योकि वह द्रव्यलक्षण क्रियारूप नही है। कर्मका लक्षण यह बताया गया है कि जो एक एक ही द्रव्यके आश्रय है और स्वय निर्गुण है यथा सयोग विभागमे अन्य किसी कारणकी अपेक्षा न रखते हुए भी सामान्य कहलाता है। तो इन दोनो द्रव्य लक्षणोमे कर्मका यह लक्षण घटित नही होता है। यह द्रव्य लक्षण न तो एक ही द्रव्यके आश्रय है और द्रव्य लक्षणमे गुणपने की बातका विरोध तो यहाँ कहा ही गया। शेष भी जो कुछ चिन्ह बताये हैं कर्मका वह चिन्ह द्रव्य लक्षणमें नही पाया जाता है। कर्म तो एक परिणति है, किन्तु द्रव्य लक्षण तो कुछ भी चीज नही है, इस कारणसे द्रव्य लक्षणको कर्ममय बताकर उन्हें एक सिद्ध किया जाय और उस एक द्रव्य लक्षणके सम्बन्धसे द्रव्यको एक कहा जाय, यह कुछ भी सिद्ध नही हो सकता। यदि द्रव्य लक्षणोको एक द्रव्य कहा जायगा तो एक एक द्रव्य लक्षण कहलाया। तो जैसे ६ द्रव्य बताये है यो द्रव्य लक्षण भी ६ तरह

का हो जायगा। फिर तो द्रव्य लक्षणको दो बताना अथवा एक बताना किसी भी प्रकार सम्भव न हो सकेगा। और जब द्रव्य लक्षण एक या दो सम्भव नहीं हो सकते तो उन दो द्रव्य लक्षणोमे एक द्रव्य लक्षणत्वकी व्यवस्था बनाकर एकत्वकी व्यवस्था करना भी विवेक रहित कदम है। साराश यह है कि वाय तो एक एक द्रव्यके आश्रय जुदा जुदा ही रहता है और इसी कारणसे उसे एक द्रव्य कहते हैं। इस कारण यदि द्रव्य लक्षणको एक अवयम्प कर्म मान लिया जाता है पृथ्वी आदिक ये ६ द्रव्य हैं और ६ ही द्रव्योमे द्रव्य लक्षण घटित हो गया। तो जुदे-जुदे द्रव्य लक्षण हो जानसे द्रव्य लक्षण ६ हो जायेंगे। जैसे कि जो कर्म जिस वस्तुमे पाया जाता है वह उस वस्तुके सहारे एक कर्म हुआ, लेकिन पदार्थ तो अनेक हैं और उन सब पदार्थोंमे एक-एक कर्म रहते हैं तो यो कर्म अनेक हो जाते हैं। अब यहाँ द्रव्य लक्षणको शङ्काकारने मान लिया कर्मरूप, कर्म रहते हैं प्रत्येक द्रव्यमे जुदे-जुदे। तो जैसे कर्म अनेक हो जाते हैं अथवा ६ द्रव्योमे जितनेमे कर्म रहते हैं उतनी सख्या द्रव्योकी है। तो द्रव्य लक्षण भी कर्मकी सख्याके माफिक अनेक हो जायेंगे। तब द्रव्य लक्षण एक या दो नहीं रह सकते। तो दो द्रव्य लक्षणोमे या एक द्रव्य लक्षणमे फिर यह मान्यता सिद्ध नहीं की जा सकती है कि द्रव्य लक्षणके सम्बन्धसे ६ द्रव्य एक द्रव्य पदार्थ कहलाते हैं। और यो एक द्रव्य लक्षणत्व बताकर उन दो द्रव्य लक्षणोमे एकपना सिद्ध न किया जा सकेगा।

ज्ञेय प्रतिपादनोकी वस्तु स्वरूपानुरूपता न होनेसे उस ज्ञानसे श्रेय सिद्धिका अभाव—इस प्रकरणका साराश यह है कि वैशेषिक मतमें पदार्थ ६ माने हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय। और द्रव्योको ६ बताया है और उन ६ द्रव्योमे परस्पर बडी विलक्षणता है। आत्मा सचेतन है अन्य सब पदार्थ अचेतन हैं। दिशा और आत्मा अमूर्त हैं, आकाश अमूर्त है, शेष पदार्थ मूर्तिक हैं। तो इतना परस्पर विरोध है उनमे और उन्हे एक द्रव्य कहा जा रहा है तो जब ज्ञेयपदार्थ जैसा विशेषवादमें बताया गया है वहाँ जब सिद्ध नहीं होते तो उनका ज्ञानकरना और उस ज्ञानके अनुसार अपना मन बनाना यह मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है? इस आपत्ति के आनेपर विशेषवादियोने यह कहा कि द्रव्य यद्यपि ६ हैं लेकिन उनमे द्रव्य लक्षण एक ही पाया जाता है। तो एक द्रव्य लक्षण पाया जानेसे उनको एक कहा है और बताया कि वस्तुत्वके सम्बन्धसे वे ६ द्रव्य एक द्रव्य पदार्थ हैं और उसकी सिद्धिके लिए द्रव्य लक्षणकी बात बताई गई और द्रव्य लक्षणको एक सिद्ध करनेके लिए उनमें द्रव्य लक्षणत्वको बताया गया। तो यह तो सब उपचरितोपचरित हुआ। एक उपचार भी नहीं किन्तु दो तीन बार उपचारसे उपचार बना। जैसे पहिले तो द्रव्य लक्षणत्वके सम्बन्धसे दो द्रव्य लक्षणोमे एकता सिद्ध करनी पडी। जब इस तरह उपचारसे एक द्रव्य लक्षण सिद्ध हुआ तो उस द्रव्य लक्षणके सम्बन्धसे पृथ्वी आदिक

पदार्थको एक द्रव्य पदार्थ माननेकी बात कहनी पड़ी। तो इस तरहकी घुमाफेर करके सिद्ध करनेमे उपचरितोपचरितका दूषण आता है। और, ऐसे दूषणकी स्थितिमे एक वास्तविक द्रव्य पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है? अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि पृथ्वी आदिक ९ पदार्थोमे एक द्रव्यत्व सामान्यका सम्बन्ध है। अतः उस द्रव्यत्व सामान्यसे उन द्रव्योमे एकपना सिद्ध होता है। और यो उनमें एकपना सिद्ध हो जाने पर एक द्रव्य नामका पदार्थ सिद्ध हो जाता है। समाधानमे कहते हैं कि यह शङ्का उक्त शङ्काका ही पिष्टपेषण है, अर्थात् जैसे पिसे हुए आटेको कोई फिर पीसे तो उससे क्या प्रयोजन हल होता है? इसी प्रकार कही हुई शङ्काको फिरसे दुहराये तो उससे क्या हल होता है? वास्तवमे एकद्रव्य पदार्थ सिद्ध होता ही नही है। द्रव्यत्व सामान्य का सम्बन्ध जुटाकर उनको एक द्रव्य कहना यह मात्र उपचारसे ही सिद्ध है। वस्तुतः तो जितनेमे परिणमन है, जिसमे कर्म है, जुदे जुदे गुण मौजूद हैं वे तो सब अनेक द्रव्य पदार्थ कहलायेंगे। यहाँ तक विशेषवादमें बताये गए ६ पदार्थोमे द्रव्य नामक पदार्थों की सख्याका एकपना बताना खण्डित हो गया।

द्रव्यके एकत्वकी तरह गुण कर्म आदिके एकत्वकी भी निराकृतता— जब अनेक द्रव्य पदार्थोंको भी माननेकी बात खण्डित हो गई तो इस ही विवेचनसे २४ गुणोको एक गुणत्वके सम्बन्धसे एक गुण पदार्थ मानना ५ प्रकारके कर्मोंको एक कर्मत्वके सम्बन्धसे कर्म पदार्थ मानना यह भी खण्डित हो जाता है। जैसे द्रव्यत्वके सम्बन्धसे ९ द्रव्योको एक द्रव्य कहना मात्र उपचारसे ही बताई गई बात है, इसी प्रकार २४ गुणोमे गुण कर्मके सम्बन्धसे एक गुणपदार्थ मानना यह भी मात्र उपचार से है, इसी तरह कर्म ५ बताये गए हैं, उनमे भी कर्मत्वके सम्बन्धसे एक कर्म पदार्थकी सिद्धि करना यह भी उपचार माना जा सकता है। उस तरहका गुण पदार्थ और कर्म पदार्थ वास्तवमें एक सिद्ध नहीं हो सकते। उक्त दूषणोंके अतिरिक्त यदि यह व्यवस्था की जाती है कि द्रव्यादिक द्रव्यत्व आदिकके सम्बन्धसे एक द्रव्य कहलाते हैं तब फिर यह बतलाओ कि सामान्य पदार्थ विशेष पदार्थ और समवाय पदार्थ इन तीन पदार्थों में एकपना कैसे सिद्ध किया जा सकेगा, क्योकि एकपना सिद्ध करनेकी कुञ्जी वैशेषिक ने सामान्यका सम्बन्ध बताया है। जैसे द्रव्यत्व सामान्यके सम्बन्धसे द्रव्य एक है, गुणत्व सामान्यके सम्बन्धसे सब कुछ एक है, कर्मत्व सामान्यके सम्बन्धसे सभी कर्म एक हैं तो यह बतलाओ कि सामान्यमे क्या और सामान्यका सम्बन्ध बताकर एक सिद्ध किया जायगा। यदि सामान्यमे और सामान्यका सम्बन्ध बताकर एक सिद्ध किया जाय तो उस दूसरे सामान्यमे एकपना कैसे सिद्ध होगा? उसके लिए कोई तीसरा सामान्य बतायेंगे, फिर वह भी एक कैसे सिद्ध होगा? तो यो सामान्य कारणकी भी अनवस्था हो जायगी और अनन्त सामान्य मानने पड़ेंगे। तो यह कुञ्जी सही नहीं है कि किसी पदार्थको एक सिद्ध करनेके लिए सामान्य सम्बन्धको साधन बताया जाय।

इसी तरह विशेष अनेक हैं, उनमें एकपना कैसे सिद्ध करोगे ? कोई सब विशेषोंमें भी विशेष सामान्यका सम्बन्ध जुटा देगा, इसी तरह समवायको भी एक कैसे सिद्ध करेगा। क्या समवायमे भी किसी सामान्यका सम्बन्ध पड़ा हुआ है ? तो द्रव्यत्व सामान्यके सम्बन्धसे द्रव्यको एक नहीं सिद्ध किया जा सकता। गुणत्व सामान्यके सम्बन्धसे गुणो को एक नही बताया जा सकता और कर्मत्व सामान्यके सम्बन्धसे कमको भी एक नहीं बताया जा सकता, इस प्रकार यह मूलमे जो आपत्ति उपस्थित की गई थी कि विशेष-वादमे माने गए ज्ञेयसमूह स्वरूपके अनुरूप नही। जैसे समवाय नामका एक पदार्थ माना गया है इसी प्रकार द्रव्यादिक एक पदार्थ नही हैं। समवायको तो स्वतन्त्रतया एक मान लिया गया है। लेकिन द्रव्यादिक स्वतन्त्रतया एक नही बताए जा सकते।

सामान्य प्रत्ययके सम्बन्धसे द्रव्यादिको एक एक माननेकी आरेका— अब शङ्काकार कहता है कि जिस प्रकार समवाय पदार्थको हम एक मानते हैं कि वह इस चिन्हसे परखा जाता है कि वहाँ इसमे यह है इस प्रकारका सामान्य एक ज्ञान होता, इस कारणसे समवाय पदार्थ एक कहा जाता है। समवायका यह अर्थ है कि जैसे यह कहना कि इस ज्ञानमे ज्ञानपना है, इस शुक्लमे सफेदी है तो समवायका बोध किस तरह हुआ कि इसमे यह है, ऐसा एक सामान्यतया बोध होता है। तो इसमे यह है ऐसा ज्ञान कोई विशेष ज्ञान नही कहलाता। जिन जिनमे भी समवाय है समवाय की मुद्रा यह है कि इसमे यह है। जैसे सफेदमे सफेदी एक ही रही, इसमे यह है, जिसको इस शब्दसे सकेत किया है। वे चाहे नाना बन जायें और इद शब्द कहकर जिसको सकेत किया है यह भी नाना हो जाय, लेकिन इसमे यह है ऐसी मुद्रा तो सब जगह सामान्यरूप ही रहती है। तो विशेष प्रत्यय समवायमे नहीं होता, इस कारण समवाय पदार्थ एक माना जाता है इसी तरह द्रव्य इस सामान्य प्रत्ययमे एक द्रव्य पदार्थ सिद्ध हो जायगा। पृथ्वी है वह भी द्रव्य है जल है वह भी द्रव्य है। ६ ही पदार्थोंका नाम लेकर यही कहा जायगा कि यह भी द्रव्य है, तो सबको द्रव्य द्रव्य ऐसा सामान्य बोध होनेसे एक द्रव्य पदार्थ सिद्ध हो जायगा। इसी तरह २४ प्रकारके गुण हैं, उन सबमे गुण है गुण है, सभीमे गुणपनेका बोध होता है। उन्हे विशेष ज्ञान नही होता, इस कारण गुणपदार्थ भी एक सिद्ध हो जायगा, इसी प्रकार सभी प्रकारके कर्मोंमे यह कम है, यह कर्म है इस प्रकार सामान्य बोध होनेसे वहाँ भी कर्म पदार्थ एक हो जायगा। सामान्य भी जितना है जैसे गोत्वसामान्य, मनुष्यत्व सामान्य, तो सभी सामान्योमे सामान्य सामान्य ऐसा बोध होनेसे सामान्य पदार्थ भी एक कहलाता है। यो ही जितने भी विशेष हैं सभी वस्तुत यह विशेष है विशेष है ऐसा सामान्य ज्ञान होनेसे विशेष पदार्थ भी एक सिद्ध हो जाता है। और समवाय तो एक स्पष्ट माना ही गया है। तो इस तरह ६ पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं। फिर उनमें आपत्ति भी देना निरर्थक है।

सामान्यप्रत्ययके सम्बन्धसे द्रव्यादिको एक एक माननेकी आरेकाका समाधान और शङ्काकारके अनिष्टकी आपत्ति—उक्तशङ्काके समाधानमे कहते हैं कि विशेषवादियोंने जो यह बात उपस्थितकी है कि जैसे 'इह इद' ऐसे सामान्य ज्ञान के कारण समवाय एक है इसी प्रकार यह द्रव्य है इस तरहके सामान्य प्रत्ययके कारण द्रव्य पदार्थ भी एक हो जायगा और इस ही तरह गुण, कर्म, सामान्य, विशेष ये भी पदार्थ सामान्य ज्ञानके बलसे एक हो जायेंगे ऐसा माननेपर भी वैशेषिकोका जो सिद्धान्त है उसका विघात होना अनिवार्य हो जायगा। सिद्धान्तका घात दूर नही किया जा सकता है। ऐसी बात तो स्याद्वादियोंके मतमे ही प्रसिद्ध हो सकती है। स्याद्वादी लोग शुद्ध सग्रहनयसे सन्मात्र तत्त्व शुद्ध द्रव्यमात्र मान लेते हैं वहाँ सत् ऐसा सामान्यज्ञान होनेसे और वहाँ विशेष लिङ्गका प्रयोग न होनेसे एक सन्मात्र तत्त्व अर्थात् शुद्ध द्रव्य है ऐसा कहा जा सकता है कि नय अनेक प्रकारके भाव बतलाते हैं, प्रत्येक नयका अपना जुदा विषय है। जब शुद्ध सग्रहनयकी दृष्टिसे देखते हैं, तो वहाँ शुद्ध द्रव्य तत्त्व मात्र ज्ञानमे आता है और उस दृष्टिसे वह द्रव्य है। पर उस ही शुद्ध सग्रहनयसे जाने गए शुद्ध द्रव्यको जब अशुद्ध सग्रहनयसे देखने चलते हैं तो एक द्रव्य है, कोई गुण है कर्म है ऐसे फिर अनेक जाननेमे आ जाते हैं। फिर इस हीको व्यवहारनयसे देखने चलते हैं तो द्रव्य अनेक हैं गुण अनेक हैं तथा जो सत् हैं वह द्रव्य है, पर्याय है आदिक उसमे भेद उपस्थित होते हैं। व्यवहारनयका विषय है सग्रहनयसे ग्रहण किए हुए पदार्थमें भेद करना। जो द्रव्य है वह जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य है। जो पर्याय है वह परिस्पदरूप और अपरिस्पदरूप है अर्थात् कोई परिणमन क्रिया वाला है, कोई परिणमन गुण परिणमन वाला है, फिर उन्ही द्रव्योमे उन्ही परिणमनोमे जो भेद करते हैं तो वह सामान्यात्मक भी है विशेषात्मक भी है। इसीको जब स्याद्वाद दृष्टिसे देखते हैं तो द्रव्यसे अभिन्न है अथवा भिन्न है उसका तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वरूप जाननेके लिए हम जिस नयका भाव बनाते है उस नयकी दृष्टिसे वहाँ उस प्रकार परिज्ञान होता है। तो यो स्याद्वादकी पद्धतिसे प्रतीतिके अनुसार पदार्थका निर्णय होता है, क्योकि उसमे किसी भी प्रकारका बाधक कारण नही है, लेकिन वैशेषिकोंके सिद्धान्तमे उस प्रकारका माना जाना युक्त नही हो सकता, क्योकि फिर स्याद्वादका उनको प्रसङ्ग आ जायगा। एकान्त विशेषवाद तो न रहेगा। तो यो विशेषवादके सिद्धान्तका ही विरोध आ जायगा। उन विशेषवादियोंके सिद्धान्तमे सामान्य ही तत्त्व है, क्योकि उसमें समस्त पदार्थोंका अन्तर्भाव होता है, इस प्रकार बताने वाले सग्रहनयका सिद्धान्त नही है। इस कारण सत् प्रत्ययकी सामान्यता दिखा कर विशेष ज्ञानका अभाव दिखाकर द्रव्यादिकको एक सिद्ध करना वैशेषिक-सिद्धान्तमे नही बन सकता है।

पदके द्वारा सग्रह किये जानेकी विधि बताकर परमार्थ एकत्वको सिद्ध

करनेका शंकाकारका विफल प्रयास—अब शङ्काकार कहता है कि द्रव्यपदके द्वारा समस्त द्रव्योंकी व्यक्तियोंके जितने भेद प्रभेद हैं उन सबका संग्रह हो जाता है इस कारण वह द्रव्य पदार्थ एक है, इसी प्रकार गुण पदके द्वारा समस्त गुणोंके भेद प्रभेदो का संग्रह हो जाता है इस कारणसे गुणादिक भी एक एक पदार्थ हैं। तो द्रव्य गुण आदिकको भी एक एक मान लेनेमें कोई वैशेषिक सिद्धान्तका विघात नही होता। विशेषवादके सिद्धान्तमें कहा भी है यह कि—

"विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां तत्त्वसिद्धये। समासेनाभिधानं यत्संग्रहं तं विदुर्बुधः।"

इसका अर्थ यह है कि विस्तारसे कहे गये पदार्थोंका एकत्व सिद्ध करनेके लिए जो संक्षेपसे कथन किया जाता है उसको विद्वानोंने संग्रह कहा है। शङ्काके समाधान में जो स्याद्वादियोंने यह बताया था कि स्याद्वाद मतका प्रसङ्ग आयगा, विशेषवादमे संग्रहनय नहीं माना है, तो देखलो! विशेषवादके सिद्धान्तमें भी संग्रहकी कथनी आया करती है और सूत्र भी इस प्रकार बताया गया है कि पदार्थधर्मसंग्रह प्रवक्ष्यते अर्थात् पदार्थ संग्रह और धर्मसंग्रहको अब कहेंगे। इस प्रकार जो एक सूत्र कहा गया है उससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि विशेषवादमें पदार्थ संग्रह और धर्मसंग्रहको भी माना गया है! और जब संग्रह माना गया है तो सत् सामान्य कहकर संग्रहसे उन सबको एक ही द्रव्य पदार्थ कहा जायगा, गुण पदार्थ कहा जायगा, इसमें कौनसा विरोध आता है? उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि विशेषवादका संग्रहपना देने का कथन भी बिना विचारे ही सुन्दर प्रतीत होता है क्योंकि परमार्थमें तो उस तरह एक एक द्रव्य गुणादिक पदार्थोंकी प्रतिष्ठा नहीं बनती है। संग्रह करके कल्पनामें समझ लेनेकी बात हुई कि एक द्रव्य शब्द कहकर ९ द्रव्योंका अथवा असंख्याते द्रव्यों का संग्रह कर दिया जाय। वस्तुतः एक एक द्रव्य तो सिद्ध नहीं होता। इस संग्रहमें जो कुछ भी सोचा गया है उसमें एक पदका विषय होनेसे एकत्वके उपचारकी बात कही गई है। एक द्रव्य शब्दसे उन ९ का ग्रहण कर लिया जाता इसलिए ९ में एकत्वका उपचार है। कहीं वे ९ एक नहीं बन गए। उनकी क्रिया जुदी-जुदी गुण जुदे जुदे, फिर कैसे वे एक कहे जा सकते हैं? जो उपचरित पदार्थोंकी संख्यामें या कल्पना किए गए पदार्थ स्वरूपसे कोई संख्याकी व्यवस्था बना लेवे, कल्पना कर लेवे तो उससे कही वास्तवमें पदार्थ संख्या नहीं बन जाती है। यदि किसी कल्पना भरके कारण कोई वास्तविकता बना दी जाय तो इसमें अनेक दूषण आते हैं। एक पदके द्वारा वाच्य होनेके कारण वास्तविक एकत्व सिद्ध नहीं होता है क्योंकि एक पदके द्वारा पदार्थोंका एकत्व सिद्ध करनेमें दूषण है, व्यभिचार आता है। जैसे सेना एक शब्द है, इस एक पदके द्वारा तो हाथी, ऊँट, घोडा, हथियार आदिक कितने ही पदार्थोंका

बोध हो जाता है या वन शब्द कहा तो वनमे कितने प्रकारके रूखोका समूह, आम, नीम आदिक अनेक वृक्षोका समूह ध्वनित हो जाता है। तो शब्द तो पद तो एक है— वन, लेकिन उसके द्वारा अनेक पदार्थोंका बोध होता है। तो एक पद है और उसके वाच्य अनेक हैं। तब यह नियम तो न बन सकेगा कि एक पदके द्वारा कहे जानेसे पदार्थ एक हो जाता है। कल्पना भरमे एक मान लीजिए पर वस्तुत. पदार्थ एक नही हो जाता है।

सेनापदवाच्य एक अर्थको सिद्ध करनेका शकाकारका प्रयास—अब शङ्काकार कहता है कि सेना पदके द्वारा वाच्य तो एक ही पदार्थ है और वह पदार्थ है सम्बन्ध विशेष। सेना शब्दसे हाथी घोडा, ऊँट आदिक अनेक वाच्योका ज्ञान न करें किन्तु कवच पहिने हुए हथियार लिए हुए, हाथी घोडापर बैठे हुए, इन सबका सम्बन्ध विशेष इस सेना शब्दके द्वारा ज्ञात होता है और सेना शब्द द्वारा जो ज्ञात हुआ सो सयुक्त सयोजकोका अल्पीकरण हुआ अर्थात् अनेक हाथी अनेक घोडे अनेक मनुष्य उनका सयोग बनाकर एक शब्दमे एक सेनापतिमे उनको ढाल दिया है। तो इस तरह एक सेनापतिके द्वारा सम्बन्ध विशेष वाच्य हो जाता है और फिर वह हाथी घोडा आदिक अनेकका बोधक बन गया, क्योकि उन सब अनेकोका अल्पीकरण रूप सम्बन्ध विशेष सेना शब्दके द्वारा ज्ञात हुआ। इसी तरह वन शब्दके द्वारा भी खैर, बमूरा आम, नीम आदिक अनेक शब्द वृक्षोकी एक सम्बन्ध प्रतिपत्ति विशेष जाना गया अर्थात् अनेक पदार्थोंका समूह ऐसा एक सम्बन्ध विशेष भी वन शब्दके द्वारा वाच्य है। इस तरहसे एक पदके द्वारा वाच्य होनेसे वास्तविक एकता होती है, इसमे किसी प्रकारका दोष नहीं आता। तो जैसे इस उदाहरणमें एक पदके द्वारा एक वाच्य अर्थ जाना गया कोई दोष नही होता। इसी प्रकार द्रव्य है यह इस तरहका एक पदार्थ एक द्रव्य पदके द्वारा वाच्य बन गया। और इसका अनुमान प्रयोग भी बन जाता है कि द्रव्य यह एक पदार्थ है, क्योकि एक पदके द्वारा वाच्य होनेसे जो जो एक पदके द्वारा वाच्य होता है वह-वह एक पदार्थ होता है। जैसे सेना वन आदिक और इसी प्रकार द्रव्य भी एक पदके द्वारा वाच्य है इस कारण द्रव्य एक पदार्थ है। इसी तरह गुण आदिक भी एक पदार्थ है। जो सेना बनका उदाहरण दिया उस उदाहरण से यह पुष्ट किया कि एक पदके द्वारा वाच्य एक अर्थ कहलाता है। तो गुण शब्दके द्वारा वाच्य एक गुण पदार्थ हुआ, कर्म पदके द्वारा वाच्य एक कर्म पदार्थ हुआ, इस तरहसे ६ पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं और तब उनका ज्ञान, उनका श्रद्धान और उनका अनुष्ठान मोक्षका मार्ग बन जाता है।

सेना, बन आदि पदसे अनेक अर्थोंकी प्रतीति प्राप्ति प्रवृत्ति प्रसिद्ध होनेसे एक पद द्वारा एक अर्थको वाच्य सिद्ध करनेके प्रयासकी अनर्थकता—

उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि एक पद वाच्यपनेका हेतु देकर एक पदार्थकी सिद्धि करा देने वाला अभिप्राय अधिकारपूर्ण नही है, क्योंकि सेना शब्दसे अनेक हाथी, घोडे, प्यादे आदिक पदार्थोंमें प्रतीति प्रसिद्ध है, प्रवृत्ति सिद्ध है और प्राप्ति भी देखी जाती है। जैसे किसीने सेनाका कोई जिक्र किया तो उसको उसमे उन सभी पदार्थोंकी प्रतीति हो जाती है कि यह कहा गया है और प्रवृत्ति भी सभीकी बनती है, जब देखते जावें तो प्राप्ति भी वहाँ ये सब नाना पदार्थ होते हैं। इसी तरह वन शब्द बोलनेसे खैर, पलास, आम्र आदिक अनेक पदार्थोंकी प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति जानी जाती है वही शब्दका अर्थ प्रसिद्ध रहता है। शब्द बोला और उस शब्दको बोलकर जहाँ ही प्रवृत्ति प्रतीति और प्राप्तियाँ बने अर्थ वही तो कहलायगा। तो शङ्काकारका जो यह अभिप्राय था कि सेना वन आदिक शब्द जब बोले जाते हैं तो उनसे कोई सम्बन्ध विशेष ही अर्थ निकलता है। सो ऐसा तो कही नही देखा गया किसीके अनुभवमे नही आया कि सेना शब्द बोले तो उसे सुनकर किसी समय विदेशमे ही प्रतीति बने और प्राप्ति बने। और जिस कारण सेना शब्दका अर्थ किया वह प्रत्यासत्ति विशेष सिद्ध हुआ। शङ्काकारका यह भाव था कि जब वन शब्द बोला तो उस के नाना प्रकारके पदार्थ नही हुए, वृक्ष विविध नही हुए किन्तु कितने ही वृक्ष हो उन सब वृक्षोको एक शब्दमे बाँध दिया, एक ऐसा सम्बन्ध बना कि सभी सम्बद्ध होकर एक भाषामें आ जाय, ऐसा सम्बन्ध विशेष ही वन शब्दका अर्थ है, लेकिन यह कहना कपोलकल्पित है। वन शब्दको सुनकर मनुष्य एकदम नाना प्रकारके वृक्षोका ज्ञान करते हैं और वनमें जब जायेंगे तो वे नाना प्रकारके वृक्ष प्राप्त ही होगे। इस कारण एकपद वाच्य होनेसे एक ही पदार्थ सिद्ध हुआ, यह कहना सही नही उतरता। अब शङ्काकार कहता है कि सेना, वन आदिक शब्दोका अर्थ यह सम्बन्ध विशेष याने प्रत्यासत्ति विशेष नहीं है क्योंकि सम्बन्ध विशेषसे संयुक्त हाथी घोडा आदिक तथा सम्बन्ध विशेषसे विशिष्ट खैर, आम जामुन आदिक उन सेना वन आदिक शब्दोके अर्थ कहलाते हैं। पहिले यह बताया था कि सेना शब्दका अर्थ है हाथी, घोडा आदिक नाना पदार्थोंका एक विशिष्ट सम्बन्ध सन्निवेश उसमे यदि आपत्ति आयगी तो यो अर्थ लगा लीजिए कि सेना शब्दका अर्थ है सम्बन्ध विशेषसे विशिष्ट हाथी, घोडा आदिक पदार्थ। इसी प्रकार वन शब्दका अर्थ लगा लीजिए सम्बन्ध विशेषसे विशिष्ट खैर, आम, नीम आदिक अनेक पदार्थ। तब तो एक पद वाच्य होनेसे एक अर्थ सिद्ध बन बैठेगा। अब कहते हैं कि वाह कैसा अविवेकपूर्ण कथन है कि यह कहे जा रहे हैं कि सेना शब्दका अर्थ है सम्बन्ध विशिष्ट हाथी घोडा आदिक पदार्थ अथवा वन शब्दका अर्थ है सम्बन्ध विशिष्ट विविध वृक्षसमूह। तो नाना पदार्थ अर्थमें बताते जा रहे और एक पद वाच्यका रटन लगाते जा रहे हैं। कहाँ रहा अब एक अर्थ ? तो एक पदसे वाच्य होनेसे एक अर्थ न रह सका। पदका एक अर्थ हो भी सकता और प्राय अनेक अर्थ हुआ करते है। तब एक पद वाच्यपना हेतु सदोष हो गया और उसी

प्रकार गो ऐसे एक पदके द्वारा पशु पक्षी आदिक १०–११ प्रकारके पदार्थ वाच्य देखे जाते हैं तो स्पष्ट दूषित हो गया यह हेतु कि एक पद वाच्य होनेसे एक अर्थकी सिद्धि होती है। यह तो एक पद है और उस एक पदके द्वारा वाच्य ये नाना प्रकारके अर्थ बन गए तो एक पदार्थकी सिद्धि न हो सकी। तब यह कहना कि केवल ६ पदार्थ हैं और उन्हे इस तरह मानें कि जैसे समवाय एक हैं, इसी तरह द्रव्य गुण आदिक भी एक है यह कैसे वस्तुका सही स्वरूप कहा जा सकता है ?

अनेक अर्थोंके कारण एक पदको विभिन्नरूप माननेका शङ्काकारका विडम्बित प्रयास— अब यहां शङ्काकार कहता है कि गो यह एक पद ही पशु आदिक अनेक अर्थोंका वाचक नही है किन्तु जितने अर्थोंको गो शब्दने बताया प्रत्येक वाच्य भेदसे गो शब्दमे भी भेद पडा हुआ है। जैसे गो शब्द गायका वाचक है। वह गो शब्द वाणी आदिका वाचक नही है। दूसरा ही गो शब्द है तो गायका वाचक है और दूसरा ही गो शब्द है जो दिशाका वाचक है दूसरा ही गो शब्द वाणीका वाचक है, इस तरह यदि ये ११ पदार्थ वाच्य होते है तो ११ प्रकारके ही वे गो शब्द हैं। एक गो शब्द नही है, क्योंकि अर्थके भेदसे शब्दके भेदकी व्यवस्था पाई जाती है। पदार्थ जुदे हैं और ऐसे जुदे पदार्थको कहनेका यत्न हो तो उन्हे भिन्न–भिन्न शब्द बोलकर ही बताया जाता है। तो पदार्थ भेद होनेसे शब्द भेदकी व्यवस्था न हो तो समस्त पदार्थोंका एक पदके द्वारा ही वाच्य होनेका प्रसङ्ग हो जायगा। लोकमें चाहे कितने ही पदार्थ हो—गाय घोडा, हाथी आदमी, कुत्ता आदिक भिन्न–भिन्न भी पदार्थ हो, लेकिन वे सब अनेक शब्दोके द्वारा वाच्य न बनेंगे किन्तु एक शब्दके द्वारा ही वाच्य बन जायें ऐसा प्रसङ्ग होगा और ऐसा प्रसङ्ग होना तो है नही, दोष आयगा। उक्त शङ्काके समाधानमे कहते है कि ऐसा रास्ता बनाना अनिष्टकी आपत्ति देने वाला है याने गो शब्द एक नही है, ११ पदार्थोंका बोधक है। तो ११ प्रकारके गो शब्द हैं, ऐसा कहनेमे अनिष्टापत्ति आती है, फिर तो जैसे एक गो शब्द ११ पदार्थोंका बोधक बना और वहां मान लिया कि नही, वे तो ११ गो शब्द हैं। इसी प्रकार द्रव्य यह पद भी अनेक प्रकारका बन बैठेगा। ९ प्रकारके द्रव्योका बोधक है द्रव्य शब्द तो द्रव्य शब्द भी ९ प्रकारका बन बैठेगा क्योकि पृथ्वी आदिक अनेक पदार्थोंका वाचक हुआ है यह। वहां यह कह बैठेगे कि पृथ्वीमे अन्य ही द्रव्य पद प्रवृत्त होता है, जल आदिमे अन्य ही द्रव्य पद प्रवृत्त होते हैं। जलका वाचक अन्य ही द्रव्य पद है अग्नि आदिकका अन्य ही द्रव्य पद है। इस तरह पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन सबमे एक पद वाच्यपना द्रव्य पदार्थकी सिद्धि न होगी, क्योंकि गोके बताये गए दृष्टान्तकी तरह द्रव्य अनेक पद हो जायेगे। अत. शङ्काकारका मूल अभिप्राय सिद्ध नहीं होता है।

द्रव्यत्वके अभिसम्बन्धको द्रव्यपदका अर्थ बतानेकी अविचारितरम्यता

अब शङ्काकार कहता है कि द्रव्यत्वका अभिसम्बन्ध एक द्रव्यपदका अर्थ है पृथ्वी आदिक अनेक अर्थ नही हैं, याने द्रव्य शब्द बोला तो द्रव्य शब्दके बोलनेसे ज्ञात क्या हुआ ? क्या पदार्थ जाना गया ? द्रव्यत्वका सम्बन्ध द्रव्यत्वका समवाय। द्रव्य शब्द बोलते ही लोगोने यह पहिचाना कि द्रव्यत्वका सम्बन्ध विशिष्ट अर्थ ज्ञात हुआ। पृथ्वी आदिक अनेक पदार्थ ज्ञात नही होते, क्योंकि पृथ्वी आदिक तो पृथ्वी आदिक शब्दके द्वारा वाच्य हैं। जब पृथ्वी आदिक बताना होगा तो उन शब्दोके द्वारा बतायेंगे और द्रव्य शब्द बोलकर द्रव्यत्वका सम्बन्ध ज्ञात हुआ है, तब एक ही द्रव्य पद अनेक बन गए सो बात नही कह सकते। जैसे कि गौ शब्द अनेक बन गए, इस तरह द्रव्यपद अनेक बन जायें सो बात नही है, क्योंकि द्रव्य शब्दका अर्थ तो पृथ्वी आदिक नहीं है, किन्तु द्रव्यत्वका सम्बन्ध है। इस शङ्काके उत्तरमे पूछते हैं—तब क्या इस समय द्रव्यत्वका सम्बन्ध जो बताया गया है द्रव्य पदार्थ वह क्या चीज है ? क्या वह द्रव्य पदार्थ है ? द्रव्य शब्दमे द्रव्य पदार्थका ही तो ज्ञान कराना चाहिये था। अब यहाँ यह बतला रहे हैं कि द्रव्य शब्दका अर्थ है द्रव्यत्वका अभिसम्बन्ध। सो द्रव्यत्वका अभिसम्बन्ध द्रव्य पदार्थ है। तब वह द्रव्य पदार्थ तो हो नहीं सकता, क्योंकि अब तो वह द्रव्यत्वसे उपलक्षित समवाय पदार्थ बन गया। द्रव्यत्वका अभिसम्बन्ध ऐसा सुनकर कोई क्या जानेगा ? यह ही तो जानेगा कि द्रव्यत्व करके विशिष्ट समवाय पदार्थकी बात कह रहे हैं। तो द्रव्य पदार्थ तो इस पदके द्वारा वाच्य न हो सका, इसी प्रकार गुणत्वका अभिसम्बन्ध गुणपदका अर्थ है यह कहना भी असङ्गत सिद्ध हो जाता है, कर्मत्वका अभिसम्बन्ध कर्मपदका अर्थ, है यह कहना भी निराकृत हो जाता है, क्योंकि गुणत्व अभिसम्बन्ध भी तो गुणत्वसे उपलक्षित समवाय पदार्थ ही कहलाया गुण नही कहलाया। कर्मत्वका अभिसम्बन्ध कर्मत्वसे उपलक्षित समवाय कहलाया, कर्म नहीं कहलाया। और, ऐसा कथन अगर करेंगे कि द्रव्यत्वका अभिसम्बन्ध द्रव्य पदार्थ है तो सामान्य आदिक पदार्थोंकी सिद्धि फिर कैसे करेंगे ? क्योंकि सामान्य आदिक पदार्थोंमें अन्य सामान्यका अभिसम्बन्ध तो असम्भव ही है। सामान्यत्वका अभिसम्बन्ध सामान्य पदका अर्थ है ऐसा ही कुछ कहना पड़ेगा पर सामान्यमे सामान्यका सम्बन्ध तो नहीं है। इसी प्रकार विशेषत्वका अभिसम्बन्ध विशेष पदका अर्थ है, यह भी अटपट बात होगी। समवायका सम्बन्ध समवाय है फिर तो ऐसा कहनेके लिए भी तैयारी करनी पडेगी। तो एक पद वाच्य होनेसे एक पदार्थ बनना हो सो युक्त नहीं है और ऐसे उपयुक्तकी सिद्धि करनेके लिए नाना युक्तियाँ दी जाती हो, यह समयका व्यर्थ खोना है।

द्रव्यत्वके अभिसबधको द्रव्यपदका वाच्य कहनेसे द्रव्यकी वाच्यता न हो सकनेकी तरह अन्य किसीके भी वाच्यत्वकी अनुपपत्ति—जैसे द्रव्यत्वके अभिसम्बन्धको द्रव्य पदार्थ नही कहा जा सकता, गुणत्वके अभिसम्बन्धको गुण पदार्थ नही कहा जा सकता, कर्मत्वके अभिसम्बन्धको कर्म पदार्थ नहीं कहा जा सकता इसी

प्रकार पृथ्वीके अभिसम्बन्धको पृथ्वी कहना, जलत्वके अभिसम्बन्धको जल कहना आदिक कथन भी खण्डित हो जाते हैं क्योंकि पृथ्वीत्वका जो अभिसम्बन्ध है वह पृथ्वी शब्दके द्वारा वाच्य नहीं है। पृथ्वीत्वका जो अभिसम्बन्ध है वह तो पृथ्वीत्वसे उपलक्षित समवाय कहलायगा। समवायका अर्थ यही तो है कि तत्त्वका तत्त्ववानमे तादात्म्य सम्बन्ध होना। तो पृथ्वीत्वका जो पृथ्वीके साथ सम्बन्ध देखा जा रहा है वह पृथ्वीत्व विशेषणसे उपलक्षित होकर समवाय ही कहा गया हैं, पृथ्वी नहीं कहा गया है। पृथ्वी शब्दसे समवाय कैसे कहा जा सकता है ? समवाय दूसरी चीज है। तो पृथ्वीत्वका अभिसम्बन्ध है समवाय वह पृथ्वी शब्दके द्वारा नहीं कहा जा सकता। तो यो पृथ्वी पदार्थ कुछ भी न रहा। इसी तरह जलत्वका अभिसम्बन्ध आदिक भी जिस किसी तत्त्वके अभिसम्बन्धको यदि शब्दके द्वारा तत्त्ववानको बताया जाय तो वह अटपट ही बात होगी। तो यो न तो पृथ्वी आदिककी व्यवस्था बनती है, न द्रव्य गुण आदिक पदार्थोंकी व्यवस्था बनती है। तब उस रूपसे जो ज्ञान किया और श्रद्धान तथा अनुष्ठान किया गया बताते हैं उसे मोक्ष मार्ग नही कहा जा सकता है।

पृथिवी शब्द द्वारा पृथ्वी न कहकर द्रव्य विशेष वाच्य कहे जानेमे दोषप्रसङ्गोंका विवरण—अब शङ्काकार कहता है कि पृथ्वी शब्दसे द्रव्य विशेष कहा जाता है, इस कारण अवाच्यपनेका दोष नही दिया जा सकता। पृथ्वी शब्द है और उसके द्वारा एक द्रव्य विशेष कहा गया है। इस शङ्काके समाधानमे सुनो ! कि पृथ्वी शब्दके द्वारा जिस द्रव्य विशेषका अभिधान बताते हैं वह पृथ्वी द्रव्य विशेष और है ही क्या द्रव्य ? पाषाण आदिक पृथ्वीके भेदोके अतिरिक्त ? विशेषवादमे जितने भी पिण्डरूप पदार्थ हैं—वृक्ष हो, पत्थर हो, शरीर हो, ये सब पृथ्वी माने गए हैं। तो इन अनेक भेदोको छोडकर पृथ्वी द्रव्य विशेष वह क्या है जो पृथ्वी शब्दके द्वारा कहा गया द्रव्य विशेष है ?

पृथिवी शब्दका वाच्य अनेकोंका सग्रह मानकर बनाई गई विडम्बना का वर्णन—यदि यह कहो कि पृथ्वी इस पदके द्वारा जो कुछ भी सग्रहमे आता है वह है पृथ्वी शब्दके द्वारा वाच्य पृथ्वी द्रव्य विशेष। तो सुनो ! वही रोना तो फिर आ गया, फिर कैसे पृथ्वी पदके द्वारा उस ही एक शब्दके द्वारा अनेक अर्थोंका सग्रह नही हुआ ? प्रकरण तो यह चल रहा है द्रव्य पदार्थ एक है, क्योंकि वह एक द्रव्य पदके द्वारा वाच्य है। तो सिद्ध तो करना है एक अर्थको और यहाँ खुद ही शङ्काकार के वचनोसे सिद्ध यह हो बैठता है कि एक पदके द्वारा अनेक अर्थोंका सग्रह किया जाता है। तो 'पृथ्वी' इस पदके द्वारा यदि अनेक पृथ्वी भेदका सग्रह किया गया है और सग्रह किया गया सारा भेद प्रभेद इस पृथ्वी शब्दके द्वारा वाच्य है तो पृथ्वी पद के द्वारा अनेक अर्थ कैसे सग्रहीत हो गए ? जो एक कहलाये और अनेक अर्थोंका

संग्रह हो जाता है फिर भी वाच्य एक रहता है, तो बडी मुश्किलकी बात है कि जिस ही प्रकरणको समझानेके लिए अनेक उदाहरण दिये जाते हैं उन उदाहरणोंको समझानेके लिए प्रकरणका उदाहरण दे बैठते हैं। यह तो बडा कठिन अवरोध है। साराश यह है कि शङ्काकारका जो यह कथन था कि द्रव्य पदार्थ एक जाना जाता है, क्योंकि एक द्रव्य पदके द्वारा वाच्य होता है वह। जो जो एक पदके द्वारा वाच्य हो वह एक है। इसमे अनेक दूषण आये और इस हेतुसे एक द्रव्य पदार्थ सिद्ध नहीं।

विशेषवादमे प्रयुक्त संग्रहकी समीक्षामें शब्दात्मक संग्रहके वर्णनकी आलोचना—अब संग्रहके विषयमे बात सुनो। प्रकरण पाकर विवश होकर शङ्काकारने जो यह सूत्र पेश किया था कि पदार्थ धर्मसंग्रह ऋषियोने माना है, तो उसमे पहिले संग्रहके विषयमे ही समीक्षा कीजिए। अब संग्रह किसका नाम है? यह संग्रह कहलाता क्या है? क्या वह संग्रह शब्दात्मक है? अथवा ज्ञानात्मक है अथवा अर्थात्मक है? स ग्र ह ऐसे शब्द बोल दिया अथवा लिख दिया। क्या इतनका ही नाम संग्रह है और उससे क्या इष्ट सिद्धि बन जाती है? अथवा कोई प्रत्यय हो, बोध हो तो क्या बोधरूप ही वह संग्रह है? अथवा वह संग्रह अर्थात्मक है? पदार्थस्वरूप है? इन तीन विकल्पोमेसे यदि प्रथम विकल्प लाते हो अर्थात् संग्रह शब्दात्मक है तो यह बडी कठिन बात है। शब्दके द्वारा अनन्त द्रव्यादिक भेद प्रभेदोका पृथ्वी आदिक भेद प्रभेदोका संग्रह किया जाना तो अशक्य है। शब्द तो सीमित है, एक है, पदार्थ अनन्तानन्त हैं। तो उन पदार्थोंका एक शब्दके द्वारा संग्रह कैसे किया जा सकता है? क्योंकि उन समस्त पदार्थोंका संकेत किया जाना अशक्य है और संकेत भी किया जाना इस तरह भी अशक्य है कि सभी पदार्थ हैं, प्रत्यक्षभूत नहीं हैं। संकेतका मतलब है इस शब्दका यह अर्थ है, इस प्रकारका इशारा, यह शब्दके द्वारा किया नही जा सकता, उसका कारण यह है कि न हम लोगोको सर्व पदार्थ प्रत्यक्षगम्य है और न ही अनुमानगम्य हो इन पदार्थोंका विश्वके समस्त पदार्थोंका न तो क्रमसे अनुमान द्वारा बोध होता है और न एक साथ ही अनुमान द्वारा बोध होता है। तो जो न प्रत्यक्षभूत है न अनुमेय है, सर्व प्रकारसे अज्ञेय है, हमारे द्वारा ज्ञानमे नही आता, तो ऐसे अज्ञेय पदार्थोंमे संकेत किया नहीं जा सकता। जिन पदार्थोंका हमे ज्ञान नही है उन अज्ञात पदार्थोंके सम्बन्धमे संकेत ही क्या किया जा सकता है? तो जब उनमे संकेत नहीं किया जा सकता। तो ऐसे असंकेतित पदार्थोंमे शब्दकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? और जब शब्द द्वारा पदार्थोंका संकेत न होगा और संकेत न होनेसे उनमें शब्दकी प्रवृत्ति न होगी। तब शब्दात्मक संग्रहको कैसे सिद्ध किया जा सकता कि एक शब्दके ही द्वारा अनन्त पदार्थ संग्रहीत हो जाते हैं। तब शब्दात्मक संग्रह सिद्ध नहीं होता।

प्रत्ययात्मक संग्रहके प्रस्तावकी आलोचना—अब शङ्काकार कहता है कि यदि शब्दात्मक संग्रह सिद्ध न हो तो मत हो किन्तु प्रत्ययात्मक संग्रह तो सिद्ध हो।

प्रत्यात्मक सग्र'हकी व्युत्पत्ति यह है कि जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थ सगृहीत हो सकते हैं तो सगृहीत सिद्ध हो जाता है। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि जिस प्रत्ययके द्वारा अनन्त पदार्थोंका सग्रह कर रहे हैं वह प्रत्यय होता किस तरह है ? किस साधन से वह ज्ञान बनता है ? क्या प्रत्यक्षमे वह सग्रह हो जाता है या अनुमानसे या आगम से ? शङ्काकारका यही तो कहना था कि ज्ञानके द्वारा सर्व पदार्थोंका सग्रह हो जाता है तो वह ज्ञान कौनसा है ? प्रत्यक्ष तो कह नही सकते कि प्रत्यक्षसे सर्व पदार्थोंका सग्रह हो जाता। वे प्रत्यक्ष तो दो तरहके देखे जाते हैं--एक हम लोगोंका प्रत्यक्ष और एक योगियोका प्रत्यक्ष। तो हम लोगोके प्रत्यक्षमे तो सर्व पदार्थोंका सग्रह नही किया जा सकता, क्योंकि सर्व पदार्थ अनन्त द्रव्य भेद प्रभेदोमे पडे हुए हैं। वह हम लोगोके प्रत्यक्षका विषयभूत नही है। तो हम लोगोके प्रत्यक्षसे तो सर्व पदार्थोंका सग्रह बन नही सकता। यदि कहो कि योगियोके प्रत्यक्षसे सर्व पदार्थोंका सग्रह हो जायगा तो इस तरह माननेपर तो योगियोके ही सग्रहका प्रसङ्ग हुआ। हम लोगोके तो सग्रह न हो सका, और मोक्ष होना है हम लोगोका और हम ही लोगोमे वस्तुका बोध हो न सका तो हमारा माथापच्ची करनेका मतलब क्या बनेगा ? योगियोके प्रत्यक्षसे तो हम लोग प्रतिबुद्ध नही हो सकते। यदि हम लोग प्रतिबुद्ध हो जायें प्रत्यक्ष से तो हम सबको तुरन्त योगित्वका प्रसङ्ग हो जायगा, क्योकि हम सब लोगोने भी सर्व पदार्थोंका सग्रह कर लिया है, पर है ऐसा कहाँ ? तो प्रत्यक्षसे सर्व पदार्थोंके सग्रह की बात नही बनती, इसी प्रकार अनुमानसे भी सर्व पदार्थोंके सग्रहकी बात नही बनती है, क्योकि अनन्त द्रव्य गुण भेदरूप पदार्थ और उनके प्रभेदरूप पदार्थ इतने अनन्तानन्त पदार्थोंको सिद्ध करने वाले तो अनन्त साधन होगे, अनन्त लिङ्ग होगे। उनको हम क्रम-क्रमसे जान नही सकते। जब तक साधनका प्रत्यक्ष न हो तब तक साध्यकी सिद्धि नही हो सकती। तो सर्व पदार्थोंका सग्रह अनुमानसे जब किए जानेकी बात कही जा रही है तो उसका साधन प्रत्यक्ष होना चाहिए ना ? साधन अनन्त होगे, उनको हम छद्मस्थ लोग जान नही सकते। यदि कहो कि अनन्त पदार्थोंके साधक लिङ्गोका ज्ञान हमे प्रत्यक्षसे नही हो पाता तो अन्य अनुमानसे उन साधनोकी प्रतिपत्ति हो जायगी। तो उसका परिणाम यह है कि अनुमानान्तरसे अनन्त लिङ्गोकी प्रतिपत्ति माननेमे अनवस्था दोष हो गया फिर तो अनुमानान्तरमे पडे हुए साध्यकी सिद्धिके लिए साधनको समझनेके वास्ते अन्य अनुमान बनाने होगे। यो इस प्रकार अनुमानान्तर बनानेमे ही लग जावें, प्रकृत अनुमानकी सिद्धि नही हो सकती। यदि कहो कि आगमसे सग्रहात्मक ज्ञान हो जायगा तो यह बतलावो कि जिस आगमसे संग्रहात्मक ज्ञान करना चाहते हैं वह आगम युक्तिसे सहित है या युक्तिसे रहित है ? युक्तिसहित तो बता नही सकते, क्योकि सब आगमोमें युक्ति ही असम्भव है और युक्ति नही चल रही तब तो आगमकी दुहाई दे रहे, उसमे युक्ति ही क्या चलेगी ? यदि कहो कि युक्तिरहित आगमसे सग्रहात्मक प्रत्यय सिद्ध हो जायगा तो ऐसा आगम प्रमाण ही

नही हो सकता कि जिसमें युक्ति कुछ भी न हो। यदि युक्तिरहित प्रमाणको भी इष्ट मान लोगे साध्य सिद्धिके लिए तो इसमे बड़ा दोष होता है। जिस चाहेका जो चाहे वचन उसके इष्टको सिद्ध करदे। युक्तिरहित अप्रमाणीक प्रत्ययका सग्रह नही हो सकता। अप्रमाणीक ज्ञानसे संग्रह किये गये पदार्थ सग्रह न किए गएकी ही तरह होगे, वह कल्पना ही मात्र है, वास्तविक सिद्धि नहीं है।

अर्थात्मक सग्रहके मन्तव्यकी आलोचना व सग्रहकी सिद्धि न होनेसे मूल प्रस्तावका पतन—अब यहाँ शङ्काकारसे कहा जा रहा है कि सग्रह शब्दात्मक और प्रत्ययात्मक तो सिद्ध होता नहीं। यदि अर्थात्मक संग्रह कहा जाय तो उस सबध मे भी यह विचार करें कि संग्रहका अब अर्थ यह हुआ कि जो सग्रहीत किया जाय वह सग्रह है। तो सग्रहीत किया जाने वाला सकल अर्थ बताया जा रहा है तो वह असिद्ध ही है, क्योंकि समस्त अर्थोंकी व्यवस्था करा दे ऐसा कोई प्रमाण नही है फिर अर्थात्मक सग्रह करके सग्रहका व्याख्यान करना कैसे युक्त हो सकता है ? फिर सूत्रमें जो यह प्रतिज्ञा की थी कि—"पदार्थ धर्मसग्रह प्रवच्छते" अर्थात् अब पदार्थका संग्रह और धर्मका सग्रह कहा जायगा। तो यह प्रतिज्ञा फिर कैसे सही रही ? सग्रह ही कुछ नहीं हो सकता विशेषवादमें। और जब सग्रह न हो सका तो फिर किसका महोदयपना सिद्ध हो सकेगा ? शङ्काकारने निश्रेयस मार्गके लिए महोदयपनेकी बात कही थी और निश्रेयस मार्ग था सम्यग्ज्ञानपर अवलम्बित, लेकिन सम्यग्ज्ञानका विषय-भूत द्रव्यादिक, षट पदार्थ जैसा बताया वैसा सिद्ध नही होता तो अब जब सग्रहमे भी पदार्थकी सिद्धि नही हुई। तो सग्रहके अभावमें किसका महोदयपना सिद्ध किया जाता है, क्योकि जो स्वय असिद्ध है वह अन्यका साधक नही हो सकता. सग्रह ही असिद्ध है और सग्रहके बलपर महोदयपनेकी बात कही जा रही थी यो विशेषवादमे श्रेयोमार्ग का अनुष्ठान नहीं हो सकता। तो जब सग्रह सिद्ध न हुआ और महोदयपना सिद्ध न हुआ फिर "पदार्थ धर्म संग्रहः प्रवच्छते" यह सूत्र असिद्ध हो गया। जब यह असिद्ध हो गया तब अन्य अगोका वर्णन भी खण्डित हो जाता है। यह सब कहा जा रहा था सम्यग्ज्ञानकी सिद्धिमे। पदार्थधर्मसग्रह सम्यग्ज्ञान, इस प्रकारका व्याख्यान खण्डित हो जाता है। क्योंकि संग्रहके अभावका समर्थन किया जा चुका है। तो सग्रह ही जब न रहा तो सम्यग्ज्ञान क्या रहा ?

महोदयकी व कल्पित वस्तु स्वरूपकी व्यवस्था न होनेसे श्रद्धा ज्ञान अनुस्ठानकी व्याख्याकी अयुक्तता—उक्त विवचनके अनुसार महोदयकी बात भी खण्डित हो जाती हैं। महोदयका ऐसा व्याख्यान किया गया है कि महानका उदय जिससे होता है वह महोदय कहलाता है, महान है नाम निश्रेयसका मोक्षका और स्वर्ग का उदय जिससे होता है उसका नाम महोदय बताया है, यह कथन तो इस तरह हसी

के योग्य है कि जैसे कोई वध्याके पुत्रका सौभाग्य अथवा उसके बल रूपका वर्णन करने लगे, तो विवेकी पुरुषोंके समक्ष वह हंसीका ही पात्र होता है। यहाँ तक यह बात सिद्ध की गई कि द्रव्यादिक पदार्थोंका जैसा वर्णन किया गया है विशेषवादमे वैसा स्वरूपमे पाया नही जाता। जैसा कि पदार्थ अवस्थित है उस तरहका वर्णन न होनेमे तद्विषयक जो भी ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान नही कहा जा सकता है। विशेष-वादियोने यह सिद्धान्त रखा था कि श्रद्धान विशेष सम्यग्ज्ञान और तद्विषयक अनुष्ठान यह निश्रेयसका मार्ग है, तो शब्दरचना तो भली है लेकिन सम्यग्ज्ञान बताया है वह उस प्रकारसे है ही नही। तो सम्यग्ज्ञान जिसे बताया वह युक्त नही हो सकता। इसी तरह हेय उपादेयकी व्यवस्था भी युक्त नही होती। जब सही ज्ञान न रहा तो यह निर्णय न किया जा सका कि यह हेय है और यह उपादेय है, फिर जब हेय उपादेय की व्यवस्था न बनी तो श्रद्धाविशेष न बन सकेगा। श्रद्धा विशेषका यह लक्षण किया गया है कि उपादेय पदार्थोंमे उपादेय रूपसे श्रद्धान होना और हेय पदार्थोंमे हेयरूपमे श्रद्धान होना श्रद्धा विशेष कहलाता है। तो जब हेय उपादेयकी व्यवस्था न बनी तो श्रद्धान यह बनेगा ही कैसे ? यो न सम्यग्ज्ञान बना, न श्रद्धा विशेष बनी और जब ज्ञान और श्रद्धान दोनोका ही स्वरूप न बन सका तो ज्ञान और श्रद्धान पूर्वक जो वैराग्य होता है अथवा उसके अभ्यासकी भावनाका जो अनुष्ठान बताया है, जिसको निश्रेयसका कारण कहना भी सिद्ध न होगा। तो यो जब कपोल कल्पित सम्यग्ज्ञान श्रद्धाविशेष और अनुष्ठान ये सिद्ध न हो सके, निश्रेयसका कारण जब सिद्ध न होसका तब वीतराग सर्वज्ञ अरहन्के उपदेशसे अनुष्ठान होनेकी तरह ईश्वर आदिकके उपदेस से अनुष्ठान कैसे प्रतिष्ठित किया जा सकता है ?

अन्ययोगव्यवच्छेदके लिए विशेषणोकी सार्थकता—मूलमे यह शङ्का थी कि मङ्गलाचरणमें तीन विशेषण किसलिए दिये गए हैं कि 'जो मोक्ष मार्गका नेता हो, कर्मपहाडका भेदनहार हो, समस्त तत्त्वोका ज्ञाता हो, उस आप्तको मैं उन गुणो की प्राप्तिके लिए नमस्कार करता हू।" तो आप्तके लिए तीन विशेषण क्यो दिए गए ? उसका उत्तर यह दिया गया था कि अन्य योगके व्यवच्छेदसे जब महान आप्त निश्चित् हो जाता है तब उसके उपदेशसे लोग अपना कर्तव्य निभाने लगते हैं। इसपर यह शङ्का उठायी थी कि अन्य योग व्यवच्छेदकी क्या जरूरत है ? जैसे—वीतराग सर्वज्ञके उपदेशसे धर्मतीर्थ चल रहा है लोग उस उपदेशमे श्रद्धान रखते हैं और उस के अनुकूल अनुष्ठान रखते हैं, ऐसे ही अन्य देवोके उपदेशसे भी अनुष्ठान बन जायगा, अन्ययोगव्यवच्छेदकी क्या आवश्यकता है ? उसके समाधानमे यह सब प्रकरण चला आ रहा है। कौनसा उपदेश युक्त है, कौनसा उपदेश विरुद्ध है ? यह निर्णय किए बिना उपदेशके अनुसार कर्तव्यमे कौन कदम रखेगा ? और जब उपदेशकी परीक्षा की जाती है तो वहाँ अन्ययोगव्यवच्छेद स्वत. हो जाता है। तो यो अन्ययोगव्यवच्छेद

को ही महान आत्माका निश्चय किया जाना चाहिये। इस कारण यह सब ठीक ही कहा गया है ५ वीं कारिकामे कि अन्य योगका व्यवच्छेद होनेसे एक महात्माके निश्चित् होनेपर उसके उपदेशकी सामर्थ्यसे ही अनुष्ठान प्रतिष्ठित होता है याने क्या कर्तव्य किया जाना चाहिए ? उसका वह अनुष्ठान प्रामाणिक होता है। उक्त कथनसे शङ्काकार द्वारा कहा जानेपर ऊपर गुरुको नमस्कार करना भी निराकृत हो जाता है। शङ्काकारका कहना था कि प्रसस्तवाद भाष्यमे लिखा है कि जगतके कारणभूत ईश्वर को प्रणाम करके उनके बादमें मैं कणाद मुनिको प्रणाम करता हू। तो इसमें पर अपर गुरुके नमस्कार करनेकी बात कही गई है लेकिन जब यथार्थ ज्ञातृत्व सिद्ध न होसका उनकी कही हुई पदार्थ व्यवस्था जब वस्तुस्वरूपके अनुकूल नही उत्तीर्ण हुई है तो उनका उपदेश ही अप्रमाण है, फिर उनमे मान्यपना भी न रहा और आदेयपना भी न रहा, क्योंकि उन सबमे जैसा कि पदार्थ अवस्थित है उस प्रकारसे पदार्थका ज्ञान नहीं होता। मोक्षमार्गका प्रणेता वही हो सकता है जो कर्मभूभृतका भोक्ता हो और समस्त तत्त्वोंका ज्ञाता हो। प्रकरण चल रहा था कि मोक्षमार्गका प्रणेता कौन होता है ? अर्थात् किसके उपदेशसे चलनेपर मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो सकती है ? तो आलोचना समालोचनाके पश्चात् यह बात सिद्ध हुई है कि जो विश्व तत्त्वका ज्ञाता हो और कर्मभूभृतका भोक्ता हो अर्थात् जो वीतराग और सर्वज्ञ हो उसमें ही मोक्षमार्गका प्रणेतत्व सिद्ध हो सकता है। इस तरह यह बात पूर्णतया सिद्ध हुई कि जो इन तीन विशेषणोंसे युक्त हो वही वास्तवमें आप्त कहलाता है।

तत्रासिद्धं मुनिन्द्रस्य भेतृत्वं कर्मभूभृताम्।
ये वदन्ति विपर्यासात, तान् प्रत्येवं प्रचक्ष्महे ॥ ६ ॥

कर्मभूभृद्भेतृत्वकी असिद्धि मानने वालोंकी समस्या अब इस प्रसङ्गमें शङ्काकार कहता है कि जो तीन विशेषण बताये गए हैं उन विशेषणोंमेंसे कर्मभूभृतका भेदनहार है, इस प्रकारका विशेषण असिद्ध है। शङ्काकारने मोक्षमार्ग प्रणेता कर्मभूभृत, भेत्ता और विश्वतत्त्वज्ञाता इन तीन विशेषणोंमेंसे कर्मपहाड़को भेदने वाला इस विशेषणसे असिद्ध कहा है क्योंकि कोई भी जो सदाशिव है ईश्वर है, प्रभु है वह कर्मरूपी पहाडको भेदने वाला नहीं हो सकता क्योंकि वह तो सदा कर्मसे ही मुक्त है। जो प्रभु है, प्रमाण है, ईश्वर है, सदाशिव है आदर्श है, ध्येय है वह तो कर्मसे अलिप्त ही है फिर कर्मभूभृतका भेत्ता कैसे कहा जायगा ? कर्मपहाडका भेदन नहीं करना पडता है ईश्वरको। इस प्रकार यौगसैद्धान्तिकोंकी ओरसे यह शङ्का उपस्थित की गई है। नैयायिक सिद्धान्तमे एक सदाशिव ईश्वर है जो कि जगतका नियता है, वही एक मात्र सबका प्रभु है। उसे सदाशिव कहा गया है। सदासे ही शिव है, कर्मसे मुक्त है। जब कर्ममुक्त है ही पहिलेसे, तब उसे कर्मपहाडका भेदनहार कहना युक्त नहीं होता।

ऐसा शङ्काकारके प्रति समाधानरूपमे आगे कहते हैं—

प्रसिद्धः सर्वतत्त्वज्ञस्तेषां तावत्प्रमाणतः ।
सदाविध्वस्तनिःशेषबाधकात्स्वसुखादिवत् ॥ ७ ॥

कर्मभूभृद्भेतृत्वकी साधिका विश्वतत्त्वज्ञाताकी प्रसिद्धि—नैयायिक दर्शन के यहां भी सब तत्त्वोंका जानने वाला नैयायिक प्रसिद्ध है, क्योंकि सारे बाधक कारण वहां विध्वस्त हो गए और जैसे वह ईश्वर अपने सुखको निरन्तर भोगता रहता है। क्योंकि वहां कोई बाधक कारण नही रहा है। तो इसी तरह वे समस्त तत्त्वोंके जाननहार भी हैं। क्योंकि विरोध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, अर्थात् ईश्वरका सर्वज्ञत्व मानना दोनोंको ही इष्ट है। शङ्काकारने भी सर्वज्ञ तो माना ही है। उक्त शङ्काके उत्तरमे यह कारिका कही गई है पर शङ्का और समाधान दोनोका मिलान करनेसे कुछ ऐसा विदित होता है कि समाधान शङ्काके अनुरूप नही किया गया है। ऐसी स्थितिमे शकाकार यहाँ यह आशका कर रहा है कि यदि नैयायिकोके यहां विश्व तत्त्वज्ञ सिद्ध है, क्योंकि वहां किसी प्रकारका बाधक कारण नही है तो विश्व तत्त्वज्ञता सिद्ध होनेसे कौन सी बात इष्ट सिद्ध हो जाती है? सर्वज्ञ है तो वह अपने स्थानपर है उससे शंकाका निराकरण कैसे किया जा सकता है? ऐसी आशकाका होनेपर कहते हैं कि

ज्ञाता यो विश्वतत्त्वानां स भेत्ता कर्मभूभृताम् ।
भवत्येवान्यथा तस्य विश्वतत्त्वज्ञता कुतः ॥ ८ ॥

विश्वतत्त्वज्ञता हेतुसे कर्मभूभृत् भेतृत्व साध्यकी सिद्धि—ईश्वरको अथवा आप्तको सर्वज्ञ सिद्ध करनेका अथवा सर्वज्ञकी प्रसिद्धि बतानेका अभिप्राय यह है कि जो विश्वतत्त्वका ज्ञाता है वह कर्मरूपी पहाडका भेदनहार होता ही है। यदि कर्म पहाडका भेदनहार न हो तो उसकी सर्वज्ञता कहांसे प्रकट होजाती? स्याद्वादियो के यहां मुनीन्द्रके अर्थात् आप्त भगवानके कर्मपहाडका भेदनपना सिद्ध ही है। उसको सिद्ध करने वाला यह अनुमान प्रयोग है कि भगवान परमात्मा कर्मपहाडका भेदनहार होता ही नही है, क्योंकि वह विश्वतत्त्वका ज्ञाता है। जो कर्मभूभृतका भेदनहार नही है वह विश्वतत्त्वका ज्ञाता भी नही हो सकता। जैसे लौकिक जन या गलियोमे फिरने वाले मनुष्य अथवा आवारा मनुष्य वे कर्मभूभृतके भेत्ता नही हैं तो विश्वतत्त्वके ज्ञाता भी नहीं हैं। और विश्वतत्त्वका ज्ञाता है भगवान, यह बात बाधारहित ज्ञानके बलसे सिद्ध ही है, इस कारण वह कर्मभूभृतोका भेत्ता होता ही है। इस अनुमान प्रयोगमें जो हेतु दिया गया है वे सब व्यतिरेकी हेतु हैं, क्योंकि साध्यका व्यभिचार नही होता,

ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति यहाँ पाई जाती है। व्यतिरेक व्याप्ति उसे कहते हैं जहाँ साध्यके अभावमें साधनका अभाव बताया जाता हो। अन्वयव्याप्ति उसे कहते हैं जहाँ साधन का सद्भाव बताया जाता है। तो यहाँ साध्य है कि आप्त कर्मभूभृतका भेत्ता होता है। साधन बताया गया है विश्व तत्त्वका ज्ञाता होनेमे, तो यदि इस ओर से व्याप्ति की जाती कि जो जो विश्व तत्त्वका ज्ञाता होता है वह कर्मभूभृतका भेदनहार होता ही है तो इसके लिए दृष्टान्त कुछ भी नही मिलता, क्योंकि वही बात सिद्ध की जा रही है उसके लिए दृष्टान्तका कोई आप्त अगर मिले तो उसमें फिर यह परिगमन होगा कि वह कर्मभूभृतका भेत्ता नही है। तो अन्वय व्याप्तिका दृष्टान्त नहीं मिलता। यहाँ अन्वय व्याप्ति घटित नही की गई है किन्तु व्यतिरेक व्याप्ति घटित की गई है। साध्यका अभाव होनेपर साधनका अभाव बताना व्यतिरेक व्याप्ति है अर्थात् जो कर्म-भूभृतका भोक्ता नही होता है वह विश्व तत्त्वका ज्ञाता नही होता। जैसे रथ्या पुरुष अर्थात् गलियोंमे फिरने वाला आवारा पुरुष जब कर्मभूभृतका भेत्ता नहीं है तो फिर विश्वतत्त्वका ज्ञाता भी नही। व्यतिरेक व्याप्तिका घटना असिद्ध नहीं है। वादी प्रति-वादी दोनोको मान लिया अन्वय व्याप्तिसे विशिष्ट बलवती व्यतिरेक व्याप्ति होती है। यहाँ वादी और प्रतिवादी दोनोने ही परमात्माको सर्वज्ञ सिद्ध किया है। इस अनुमानमें अनेकान्तिक दोष भी नही आता क्योंकि समस्तरूपसे अथवा एक देशरूपसे विपक्षमे साध्यकी वृत्ति नही पायी जाती है और इस ही कारण यह अनुमान प्रयोग विरुद्ध भी नहीं है इस तरह अनुमानके बलसे यह सिद्ध हुआ कि कोई पुरुष कर्मभूभृत का भेत्ता होता है। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यह हेतु तो कालात्ययापदिष्ट है, कालात्ययापदिष्ट उसे कहते हैं कि जो बात किसी अन्य प्रमाणसे बाधित हो और फिर उसको सिद्ध किया जाय तो जो प्रत्यक्ष आगम आदिक प्रमाणसे बाधित है और उसे सिद्ध करे तो वह दूषित हेतु है। जैसे अग्नि गरम है, यह प्रत्यक्षसे जाना जाता है। अब कोई अनुमान प्रयोग करने लगे कि अग्नि ठंडी होती है द्रव्य होनेसे और दृष्टान्त भी मिल गया, जैसे पानी वह द्रव्य है तो ठंडा है—अग्नि भी द्रव्य है तो ठंडी है। तो प्रत्यक्षसे बाधा आ रही है कि अग्नि गरम है और उसमे विरुद्ध साध्य सिद्ध कर रहे हैं तो इस ही प्रकार यहाँपर भी आगम बाधित पक्षके निर्देशके अनन्तर यह अनुमान प्रयोग किया गया है इस कारणसे यह अनुमान दूषित है आगममें लिखा है कि—

"सदैव मुक्तः सदैवेश्वर पूर्वस्याः कोटेर्मुक्तात्मनमिवाभावात्" इस आगम प्रयोगसे जिसका कि अर्थ है कि सदा ही मुक्त है सदा ही ऐश्वर्यसे युक्त है, क्योंकि मुक्त आत्माओंके पहिले बंधकोटि रहती है उस तरह ईश्वरके नही रहती। इस नैया-यिक सम्मत आगम वाक्यका यह अर्थ है कि जो ईश्वर है वह तो अनादिसे कर्मबन्ध रहित है और जीव कर्मबन्धसे सहित है और कर्मसे मुक्त हो जाता है वह मुक्त आत्मा

कहलाता है। किन्तु ईश्वर नही कहलाता। ऐसे आगमसे यह सिद्ध है कि महेश्वरके सदा काल ही कर्मोंका अभाव रहता है। तो जब कर्मोंका अभाव है तो कर्मभूभृतका भेत्ता कैसे बन जायगा ? हां कर्म हो तो उनका कोई भेदनहार भी बताया जाय, पर कर्म ही नहीं हैं तो कर्मभूभृतका भेत्ता कैसे बता दिया गया ? उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि ऐसा कहने वाला शङ्काकार परीक्षापर उतरने वाला नही है, क्योंकि उस प्रकार जो अनुमानका बाधक आगम प्रमाण बताया है वह तो अप्रमाण है। उस आगममें प्रमाणता सिद्ध करने वाला कोई अनुमान ही नही बन सकता है। तो जिस आगमकी दुहाई देकर अनुमानको दूषित बताया गया है वह आगम स्वय अप्रमाण है और अप्रमाण आगमसे अनुमानमे दूषण नही दिया जा सकता है।

शङ्काकार द्वारा अनुमानप्रमाणसे महेश्वरमे शाश्वत कर्मास्पृत्वका प्रतिपादन—शङ्काकार कहता है कि अनुमान प्रमाण भी हमारे पास है। ईश्वर नामक सर्वज्ञ कर्मभूभृतोंका भेत्ता नही है। क्योंकि सदा कर्मरूप मलसे अछूता है। जो कर्म भूभृतोका भेत्ता होता है वह कर्ममलोसे सदा अछूता नही हुआ करता। जैसे कि ईश्वरके अतिरिक्त अन्य जो मुक्त आत्मा हैं वे कर्मभूभृतोके भेत्ता हैं पर कर्ममलसे वे सदा सदा अछूते नही रहे, उनके कर्ममल लगा था और उन्होने कर्मका बन्ध तोडा तब वे मुक्त आत्मा बने, किन्तु भगवान महेश्वर तो कर्ममलोसे अनादि अनन्त सदाकाल अस्पष्ट ही रहते हैं। ये कर्ममलोमे छुवे हुए ही नही हैं। इस कारण भगवान महेश्वर कर्मभूभृतका भेत्ता नहीं होता। यह अनुमान प्रकृत पक्षमे बाधा देने वाले आगमका समर्थन करने वाला है। इस अनुमान प्रयोगका साधन प्रसिद्ध नही है। वह इस तरह है कि सदा काल कममलोसे न छुवा हुआ परमात्मा है, क्योंकि वह बिना उपायके सिद्ध हुआ है। भगवान महेश्वर बिना तपश्चरण, बिना क्रियाकाण्डके ही अनादिसे शुद्ध बना हुआ है। जो कर्ममलोसे अछूता न हो वह अनुमानसिद्ध नही होता। जैसे सादि मुक्त आत्मा, वह कर्ममलसे अछूता नही है, उसमे कर्ममल लगा था तो वह अनुपाय सिद्ध नही होता। उन्होने तपश्चरणका ज्ञानाभ्यास किया तब उनको मुक्ति प्राप्त हुई किन्तु सर्वज्ञ भगवान महेश्वर तो अनुपाय सिद्ध हैं, इस कारण वे कर्ममलसे सदाकाल अछूते ही हैं। इस अनुमानसे भगवान महेश्वरके कर्ममलसे अछूते रहनेकी सिद्धि होती है, ऐसा कहने वाले शङ्काकारके प्रति आचार्यदेव कहते हैं कि—

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद्विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः ॥ ६ ॥

अनुपायसिद्धकी अनुपपत्ति होनेसे शश्वत्कर्ममलास्पृष्ट विश्वदृश्वाकी असिद्धिका वर्णन—कोई भी सर्वज्ञ सदा कर्मसे अस्पृष्ट नही है, क्योंकि बिना उपाय

किए सिद्ध हो जाय ऐसी किसीकी भी स्थिति बन नही सकती। अनुपाय सिद्धपना अर्थात् बिना उपाय किए सिद्ध हो जाय ऐसी स्थिति किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नही है तब अनुपाय सिद्धत्व हेतु देकर सदा कर्मसे अस्पृष्टपना सिद्ध करना और कर्मोसे सदा अस्पृष्ट है यह हेतु बनाकर कर्मभूभृतका भेतृत्व निराकृत करना युक्त नही है। तब शङ्काकारका बताया गया अनुमान प्रस्तुत अनुमानका बाधक कोई आगम समर्थक बन जाय और फिर शङ्काकारकी शङ्कामें प्रमाणता सिद्ध करदे ऐसा नहीं हो सकेगा। अप्रमाणभूत आगमसे प्रकृत पक्षमें बाधा नहीं दी जा सकती और न कर्मभूभृत भेतृत्व सिद्ध करने वाला हेतु कालात्ययापदिष्ट दोषसे दूषित नही हो सकता।

शंकाकार द्वारा अनादित्व हेतुसे ईश्वरके अनुपायसिद्धत्वका समर्थन—अब यहाँ नैयायिक कहते हैं कि ईश्वर अनुपाय सिद्ध है, यह बात अनादिपना होनेसे सिद्ध होती है। क्योकि ईश्वर अनादिसे है, तो वह अनादिसे बिना उपायके सिद्ध है, कर्मसे मुक्त है, ईश्वर अनादि है यह बात इस प्रमाणसे सिद्ध होती है कि चू कि वह शरीर इन्द्रिय लोक आदिकमे निमित्त कारण होता है इस कारण ईश्वर अनादिसे ही है, यह हेतु असिद्ध नही है। उसका साधक अनुमान देखिये। शरीर इन्द्रिय लोक आदिक समस्त पदार्थ किसी न किसी बुद्धिमानके निमित्तसे बने हुए हैं, क्योकि कार्य होनेसे। जो कार्य होता है वह बुद्धिमानके निमित्तसे होता ही देखा जाता है, जैसे वस्त्र आदिक कार्य हैं तो वह जुलाहाके निमित्तसे उत्पन्न हुआ देखा गया है। तो जो विवादापन्न कार्य है, जिसके सम्बन्धमें कोई कर्ता प्रत्यक्ष नजर आता नहीं, चू कि वह भी कार्य है अतः वह बुद्धिमान ईश्वरके निमित्तसे उत्पन्न हुआ है। तो इस अनुमानमे यह सिद्ध होता है कि शरीर इन्द्रिय आदिक कार्य है तो किसी बुद्धिमानके द्वारा पैदा किया गया है। तो जो यह बुद्धिमान है वही ईश्वर कहलाता है। तो यह ईश्वर शरीर इन्द्रिय आदिक कार्योंका कारण है। जब यह बात सिद्ध होती है तो ईश्वरका अनादिपना भी सिद्ध हो जाता है। यदि ईश्वरको सादि मान लिया जाय तब यह आपत्ति आयगी कि ईश्वर किसी दिन हुआ तो वह पहिले शरीर आदिककी उत्पत्ति नही हो सकती, और ऐसा है नहीं कि शरीरकी उत्पत्ति भी अनादिसे चली आ रही है। तो चू कि ईश्वरसे पहिले शरीर आदिककी उत्पत्ति नहीं बन सकती यदि ईश्वरको सादि माना जाय तो इस आपत्तिसे भय न कीजिए। यदि कोई कहे कि ईश्वरसे पूर्व शरीरादिककी उत्पत्ति मान ली जायगी तो उन कार्योंमे फिर बुद्धिमान निमित्तता न बनेगी। यदि यह कहे कोई कि उससे पहिले उन कार्योंसे हम किसी दिन बुद्धिमानके निमित्त कारणसे उत्पन्न हुआ मानते हैं तो वह भी सादि होगा ना अर्थात् उससे पहिले होने वाले कार्योंको अन्य बुद्धिमानके निमित्तसे उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा और उससे पहिले अन्य बुद्धिमानके निमित्तसे उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा। तो इस तरह अनादि ईश्वर परम्परा सिद्ध होगी, लेकिन यह युक्त है नहीं। कारण कि जब सबसे पहिले होने

वाला कोई अविनाशी ईश्वर सिद्ध हो जायगा तो उसके बादके और ईश्वरके माननेकी क्यों कल्पना की जायगी ? इस परम्परामें जो सबसे पहिले अथवा अनादि ईश्वर शरीरादिक सम्पूर्ण कार्योंको उत्पन्न कर देगा तब फिर उससे पहिले और ईश्वर हुए ऐसी कल्पना करना व्यर्थ हो जायगा। अन्यथा परस्परमें इच्छाका व्याघात होगा, वह अनेक ईश्वर होगा। पहिलेका ईश्वर भी बना हुआ है उस समय बाद और ईश्वरमें भी बना डाला तो उनका परस्परमें टकराव हो जाय और जब इस तरहसे अनन्त ईश्वर मान लिया जायगा और उनका परस्पर इच्छा विरोध बनेगा तो अपनी इच्छा-नुकूल फिर कार्य हो नहीं सकता। फिर तो वह ईश्वर भी पराधीन बन बैठेगा। वहाँ यह आपत्ति आयगी कि एक कोई कार्य है, उसे कोई एक ईश्वर किसी ढङ्गसे करना चाहता है और कोई ईश्वर किसी दूसरे ढङ्गसे करना चाहता है तो यों उन दोनो ईश्वरोंमें परस्पर इच्छाका व्याघात अवश्य होगा। इसलिए अनेक ईश्वर नहीं मानने की आवश्यकता है। जो अनादिसे ईश्वर है वही समस्त जगतका नियता बना चला आया है। दूसरी बात यह है कि यह प्रसङ्ग आ पडेगा कि यह संसार अनेक ईश्वरोंके कारणमे बन बैठे, सो सङ्गत नहीं है, अतएव कितनी ही कल्पनायें करें, बहुत दूर जा कर भी एक अनादि ईश्वर मानना ही पडेगा।

शङ्काकार द्वारा अपने आगमबलसे ईश्वरमें विश्वकारणताका प्रतिपादन

यहाँ शङ्काकार ही कहे जा रहा है कि युक्तियोंके अतिरिक्त आगमसे भी यह बात सिद्ध है, योगदर्शनके सूत्रमें लिखा है कि पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्—वह पूर्ववर्तियोंका भी गुरु है, क्योंकि किसी भी कालमें उसका विच्छेद नहीं होता। तो इस सूत्रवाक्यसे भी ईश्वरकी विश्वकारणता सिद्ध होती है। और वह अनादिपना माने बिना बन नहीं सकता, इस कारण ईश्वर अनादिसे है, यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है। तो जब ईश्वर अनादिसे है तो उससे अर्थ यह ध्वनित होता कि वह ईश्वर अथवा मुनीन्द्र कर्म-पहाडको भेदने वाला होता है वह सदाकाल कर्मसे अस्पृष्ट नहीं कहा जा सकता, वह तो उपाय करके ही मुक्त हुआ है और ऐसे मुक्त आत्मा होते हैं कि जो तपश्चरण ज्ञानाभ्यास आदिक करते हैं, कर्मसे मुक्त हो जाते हैं क्योंकि एक अनादि ईश्वर है वह सदा कर्मोंसे अस्पृष्ट ही होता है। तो ऐसा यह भगवान कर्मपहाडको छेदने वाला नहीं है यह तो सदाकाल ही कर्मसे अछूता है, क्योंकि यह अनुपायसिद्ध है, किसी भी उपाय से सिद्ध नहीं होता है। जो इस प्रकार नहीं है वह अनुपायसिद्ध भी नहीं होता। जिस उपायमें मुक्त हुआ आत्मा कर्मोंसे सदाकाल अस्पृष्ट नहीं है और वह उपायसे प्रसिद्ध हो तो यह भगवान अनुपम सिद्ध है। इस कारण सदा कर्मसे अछूता है, यह भगवान अनुपाय सिद्ध है, क्योंकि अनादि होनेसे। जो अनुपाय सिद्ध न हो वह अनादि भी नहीं होता और है यह अनादि, इस कारण यह निर्बाध सिद्ध होता है कि भगवान अनुपाय सिद्ध होता है तो अनादिपना होनेके कारण प्रभु अनुपाय सिद्ध कहलाते हैं

और अनादि सिद्ध इस हेतुसे होता है कि वह शरीर इन्द्रिय, लोक आदिकके निमित्त कारण हैं। जो अनादि नहीं है वह शरीर इन्द्रिय आदिकका निमित्त भी नहीं बन सकता। जैसे अन्य मुक्तात्मा वे सादि हैं, उनकी मुक्ति की जाय तो होती है तो वे शरीर आदिकके रचनेके कारण भी नहीं होते और ये भगवान शरीर इन्द्रिय आदिककी रचनाके कारणभूत हैं, इस कारण अनादि हैं।

अनुमानप्रयोगसे महेश्वरके विश्वकारणत्वका पूर्वपक्षमे प्रतिपादन—यहाँ कोई यह जानना चाहे कि भगवान शरीर इन्द्रिय आदिककी रचनाके निमित्त कारण होते हैं, यह कैसे जाना जाय ? तो इसके लिए अनुमान प्रयोग है उससे भली भांति सिद्ध कर लीजिए। अनुमान प्रयोग यह है कि शरीरादिक बुद्धिमानके निमित्त से उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि कार्य होनेसे। जो जो कार्य हैं वे बुद्धिमानके निमित्तसे उत्पन्न हुए देखे गए हैं। जैसे वस्त्र आदिक, और कार्य हैं ये शरीर आदिक इस कारण यह मानना चाहिए कि शरीरादिक भी बुद्धिमानके निमित्त कारणसे उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार इन समस्त अनुपायोसे एक दूसरेकी सिद्धि करते हुए ये प्रकृति अनुमान कर्म-भूभृतोंके भेत्ता हैं कोई इस बातको खण्डित कर देना है। मूल अनुमान प्रयोग यह है कि कर्मभूभृतका भेत्तापन असिद्ध है, क्योंकि भगवान मुनीन्द्र कर्मसे सदाकाल अस्पष्ट है। तो इन सबकी सिद्धि करने वाले अनुमानमें जो प्रकृत बात चल रही है कि शरीर आदिक किसी बुद्धिमानके कारणसे हुआ है कार्य होनेसे, तो इन सब पदार्थोंका कार्य-पना असिद्ध नहीं है, क्योंकि शरीर आदिक कार्य हैं, ऐसा वादी और प्रतिवादी सभी लोग मानते हैं। तो यह अनुमान सिद्ध न रहा। और इस अनुमानमें दिया गया कार्यत्व हेतु अनेकान्त दोषसे भी दूषित नहीं है, क्योंकि कोई कार्य ऐसा नहीं है जो बुद्धिमानके निमित्तसे न होता हो। कार्य हो और किसीके द्वारा किया गया न हो, ऐसा कोई पदार्थ नहीं देखा जाता। तो यों विपक्षमें हेतुकी वृत्ति नहीं है अर्थात् जो सहज बना हो ऐसा कोई कार्य नहीं मिलता। इससे सिद्ध है कि शरीरादिक कार्य बुद्धिमान के निमित्त कारणसे हुए हैं। यहाँ कोई कहे कि ईश्वरका शरीर तो ऐसा है कि जो बुद्धिमानके कारणसे नहीं बना है, तो यों ईश्वर शरीरका व्यभिचार भी नहीं बताया जा सकता, क्योंकि ईश्वरके शरीर ही नहीं होता, फिर उसके सम्बन्धमें और बात सोचना व्यर्थ है। कोई ऐसी भी आशङ्का न रखे कि ईश्वर ज्ञानके द्वारा तो इस हेतुमें व्यभिचार आ जायगा, सो व्यभिचार नहीं आता। क्योंकि ईश्वरज्ञान नित्य है, उसे कार्य ही नहीं माना गया। कार्यत्व हेतु तो पहिचानें और ज्ञानके कारणसे न होता हुआ ऐसा कोई पदार्थ हो तब ही तो व्यभिचार आयगा। इस लिए ज्ञान कार्य ही नहीं है तब उसके सम्बन्धमे कारणकी क्या चर्चा करना ? कोई ऐसा सन्देह करे कि ईश्वर ज्ञानका व्यभिचार न होता हो तो ईश्वरके इच्छाका व्यभिचार आ जायगा। ईश्वर की इच्छा कार्य है और उसको किसी बुद्धिमानने बताया नहीं, तो इस तरह ईश्वरकी

इच्छासे व्यभिचार देना भी सङ्गत नही है, क्योकि ईश्वरकी इच्छाशक्ति भी नित्य है, क्रियाशक्तिकी तरह। जब वह भी कार्यकी कोटिमे न आया तब उसमे कारणका क्या विचार करना ? इस प्रकार कार्यत्व हेतु विरुद्ध साधन भी नही है। विरुद्ध साधन उसे कहते हैं कि जो साधन प्रकृतमे बताये गये साध्यसे विपरीत साध्यकी सिद्धि करता हो सो कोई विपक्ष है ही नही। सर्वथा वि क्षमे सम्भव न होनेसे यह कार्यत्व हेतु विरुद्ध दोषसे दूषित भी नही है तथा उसमे कालात्ययापदिष्ट दोष भी नही आता। हमारे अनुमानप्रयोगमे जो पक्ष रक्खा गया है उसका प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणसे बाधा ही नही आती। प्रकृत अनुमान यह है कि शरीरादिक बुद्धिमानके द्वारा बनाये गए हैं कार्य होनेसे तो कोई प्रत्यक्षसे यह तो बतादे कि यह कार्य बुद्धिमानके द्वारा बनाया हुआ नही है। क्यो नही बता सकते कोई कि शरीरादिक अतीन्द्रिय हैं याने इसकी रचना इन्द्रियगम्य नही है इसलिए वह प्रत्यक्षका विषय भी नही है। निमित्तकारण जो ईश्वर है वह प्रत्यक्षका विषयभूत नहीं है। इस प्रकार यह हेतु अनुमानसे भी बाधित नहीं होता, क्योकि इससे विपरीत सिद्ध करने वाला कोई साधन ही नही मिल रहा। यो कार्य होनेसे शरीर आदिक बुद्धिमानके द्वारा बनाये गए हैं, यह सिद्ध होता है। और जो भी बुद्धिमान है वह अनादि है और जो अनादि है वह सदा कर्मसे अछूता है और जब कर्मसे अछूता है तो वह कर्मपहाडका भेदन करने वाला नही हो सकता।

बाधक प्रमाणसे बाधा देकर महेश्वरके जगन्निमित्तत्वका पूर्वपक्ष— शङ्काकार कह रहा है कि यदि कोई ऐसी आशङ्का करे कि शरीर इन्द्रिय आदिक बुद्धिमन्निमित्तक नही है क्योकि जिसका कर्ता देखा गया है ऐसे महल आदिकसे ये शरीर इन्द्रिय विलक्षण हैं आकाश आदिककी तरह। जैसे आकाश मकान आदिकसे विलक्षण है, इसी तरह इन्द्रिय भी मकान आदिकसे विलक्षण है-जिसका कि कर्ता देखा गया है, यह अनुमान ईश्वर सृष्टि कर्तृत्वका बाधक होता है। उस आशङ्काकारके प्रति शङ्काकार समाधानमे कहता है कि यह अनुमान देकर कि शरीर इन्द्रिय आदिक बुद्धिमन्निमित्तक नही है दृष्टि कर्तृक महत्व आदिकसे विलक्षण होनेसे। इस अनुमानमे हेतु असिद्ध है क्योकि सन्निवेश आकार प्रयोग आदिकसे सहित होनेके कारण ये शरीर इंद्रिय आदिक भी दृष्टि कृत्रिम प्रासाद आदिकसे विलक्षण नही है। जैसे कि महल मकानमे सन्निवेश देखा जाता है, ऐसे ही शरीर इंद्रियमे भी आकार तो देखा जा रहा है इसलिए उनसे विलक्षण नही है। यदि आशकाकार यह कहे कि जिसने संकेत ग्रहण नही किया ऐसे पुरुषकी बुद्धिमे कोई कर्ता नही आ पाता, यह किसीके द्वारा किया गया है ऐसी बुद्धि उत्पन्न नही हो सकती। इस कारण शरीर इन्द्रिय आदिकके महल आदिकसे विलक्षणता माननी ही चाहिए। तो वह उत्तरमे सुनो कि ऐसी हट करना कि शरीर इंद्रिय आदिकका कोई कर्ताका संकेत नही समझ रहा इसलिए उसमे किए जानेकी बुद्धि नही बनती और इस कारणसे शरीर इंद्रिय आदिक दृष्टि कृत्रिम महल

आदिकसे विलक्षण सिद्ध हो जाता है। तो उनके यहाँ कृत्रिम जो मुक्ताफल आदिक हैं, जिनका कि सकेत ग्रहण नहीं किया गया है उसमें भी कृतबुद्धि न उत्पन्न होगी। तब वे बनावटी मोती आदिक भी बुद्धिमन्निमित्तक न रहेंगे, वे भी अकृत्रिम बन बैठेंगे। इस कारण हमारे अनुमानमे उससे बाधा नहीं आती और फिर लोग यह निरखें कि दृष्ट कृत्रिमपना और अदृष्ट कृत्रिमपना इन दोनोमे बुद्धिमन्निमित्तक अबुद्धिमन्निमित्तक को सिद्ध कर सकने वाला नहीं है क्योंकि उनमें परस्पर अविनाभाव नहीं है याने दृष्टि कृत्रिम हो तो वह बुद्धिमन्निमित्तक है और अदृष्ट कृत्रिम हो तो भी अबुद्धिमन् निमित्तक नहीं है, ऐसी व्याप्ति नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि अदृष्ट कृत्रिमपना अबुद्धिमन्निमित्तकपनेसे व्याप्त नहीं है। देखो जो भींट टूटे मकान हैं, बहुत पुराने मकान हैं उनका कर्ता किसीने देखा है क्या ? नहीं देखा। फिर भी उनके बारेमें यह तो सिद्ध होता है कि कारीगरने उन महलोंको बनाया था। तो जीर्ण महल आदिकका किसीने कर्ता भी नहीं देखा फिर भी वह बुद्धिमन्निमित्तक तो है ही। इस कारण दृष्ट कृत्रिम विलक्षणताका हेतु देकर और और अबुद्धिमन्निमित्तकना सिद्ध करना युक्त नहीं है जिससे कि हमारा पक्ष अनुमानबाधित हो जाये या कालात्ययापदिष्ट होजाय। तो शरीर इन्द्रिय आदिक किसी बुद्धिमानके द्वारा बनाये गए हैं कार्य होनेसे यह हमारा अनुमान अनुमानसे बाधित नहीं होता और प्रत्यक्षका विषयभूत है ही नहीं, इससे उससे भी बाधाका प्रसङ्ग नहीं आता।

महेश्वरका जगन्निमित्तत्व सिद्ध करनेमें आगमकी अबाधकता व साधकताका शङ्काकार द्वारा प्रतिपादन—आगमके द्वारा भी प्रकृत पक्षमें बाधा नहीं आती। आगम तो सृष्टिकर्तृत्वकी सिद्धि ही कर रहा है। जैसे देखो श्वेताश्वतर उपनिषदमें लिखा है कि :—

"विश्वतश्चक्षु रुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुतविश्वतः पात्। सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥"

इसका अर्थ है कि पुण्य पापके अनुसार समस्त लोकको उत्पन्न करने वाला वह देव एक ही है जिसकी आँखें चारो ओर हैं जिसकी बाहु सर्व तरफ हैं जिसके पैर सब ओर हैं अर्थात् सर्वज्ञ है, सर्व सामर्थ्य सम्पन्न है। पूर्ण वक्ता है और सर्वव्यापक है। इस आगम वाक्यसे भी अनुमानमें बाधा नहीं आती बल्कि उसकी पुष्टि होती है। व्यास ऋषिने भी कहा है—

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥"

अर्थात् यह प्राणी अज्ञानी है और अपने सुख दुःखका मालिक नही है। ईश्वर के द्वारा प्रेरित होता हुआ यह जतु स्वर्गको जाता है अथवा नरकको जाता है, ऐसा व्यास वचन भी हमारे पक्षको पुष्ट करने वाला ही है, बाधक नही है। तब यह हेतु कालात्ययापदिष्ट न रहा। न प्रत्यक्षसे बाधा है न अनुमान और आगमसे बाधा है। अबाधित पक्षके बनानेके बाद इस अनुमानका प्रयोग हुआ है, इसी कारण यह सप्रतिपक्ष नामका हेत्वाभास भी नही है। अर्थात् जिसके विरुद्ध कोई दूसरा हेतु हो ऐसा यह निबल हेतु नही है। प्रत्यक्ष अनुमानका यहाँ अभाव ही है इस तरह कर्तृत्व नामक साधन शरीर इन्द्रिय आदिकका बुद्धिमन् निमित्तक सिद्ध करता ही है। तब हमारा मूल अनुमान प्रमाण सिद्ध हो गया कि शरीर इद्रिय द्वारा, किसी बुद्धिमानके द्वारा रचा गया है। शङ्काकार कह रहा है कि कुछ आशंङ्का करने वाले लोग ऐसा कहते हैं कि इस अनुमानमे जो बुद्धिमन् निमित्तकपना सिद्ध किया जा रहा है सो क्या सामान्यरूपसे बुद्धिमन् निमित्तकपना सिद्ध किया जा रहा या किसी खास बुद्धिमानके द्वारा किया गया ऐसा सिद्ध किया जा रहा है ? यदि सामान्यरूपसे बुद्धिमन् निमित्तक साध्यकी बात कह रहे हैं तब तो यह सिद्ध साधन है। हम लोग भी मानते हैं कि अनेक जो शरीरके उपभोक्ता हैं वे बुद्धिमान हैं, जीव हैं, उनके द्वारा ही वह सब रचा हुआ है क्योकि शरीर इद्रिय आदिक उनके ही अदृष्ट कर्म, अधर्म पुण्य पापके निमित्त से उत्पन्न हुए हैं। और जो अदृष्ट हैं, धर्म अधर्म हैं वे चेतनरूप हैं और जो चेतना है वही बुद्धिरूप है तब ये सब बुद्धिमन् निमित्तक सिद्ध हो जाते हैं जितने भी ये सब शरीर दिख रहे हैं इनमे जो आत्मा है, उनके पुण्य पापका जैसा उदय है उसके अनुसार उनके सम्बन्धसे यह सब रचना बन गई है तो सामान्यतया बुद्धिमन् निमित्तकपना सिद्ध करनेपर यह बात सिद्ध हो ही जाती है। आशङ्काकारकी आशङ्का खण्डित करने के लिए शङ्काकार समाधानमे कह रहा है कि यह सब कथन असार है, क्योकि शरीरादिकके जो उपभोक्ता प्राणी हैं, जो शरीरमे अधिष्ठित हैं शरीरके निमित्तसे सुख दु खका भोग करता है उन प्राणियोका जो भी अदृष्ट है धर्म अधर्म नामका सो वह अदृष्ट चेतन नही सिद्ध होता, क्योकि पुण्य पाप, धर्म अधर्म ये बुद्धिरूप नही हैं। बुद्धि तो वह कहलाती है जो पदार्थको ग्रहण करे, जो जाने। क्या पुण्य पाप जाननेका काम करते हैं ? नही करते। जानने वाली बुद्धि ही चेतना कहलाती है। तो उन प्राणियोका जो अदृष्ट है वह अदृष्ट अचेतन है, धर्म अर्थके ग्रहणको नहीं कहते अथवा पुण्य भी अर्थ ग्रहण करता नही है। ये दोनो धर्म अधर्म अर्थात् अदृष्ट बुद्धिसे भिन्न चीज है जैसे प्रयत्न आदिक। प्रयत्न, कोशिश क्रिया, क्या ये चेतनरूप हैं ? नही हैं। इसी तरह पुण्य पाप, धर्म अधर्म भी चेतनरूप नही हैं। तब हमें आशङ्काकारका अनुमान अनेक बुद्धिमन् निमित्तक है। शरीर इद्रिय आदिक ये सिद्ध नहीं होते, जिससे कि बुद्धिमन निमित्तक सामान्यको साध्य बताकर सिद्ध साधन कहा जाय। शङ्काकारके प्रति आशङ्काकारने यह बात रखी थी कि सामान्यतया बुद्धिमन् निमित्तक है। शरीरा-

दिक भी मान लिए जा सकते हैं, क्योंकि उनमें जो जीव हैं उनके पुण्य पापके अनुसार उस तरहकी शरीर रचना हो जाती है। अब अनेक जीवोंके द्वारा उनके अपने अपने शरीर रचे गए ही हैं। इस तरह बुद्धिमन्निमित्तपना साध्य सही है। उनके प्रति शङ्काकारका यह कहना कि पुण्य पाप चेतना नहीं है इसलिए वह अदृष्टके द्वारा रची गई नहीं। उनके रचने वाला कोई एक ईश्वर है।

साध्यमे सामान्य विशेषका विकल्प उठाकर अनुमानको मिथ्या कहने पर सभी अनुमानोंके उच्छेदके प्रसगका शङ्काकार द्वारा प्रस्ताव—अब शङ्काकार कह रहा है कि कोई यदि ऐसी भी आशङ्का करे कि वस्त्र आदिक शरीर सहित असर्वज्ञ बुद्धिमान जुलाहा आदिकके द्वारा किया गया देखा गया है तब शरीर इन्द्रिय आदिक कार्य भी शरीर सहित असर्वज्ञ बुद्धिमन्निमित्तिक सिद्ध हो बैठेंगे। तब तो शङ्काकारके इष्टको अनिष्टको सिद्ध करने वाला यह हेतु बन गया सो यह साधन विरुद्ध हो जायगा और फिर सर्वज्ञ शरीर रहित किसी पुरुषके द्वारा किया गया कोई भी वस्त्र आदिक कार्य सिद्ध नहीं होने तब उनको अपना अनुमान सिद्ध करनेके लिए कुछ न मिल सकेगा। तब किसी एक बुद्धिमान ईश्वरके द्वारा बने हैं यह हठ न करना चाहिए। ऐसी आशङ्का करने वालेको शङ्काकार नैयायिक समाधान देता है। इस तरहकी तर्कणा करने वाला युक्तिवादी नहीं है, क्योंकि ऐसी तर्कणा करनेपर सभी अनुमानोका उच्छेद हो बैठेगा। प्रसिद्ध अनुमानके सम्बन्धमे भी यह कह बैठेंगे कि यह अग्निवान पर्वत है धूमवान होनेसे रसोईघरकी तरह। ऐसा अनुमान सब मानते हैं और सही है। लेकिन वहाँ तर्क कर दिया जायगा कि इस अनुमानमे भी जो उदाहरण दिया है रसोईघरका और रसोईघरमे जैसे आग देखी गई है वैसे ही आग सिद्ध हो जायगी। खैर लकडी कोयला आदिककी अग्निसे ही पर्वत अग्निवान सिद्ध हो बैठेगा तो यह विरुद्ध बातको सिद्ध कर देनेमें विरुद्ध साधन हो जायगा। और फिर पर्वतमें जो अग्निमानपना सिद्ध किया जा रहा है वह तो पत्ते आदिक सभी जल रहे हैं तो उनकी अग्निके द्वारा अग्निमानपना सिद्ध किया जा रहा है, तो वह रसोईघर आदिकमे है नहीं तो उसके लिए जो भी उदाहरण देंगे वहाँ साध्य न पाया जायगा। जिस तरहके तर्क आशङ्काकार कह रहे हैं उसी तरहके तर्क हम भी उत्पन्न कर देंगे, इस तरह नैयायिक सिद्धान्तानुयायी कार्यत्व हेतुमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं है यह सिद्ध कर रहे हैं। शङ्काकार कह रहे हैं कि यदि कोई ऐसा माने कि हम पर्वत आदिकमें अग्नित्व सामान्य सिद्ध कर रहे हैं और वह भी किसी एक देशरूपमें, इसलिए यहाँ साधन इष्ट विरुद्ध नहीं होता और न अग्निकत्व सामान्य सिद्ध करनेके लिए रसोईघर आदिकके जो भी दृष्टान्त दिए जायेंगे उनमे साध्य विकलता भी नही आती, क्योंकि रसोईघर आदिकमे भी दोष आदिक विशिष्ट अग्निवानपनेका सद्भाव पाया जा रहा है, ऐसी आशङ्का करने वालेके प्रति शङ्काकार नैयायिक कहता है कि ऐसा मानने

पर भी शरीरादिकमें बुद्धिमन् निमित्तक सामान्य सिद्ध किया जा रहा है और वे शरीरादिक अपने कार्यके निर्माणकी शक्तिमें विशिष्ट सिद्ध किया जा रहा है फिर तो हमारा वह साधन इष्ट विरुद्धको साधने वाला न बनेगा और दृष्टान्त भी साध्य विकल न हो सकेगा। देवादि विशिष्टकी तरह स्व बुद्धिमन् निमित्तक सामान्य साध्य बना रहे हैं, किन्तु ऐसा साध्य बना रहे हैं जो इन कार्योंके निर्माण करनेकी शक्तिसे सहित है। पहिले तो हम बुद्धिमन्निमित्तपना सिद्ध कर रहे हैं, तब सामान्यरूपसे बुद्धिमन्निमित्तपना सिद्ध हो जाता है। तब यह समस्या सामने आयगी कि 'यह बुद्धिमानके शरीर आदिकका कारणभूत है,वह शरीर सहित है अथवा शरीररहित है। तब यह समस्या सामने आयगी जब हम एक शरीररहित सिद्ध करेंगे, क्योंकि ऐसे ईश्वरको जो सब जगतकी रचना कर रहा हो, शरीर सहित माननेपर अनेक बाधक कारण आयेंगे। उस महेश्वरका शरीर न नित्य बताया जा सकेगा न अनित्य बताया जा सकेगा। महेश्वरका शरीर नित्य और अनादि तो सिद्ध हो नही सकता। शरीरमें अवयव हैं, हाथ पैर पीठ पेट आदिक ये अवयव तो होते ही हैं। और जो अवयव वाले हो वे नित्य और अनादि नही हो सकते। जैसे हम लोगोके शरीर अवयव वाले हैं तो नित्य और अनादि नहीं ठहरता है। और महेश्वरका शरीर अनित्य सादिका नही बताया जा सकता क्योंकि यदि रचना करने वाले ईश्वरके शरीरको अनित्य और सादि कह देते हैं तो जो अनित्य सादि होता है उसका अर्थ है कि वह किसी दिन उत्पन्न हुआ है, तो उस शरीरकी उत्पत्तिसे पहिले वह ईश्वर सहित कहलायेगा। तब शरीर सहितपने की बात तो न रही और यदि कहो कि अन्य शरीरके द्वारा शरीरसहित बनता है वहं तो इसमे अनवस्था दोष आता है। अन्य शरीरसे अमुक शरीर हुआ फिर तीसरा शरीर हुआ, फिर चौथा शरीर हुआ। तो यो शरीरकी अनवस्था हो जायगी। ऐसी एक यह भी कोई समस्या उपस्थित कर सकता है कि यह महेश्वर क्या सर्वज्ञ है ? या असर्वज्ञ है ? तो ऐसी समस्या आनेपर वहाँ सर्वज्ञपना सिद्ध किया जायगा क्योंकि यदि वह ईश्वर सर्वज्ञ न हो तो समस्त करने वालोका वह प्रयोगता नही हो सकता। याने करने वाले लोगोका भी प्रेरणा देने वाला ईश्वर है, तो वह तभी प्रेरक बनेगा जबकि वह सर्वज्ञ हो। तो असर्वज्ञपना माननेपर प्रेरकपना न बनेगा और शरीर आदिकको करनेकी बात न बनेगी। तो शरीर आदिक समस्त कारकोंका परिज्ञान न होनेपर भी ईश्वरको प्रयोगता मान लिया जायगा तो शरीर आदिक कार्योंका व्याघ त हो जायगा। जो कार्योंकी प्रणाली नही जानता वह किस कार्यका साधक बन सकता है ? जुलाहा आदिक भी वस्त्र आदिकके करनेकी बात जानते हैं तब ही तो कर पाते हैं। यदि उनका ज्ञान न हो तो वे वस्त्र आदिक बना ही नहीं सकते। तो ईश्वरका कार्य जो शरीर इंद्रिय आदिक हैं उनका कभी भी विघात सम्भव नहीं है। महेश्वरके द्वारा सोचा गया कार्य जैसे कारक परमाणुओसे युक्त होना चाहिए उस प्रकार विचित्र और अदृष्ट आदिक बराबर बिना बाधाके देखे जा रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि ये

सब कार्य बुद्धिमान ईश्वरके द्वारा बनाये गये हैं।

विचित्र-कार्यत्व हेतुसे भी जगन्निमित्तिकताके विरोधकी असंभवताका पक्ष—शंकाकार कहता है कि जो लोग एक ईश्वर द्वारा सृष्टि नहीं मानते, उन्हें यह कहना भी अयुक्त है जैसा कि आगे कहा है उन्होंने कि शरीर इन्द्रिय आदिक एक स्वभाव वाले ईश्वरके कारणसे किए गए नहीं हैं क्योंकि ये विचित्र काय हैं वह एक स्वभाव वाले कारणके द्वारा किया गया नहीं देखा जाता। जैसे घड़ा, कपड़ा, मुकुट, गाड़ी आदिक ये सब भिन्न भिन्न पुरुष हैं, इसी तरह शरीर इन्द्रिय आदिक भी विचित्र कार्य हैं। इस कारण ये सब एक स्वभाव वाले ईश्वरके कारणसे किए गए नहीं हैं। ऐसा जिनका कहना है उनका यह कथन भी अयुक्त है। शंकाकार कहे जा रहा है कि यह कथन उनका क्यों अयुक्त है कि ऐसा तो हम भी मान रहे हैं। यह तो सिद्ध साध्य है। एक स्वभाव वाला ईश्वर नामका कोई कारण शरीर आदिकका हम नहीं करते हैं, किन्तु वह एक ईश्वर तीन शक्तियोंके स्वभाव वाला है। ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति। और, भी देखिये ! कि शरीर इन्द्रिय आदिकका उपभोग करने वाले प्राणियोंका जो अदृष्ट विशेष है वह भी विचित्र है। और वे सब सहकारी कारण हैं। तो उससे भी यह सिद्ध होता है कि ईश्वरके सहकारी कारण विचित्र स्वभाव वाले हैं यों ही ईश्वरमें अनेक स्वभाव सिद्ध होते हैं। और सृष्टिकर्तृत्वका खण्डन करने वाले ने जो घड़ा कपड़ा, मुकुट आदिक कार्योंका उदाहरण दिया है सो वहाँ भी देख लो कि उन क्रियावोंके उत्पन्न करनेका ज्ञान होना, उत्पन्न करनेकी इच्छा होना और उसके अनुरूप अपनी क्रियायें करना भी शक्तियोंकी विचित्रता और उसके साथ ही साथ दंड चक्र आदिक नाना उपकरण उनका सहयोग पाकर एक ही पुरुषके द्वारा उनका उत्पादन सम्भव है इसलिए आशंकाकारोंने जो उदाहरण दिया वह साध्यविकल रहा, अर्थात् घट पट आदिक भी एकके द्वारा किए जाते हैं और वह एक नाना स्वभावात्मक होता है। इस प्रकार कार्यत्व नामक हेतु शरीर इन्द्रिय लोक आदिक पदार्थों का कोई बुद्धिमान सृष्टिकर्ता है, निमित्त है, इस बातको सिद्ध करता ही है। मूलमें जो अनुमान दिया गया था नैयायिकोंकी ओरसे कि शरीर इन्द्रिय आदिक किसी बुद्धिमान निमित्तके द्वारा किए गए हैं, क्योंकि कार्य होनेसे, तो यह अनुमान समस्त दोषोंसे रहित है ऐसा नैयायिक अथवा वैशेषिक सिद्धान्तके अनुयायी अपनी शंका रख रहे हैं। इस शंकाको रखनेका प्रयोजन उनका यह था कि जिस ईश्वरके द्वारा यह सारा जगत बनाया गया है, यह सृष्टि अनादिसे तो वह ईश्वर अनादिसे कर्मसे अछूता है। तब ग्रन्थकारका यह कहना कि आप्त मोक्षमार्गका नेता है, कर्म पहाड़का भेदने वाला है, विशुद्ध तत्त्वका ज्ञाता है, ये तीन विशेषण युक्त नहीं होते। दो विशेषण भी मान लिए जायें कि मोक्ष मार्गका नेता है ईश्वर और सब तत्त्वोंका ज्ञाता है, पर कर्मपहाड़ों का भेदनहार है ही नहीं, क्योंकि उनका अनादिसे ही कर्मोंका संस्पर्श नहीं है।

कालात्ययापदिष्ट व व्यापकानुपलम्भ होनेसे कार्यत्व हेतुकी बुद्धिमन्निमित्तिकता साध्यकी सिद्धिमे अशक्तता बताते हुए उक्त शङ्काओंका समाधान—अब उक्त शङ्काओंके समाधानमें ग्रन्थकार कहते हैं कि कोई कर्मभूभृतका भेदनहार नही है और ईश्वर कर्मसे सदा अछूता है और यह जगत उस बुद्धिमानके द्वारा बनाया गया है। ये सब बातें असमजसकी हैं, क्योंकि शङ्काकारके इस पक्षमे कि शरीर इन्द्रिय आदिक बुद्धिमन्निमित्तक होते हैं, इस पक्षमें व्यापकानुपलम्भसे बाधित होता है और जब उनका कार्यत्वहेतु प्रमाणबाधित हो गया तो प्रमाण बाधित हेतुको अपना अभिमत सिद्ध करनेके लिए पेश करना कालात्ययापदिष्ट दोषसे दूषित कहलाता है। व्यापकानुपलम्भका क्या अर्थ है ? सो सुनो ! व्यापकका अनुपलम्भ हो याने ऐसा अन्वय व्यतिरेक नहीं बनता कि जब जब ईश्वर है तब तब शरीर आदिक बनते हैं, जब ऐसा नहीं है तब शरीर आदिक नहीं बनते या शरीर आदिक नही बन रहे उस समय ईश्वर नही है, इसलिए कोई अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता है। शरीर आदिक बुद्धिमन्निमित्तक नही हैं, क्योंकि उस बुद्धिमानसे शरीर आदिकका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं पाया जाता। जहाँ जिसके अन्वय व्यतिरेकका अभाव है वहाँ उस एक प्रभुका कार्य न कहलायगा। जैसे घडा, खपरियाँ, सकोरा आदिक कार्यों मे जो कि जुलाहा आदिकके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नही है, तो यह कहा जा सकता है कि ये घट सकोरा आदिक कार्य जुलाहा आदिकके निमित्तसे नहीं होते। सारांश यह है कि जुलाहाके होनेपर घडा बन जाय और जुलाहाके न होनेपर घड़ा न बने ऐसा सम्बन्ध तो नही देखा गया। तब यह कह सकना कि घडा कार्य जुलाहाके निमित्तसे नहीं होता, ऐसे ही प्रकृतमे भी घटा लीजिए । एक बुद्धिमान ईश्वरके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं पाया जाता है शरीर इन्द्रिय आदिकमे। इस कारण ये सब शरीरादिक लोग बुद्धिमान निमित्तक नहीं हैं इस तरह व्यापकानुपलम्भ नहीं पाया जा रहा है। यदि शरीर वगैरह ईश्वर द्वारा किए गए होते तो उसके साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाना चाहिए। जो भी शरीरादिकका कारण होगा उसके साथ इसका अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है। जैसे घट सकोरा आदिकके साथ कुम्हारका अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है, तब कह सकते हैं कि परमाणु आदिक कुम्हारके कारणसे बने हुए हैं। कुम्हारने बनाया कुम्हारकी चेष्टा हुई वहाँ घडा बन गया। जहाँ कुम्हारकी चेष्टा नही है वहाँ घडा नहीं बनता। तो कार्यका जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बध हो वही कारण कहा जा सकता है। पर एक महेश्वरका शरीर इन्द्रिय आदिके साथ कार्य कारण सम्बन्ध नहीं हैं व्यापकानुपलम्भमें कोई बाधक प्रमाण नहीं मिलता। व्यापकानुपलम्भ नामक हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि शरीर आदिकका ईश्वरके साथ व्यतिरेकका न पाया जाना प्रमाण सिद्ध हो रहा है। वह कैसे? सो सुनो! व्यतिरेक दो प्रकारके होते हैं काल व्यतिरेक और देश व्यतिरेक। काल व्यतिरेकका तो भाव यह है ऐसा कोई कह सकता हो कि जब ईश्वर है, जब शरीर आदिक बन रहे हैं और

जिस समय ईश्वरका प्रभाव है उस समय शरीर आदिक नहीं बन रहे तब तो कह सकते थे कि इसमें काल व्यतिरेक पाया जा रहा पर ऐसी बात है तो नहीं। ईश्वर तो सनातन शाश्वत वर्तमान माना गया है। उसका कभी भी प्रभाव नहीं हो सकता है। तब यहाँ कालव्यतिरेक सम्भव नहीं है। दूसरा व्यतिरेक है देश व्यतिरेक। देश व्यतिरेकका भाव यह है कि कोई यदि ऐसा कह सके कि जिस जगह ईश्वर है उस जगह शरीर आदिक बन जाता है और जिस जगह ईश्वर नहीं है वहाँ शरीरादिक नहीं बन पाते हैं। ऐसा देश व्यतिरेक भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ईश्वर तो विभु है, सर्वत्र व्यापक है। उसका किसी एक क्षेत्रमें प्रभाव नहीं कहा जा सकता। इस कारण उनका देश व्यतिरेक भी नहीं कहा जा सकता है। यों व्यतिरेकका प्रभाव पाया जानेसे कार्यत्व हेतु एक ईश्वरकी सृष्टि कर्तृत्वको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है।

कार्यत्व हेतुका सिसृक्षानिमित्तिकताके साथ भी व्यतिरेकानुपलम्भ होनेसे अनिष्ट प्रसंग—यदि शङ्काकार यह कहे कि शरीर आदिक कार्य कहीं बनता है, कुछ बनता है, कुछ नहीं बनता है, इसी आधार पर तो व्यतिरेकानुपलब्धिकी बात कही जा रही है तो सुनो ! महेश्वर तो सनातन है सो उसके साथ व्यतिरेकानुपलब्धि है तो बना रहे लेकिन महेश्वरकी सृष्टि करनेकी इच्छा निमित्त मानी गई है। तो जब ईश्वरकी इच्छा होती है तो कार्य बनता है और इच्छा न हो तब वह कार्य न बना, इस तरह सृष्टि करनेकी इच्छाके साथ अन्वय व्यतिरेक बन जाता है और वही निमित्त कहलाता है। तब हमारा कहे गये मूल अनुमानमें कोई दोष नहीं आता। यदि ऐसा कोई कहे तो उसके समाधानमें कहते हैं कि यह बात भी असत्य है। अच्छा वे बतलायें जरा कि ईश्वर की जो इच्छा उत्पन्न हुई है उसकी इच्छा नित्य है या अनित्य ? यह विकल्पसे अतिरिक्त और कुछ तो कहा नहीं जा सकता। या कहो नित्य है महेश्वरकी तरह सदा काल रहता है या कहो अनित्य है। कभी रहता है कभी नहीं रहता है। तो इन दो विकल्पोंमेंसे यदि यह विकल्प लेंगे कि महेश्वर की इच्छा नित्य है तो यहाँ भी व्यतिरेक सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे ईश्वर सदाकाल है, नित्य है, उसके साथ शरीर आदिक कार्योंका व्यतिरेक नहीं बनता। इसी तरह ईश्वरकी इच्छा भी नित्य है सदाकाल है, इस कारण उस इच्छाके साथ ही शरीर आदिकका व्यतिरेक नहीं बन सकता, क्योंकि अब तो सृष्टिकी इच्छा भी सदाकाल रहेगी। यहाँ शङ्काकार कहता है कि ईश्वरकी इच्छा यद्यपि नित्य है, लेकिन वह असर्वगत है याने सब जगह व्यापक नहीं रहती। उससे व्यतिरेक सिद्ध हो जाता है। ईश्वरकी इच्छा सदाकाल तो रही, मगर जिस जगह नहीं है उस जगह कार्य नहीं हो रहे, जिस जगह इच्छा पहुंच गई वहाँ कार्य होने लगा। इसके समाधानमें कहते हैं कि देखिये ! जहाँ ईश्वरकी इच्छा है मौजूद है वहाँ व्यतिरेक न बन पायेगा, इतना तो मानना ही पड़ेगा। अब सोचिये दूसरा पहलू ! जहाँ ईश्वरकी इच्छा नहीं है, दूसरे देशमें जहाँ

ईश्वरकी सृष्टि करनेकी इच्छा मौजूद नहीं है वहाँ ईश्वरकी इच्छाका हमेशा अभाव बना रहनेसे फिर शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति न हो सकेगी और अगर होगी तो ईश्वरकी इच्छाको अनित्य मानना पडेगा। ईश्वरवादी तो ईश्वरकी तरह ईश्वरकी इच्छाको भी सदाकाल ही मानते। तो ईश्वरकी इच्छा यदि नित्य है तो उसके साथ भी व्यतिरेक नही बन सकता। यदि वह कहे कि ईश्वरकी इच्छा अनित्य है तो अनित्यके मायने यह ही तो हुआ कि किसी दिन हुई। तो जिस दिन वह हुई उससे पहिले तो वह इच्छा थी नही। तो यह ही बतायें कि केवल इच्छा कैसे उत्पन्न हो गई? यदि कहें कि उससे पहिले अन्य इच्छा थी इस इच्छाके कारण यह नई इच्छा बन गई। तब तो अनवस्था दोष आयगा। वह पूर्वकी इच्छा भी और पूर्वकी इच्छाके कारण बनी। वह उससे पहिलेकी इच्छासे बनी। तो यो दूसरे तीसरे आदिक इच्छा को उत्पन्न करनेमे ही महेश्वर लगा रहेगा तब शरीरादिक कार्य कभी उत्पन्न हो ही न सकेंगे।

विश्वको सिसृक्षानिमित्तिक माननेपर भी अनवस्थादि दोषोका प्रसंग

यदि शङ्काकार यह कहे कि प्रकृति शरीर आदिक कार्योंकी उत्पत्तिमे महेश्वरके सृष्टि करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। और वह इच्छा भी उसके पहिले जो सृष्टिकी इच्छा हुई थी वह होती है। इस तरह अनादिमे सृष्टि करनेकी इच्छाकी सतति बन जाती है। और जहाँ सतति है वहाँ अनवस्था दोष नही होता, क्योंकि सभी घटनाओमे कार्य कारणका जो सतान है वह अनादिरूपसे सिद्ध है। जैसे बीज और अकुरका अनादि सतान है। बीज पहिले अकुरसे हुआ वह अकुर पहिले बीजसे हुआ, वह बीज पहिले अंकुरसे हुआ, इस तरह अनादि परम्परा बन जाती है। वहाँ अनवस्था दोष नहीं आता। इस तरह सिसृक्षा याने सृष्टि करनेकी इच्छा ही पूर्व पूर्व सिसृक्षासे उत्पन्न होती रहती है इसलिए उनमे अनादि सतति सिद्ध है, अनवस्था दोष नहीं आता। ऐसा कहने वाले शङ्काकारके यहाँ यह अनिष्टापत्ति आती है कि फिर तो एक साथ नाना देशोमे शरीरादिक कार्योंका उत्पाद सम्भव न होगा। जहाँ जिस कार्यकी उत्पत्ति के लिए महेश्वरकी सृष्टि करनेकी इच्छा हुई हो उस ही देशमे उस कार्यकी उत्पत्ति बन सकेगी। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जितने देशमे जितने कार्य उत्पन्न होने वाले हो उतने ही सिसृक्षाओमे ईश्वर एक साथ उत्पन्न हो जाय और जिससे यह बात सिद्ध की जा सके कि सभी देशोमे कार्यकी उत्पत्ति सम्भव हो सकती है। ऐसा क्यो नहीं कहा जा सकता कि एक साथ अनेक इच्छाओकी उत्पत्तिका विरोध है। जैसे हम आप सभी लोगोके एक समयमे एक इच्छा उत्पन्न होती है, अनेक इच्छायें तो नही होती, कोई यदि यह कहे कि एक ही महेश्वरकी सिसृक्षा एक साथ नाना देशोमें कार्यके उत्पन्न करने वाली समर्थ हो जायगी, एक ही सिसृक्षासे सारे देशकी क्रिया उत्पन्न हो जायगी तो यह भी बात युक्त नही बनती, क्योकि क्रमसे अनेक शरीरादिक कार्योकी उत्पत्तिमें

विरोध आता है, क्योंकि महेश्वरकी सिसृक्षा तो मदा नाना है नहीं। तब फिर अनेक शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति कैसे हो जायगी ? अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि जहाँ जिस समय जिस प्रकारसे जो कार्य उत्पन्न होने वाला है वहाँ उस समय उस प्रकारसे उस कार्यके उत्पन्न करनेकी इच्छा महेश्वरके एक ही उस प्रकारकी उत्पन्न होती है, इस कारण नाना देशोंमें और एक देशमे क्रमसे और एक साथ और उसी प्रकारका तथा अन्य प्रकारका शरीरादिक कार्य उत्पन्न हो जाय इससे किसी भी प्रकारका विरोध नहीं होता। साराश यह है कि जो महेश्वरके एक ऐसी विशेष जातिकी इच्छा बनती है जो सब जगह क्रम पूर्वक योग्य उन्नम शरीरादिक कार्योंको उत्पन्न करता रहता है इस लिए नाना देशोंमें क्रमसे अथवा युगपत शरीरादिक नाना कार्योंकी उत्पत्ति हो जाय, इसमे किसी भी प्रकारकी बाधा नही आती। उक्त शङ्काके समाधान मे कहते हैं कि यह तो बिल्कुल असम्भव बात कह दी गई है। किसी एक प्रदेशमे सृष्टि करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई। अब उससे विभिन्न देशोंमे नाना कार्य उत्पन्न कराये जा रहे तो यह तो विरुद्ध बात है। एक प्रदेशमें इच्छा उत्पन्न हुई तो उस ही प्रदेशमें वही एक कार्य उत्पन्न होगा। एक देशमें उत्पन्न हुई इच्छासे सर्व देशोंमे कार्यका उत्पन्न होना मान लिया जाय तो देश व्यतिरेक नहीं बन सकता। किसी भी वस्तुका कारण-पना जाननेके लिए देशव्यतिरेक और कालव्यतिरेककी सिद्धि बनना चाहिए सो एक जगह महेश्वरकी इच्छा उत्पन्न हुई और सब जगह कार्य होता रहे तब यह बात युक्तिमें कैसे आ सकेगी कि सिसृक्षाके होनेपर ही कार्य हुआ और सिसृक्षाके न होनेपर कार्य नहीं हुआ, यह व्यतिरेक व्याप्ति सिद्ध न बन सकेगी।

सिसृक्षा और कार्यत्वमें देश व्यतिरेक व काल व्यतिरेककी असिद्धि— यदि शङ्काकार यह कहे कि जिस देशमें सिसृक्षा हुई है उस ही देशमें वह कार्य बनेगा। अन्य देशमें न बनेगा। इस तरह देश व्यतिरेक तो बन जायगा किन्तु उस हालतमे महेश्वरकी अनेक इच्छा माननी पड़ेगी, जो शङ्काकारको इष्ट नहीं है तो जैसे महेश्वर के साथ कार्यका अन्वय व्यतिरेक नहीं बनता उसी प्रकार सिसृक्षाके साथ भी अन्वय व्यतिरेक नही बन पाया तो अन्वयका निश्चय न होगा ईश्वरके होनेपर शरीर आदिक कार्योंकी उत्पत्ति हुई यही तो अन्वय कहलायगा। यह अन्वय भी नही बनता, क्योंकि कार्य उत्पन्न हो रहे हैं उस कालमें जैसे ईश्वरका सद्भाव मान रहे ऐसे ही कार्य जब उत्पन्न हो रहे हैं तो अनेक पुरुष अनेक जीव वे तो प्राय सदाकाल बने रहते हैं फिर अन्य जीवोसे सृष्टिका अन्वय क्यो न मान लिया जाय ? पुरुषान्तरका भी याने अन्य अन्य जीवोका सर्व कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारणपना इन नैयायिक वैशेषिक जनो को मान्य नही है जैसे दिशा काल आकाश निमित्तपना इनको मान्य नहीं है। यहाँ प्रकृत बात यह चल रही है कि ईश्वरके साथ शरीर आदिक कार्योंका अन्वय भी नहीं बनता। अन्वयकी मुद्रा यह है कि ईश्वरके होनेपर शरीर आदिक कार्य हुए तो जैसे

ईश्वर सदा रहता है और कार्य होता रहता है ऐसे नाना जीव भी सदा रहते हैं और कार्य होता रहता है। तो इस तरह नाना जीवोंमें भी निमित्त कारणपना बन जायगा शरीरादिक कार्योंका निमित्त कारण यह जीव है लेकिन इन जीवोको यौव और वैशेषिकका निमित्त कारण तो नहीं माना। जैसे दिशा काल आकाश ये भी सदा रहते हैं, इसके साथ भी अन्वय बताया जा सकता जैसे कि ईश्वरके साथ अन्वय बताया जा रहा है तो वह भी निमित्त कारण नही है और इस तरह सर्व जीवोको निमित्त कारण मान लिया जानेपर सिद्धान्तसे विरोध आ जायगा। और, महेश्वरका निमित्त कारणपना माननेकी कल्पना व्यर्थ हो जायगी। यदि शङ्काकार यह कहे कि उन अनेक जीवों के होनेपर भी कभी शरीरादिक कार्योंमे अनुत्पत्ति भी देखी जाती है इस कारण उन जीवोंमें निमित्त कारणपना नहीं है इसी तरह उनके साथ अन्वय भी नही बनता तो सुनो! इसी तरह ईश्वरके होनेपर भी कदाचित् शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति नही होती है इस कारण ईश्वरकी भी सृष्टिका निमित्त कारणपना बनेगा और निमित्त कारणपना न बना तो अन्वय भी न बना। जिस तरह जीवान्तरोके साथ अन्वय व्यतिरेक नही बनता इसी तरह ईश्वरके साथ भी सृष्टिका अन्वय व्यतिरेक नहीं बनता। जैसे ईश्वरके साथ शरीरादिक कार्योंका अन्वय व्यतिरेक सिद्ध नही होता, उसी तरह ईश्वरकी सिसृक्षाके साथ भी अन्वय नही बनता, क्योंकि सिसृक्षा भी नित्य मानी गई है, वह तो सदाकाल है। तो सदाकाल होनेपर भी शरीरादिक कार्योंकी अनुत्पत्ति देखी जा रही है। दमादम प्रत्येक स्थानमे शरीरादिक कार्य हो तो नहीं जाते। कही होते हैं कहीं शरीर उत्पन्न नही हो रहे हैं। तो सिसृक्षाके साथ भी अन्वय सिद्ध नही होता। जैसे दिशा, काल, आकाश आदिकके साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं होता, क्योंकि दिशा काल आदिकके होनेपर भी सब कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती।

सामग्रीको कार्यजनिका माननेपर प्रकृत पक्षकी हानि—यहाँ शङ्काकार कहता है कि एक कार्यको उत्पन्न करने वाला कारण एक नही होता, किन्तु सामग्री कार्यको उत्पन्न करने वाली होती है। याने अनेक पदार्थोंका समूह कार्यको उत्पन्न किया करता है, इस कारण उस सामग्रीका ही कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक घटाना चाहिए। ईश्वर एक है और वह सदाकाल रहता है और वह सृष्टिका निमित्तकारण है, इतनेपर भी वही एक कारण तो नहीं है। वह तो एक नियता मुख्य कारण है, उसके साथ अनेक सामग्री भी होती है और वह कार्यकी जनक है। उस सामग्रीमे एक ईश्वर भी आ गया है। तो सामग्रीके साथ कार्यका अन्वय व्यतिरेक ढूंढियेगा। एक ईश्वरके साथ अन्वय व्यतिरेकका तर्क मत करें। और शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमे सामग्री होती है तीन कारणोंरूप - समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण, क्योंकि इन तीन कारणोके होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति हुआ करती है। और ये तीन कारण न जुटे हो तो कार्यकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती, इस कारण सामग्री

का उत्तर ३ कारण अन्वय व्यतिरेक कार्यके साथ लगाना चाहिए। अकेले ईश्वरके साथ अन्वय व्यतिरेक मत लगावें ! उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि आपका कहना ठीक है। तीन प्रकारके कारण हुए, लेकिन जिस प्रकार अनित्य समवायी कारण तथा अदृष्ट धर्म अधर्म निमित्त कारण, इन तीनोंका अन्वय व्यतिरेक कार्यकी व्यतिरेक कार्यकी उत्पतिमें प्रसिद्ध है उस प्रकार नित्य व्यापक ईश्वरका अथवा नित्य एक स्वभाव वाली सिसृक्षाका अन्वय व्यतिरेक प्रसिद्ध नही है। सभी कार्योंमें समवायी कारण, असमवायी कारण निमित्त कारणकी व्यवस्था बनाई जा सकती है। अगर ईश्वरको निमित्त कारण मानकर अन्वय व्यतिरेक व्यवस्था नही बन सकती। यह तो कहा नहीं जा सकता कि कार्यकी उत्पत्तिमे सामग्रीके एक देशके साथ अन्वय व्यतिरेक सिद्ध हो जाय, तो वह अन्वय व्यतिरेक समस्त सामग्रीके साथ लगा लेना चाहिए। याने तीन प्रकारके जो कारण कहे गए हैं—समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण उनमें एक ईश्वर निमित्त कारणके साथ अन्वय व्यतिरेक नही होता है। तब समवायी कारण असमवायी कारणके साथ अन्वय व्यतिरेक रहे तो सारी सामग्रीके साथ अन्वय व्यतिरेक समझ लेना चाहिए, यह बात नही कही जा सकती, क्योंकि सामग्रीके प्रत्येक हिस्सेका अन्वय और व्यतिरेककी कार्यकी उत्पत्तिमे देखा जायगा। जैसे कि वस्त्र आदिककी उत्पत्तिमें जुलाहा आदिक सामग्रीमें एक देश के साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं घटा। समस्त सामग्रीके साथ खोजा जाता है। जैसे — ततु तुरी, वेम, शलाका आदिक जो कपड़ा बुननेके सम्बन्धमे कारण हुआ करते हैं उनका अन्वय व्यतिरेक देखकर पटकी उत्पत्ति सिद्ध की जाती है, और इसी प्रकार जुलाहाके न होनेपर वस्त्रकी अनुत्पत्ति, ऐसे ही अन्वय व्यतिरेकके द्वारा भी वस्त्रकी उत्पत्ति देखी जाती हैं। इसी तरह पटके उपभोक्ता जनोंका जो अदृष्ट है, पुण्य पाप है उसके साथ भी अन्वय व्यतिरेक देखा जाता है। तब यह तो कह सकेंगे कि ततु, तुरी, वेम, सलाका, जुलाहा और उनके उपभोक्ताओंका पुण्य पाप उसके साथ अन्वय व्यतिरेक है और यो पटकी उत्पत्तिमे कारण ये सब हैं, लेकिन ईश्वरके सम्बन्धमें ऐसा अन्वय व्यतिरेक नहीं देखा जाता।

कार्यत्व हेतुका दिशाकाल आकाशादिके साथ भी अन्वयव्यतिरेकका अनुपलम्भ—अब शङ्काकार कहता है कि जैसे सर्व समस्त कार्योंकी उत्पत्ति होनेमें दिशाकाल, आकाश आदिक सामग्रीसे अन्वय व्यतिरेक हुआ करता है, उस प्रकार ईश्वर आदिक सामग्रीका अन्वय और व्यतिरेक भी सिद्ध हो जायगा। ऐसी शङ्का करना स्पष्ट असङ्गत है। दिशा काल, आकाश आदिकका भी अन्वय व्यतिरेक नहीं बन सकता, क्योंकि ये सब भी नित्य हैं, व्यापक हैं, निरवयव हैं, ऐसा वैशेषिक और नैयायिकोंने माना है। तो जैसे नित्य व्यापक ईश्वरका कार्योंके प्रति अन्वय व्यतिरेक नहीं बन सकता इसी तरह दिशा, काल, आकाश आदिकका भी शरीर आदिक कार्यों

के प्रति अन्वय व्यतिरेक नहीं बन सकता । नित्य है इस कारण काल व्यतिरेक न बनेगा और व्यापक है इस कारण देश व्यतिरेक न बनेगा यह इसका उदाहरण प्रस्तुत करना अयुक्त है । यह विषम उदाहरण है । हाँ दिशा काल, आकाश आदिकको भी अगर परिणामी माना जाय, सप्रदेशी माना जाय तो अपने कार्यकी उत्पत्तिमें उनको निमित्त कहना बन सकता है । लेकिन ईश्वरको तो न परिणामी मानते, न सब प्रदेशी मानते, तब निमित्त कैसे माना जा सकता है ?

ईश्वरको परिणामिता व सप्रदेशिता माननेके लिये बाध्य होनेपर शंकाकार द्वारा बचावकी चेष्टामें परिणामित्व व सप्रदेशित्वका प्रतिपादन— शङ्काकार कहता है कि जैसे दिशा काल, आकाश आदिकको परिणामी और सप्रदेशी मान लिया जाता है इसी तरह ईश्वरको भी अपने अभिन्न परिणामोंसे तो परिणामी मान लिया जायगा और एक साथ समस्त मूर्तिमान पदार्थोंके संयोगमें कारणभूत प्रदेशोंकी अपेक्षासे सप्रदेशी मान लिया जायगा, याने ईश्वर अपने अभिन्न बुद्धि आदिक परिणामोंसे परिणमता है जैसे ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति होती है और उनसे परिणमता है सो तो परिणामी बन जायगा और जिन जिन मूर्तिमान पदार्थोंका उत्पाद हो रहा उनके संयोगमें कारणभूत बन रहा है अथवा मूर्तिमान द्रव्योंका संयोग बन रहा उसमें कारण है उनके प्रदेश और उस समय ईश्वरका जो सम्बन्ध बन रहा तो यों सप्रदेश सिद्ध हो जायेंगे । याने जो पदार्थ बन रहे हैं जिनका संयोग हो रहा है उस अपेक्षासे सप्रदेश बन जायेंगे । और, यों ईश्वर परिणामी एवं सप्रदेश बन जानेसे काल आदिककी तरह शरीर आदिक कार्योंकी उत्पत्तिमें ईश्वरका निमित्त कारणपना मान लेना चाहिए क्योंकि अब परिणामी और सप्रदेश मान लेनेसे कार्योंके साथ अन्वय व्यतिरेक बन जायगा । हाँ इतनी बात अवश्य है कि ईश्वरसे अभिन्न जो ज्ञानादिक परिणाम हैं वे परिणाम होते तो हैं मगर उनके कारण हम ईश्वरको परिणामी नहीं कहते । और, अपने आरम्भक प्रदेशसे उसकी सावयवताका भी हम समर्थन नहीं करते याने वस्तुतः ईश्वर अपरिणामी है और निरवयव है । इसके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे जैसा कि अभी ऊपर कहा है उस रूपसे ईश्वरको परिणामी और सप्रदेश दोनों तरहसे मान लेते हैं । तो यों ईश्वरको परिणामी और अपरिणामी निरवयव और सप्रदेश माननेमें कोई विरोध नहीं है । और इसमें कोई इसे अतिव्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि दूसरे द्रव्यगत परिणमनोंसे याने अन्य द्रव्योंमें परिणमन हो रहा है उससे भी ईश्वरको परिणामीपना माननेका प्रसङ्ग नहीं आता । इसका कारण यह है कि वे सब पदार्थ ईश्वरमें समवाय सम्बन्धसे सम्बन्धित नहीं हैं । जो परिणाम जहाँ समवाय सम्बन्धसे सम्बन्धित हो उन्हीं परिणामोंसे वस्तुतः परिणामी कहा जाता है । जैसे घटमें जो कुछ भी परिणमन होते हैं उन परिणमनोंका समवाय सम्बन्ध है, घट है अवयवोंमें, अतः परिणामी कह सकते । ईश्वरसे अभिन्न जो

ईश्वरकी ज्ञान इच्छा आदिक हैं उनका कथंचित परिणाम कह सकते, पर बाह्य पदार्थों के प्रसङ्गसे ईश्वरको परिणामी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि परमाणुके जो आरम्भक अवयव हैं वे परमाणुके नही हैं। परमाणु तो निरवयव है और अनेक परमाणु जब मिलते हैं तो मिलनेपर नया संयोग होता है और उनसे सप्रदेशीपना आता है, तो भी अब वह नैयायिकोके लिए अनिष्ट नही है। इसका कारण यह है कि परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ संयोग होनेमे कारणभूत एक प्रदेशी परमाणुको स्वीकार किया गया है, याने एक परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ सम्बन्ध होता है। तो उस सम्बन्धमें उनके प्रदेश भी तो कारण पडते हैं। दो परमाणुओंका सम्बन्ध हुआ तो दोनो परमाणुओके अपने अपने प्रदेशमें संयोगमें कारण तो हुए इस दृष्टिसे सप्रदेशपना कह दवे कार्योंको तो इसमे कोई विरोधकी बात नहीं है। तो यो औपचारिक प्रदेशकी मान्यता करके ईश्वरमें भी परिणामीपना और सप्रदेशपना सिद्ध हो जायगा। आत्मा आदिक में भी सिद्ध हो जायगा। क्योंकि ये सब उपचारसे ही स्वीकार किए गए हैं। परन्तु जब परमार्थ दृष्टिसे देखा जायगा तो मूर्तिमान उन परमाणुओके संयोगमे भी कारणीभूत प्रदेश यो हुए हैं, पर उनसे सप्रदेश मानना उपचार मात्रसे है। परमार्थसे तो वे सप्रदेश नहीं हैं। परमार्थ दृष्टिसे तो उन परमाणुओके अपने अपने प्रदेश परमार्थभूत हैं। यदि वे परमार्थ न होते तो सारे मूर्तिमान द्रव्योंका एक साथ सम्बन्ध हो जाय। उस समयका संयोग भी अपरमार्थ हो जायगा। तो यो व्यापकपना भी उपचरित होगा। परमाणुका परमाणुके साथ संयोग भी उपचरित होगा तब द्व्यणुक आदिक कारण काल्पनिक हो गए तो कार्य भी काल्पनिक बन जायेंगे। साराश यह है कि जिस युक्तिसे हम काल आदिकको परिणामी और सप्रदेशी मान लेते हैं और उनके फिर कार्योंके साथ अन्वय व्यतिरेक सिद्ध कर लेते हैं और यो अन्वय व्यतिरेक सिद्ध होनेसे निमित्त कारण स्वीकार कर लेते हैं ठीक उसी ढङ्गसे ईश्वरको भी परिणामी माना जा सकता है तथा सप्रदेशी माना जा सकता है। और, यों परिणामी और सप्रदेशी मान लेनेपर ईश्वरके साथ शरीरादिक कार्योंका अन्वय व्यतिरेक बन सकता है, और जब शरीरादिक कार्योंके साथ ईश्वरका अन्वय व्यतिरेक बन गया तो निमित्त कारणपना भली भाँति सिद्ध हो जायगा। कैसे यहाँ ईश्वरकी निमित्त कारणताका खण्डन किया जा रहा है?

ईश्वरको परिणामी और सप्रदेश माननेमे स्याद्वादका आश्रयण— उक्त शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि ईश्वरका किसी दृष्टिसे परिणामी सप्रदेशी मानने वाले इन नैयायिकोंने आखिर कोई गति न होनेसे स्याद्वाद मतका ही तो अनुसरण किया कि परमार्थसे ईश्वर परिणामी है, सप्रदेशी है, ईश्वर परिणामी है, सप्रदेशी है, यह नय लगाकर प्रयोग [illegible] किया। इतनेपर भी ये नैयायिक शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें ईश्वरकी [illegible] करनेके लिए समर्थ नही हो सकता।

यो ग्रगत्या स्याद्वाद मत मान लिया, तिसपर भी अपने इष्टकी सिद्धि न कर सके, क्योंकि ईश्वरको यों परिणामी और सप्रदेशी मानकर भी शरीरादक कार्योंके साथ उनका अन्वय व्यतिरेक सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि इस तरह अन्वय व्यतिरेक मान लिया जायगा तो प्रत्येक शरीरादिक कार्योंके प्रति अनेक आत्माओंका अन्वय व्यतिरेक मान लेना सहेगा। तो जैसे अन्य आत्मा शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमे निमित्त कारण नही है, यद्यपि उन अन्य आत्मावोके होनेपर कार्य हो रहे हैं ऐसा अन्वय सिद्ध है और अन्य आत्माओंसे शून्य प्रदेशमे कही भी शरीरादिककी उत्पत्ति नही है इस तरह व्यतिरेक सिद्ध है। यो जबानी अन्वय व्यतिरेक सिद्ध होने पर भी अन्य आत्मावोको शरीरादिक जैसे अन्य आत्माओको कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण नही माना है। उस ही प्रकार ईश्वरके होनेपर ही शरीरादिक कार्यों की उत्पत्ति हो रही है और ईश्वरसे शून्य प्रदेशमें कहीं भी शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति नही हो रही है, क्योंकि ईश्वरसे शून्य कोई दुनियाका प्रदेश ही नही है। तो यो जबानी अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध होनेप भी ईश्वर निमित्त कारण न होगा, क्योंकि अन्य आत्माओ और ईश्वर इन दोनोके साथ एक सी ही घटनायें घट रही हैं। अन्वय व्यतिरेकके सम्बन्धमे और इससे भिन्न रहनेके सम्बन्धमें कोई विशेषता नही है।

कार्यमे आत्मान्तरोके निमित्ताभावकी तरह सर्वकार्योमे एक आत्म विशेषके भी निमित्ता भावकी सिद्धि—अब शङ्काकार कहता है कि महेश्वर तो बुद्धिमान है। वह समस्त कारकोके परिज्ञानको रख रहा है तो समस्त कारक सामग्री के परिज्ञानके सम्बन्धके कारण वह उन कारकोका प्रयोगता बन सकता है। याने पदार्थोंकी उत्पत्तिमे जो जो सामग्री कारण होती है वह कारक कहलाती है, और उन समस्त कारकोका परिज्ञान है महेश्वरको तब वह कारकोका प्रयोग करने वाला बन जाता है। जैसे कि कुम्हारका घडा बननेके योग्य कारण है। उन समस्त कारकोका परिज्ञान है तो वह समर्थ भी है, सो कारकोका प्रयोगता बन जाता है, यो ईश्वरसे कारकोकी प्रयोगता बन जानेसे निमित्तमे, लेकिन अन्य आत्मा अज्ञ हैं उनको समस्त कारकोका परिज्ञान नहीं है इस कारण कारकोका प्रयोगता न बन सकनेके कारण निमित्त कारणपना अन्य आत्माओमे घटित नही हो सकता। शङ्काकारका यह अभि-प्राय है कि अभी समाधानमें जो यह कहा था कि अन्वय व्यतिरेक तो अन्य आत्माओ में भी घटित हो जाता है, लेकिन वह शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिके निमित्त कारण तो नही हैं, ऐसे ही ईश्वरके साथ भी कार्योंका अन्वय व्यतिरेक बन जाय तब भी निमित्त कारणपना न होवे। इसके उत्तरमे शङ्काकारका यह भाव है कि अन्य आत्मा तो अज्ञानी है, उनके कारक सामग्रीका परिज्ञान भी नहीं है इस लिए वह प्रयोगता न बन सकेगा। ईश्वर समस्त कारकोका ज्ञाता है और उनका प्रयोगता है इस कारण

यह सृष्टिमे निमित्त हो जायगा। उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि यह कथन भी समीचीन नहीं है। क्योंकि कोई सर्वज्ञ है तो भी समस्त कारकोका प्रयोक्ता होना असिद्ध है। जैसे अन्य योगी मुक्त आत्मा वह सर्वज्ञ है तो भी समस्त कारकोकी प्रयोक्तृता नही मानी गई है। तो शङ्काकारने जो यह युक्ति दी थी कि महेश्वर समस्त कारकोके ज्ञाता हैं इस कारण वह कारकोका प्रयोक्ता बन जायगा। सो बात सही नहीं है। अन्य योगी मुक्त आत्मा भी सर्वज्ञ हैं, मगर वह तो कारकोका प्रयोक्ता नहीं है। ऐसे ही समस्त कारकोके ज्ञाता होनेपर भी महेश्वर कारकका प्रयोक्ता नहीं हो सकता।

अन्वय व्यतिरेकानुपलम्भ होनेसे योगसिद्ध व अनुपायसिद्धके अन्तर को भी अकार्यकारिता—अब यह शङ्काकार कहता है कि देखिये ! जो अन्य योगी हैं उनको योगका विशेष अभ्यासके बलसे सर्व पदार्थोका पूर्ण ज्ञान होता है, लेकिन उस ज्ञानके होनेपर समस्त सर्व पदार्थोका पूर्ण ज्ञान होता है। और, उस ज्ञानके होने पर समस्त विश्वका ज्ञान देश, प्रवृत्ति, जन्म दुख इनके अक्षय होनेसे उनको परम निश्रेयसकी सिद्धि होती है। याने मुक्ति होती है। इस कारण अन्य योग याने मुक्त आत्मा तो समस्त कारकोके प्रयोगता हो जाती है, क्योंकि ईश्वर सदा मुक्त है और सदा ईश्वर है, अपने ऐश्वर्यसे सम्पन्न है वह तो ससारी जीव और मुक्त जीव दोनोसे विलक्षण है। संसारी जीव तो अज्ञानी ही हैं इस लिए उनका तो उदाहरण दिया ही नही जा सकता ईश्वरका निमित्त कारणपना खण्डित करनेमे। अब रहे मुक्त आत्मा, सो मुक्त आत्मा और ईश्वर इन दोनोंमें भी तुलना नहीं हैं, क्योकि मुक्त आत्मा तो योगाभ्यासके बलसे सर्वज्ञ हुए हैं लेकिन ईश्वर तो किसी उपायसे सिद्ध नही बना। वह तो अनुपाय सिद्ध है, अनादि सिद्ध है। कर्ममलसे अछूता ही है सदासे तो यो उन मुक्त आत्माओंसे इस ईश्वरमें विलक्षणता पाई गई। अत सर्वज्ञ होनेपर भी मुक्त आत्मा कारकोके प्रयोक्ता नहीं होते और महेश्वर कारकोका प्रयोक्ता हो जाता है, और जब समस्त कारकोका प्रयोक्ता हो गया महेश्वर तो शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण भी बन गया। जब मुक्त आत्माओं और महेश्वरका साम्य नही बताया जा सकता है और एक दृष्टिसे देखें तो मुक्त आत्मा तो समस्त ज्ञान और ऐश्वर्यसे रहित है जैसे कि समस्त ज्ञान और ऐश्वर्यसे सहित महेश्वर है, इसकी क्या तुलना की जा सकती है ? अब उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि ससारी और मुक्त आत्माओंसे कुछ विलक्षणता देखकर महेश्वरका सृष्टिकर्ता सिद्ध करना सङ्गत नही है, क्योकि शरीरादिक कार्य महेश्वरके अभाव होनेपर कहीं नही होता, ऐसा व्यतिरेक सम्भव नहीं है। याने महेश्वर सदाकाल सर्वत्र है। तो अब उसका कोई अभाव ही नही हो पाता तो उसका अभाव हो और कार्य न हो ऐसी घटना मालुम पड़े तब तो व्यतिरेक बताया जायगा लेकिन ऐसा कभी होता नही, तो व्यतिरेक

कहाँ बना ? और जहाँ व्यतिरेक नही बनता वहाँ निश्चित् अन्वय भी असम्भव हो जाता है। तो शरीरादिक कार्योंके प्रति महेश्वरका अन्वय व्यतिरेक ही नहीं है तो कैसे उसे निमित्त कारण सिद्ध किया जा सकता है ?

उत्कृष्ट आत्माके सिसृक्षाकी असिद्धि—अब शङ्काकार कहता है कि जब जहाँ जिस प्रकारके महेश्वरकी सिसृक्षा होती है याने सृष्टि करनेकी इच्छा जगती है तब वहाँ शरीरादिक कार्य उत्पन्न होते ही हैं। और अन्य जगह, अन्य कालमे, और अन्य प्रकारके ईश्वरकी सिसृक्षा नही होती तो शरीरादिक कार्य उत्पन्न नही होते। इस प्रकार महेश्वरकी सिसृक्षाका शरीरादिक कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक बन जाता है। जैसे कि घडा बनाने वाला कुम्हार, उसकी सृष्टिकी इच्छा हो जाय याने घडा बनानेकी इच्छा हो तो घट आदिक कार्य होते हैं। तो कुम्हारकी इच्छाका घटादिक कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक देखा जाता है। ऐसे ही यहाँ भी ईश्वरकी सिसृक्षाका शरीरादिक कार्योंके साथ अन्वय व्यतिरेक बन जायगा। क्योकि जब जहाँ जैसी इच्छा होती है उस तरह कार्य होता है। और, अन्य जगह अन्य कालमे, अन्य प्रकारकी इच्छा नही है तो कार्य उत्पन्न नही होते। तो यो हमारे अनुमानमे पक्षमे व्यापकानुपलब्धि नही है जिससे कि हमारा पक्ष बाधित हो जाय। उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि यह कथन उक्त कथन भी युक्त नही है, क्योकि महेश्वरकी जो सिसृक्षा हुई है शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें, उस सिसृक्षाके बाबत यह पूछा गया था कि वह नित्य है या अनित्य ? और, दोनो विकल्पोमे निमित्तकारणपनेका निराकरण कर दिया गया था। यदि सिसृक्षा नित्य है तो व्यतिरेक नही बन सकता। यदि सिसृक्षा अनित्य है तो वह कैसे उत्पन्न हुई ? उसका कारण दूसरी सिसृक्षा मानें तो वह भी कैसे उत्पन्न हुई ? उसके लिए अन्य इच्छायें मानें तो यो सिसृक्षाओका उत्पन्न होना ही सिद्ध न हो पायगा कार्योंकी उत्पत्ति तो क्या सिद्ध होगी ? तो सिसृक्षा नित्य है अथवा अनित्य है ? दोनो विकल्पोमे निमित्त कारणपनेका निराकरण किया गया तब सिसृक्षाका शरीरादिक कार्योंके साथ अन्वय व्यतिरेक बन नही सकता, तब व्यापकानुपलब्धि प्रसिद्ध ही है। अछूता है और कर्ममे अछूता इस बातपर सिद्ध किया गया था कि वह समस्त सृष्टियोका कर्ता है। सो इस प्रकरणमे यह सिद्ध कर दिया गया कि न वह कर्ममे अछूता है न सृष्टिकर्ता है, किन्तु कर्मोंको भेदकर ही वह सर्वज्ञ परमात्मा हुआ है।

विश्वज्ञ, वीतरागके ही मोक्षमार्ग प्रणेतृत्वकी सम्भवता—तीन विशेषणोके विरोधमे जो यह कहा जाता है कि मोक्षमार्गका प्रणयन अनादिसिद्धसर्वज्ञके बिना नहीं होता, किन्तु मोक्षमार्गका प्रणयन वही कर सकता है जो अनादिसे सर्वज्ञ बना हुआ है। जो तपश्चरण करके योग अभ्यास करके उपायसे सिद्ध बना है सर्वज्ञ

हुआ है वह तो सर्वज्ञ होते ही संसारमें ठहर नहीं सकता। तो जब यह जीव रह ही न सका सर्वज्ञ हुआ ही तो सोपायसिद्ध सर्वज्ञके द्वारा मोक्षमार्गका प्रणयन असम्भव रहेगा और यदि यह हट की जाय कि जो उपायसिद्ध सर्वज्ञ है वह संसारमें ठहरता है तब तो तत्त्वज्ञान मोक्षका साक्षात् कारण न ठहरा। देखो! इन मुक्त आत्माओंको तत्त्वज्ञान हो गया, सर्वज्ञता प्राप्त हो गई फिर भी संसारमें रहना पड़ा। तो तत्त्वज्ञान मोक्षका साक्षात् कारण है, यह बात सही न रहेगी। क्योंकि तत्त्वज्ञान होनेपर मोक्ष का होना नहीं बताया गया यहाँ। यदि कहे कोई कि तत्त्वज्ञानसे पहिले मोक्षमार्गकी रचना कर देगा, दूसरे जीवोंको मोक्षमार्गमें लगा देगा, तो यह बिल्कुल असङ्गत है कि तत्त्वज्ञान होता नहीं। ऐसे योगीका उपदेश प्रमाण कैसे बन सकेगा? क्योंकि तब तक तो वह अतत्त्वज्ञ है। जो अज्ञानी हैं, अतत्त्वज्ञ हैं उनके वचनोंसे मोक्षमार्गका प्रणयन यदि होने लगे तो यों रास्तेमें चलने-फिरते अज्ञानी उन्मत्तोंके उपदेशसे भी मोक्षमार्गका प्रणयन बन जाया करेगा, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि साक्षात् तत्त्व-ज्ञान उत्पन्न हो गया, तो भी परम वैराग्य उत्पन्न तब तक नहीं होता, उससे पहिले तो संसारमें रहना सम्भव है। तब मोक्षमार्गका प्रणयन बन जायगा। यह कथन यों युक्त न होगा कि साक्षात् समस्त तत्त्वज्ञान जो हुआ है वही परम वैराग्य स्वभावको लिए हुए है, ऐसी स्थिति नहीं है कि साक्षात् सकल तत्त्वज्ञान हो जाय और परम वैराग्य न हो। वही ज्ञान वैराग्यरूप है। तो क्या फलित अर्थ निकला कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उत्कृष्ट प्राप्त हो जानेपर मोक्ष होता है, ऐसा कहने वालोंके यहाँ मोक्ष मार्गका प्रणयन नहीं बन सकता, क्योंकि दर्शन ज्ञान चारित्र हुआ कि तुरन्त मोक्ष हो गया। वह संसारमें रह ही न सके तो मोक्ष मार्गका प्रणयन कैसे बने? क्योंकि केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर उत्कृष्टताको प्राप्त क्षायकसम्यग्दर्शन भी है, क्षायक चारित्र भी है तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र प्राप्त हो गए पूर्णतया तो मुक्ति हो ही गई, उनका अब संसारमें अवस्थान नहीं बन सकता है। तो मोक्षमार्गका उपदेश भी उनके द्वारा सम्भव नहीं है और यदि रत्नत्रयकी पूर्णता होनेपर भी सर्वज्ञ का संसारमें अवस्थान माना जाय तो मोक्षका कारण रत्नत्रयको नहीं कहा जा सकता। जैसे कि मात्र ज्ञान हो गया उसे मोक्षका कारण नहीं कहा, क्योंकि ज्ञान होनेपर भी संसारमें रहे, तो ऐसा ही रत्नत्रय होनेपर भी संसारमें रहो, तो वह भी मोक्षका कारण नहीं है। इस प्रकार विचार करते हुए कुछ शङ्काको दुहराते हुए समाधानमें आचार्यदेव दो कारिकायें कहते हैं।

प्रणीतिर्मोक्षमार्गस्य न विनाऽनादिसिद्धतः।
सर्वज्ञादिति तत्सिद्धिर्न परीक्षासहा स हि ॥ ११ ॥

आत्मविशेषके सर्वज्ञत्वकी अनादिसिद्धताकी असिद्धि—शङ्काकारका

यह कहना है कि अनादिसिद्ध सर्वज्ञके बिना मोक्षमार्गका प्रणयन नहीं हो सकता है, इससे अनादिसिद्ध सर्वज्ञकी सिद्धि हो ही जाती है। शङ्काकारका यह कथन परीक्षा करनेपर खरा नहीं उतरता। वह शङ्काकार बताये कि वह अनादिसिद्ध सर्वज्ञ जिसे मोक्षमार्गका प्रणेता कह रहे हो, वह सशरीर है या अशरीर ? शरीररहित तो कह नहीं सकते अन्य मुक्त आत्माओंकी तरह शरीररहित अनादि सिद्ध सर्वज्ञ भी मोक्षमार्ग का प्रणेता नहीं हो सकता। शरीरसहित भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो शरीरसहित है वह कर्मसहित जरूर है। तो अज्ञ प्राणियोंकी तरह सशरीर वह ऐश्वर कर्मसहित हो जायगा, फिर एक कर्मसे छुटा हुआ नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। इसी बातको युक्तिपूर्वक देखिये ! जैसे अनादिसिद्ध सर्वज्ञसे मोक्षमार्गका प्रणयन बताते हो और मोक्षमार्गके प्रणयन बतानेमें यह युक्ति देते हो कि सादि सर्वज्ञ होता प्रभु तो उससे मोक्षमार्गका प्रणयन सम्भव न था इस कारण वह अनादिसिद्ध सर्वज्ञ है। तो ऐसे अनादिसिद्ध सर्वज्ञको शङ्काकार शरीर सहित मानता है या शरीर रहित ? दो ही तो स्थितियाँ हैं—वह ईश्वर परमात्मा शरीर सहित हो या शरीर रहित हो ! तीसरी तो कोई स्थिति नहीं हो सकती। सो उसे शरीररहित मानकर मोक्षमार्गका प्रणेता तो कह नहीं सकते। जैसे कि अन्य मुक्त आत्मा शरीररहित हैं तो उनके वचनोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तो वह मोक्षमार्गके प्रणेता भी नहीं हैं। इसी तरह अनादि सिद्ध सर्वज्ञ शरीर रहित है तो उससे वचन प्रवृत्ति भी असम्भव है तो मोक्षमार्गका प्रणेता कैसे हो सकेगा ? इस अनादिसिद्ध सर्वज्ञको सशरीर मानकर भी मोक्षमार्गका प्रणेता कैसे हो सकेगा ? इस अनादिसिद्ध सर्वज्ञका सशरीर मानकर भी मोक्षमार्गका प्रणेता नहीं कह सकते क्योंकि शरीर सहित यदि वह है तो वह कर्मसहित सिद्ध होता है, अज्ञानी प्राणियोंकी तरह। जैसे अज्ञानी प्राणी शरीर सहित हैं तो वे कर्मसहित अवश्य हैं। तो शरीर सहित माननेपर परमात्माके सकर्मी होनेका प्रसङ्ग आता है। इस कारण शङ्काकारका यह कहना कि अनादिसिद्ध सर्वज्ञ ही मोक्षमार्गका प्रणेता होता है, यह बात असङ्गत हो जाती है।

ज्ञानेच्छा प्रयत्नवत्त्वसे भी अलौकिक आत्माके कर्तृत्वकी सिद्धिकी अशक्यता—शङ्काकार कहता है कि देखिये ! शरीररहित होना या शरीरसहित होना ये दोनों ही बातें मोक्षमार्गके प्रणेतृत्वके प्रति अकारणभूत है याने मोक्षमार्गका वह सर्वज्ञ प्रणेता है तो प्रणेता होनेके लिए न तो शरीरसहित होनेका कारण बताया जा सकता और न शरीररहित होनेका कारण बताया जा सकता। मोक्षमार्गका प्रणेता तो तत्त्वज्ञान इच्छा और प्रयत्नके कारणसे हुआ। इसमें शरीर और बेशरीर होनेकी क्या गुञ्जाइश है ? यहाँ भी तो देखा जाता है कि जो कोई कार्य करता है सो एक तद्विषयक ज्ञान इच्छा और प्रयत्न पाये जाते हैं। यदि सारे जगतका कर्ता सिद्ध किया जाय तो वहाँ तत्त्वज्ञान इच्छा और प्रयत्न कारण पड़ेंगे। सशरीर और

शरीर रहित होना इन दोनोंकी क्या कारणता है ? कार्यकी उत्पत्ति तो तत्त्वज्ञान, इच्छा और प्रयत्नके कारणसे ही हुआ करती है। उसको व्यवहारमें भी घटा लीजिए कुम्हार घडा आदिक कार्योंका कर्ता हुआ शरीरसहित होनेके कारण नहीं कर रहा है, क्योंकि यदि शरीरसहित होना ही कारण हो तो जितने भी शरीर सहित जीव हैं जुलाहा आदिक वे सब भी घडेको बना देवें। कुम्हार घडेको बनाता है तो घडा विषयक ज्ञान और बनानेकी इच्छा और तदनुकूल प्रयत्न इस कारणसे बना रहता है न कि शरीर सहित होनेके कारण बना रहता है। शरीर सहित तो अनेक मनुष्य हैं, वे क्यों नहीं घडा बना देते ? तो किसी कार्यकी उत्पत्तिमें शरीर सहित होना कारण होना, यह नियम नहीं है, इसी प्रकार शरीर रहित होना भी कार्यका कारण नहीं होता, जैसे कि वही कुम्हार कोई सा भी शरीर रहित होनेके कारण कोई घडा आदिक कार्यको नहीं कर रहा। यदि शरीररहित होनेके कारण घडाका काम बना दे तो मुक्त आत्मा भी घडा बना लेगा क्योंकि वह भी शरीररहित है। यहाँ कार्य को करनेका कारण शरीर सहितपना बताया जा रहा है। तो शरीरसहित होना और शरीररहित होना ये दोनों कार्यके कारण नहीं हैं। फिर क्या है कार्यका कारण ? सो सुनो ! कुम्हारको कुम्भ बनानेका ज्ञान है, कुम्भ बनानेकी इच्छा है और कुम्भ बनाने का प्रयत्न है। तो इस ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नके द्वारा कुम्भ याने घडा बना हुआ पाया जा रहा है। यदि इन तीन कारणोंमेंसे कोई भी एक कारण न रहे तो घडा आदिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे कुम्हारको घडा बनानेकी विधियोंका ज्ञान न हो या जिस किसी पुरुषको घडा बनानेकी विधि और सामग्रीका ज्ञान न हो तो वह इच्छा करता रहे तो भी घडा आदिक कार्यका उत्पाद नहीं देखा जाता। तो यदि तत्त्वज्ञान न हो तो कार्य नहीं बनता। इसी तरह कार्यके उत्पन्न करनेकी इच्छा न रहे तो भले ही उसका ज्ञान रख रहा हो तो भी कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता। जैसे वही कुम्हार जब घडेको बनानेकी इच्छा ही नहीं कर रहा, खूब आनन्द आ गया। आनन्दसे सो रहा उस और धुन भी नहीं है तो इच्छा न रही लेकिन ज्ञान तो पूरा रख रहा है कि कैसे घडा बनाया जाय। तो ज्ञान होनेपर भी इच्छा न होनेमें वह घडेका कर्ता नहीं पाया जा रहा है, इसी तरह मानो किसीको तद्विषयक ज्ञान है और उसकी इच्छा भी हो रही मगर आलस्यमें पडा है प्रयत्न भी नहीं करता तो कार्यके उत्पन्न करनेका ज्ञान और तद्विषयक इच्छा होनेपर भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। तो यों जब ज्ञान इच्छा और प्रयत्न तीनोंका सद्भाव हो तो कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है। तब कार्यका जो करना है, कार्य होनेका जो कारण है सो तत्त्वज्ञान इच्छा और प्रयत्न इन तीन कारणोंको समझना चाहिए। सो महेश्वरमें ज्ञान इच्छा और प्रयत्न ये तीनों ही बातें पाई जाती हैं। इस कारणसे वह मोक्षमार्ग का प्रणयन कर देता है। जैसे कि वह शरीर इन्द्रिय आदिक कार्योंको कर लेता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता। तो समाधान करते जो यह बात रखी कि वह

महेश्वर जो मोक्षमार्गका प्रणेता है क्या शरीर सहित है या शरीर रहित, इस विकल्पको रखनेकी आवश्यकता नहीं । शरीर सहित और शरीर रहित होनेके कारण कोई कार्यको नहीं करता, किन्तु तत्त्वज्ञान इच्छा और प्रयत्न होनेपर कार्यको किया जाता है ।

शरीर और कर्मके सम्बन्ध बिना मोक्षमार्ग प्रणयन व तत्त्वादिकार्य की अनुपपत्ति बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—अब उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि शरीर सहित, शरीररहितका विचार न करें, केवल तत्त्वज्ञान इच्छा और प्रयत्न इन कारणोसे ही ईश्वरको मोक्षमार्गका प्रणेता और कार्यकर्ता बताया जाय ऐसा कहने वालेका उक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि विचार करनेपर ये सब कल्पनायें दूर हो जाती हैं । मूल बात यह है कि जो सदा कर्मोंसे अछूता है ऐसे किसी भी आत्माके, किसी भी वस्तुके सम्बन्धमे इच्छा और प्रयत्न हो नहीं सकते । चूंकि ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है, उसकी बात तो नहीं कही जा सकती कि शरीरके बिना नहीं रहता लेकिन शरीर जिसके न हो कर्म जिसके न लगे हो, ऐसे किसी भी आत्माके न तो इच्छा जग सकती है और न मन, वचन, कायकी क्रिया हो सकती है । इसी बातको ग्रन्थकार कारिकामें कहते हैं ।

न चेच्छाशक्तिरीशस्य कर्माभावेऽपि युज्यते ।
तदिच्छा वाऽभिव्यक्ता क्रियाहेतुः कुतोऽज्ञवत् ॥ १२ ॥

कर्मके अभावमे इच्छाशक्तिके अभावका विवरण – कर्मका अभाव मान लेनेपर भी महेश्वरमे इच्छाशक्ति मानना युक्त नहीं होता और इच्छा मानलो अगर तो वह इच्छा अभिव्यक्त नहीं हो सकती । तो अनभिव्यक्त अर्थात् जो प्रकट नहीं है, ऐसी इच्छा क्रियाका कारण कैसे हो सकती है ? जैसे अज्ञ पुरुषकी इच्छा क्रियाका कारण नहीं होती । देखिये ! कुम्हारकी इच्छा और प्रयत्न जो कुम्हार आदिकके कुम्भादि बनानेमे प्रतीत हो रही है वह कर्मरहित कुम्हारके नहीं प्रतीत होती कर्म सहित ही कुम्भकारमे इच्छा और प्रयत्नकी प्रसिद्धि है । तो अब अनेक उदाहरणोसे यह सिद्ध होगा कि कर्मरहित जीवकी इच्छा और प्रयत्न प्रकट नहीं हो सकता । यदि शङ्काकार यह कहे कि ससारी जीव है वह कुम्हार, उसकी जो इच्छा होती है वह तो कर्मनिमित्तक इच्छा है याने कर्मसे बधा हुआ है, उस कारणसे इच्छा होती है, वह कर्मके अभावमे भी होती है अर्थात् कर्मसहित जीवके भी इच्छा शक्ति होती है और कर्मरहित महेश्वरके भी इच्छा शक्ति होती है । हाँ जो उपायसिद्ध है, ज्ञानाभ्यास, योगाभ्यासके बलसे जिन आत्माओंको मुक्ति प्राप्त हुई है उनके इच्छा सम्भव नहीं हो सकती । तो सोपायमुक्तकी तरह ईश्वरके भी इच्छा असम्भव है, यह बात नहीं कह

सकते । ससारी प्राणियोमे तो कर्मनिमित्तसे इच्छा होती है और अनादिसिद्ध सर्वज्ञके स्वय ही इच्छाशक्ति रहा करती है । यदि ऐसा कहे शङ्काकार तो यह बतावें वे कि वह महेश्वरकी इच्छाशक्ति क्या प्रकट है या अप्रकट है ? अप्रकट हुई होती इच्छा, किसी कार्यको करे यह तो युक्त नहीं है, क्योंकि उस इच्छाका अभिव्यजक कुछ भी नहीं रह सका है । तो जब इच्छा कोई प्रकट ही न कर सका तो वह इच्छा कार्य करनेमे कैसे सामर्थ्यवती है । यदि शङ्काकार यह कहे कि महेश्वरका ज्ञान ही महेश्वर की इच्छाका अभिव्यजक है तो यह बात सही नहीं है, क्योंकि यदि महेश्वरका ज्ञान ही महेश्वरकी इच्छाका प्रकट करनहार हो जाय तो महेश्वर तो सदाकाल है उसका ज्ञान भी सदा है, तो इच्छाकी अभिव्यक्ति भी सदाकाल हो बैठे ? पर ऐसा भी नही है । सदाकाल यदि इच्छा हो तो निरन्तर कार्य होना चाहिए और ऐसा माना भी नही है महेश्वरकी इच्छा नित्य मानी है । यदि महेश्वरकी इच्छाको अनित्य नहीं मानते तो उनके इस सिद्धान्तका विरोध होगा । जैसे कहा कि १००-१०० वर्षके अन्तमे महेश्वरके इच्छा उत्पन्न होती है ।

प्राणियोंके अदृष्टको सिसृक्षामें हेतुभूत बताकर भी सिसृक्षा और सृष्टिकी सिद्धिका अनवकाश—यदि शङ्काकार यह कहे कि शरीरादिकके उपभोग करने वाले प्राणीका जो अदृष्ट है, पुण्य पाप है वह महेश्वरकी इच्छाका अभिव्यञ्जक होता है । याने महेश्वरके जो जगतकी सृष्टि करनेकी इच्छा होती है उस इच्छाका प्रकट करने वाला प्राणियोंका पुण्य पाप है । तब वे यह बतायें कि प्राणियोका वह पुण्य पाप ईश्वरकी इच्छाके कारण बना है या किसी अन्य कारणसे बना है ? यदि कहो कि प्राणियोका पुण्य पाप भाग्य ईश्वरकी इच्छासे बना है तो इन दोनोके इतरे-तराश्रय दोष आता है, क्योंकि ईश्वरकी इच्छा बने तब तो प्राणियोका भाग्य बने । और जब प्राणियोका भाग्य बने तो महेश्वरकी इच्छाकी अभिव्यक्ति हो । यो इसमें तो इतरेतराश्रय दोष आ जाता है । तब फिर किसीका काम नही हो सकता । जैसे अपने आप बन्द होने वाले तालेकी कुञ्जी बक्समें धरकर फिर बक्समें ताला लगा दिया जाय तो वहाँ यह दोष आता है । जब ताली निकले तब ताला खुले, जब ताला खुले तब ताली निकले ! ठीक ऐसे ही भाग्यको मानलो कि यह ईश्वरकी प्रकट करता है और साथमे यह भी मान लो कि ईश्वरकी इच्छासे भाग्य बनता है तो यहाँ इतरे-तराश्रय दोष हो गया । यदि यह मानो कि इतरेतराश्रय दोष नहीं है किन्तु इसमें अनादि सततिकी बात आती है । जो भाग्य है वह ईश्वरकी पहिली इच्छाके कारणसे बनता है और अब जो ईश्वरकी अभिव्यक्ति हो रही है वह पहिलेके प्राणियोके भाग्य से बना है और वह भाग्य ईश्वरकी पहिली इच्छासे बना है और वह इच्छा प्राणियों के पूर्व भाग्यसे प्रकट होती है । यो कार्य कारण भावका अनादिपना आ गया । प्राणियोका अदृष्ट और ईश्वर इच्छाकी अभिव्यक्ति इनकी सतति चल रही है । सो

परस्पर आश्रय दोष नहीं कहा जा सकता। जैसे बीज और अंकुरकी संतति चला करती है। जो अब बीज है वह पहिले वृक्षसे हुआ और वह वृक्ष पहिले बीजसे हुआ, वह बीज पहिले वृक्षसे हुआ। तो जैसे बीज और अंकुरमे अनादि संतति है उसी तरह भाग्य और ईश्वरकी इच्छाकी अभिव्यक्ति इन दोनोंमे भी अनादि संततिकी बात आती है किन्तु इतरेतराश्रयका दोष नहीं आता। उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि प्राणियोंके अदृष्ट और ईश्वरकी सिसृक्षा इन दोनोंमे अनादि संततिकी बात कहना अयुक्त है। यहाँ ये दो विकल्प पूछे जा सकते हैं कि ईश्वरकी जो सिसृक्षा हुई है उसमें क्या एक प्राणीका अदृष्ट है या अनेक प्राणियोंका अदृष्ट है? याने एक जीवके भाग्य से प्रेरित होकर ईश्वरकी सृष्टिकी इच्छा होती है या अनेक जीवोंके भाग्यके निमित्त से ईश्वरके सृष्टि करनेकी इच्छा होती है या अनेक जीवोंके भाग्यके निमित्तसे ईश्वरके सृष्टि करनेकी इच्छा होती है? ईश्वर इच्छाकी अभिव्यक्ति यदि एक प्राणीके भाग्य के निमित्तसे होती है तब फिर एक प्राणीके भाग्यके कारणसे उत्पन्न हुई ईश्वर इच्छाकी अभिव्यक्ति केवल उस ही प्राणीके उपभोगमे आने योग्य शरीरादिक कार्यों की उत्पत्तिमें कारण बनेगा, किन्तु समस्त प्राणियोंके उपभोगमे आने योग्य शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें कारण नहीं बन सकता, क्योंकि वह सिसृक्षाकी अभिव्यक्ति एक प्राणीके भाग्यके कारणसे हुई और यदि मान लिया जाय कि एक प्राणीके भाग्यके कारणसे हुई सिसृक्षा एक ही प्राणीके शरीरादिकके बनानेका कारण बनेगी अनेक प्राणियोंकी नहीं। तो ऐसा देखा तो नहीं जाता कि अनेक प्राणियोंके शरीर न होते हों। ऐसा होनेपर फिर एक ही साथ अनेक प्राणियोंके उपभोगमे इन योग्य शरीरादिक कार्योंकी उपलब्धि न होगी। अब यदि दूसरा विकल्प स्वीकार करते हो कि अनेक प्राणियोंके भाग्यके कारणसे ईश्वरके सृष्टि करनेकी इच्छा प्रकट होती है तब तो ईश्वरमें नाना स्वभाव मान बैठे और उन नाना स्वभावोंके कारण नाना शरीरादिक कार्य किए गए, यह सिद्ध होगा। सो नाना स्वभाव ईश्वरमें माने नहीं गए, इस कारण यह भी नहीं कह सकते कि अनेक प्राणियोंके भाग्यकी कारणासे उत्पन्न हुई सिसृक्षा कार्योंको करती है। और, ऐसा भी नहीं हो सकता कि एक प्राणीके उपभोग के योग्य शरीरादिकके निमित्तसे उस एक स्वभावसे ही ईश्वरकी इच्छा प्रकट हुई हो और वह नाना प्राणियोंके उपभोग वाले शरीरादिकके कार्योंको करनेमें समर्थ हो जाय, ऐसा होनेमे अतिप्रसङ्ग आयगा। ऐसे प्राणियोंके भाग्यसे तो यहाँ कोई सही रचना नहीं बन सकती।

सृष्टिकर्तृ त्ववादियोंके महेश्वरके एकस्वभावत्वकी असिद्धि -- यदि शङ्काकार यह कहे कि ईश्वरके उस ही प्रकारका एक स्वभाव है जो नाना प्राणियोंके भाग्य के निमित्तसे होता है। जिस स्वभावके द्वारा नाना प्राणियोंके उपभोगके योग्य शरीरादिक कार्योंका जो कि अनेक प्रकारके हैं उन सर्व कार्योंका निमित्त कारण वह

ईश्वरेच्छा हो जाती है। याने हुआ सो नाना प्राणियोंके अदृष्टके कारण वह एक स्वभाव और यह नाना प्राणियोंके कार्योंको कर देगा। उत्तरमें कहते हैं कि ऐसा माननेपर तो फिर कोई भी वस्तु अनेक स्वभाव वाली सिद्ध न होगी। एक ही स्वभावसे सारे कार्य बन बैठेंगे क्योंकि नाना प्रकारके कार्योंके करने रूप एक स्वभावमें ही विभिन्न कार्योंकी उत्पत्ति मान ली गई है और ऐसा होनेपर घट आदिक पदार्थ रूप रस आदिक अनेक स्वभाव न होनेपर भी अनेक रूपादिक ज्ञान कार्योंको कर बैठें। अनेक स्वभावोंके किसी भी पदार्थमें माननेकी आवश्यकता क्या रही? जब ईश्वरके एक स्वभावसे ही नाना विभिन्न कार्य बन बैठते हैं तब सभी जगह ये इसीका प्रयोग करने लगें। घडामें रूप, रस, गंध आदिक अनेक स्वभाव हैं और प्रत्येक स्वभावसे ही उन उनका ज्ञान होता है, ऐसा माननेकी क्या आवश्यकता है? फिर तो एक पदार्थ ही अनेक ज्ञानरूप कार्यको कर बैठे। घट आदिक पदार्थोंके सम्बन्धमें भी ऐसा कहा जा सकता है कि उनमें भी कोई ऐसा ही एक स्वभाव है जिस स्वभावके द्वारा चक्षु आदिक अनेक सामग्रियोंके सन्निधान होनेसे वे एक स्वभाव वाला पदार्थ ही रूप रस आदिक अनेक ज्ञानोंको उत्पन्न करनेमें कारण हो जाता है, तब फिर पदार्थोंमें नाना स्वभावोंकी सिद्धि कैसे की जा सकती है? क्योंकि अब तो पदार्थ एक रूप मानकर भी, पदार्थोंमें एक स्वभाव मानकर भी उसके बारेमें नाना प्रकारके ज्ञान मान लिए गए हैं, उसका कोई विरोध भी नहीं हुआ। इसी तरह गुण कर्म आदिक अनेक जो ज्ञान विशेष होते हैं उनमें उत्पन्न करने वाला बस एक स्वभावसे युक्त कोई एक द्रव्य पदार्थ है, फिर ६ पदार्थ माननेकी भी क्या जरूरत है? ज्ञानके द्वारा ही तो पदार्थके अस्तित्वकी व्यवस्था की जाती है। अब कितने ही ज्ञान होते रहें तो भी एक स्वभाव वाले पदार्थ हैं, ऐसा मान लिया गया है। तो अनेक द्रव्य गुण कर्मादिक पदार्थ माननेकी भी आवश्यकता नहीं है। यदि कहो कि ज्ञान विशेष आदिक कार्योंके भेदसे द्रव्य गुण आदिक पदार्थ अनेक मान लिए जाते हैं, यह गुण है, ऐसा ज्ञान जिसके कारण हुआ वह गुण है, वह अलग पदार्थ है। यह द्रव्य है यह बोध जिसके कारण हुआ वह अलग पदार्थ है। तो यों ज्ञान विशेषोंके बलसे अनेक पदार्थ मान लिए जायेंगे। जब ये शंकाकार एक साथ अनेक जीवोंके उपभोगमें आने वाले कार्य ईश्वरका बताते हैं तो महेश्वरकी इच्छा भी नाना स्वभाव वाली क्यों नहीं मान ली जाती? तो ईश्वर एक स्वभाव वाला है, ऐसा कहना उनका असङ्गत हो जायगा।

नाना सहकारी पदार्थोंको ईश्वरके नाना स्वभाव मानकर शंकाकार का इष्ट सिद्धिका प्रयत्न—शङ्काकार कहता है कि ईश्वरकी इच्छामें जो नाना सहकारी पदार्थ हैं वे ही सहकारी पदार्थ नाना स्वभाव कहलाते हैं क्योंकि उन सहकारी कारणोंको छोडकर पदार्थोंके नाना प्रकारसे नाना स्वभाव नहीं बन सकते। ईश्वर तो मूलमें एक स्वभाव ही है किन्तु उस ईश्वरकी इच्छाके जो नाना सहकारी

कारण हैं वे ही नाना स्वभाव कहलाते हैं। इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि यदि नाना सहकारी ही ईश्वरके नाना स्वभाव कहलाये तो स्वभाव और स्वभाववानमें फिर भेद एकान्त हो गया। सहकारी पदार्थ तो अत्यन्त भिन्न पड़े हुए हैं। और ईश्वर जुदा पदार्थ है और ईश्वरका स्वभाव मान लिया उन नाना सहकारियोको तो यों तो स्वभाव और स्वभाववानमे भेद सिद्ध हो गया तो जिसमे भेद होता है वह स्वभाव और स्वभाववान कहला नहीं सकता। जैसे हिमालय पर्वत, विन्ध्याचल पर्वत ये दो तो भिन्न भिन्न जगह हैं। जब ये भिन्न-भिन्न है तो कभी स्वभाव स्वभाववान तो नहीं कहला सकता। सो इसी तरह नाना सहकारी पदार्थ तो स्वभाव मान लिया और ईश्वरको स्वभाववान मानना यह तो बिल्कुल अलग वस्तु है, वह एक कैसे कहा जा सकता है? शङ्काकार कहता है कि हम प्रत्यासत्ति विशेषसे याने कुछ विशेष निकटता है, इस सम्बन्धके कारण स्वभाव और स्वभाववान अभिन्न बन जायगा। यद्यपि नाना सहकारी पदार्थ जुदे हैं और ईश्वर जुदा है, लेकिन उन नाना सहकारियोका ईश्वरके साथ कार्यके प्रति ऐसा निकट सम्बन्ध है कि जिस निकट सम्बन्धके कारण स्वभाव स्वभाववानमे विरोध न आयगा। तब उसके उत्तरमें शङ्काकारसे पूछा जा रहा है कि वह प्रत्यासत्ति विशेष क्या है जिसके कारण स्वभाव स्वभाववानमे अर्थात् ईश्वर और नाना सहकारी पदार्थ इनको स्वभाव स्वभाववान सिद्ध करनेमे विरोध नही आता? इसके जवाबमे शङ्काकार कहता है कि सुनो! वह सम्बन्ध विशेष क्या है? उसे बतलाते हैं—महेश्वरकी इच्छाके जो सहकारी कारण हैं, जिसे हम नाना स्वभाव बतला रहे हैं वे तीन प्रकारके कारण हैं - (१) समवायी कारण (२) असमवायी कारण और (३) निमित्त कारण। समवायी सहकारी पदार्थोंका जो समवाय है वह समवायी कारण कहलाता है। समवायी कारणरूप सहकारी कारण है उसमे तो महेश्वरकी इच्छाके साथ समवाय सम्बन्ध है, क्योकि महेश्वरेच्छा गुण है, महेश्वर गुणी है और गुण गुणीमे समवाय सम्बन्ध माना ही गया है। तो समवायीकारण हुई महेश्वरकी इच्छा और जो असमवायी कारण हैं, जो कि सहकारी है उनका महेश्वरके साथ कार्यैकार्थ समवाय है और कार्यकारणैकार्थ समवाय सम्बन्ध है। कार्यके साथ एक ही अर्थमें समवाय होनेका नाम कार्यैकार्थ समवाय है। जैसे घट कार्य है तो उस घट कार्यके साथ अनेक कपालोका जो सयोग है उस अनेक कपालोमें समवाय है। यह कहलाया कार्यैकार्थ समवाय। कार्यके साथ एक पदार्थमे समवाय होना अथवा जैसे कपड़ा कार्य है उस कपड़ा कार्यके साथ ततु संयोगका ततुवोमे समवाय है। इसी तरह कार्यके साथ सहकारी कारणोका उस एक पदार्थ ईश्वरमें समवाय है। कार्यकारणैकार्थ समवायका अर्थ है कि कार्यके कारणके साथ एक पदार्थमें समवाय होना। जैसे कार्य तो है कपड़ा उसका कारण है कपड़ा ही, उसके साथ ततुरूपका तंतुओंमें समवाय है। सो यो समवाय कारणरूप सहकारी कारणका भी सम्बन्ध है। निमित्त कारण रूप जो सहकारी कारण हैं उनका किस तरह सम्बन्ध है महेश्वरके साथ सो सुनो!

उन निमित्त कारणोका ईश्वरके साथ कार्यकी उत्पत्तिमे निमित्त कारणोके दो तरह की अपेक्षारूप सम्बन्ध है— एक तो कर्तृसमवायिनी अर्थात् कर्तामे समवाय सम्बन्धसे रहने वाली अपेक्षा और दूसरा है कर्मसमवायिनी। अर्थात् कर्ममे समवाय सम्बन्धसे रहने वाली अपेक्षा और इसी कारण महेश्वरेच्छा और सहकारी कारणोमे भेद होता हुआ भी उक्त सम्बन्धके कारण स्वभाव और स्वभाववानका व्यवहार बन जाता है। इस तरह शङ्काकारकी ओरसे नाना सहकारी कारणोका स्वभाव बताना और उनका महेश्वरके साथ निकट सम्बन्ध बताना और ऐसे कथन द्वारा महेश्वरको एक स्वभाव मानकर प्रसङ्गवश नाना स्वभावकी सिद्धि करना कहा जा रहा है।

नाना सहकारी पदार्थोंको ईश्वरके नाना स्वभाव मानकर भी शङ्काकारकी इष्टसिद्धिका अभाव—उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि सहकारी कारणोका नाना स्वभाव मानना और उनका निकट सम्बन्ध बताना ऐसी प्रक्रियासे तो ईश्वर, दिशा, काल, आकाश आदिक भी सभी कार्योंके स्वभाव बन जायेंगे, क्योंकि ईश्वर, दिशा, काल आकाश आदिक सभी कार्योंकी उत्पत्तिमें ये सभी निमित्त कारण पडते हैं सो ये सभी पदार्थ सभी पदार्थोंके स्वभाव बन जायेंगे। इसके अतिरिक्त समस्त प्राणियोका भाग्य और शरीरादिक कार्योंके समस्त समवायी कारण ये सभीके सभी महेश्वरके स्वभाव हो जायेंगे, क्योंकि अब तो यह प्रतिज्ञा कर रहे हो कि महेश्वर कार्यके सहकारी समस्त कारण महेश्वरके स्वभाव कहलाते हैं, तो सब वे कारण शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमे महेश्वरेच्छाके सहकारी कारण हो गए। तो यो तो सब अव्यवस्था हो जायगी। सभी जगह सभी पदार्थ उत्पन्न हो जाने चाहियें, क्योंकि अब तो नाना स्वभाव वाला एक ईश्वर तत्त्व ही सिद्ध हुआ। विभिन्न स्वभाव को रखे हुए विभिन्न पदार्थ देखे जा रहे हैं तो वे कोई भी न बन सकेंगे और इस स्थितिमे वेदान्तसम्मत परम ब्रह्म और वैशेषिक नैयायिकों द्वारा सम्मत ईश्वरमें अन्तर क्या रहेगा? क्योंकि वेदान्ती भी नाना स्वभावोंसे युक्त केवल परम ब्रह्मकी सिद्धि करता है और यहाँ भी नाना स्वभावोसे युक्त एक ईश्वरकी सिद्धि की है और जितने भी पदार्थ हैं वे सबके सब ईश्वरके स्वभाव हो गए तो अब ईश्वरके सिवाय विश्वमे और रहा ही क्या?

पदार्थान्तरोके स्वभावसे एक स्वभाव ईश्वरके नाना स्वभाव कल्पित होनेसे आपन्न ब्रह्म व ईश्वरमे साम्यके निराकरणका शङ्काकार द्वारा निष्फल प्रयास—अब यहाँ वैशेषिक मतानुयायी कहते हैं कि वेदान्तियोके यहाँ तो ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ माना ही नहीं गया है। तब उनका एक परम ब्रह्म नाना स्वभावोसे युक्त कैसे हो सकता है? हमारे यहा तो सम्बन्धविशेषसे सम्बद्ध जितने भी पदार्थ हैं उनको स्वभाव माना गया है। महेश्वरका सृष्टिकार्यके प्रसङ्गमे जितने

पदार्थोंका सम्बन्ध होता है, जितने सहकारी कारण आते हैं वे सब ईश्वरके स्वभाव कहे गए हैं। शङ्काकारके इस प्रतिवादका समाधान करते हैं कि वेदान्तियोके ब्रह्मको नाना स्वभावसे युक्त न मानना और अपने महेश्वरका अन्य पदार्थोंके कारण नाना स्वभाव मानना यह पक्ष युक्तिसङ्गत नही है, क्योंकि पदार्थान्तरको आप किसी एकके स्वभावरूप मानेंगे तो पदार्थान्तर नाना ही न रह सकेंगे। सारे जगतके पदार्थ एक ईश्वरके स्वभावरूप नाना बन बैठे तो अब वे पदार्थ ही क्या रहे ? वैशेषिक कहते हैं कि अनेक सम्बन्ध विशेषरूप जो भी नाना स्वभाव हैं उनसे उनका स्वभाव भिन्न है। तो इसपर समाधान करते हुए आपत्ति बताते हैं कि तब तो वह सम्बन्ध विशेषरूप स्वभाव भी स्वभाववानसे भिन्न रहे तो उसमे अन्य सम्बन्ध विशेष प्रत्यासत्ति बनानी होगी, फिर उसके लिए अन्य प्रत्यासत्ति बतानी होगी। इस तरह अनवस्थाका दोष आता है। बहुत अधिक अधिक सतति बनानेपर भी स्वभाववानके स्वभावका अन्य स्वभावसे निरपेक्षता बतानेपर पहिले ही पहिले पदार्थोंके स्वभाव ही स्वभावान्तरसे निरपेक्ष क्यो न बन जायें ? याने स्वभाववान पदार्थोंमे स्वभाव अन्य स्वभावकी अपेक्षा से आता है, यह वैशेषिकोसे कहते आये हैं। तो जिस अन्य स्वभावकी अपेक्षासे आये हैं उसका स्वभाव अन्य स्वभावकी अपेक्षासे बनेगा। इस तरह कही भी बात खतम न हो पायगी। और किसी जगह बात खतम करना चाहें कि वहाँ अन्यकी अपेक्षा नही रहती तो मूलमे ही पदार्थमे ही अन्य स्वभावकी अपेक्षा क्यो बताते हो ? और तब सभी पदार्थ सभी स्वभाव बन बैठेगे तो यो स्वभाव सकरका दोष आयगा। एकके स्वभावमे दूसरेके स्वभावकी प्राप्ति होनेका नाम स्वभाव सकर है। उस सकर दोष को यदि दूर करना चाहते हो तो स्वभाव और स्वभाववानमें भेद एकान्त न मानना चाहिए।

प्राणियोके अदृष्टके कारण ईश्वरकी सिसृक्षाकी सिद्धि न होनेसे महेश्वरका भ्रमसे छुटकारा— यहाँ चर्चा यह चल रही थी कि ईश्वर तो एक है, वह नाना कार्य कैसे करता है ? तो वैशेषिकोने बताया कि उसके नाना स्वभाव पडे हैं और वे नाना स्वभाव हैं सहकारी कारणरूप तब तो यह आपत्ति आयी कि सहकारी कारण तो अत्यन्त भिन्न है। महेश्वर भिन्न है। महेश्वरके स्वभाव सहकारी कारण कैसे हो सकते हैं ? तब वैशेषिकोने कहा कि ऐसा निकट सम्बन्ध है जिसके कारण वे नाना पदार्थ महेश्वरके स्वभाव हो जाते हैं। इसपर आपत्ति आयी एक अद्वैतपनेकी। उसके निवारणके लिए जो कुछ रास्ता निकाला है उनमे बहुत दोष प्रसङ्ग होता है तब स्वभाव और स्वभाववानमे भेद एकान्त न मानना चाहिए, और यदि महेश्वर और उन नाना स्वभावोका अभेद एकान्त मानते हो तब स्वभाववान ईश्वरमे समस्त स्वभावोका सर्वात्मकरूपसे प्रवेश हो गया। तब चाहे एक ईश्वर कहलो चाहे एक तत्त्व परम ब्रह्म कहलो, इसमे कोई अन्तर नही रहता है। तो दूसरा अनिष्ट प्रसङ्ग भी न

चाहने वाले वैशेषिक इस बातके लिए विवश हो जायेंगे कि स्वभाव और स्वभाववान में कथञ्चित् तादात्म्य होता है और ऐसा माननेपर कि ईश्वरकी इच्छाका नाना स्वभावोंके साथ कथञ्चित् तादात्म्य है तो उन्होने ईश्वरको अनेकान्तात्मक मान लिया। तो अब यहाँ ईश्वरेच्छा अनेकान्तात्मक बन गयी। यदि वह ईश्वरेच्छाको अनेकान्तात्मक नहीं मानना चाहते तब सर्वथा एक स्वभाव वाली ईश्वरेच्छा माननी होगी। अर्थात् ईश्वर एक स्वभाव है और इच्छा भी एक रूप है। अब उसीके सम्बन्धमें बहुत पहिलेसे प्रकरण चला आ रहा है कि वह ईश्वरेच्छा एक एक प्राणीके अदृष्टसे अभिव्यक्त होती है या अनेक प्राणियोके अदृष्टसे अभिव्यक्त होती है। अनेक प्राणियोंके अदृष्टसे प्रकट हुई महेश्वरेच्छा शरीरादिक कार्योंको करती है, इतना तो निराकरण पहिले कर दिया। अब प्रसङ्ग चल रहा है कि एक प्राणीके भाग्य द्वारा प्रकट हुई ईश्वरेच्छा शरीरादिक कार्योंको करती है तो एक प्राणीके भाग्य द्वारा प्रकट हुई महेश्वरेच्छा एक ही प्राणीके उपभोगके योग्य शरीरादिक कार्योंको कर सकेगी। तब एक साथ अनेक शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। तब प्राणियोके भाग्यके कारण ईश्वरेच्छा प्रकट होती है, यह बात सिद्ध नही हो सकती और इस ही निराकरणके साथ यह भी निराकृत हो जाता है कि अन्य पदार्थोंके निमित्तसे हुई भी ईश्वरेच्छाकी अभिव्यक्ति असिद्ध है।

कर्म अभावमे इच्छा व प्रयत्नका भी अभाव होनेसे ईशके सृष्टिकर्तृत्वकी असिद्धि—अब वैशेषिक मतानुयायी कहते हैं कि शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमे निमित्त महेश्वरकी इच्छा है और वह अप्रकट ही होती हुई निमित्त हो जाती है। हाँ केवल कर्म निमित्तक जो इच्छा हुई वह शरीरसे अभियुक्त होकर ही निमित्तरूप बनता है, लेकिन महेश्वरकी इच्छामे तो कर्म निमित्त हैं ही नहीं क्योंकि महेश्वर सदाकाल कर्मोंसे अछूना रहता है, इस कारण अप्रकट महेश्वरकी इच्छा ही शरीरादिक कार्योंके निर्माणमें निमित्त हैं। इसके उत्तरमे कहते हैं कि यह बिल्कुल असम्बद्ध बात कही जा रही है। कोई भी इच्छा ऐसी नहीं हैं कि जो सर्व प्रकार अप्रकट हो और किसी कार्यमे क्रियाका कारण बन जाय। जैसे कि ससारी जीवोकी इच्छा। किसीके भी देख लो कुम्हार हो, जुलाहा हो, उसकी इच्छा किसी न किसी अशमें प्रकट है तभी कार्य आगे चलता है। कर्मका अभाव होनेपर इच्छाकी तो सर्वथा अनुत्पत्ति है। प्रथम तो यही विरुद्ध बात है कि ईश्वरके कर्म नही माना जा रहा और इच्छा मानी जा रही है। कर्मके बिना इच्छा कभी हो ही नही सकती इसकी सिद्धि अनुमान प्रयोगसे भी है कि यह महेश्वर विवादापन्न पुरुष विशेष इच्छावान नहीं है, क्योंकि कर्म रहित होनेसे। जो जो कर्मरहित होता हो वह इच्छावान नहीं होता। जैसे मुक्त आत्मा, और कर्मरहित यह महेश्वर भी है तो यह महेश्वर इच्छावान नही हो सकता। तो ईश्वरके इच्छा ही सम्भव नही हो सकती। और जब ईश्वरके इच्छा सम्भव नही

है तो कोई प्रयत्न भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रयत्न इच्छा पूर्वक ही हुआ करता है। इच्छाके अभाव होनेपर प्रयत्नका अभाव होता है। तो बुद्धि इच्छा प्रयत्न मात्रसे ईश्वर काय आदिक कार्योंकी उत्पत्तिमे निमित्त है यह कथन सिद्ध नही होता है, और उसमें कुम्हार आदिकका दृष्टान्त देना भी उचित नही बनता। इस तरह यह सिद्ध है कि महेश्वर अनादिसे कर्मरहित नहीं है और वह सर्वज्ञ होता है तो कर्मरूपी पहाडके भेदनेमे ही सर्वज्ञ होता है और कर्मरहित होकर जो शुद्ध सर्वज्ञ है वह ही मोक्षमार्गका प्रणेता होता है।

सृष्टिकर्ता महेश्वरके प्रकृष्ट ज्ञान, सिसृक्षा व प्रयत्नकी सिद्धिका शङ्काकार द्वारा प्रयास— शङ्काकार कहता है कि विवादापन्न पुरुष विशेष उत्कृष्ट ज्ञानसे सहित है क्योंकि वह सदा ऐश्वर्यसे युक्त है। जो प्रकृष्ट ज्ञानयोगी नहीं है वह सदा ऐश्वर्ययोगी भी नही होता, जैसे ससारी जीव, ये प्रकृष्ट ज्ञानयोगी नही है तो ये सदा ऐश्वर्ययोगी भी नही हैं इसी तरह मुक्तात्मा, ये भी प्रकृष्ट ज्ञानयोगी नही हैं। यद्यपि ये भी सर्वज्ञ हैं, पर जैसा प्रकृष्टज्ञान महेश्वरके है ऐसा प्रकृष्टज्ञान इन मुक्त आत्मावोके नही होता। तो ये भी सदा ऐश्वर्ययोगी नहीं हैं। और, सदा ऐश्वर्ययोगी भगवान है। महेश्वर अनादिसे सदा ऐश्वर्ययुक्त है। इस कारणसे वह प्रकृष्ट ज्ञानयोगी सिद्ध होता है। ऐसे ये महेश्वर प्राणियोके भाग्य सम्पत्तिके लिए शरीरादिक कार्योंके उत्पन्न करनेमे सृष्टि करनेके इच्छावान होते हैं, क्योंकि प्रकृष्ट ज्ञानयोगी होने से। पूर्व अनुमानमे तो प्रकृष्ट ज्ञानयोगी सिद्ध किया था और उसमे साधन बनाया था ऐश्वर्ययोगी होना। अब इस द्वितीय अनुमानमे जो उसके फलित अर्थरूपसे सम्बन्धित है, इस अनुमानमे सिसृक्षावान है भग, यह सिद्ध किया जा रहा है और साधन कहा जा रहा है प्रकृष्ट ज्ञानयोगी होनेसे। उसकी व्याप्ति व्यतिरेक रूप घटित होती है। जो सिसृक्षावान् नही होता वह प्रकृष्ट ज्ञानयोगी भी नही होता। जैसे ससारी और मुक्त आत्मा। ये सृष्टि करनेकी इच्छा नही कर पाते। तो ये प्रकृष्ट ज्ञानयोगी भी नही हैं। और, प्रकृष्ट ज्ञानयोगी ये महेश्वर हैं, इस कारणसे वे सिसृक्षावान हैं। इस तरह भगवान महेश्वरके समस्त जगतकी सृष्टि करनेकी इच्छा होती है, यह बात सिद्ध हो गयी। इस द्वितीय अनुमानमे प्रकृष्ट ज्ञानयोगी हेतु देकर सिसृक्षापन सिद्ध किया। अब इसीसे सम्बन्धित तीसरा अनुमान देखिये। कि यह महेश्वर प्रयत्नवान है क्योंकि सिसृक्षावान होनेसे सिसृक्षावान होनेसे। यह साधन है और प्रयत्नवान सिद्ध करना यह साध्य है। इसमे अन्वय व्याप्ति भी घटित होती है। जो जहाँ कुछ रचनेकी इच्छा वाला होता है वह वहाँ प्रयत्नवाला देखा गया है। जैसे घडेके उत्पन्न करनेमे कुम्हार उसकी रचना करनेकी इच्छा वाला है तो उस घडेका रचने वाला प्रयत्नवान भी देखा गया है। अब प्रकृतमे घटाओ भगवान महेश्वर शरीर इंद्रिय आदिककी रचना करनेमे वे इच्छावान हैं। इससे सिद्ध हुआ ना कि महेश्वर प्रयत्नवान भी होते हैं। इस तरह

इन तीन अनुमानोंके द्वारा क्रमशः ज्ञानवान इच्छावान और प्रयत्नवान महेश्वर है, यह सिद्ध किया गया। अब इस सिद्धिके बाद यह भी निरख लीजिए कि जो निष्कर्म है, कर्मरहित है, सदाशिव है वह यद्यपि शरीररहित है तो भी शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमे कारण निर्बाध सिद्ध है। तो जब शरीररहित होनेपर भी सदाशिव शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण बन गया तो वही महेश्वर मोक्षमार्गके प्रणयन में भी निमित्त कारण सिद्ध हो जायगा। फिर यह कहना कि जो कर्मरूपी पहाड़ोंको भेदने वाला है, जो मोक्षमार्गका प्रणेता है वह यह आप्त है। अरे वह तो मोक्षमार्ग का प्रणेता महेश्वर ही हो सकेगा। और वह कर्मरूपी पर्वतका भेदनहार नहीं है। वह तो अनादिसे ही कर्मरहित है। इस तरह शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें सदाशिव निमित्त कारण रहे और मोक्षमार्गके प्रणयनमें भी निमित्त कारण रहे इसमे किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आती।

निष्कर्म होनेसे महेश्वरके मोक्षमार्गप्रणेतृत्व व सृष्टिकर्तृत्वकी असम्भवता—अब उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकारका जो यह कथन है कि महेश्वर कर्मरहित है और मोक्षमार्गका प्रणेता है, यह कथन असङ्गत है। जो सर्वथा निष्कर्म होगा उसके ऐश्वर्यका विरोध है। लोकमे मान्यता हो, जगह-जगह पूज्यता हो, किसी कार्यके करनेमे पूर्ण समर्थ हो, प्रभु बने, ऐसी बात सर्वथा कर्मरहित किसी आत्माके सिद्ध नहीं हो सकती। उसकी सिद्धिके लिए यह अनुमान प्रयोग है कि विवादापन्न पुरुष ऐश्वर्य योगी नहीं है निष्कर्म होनेसे। जिस महेश्वरको यहाँ ऐश्वर्ययोगी सिद्ध किया जा रहा था उसकी बात चल रही है कि वह विवादापन्न पुरुष ऐश्वर्य योगी नही है निष्कर्म होनेसे। जो जो निष्कर्म होता है वह वह ऐश्वर्य योगी नहीं होता जैसे कि मुक्त आत्मा। मुक्त आत्माओके अब कर्म तो न रहा। तो वह ऐश्वर्यसे भी सहित नहीं है। और, यह महेश्वर निष्कर्मा है ही तब यह ऐश्वर्य योगी नहीं हो सकता। जब यह महेश्वर ऐश्वर्य योगी सिद्ध नही होता तो प्रकृष्ट ज्ञानयोगी सिद्ध नहीं कर सकते। जब प्रकृष्ट ज्ञानयोगी न हो तो सिसृक्षावान् नहीं बता सकते। जब सिसृक्षावान न रहा तो प्रलयवान भी न रहा। और, यों शङ्काकारके कथनानुसार जब ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न तीनोसे रहित हो गया और इस कारण शरीरादिक कार्योंका निमित्त कारण न रहा तो मोक्षमार्गका प्रणेता भी न रहेगा।

योगज धर्मसहित माननेपर महेश्वरके अमुक्तताका प्रसङ्ग—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि पापकर्मरूप मलसे ही वह अछूता है महेश्वर तथा अनादिसे ही योगिजन्य धर्मसे सहित है इस कारण ईश्वरके निष्कर्मपन असिद्ध है याने किसी दृष्टि से ईश्वरके निष्कर्मता नही है। वह अनादि कालसे योगज धर्ममे युक्त तो हो रहा है। और, जब किसी दृष्टिसे निष्कर्म सिद्ध नहीं होता तो ऐश्वर्य योगी सिद्ध हो जायगा। जैसे कि समाधानकर्ता कह रहा है तो लो यो सही। अब ईश्वर क्रमशः इच्छावान

प्रयत्नवान बनकर और यह शरीरादिक कार्योंका निमित्त कारण हो जायगा। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि यदि किसी दृष्टिसे इसे निष्कर्मा मानते हो तब यह महेश्वर सदा मुक्त न कहलाया, क्योंकि मुक्तिकी प्रसिद्धि धर्म और अधर्मके क्षयसे ही होती है। अधर्म तो संसारियोमे बहुत पाया जाता। धर्म योगियोमें होता और यह अनादि योगज धर्म महेश्वरमे भी माने, तो धर्मका जब तक क्षय नही होता तब तक मुक्ति प्रसिद्ध नही हो सकती। शङ्काकार कहता है कि भले ही महेश्वरके अनादि योगज धर्मका सम्बन्ध है तो सदाकाल तो क्लेश कर्म विपाक अभिप्राय इन क्लेशोंसे दूर है, इस कारणसे उसके जीवन मुक्तिका कोई विरोध नही आता। जैसे कि वैराग्य और ऐश्वर्य व ज्ञानका सम्बन्ध होनेपर भी जीवन मुक्तिका कोई विरोध नही है। जो आत्मा जीवनमुक्त हैं उनके वैराग्य है, ऐश्वर्य है, ज्ञान है, इतने पर भी उनके जीवन-मुक्तिमे विरोध नहीं है। इसी तरह अनादियोगज धर्मका सम्बन्ध है महेश्वरके तिसपर भी सदाकाल क्लेश आदिकसे रहित होनेसे उनमे जीवनमुक्ति सिद्ध होती ही है। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं तब तो महेश्वरके परमार्थत मुक्त और अमुक्त स्वभावपना माना जायगा। अनादि योगज धर्मका सम्बन्ध है इस कारण तो अमुक्त है और वहाँ कर्म विपाक आदिकसे रहित है, इस कारण मुक्त है, और इस तरह महेश्वरकी मुक्तात्मकरूपता माननेपर अनेकान्त स्थिति दुर्निवार हो जायगी, इस अनेकान्त पद्धति का निवारण ही नही किया जा सकेगा। इस तरह अनादि बुद्धिमन निमित्तत्वके सम्बन्धसे ईश्वरको अनादि बताने वाला और धर्म ज्ञान वैराग्यके सम्बन्धसे चेतन व सदाकाल क्लेश कर्म विपाक आदिकसे अछूता होनेसे सदा मुक्तिपना बताने वाला, सदा ईश्वरपना बताने वाला यह शङ्काकार अपने एकान्तपर अपने निश्चयपर अडिग न रह सकेगा, क्योंकि यहाँ कथंचित् मुक्तिपना और कथंचित् अमुक्तिपना प्रसिद्ध हो गया। तब अनेकान्तात्मकताके दोषको हटानेकी इच्छा करने वाले ये शङ्काकार सर्वथा मुक्त ही ईश्वरको बतायें। सो अनादि योगज धर्मका सम्बन्ध बनाने वाले ईश्वरके मुक्तपना सिद्ध न होगा। तो इसको अपनी दोषापत्ति दूर करनेके लिए सदा ही सर्वथा मुक्त बताना चाहिये। तो इस तरह तो उन्हे सर्वथा निष्कर्म ही स्वीकार करना चाहिए। जैसे कि वे पहिलेसे कहते आये हैं उसी प्रकार यह सर्वथा निष्कर्मपना मान लेना चाहिए। उसमे किसी दृष्टिसे निष्कर्मतासे हटे हुए न बताना चाहिए।

निष्कर्मा योगजधर्मा महेश्वरके प्रकृष्टज्ञान, सिसृक्षा व प्रयत्नको असिद्धि—ईश्वरमें जब निष्कर्मता मानना जरूरी हो गया तो हमारा साधन असिद्ध न रहा। हमारा अनुमान प्रयोग था कि विवादापन्न पुरुष ऐश्वर्य योगी नही होता है निष्कर्मा होनेसे। और यह हेतु अनैकान्तिक भी न रहा, क्योंकि विपक्षमे यह हेतु पाया नही जाता। विपक्ष हो ऐश्वर्य योगी कोई पुरुष तो ऐश्वर्य योगी देवेन्द्रादिकमे निष्कर्मता है नहीं, इसलिए अनैकान्तिक दोष भी नही आता और इसी कारण यह हेतु

विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि इस साधनका प्रमाणसे कोई बाधक नहीं बन पाता प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा, हम लोगोंके द्वारा कोई भी पुरुष जो ऐश्वर्य योगी हो और निष्कर्मा पाया जाय ऐसा नहीं दीख रहा है जिससे कि पक्ष प्रत्यक्ष बाधित हो जाय। पक्षमें बाधा अनुमानसे भी नहीं आती क्योंकि सिद्ध अनुमान जो व्यापकानुपलम्भसे बाधित पक्ष वाला हो उसमें ही कालात्ययापदिष्ट दोष सिद्ध किया जाता है। आगमसे भी व्यापकानुपलम्भ सिद्ध नहीं होता अथवा आगमसे हमारे पक्षमे बाधा नहीं आती, क्योंकि यह बतायें कि वह आगम युक्तिसे अनुगृहीत है या असमर्थित है? यदि आगम युक्तिसे समर्थित नहीं है तो वह खुद प्रमाण न रहा, वह पक्षका कैसे बाधन करेगा? और यदि अनुग्रहीत हो जाय तो भी पक्ष बाधामें आगमकी सम्भावना नहीं है। युक्ति ही कोई सम्भव नहीं है जिससे प्रमाणसे अबाधित होता हुआ पक्ष सिद्ध नहीं होता। हमारे अनुमानमें सत्प्रतिपक्षपना भी नहीं आता है, क्योंकि प्रतिपक्ष याने विरोधी अनुमान यहाँ पाया नहीं जाता है। इस तरह इस अनुमानसे जब ऐश्वर्ययोगी सिद्ध न होसका महेश्वर, तो उसकी इच्छा और प्रयत्न भी सिद्ध न हो सका। जैसे कि वहाँ धर्म अधर्म नहीं है, इच्छा प्रयत्न भी नहीं है, ऐश्वर्य योग भी नहीं है। तो जैसे निष्कर्मपना ऐश्वर्यरहितपनेको सिद्ध करता है इसी प्रकार ऐश्वर्यरहितपना इच्छा और प्रयत्नसे रहितपनेको सिद्ध करता है, क्योंकि इच्छा और प्रयत्नका होना ऐश्वर्यके साथ ही व्याप्त है। जिसके ऐश्वर्य नहीं उसका कुछ प्रयत्न भी सम्भव नहीं हो सकता। कोई भी इच्छावान और प्रयत्नवान और ऐश्वर्यवान इन्द्रादिकमें भी निष्कर्मता नहीं देखी गई है। तो जो निष्कर्म हो गया वह न प्रकृत प्रकृष्ट ज्ञानवान हो सकता, न इच्छावान हो सकता, न प्रयत्नवान हो सकता, न वहाँ कोई ऐश्वर्य सम्भव हो सकता। हाँ निष्कर्म हो करके भी किसीके ज्ञानशक्ति बनी रहे, उसमें कोई विरोध नहीं आता। तब चैतन्य आत्मा बताने वाले किन्हीं पुरुषोंने वैशेषिक सिद्धान्त मानने वाले सतोंने मुक्त आत्मामें भी चेतना बताया है और कहा है कि चेतना ज्ञानशक्ति ही रहती है। उस चेतनासे भिन्न ज्ञानशक्ति कुछ नहीं होती और ज्ञानशक्तिसे भिन्न चेतना कुछ नहीं है। इसके लिए योगदर्शनमें सूत्र भी कहा गया है कि—

"चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा दर्शितविषया शुद्धा चाऽनन्ता च"

अर्थात् चैतन्यशक्ति अपरिणामी है, उसका परिणाम नहीं होता। अप्रतिसंक्रमता है, उसके विषयका संचरण परिवर्तन नहीं होता और वह बुद्धि द्वारा ज्ञात विषय को अनुभव करने वाली है, सिद्ध है, सुख दुःख और मोहात्मक स्थितियोंसे रहित है और अनन्त है, ऐसा स्वयके लिए कहा है। जिससे सिद्ध है कि ज्ञानशक्तिका होना चेतनासे सम्बन्धित है। तो इस तरह महेश्वर जो कर्मसे अछूता हो, शरीर रहित है तो भी उसकी ज्ञानशक्ति मुक्तात्माकी तरह प्रसिद्ध ही है, और अब ज्ञानशक्ति उनकी प्रसिद्ध हो गयी तब—

ज्ञानशक्त्यैव निःशेषकार्योत्पत्तौ प्रभुः किल ।
सदेश्वर इति ख्यानेऽनुमानमनिदर्शनम् ॥ १३ ॥

मात्र ज्ञानशक्तिसे ही कार्योत्पत्तिमे प्रभुताकी असभवता—ज्ञानशक्तिके ही द्वारा प्रभु समस्त कार्योंको उत्पत्तिमे समर्थ हो जाय, इस तरहकी बात बतायें ? शङ्काकारको उसके अनुमानको सिद्ध करनेके लिए कोई उदाहरण नही मिल सकता। किसी भी कार्यकी उत्पत्तिमे केवल ज्ञानकी सामर्थ्यसे ही वह कार्यकारी बन जाय ऐसा कोई पुरुष नही देखा गया है तब उनका यह अनुमान करना कि विवादापन्न पुरुष ज्ञानशक्तिके ही द्वारा समस्त कार्योंको उत्पन्न करता है प्रभु होनेसे, यह अनुमान अयुक्त है, क्योंकि इस अनुमानमे कोई भी उदाहरण नहीं प्राप्त होता है। शङ्काकार कहता है कि इस अनुमानकी सिद्धि करनेके लिए अन्वयरूपसे कोई उदाहरण न मिले तो भी व्यतिरेक व्याप्तिका उदाहरण तो मिल सकता है, इस कारण इस अनुमानको उदाहरण रहित न बताना चाहिए। देखिये ! अनुमान यह है कि महेश्वर ज्ञानशक्तिसे ही कार्योंको उत्पन्न करता है प्रभु होनेसे। अब व्यतिरेक व्याप्ति बनावें कि जो ज्ञान-शक्तिसे ही कार्यको उत्पन्न नहीं करता वह प्रभु नही होता। जैसे ससारी कर्माधीन पुरुष, संसारी कर्माधीन जीव ज्ञानशक्तिसे ही कार्यको उत्पन्न नहीं कर पाते। दीखता ही है सब कुछ ऐसा। तो वह प्रभु भी नहीं है। इस व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा उदाहरण तो सम्भव है ही, फिर यह अनुमान कैसे नही समीचीन बनेगा ? इस शकाके उत्तरमें कहते हैं कि अन्वयका उदाहरण जब नहीं मिल रहा, साधर्म्यका, सदृशताका उदाहरण जब नही मिल रहा तो अन्वयका निर्णय तो नही होता और इसी कारण व्यतिरेकके निर्णयमे भी विरोध आता है। और इन्द्रादिक ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न विशेषोके द्वारा अपने कार्योंको कर रहे हैं। तो देखो ! प्रभुत्व हेतुमे व्यभिचार भी आ गया ना। प्रभु तो इन्द्र भी हैं और वे ज्ञानशक्ति मात्रका कार्य नही कर पाते। इन्द्र मात्र ज्ञान शक्तिसे अपना कार्य नही करता और उसके इच्छा और प्रयत्न पाया जाता। तो देखो प्रभु है इन्द्र और ज्ञानशक्तिसे ही कार्य न कर सका। इन्द्रका प्रभुपना असिद्ध भी नही है, क्योंकि प्रभुत्व सामान्य उनके पाया जाता है सब देवोके वे प्रभु माने जाते हैं और उनमें स्वतन्त्रता पाई जाती है। तो प्रभु होकर भी वह ज्ञानशक्तिसे ही कार्य न कर सका। यो महेश्वर भी ज्ञानमात्र शक्तिसे कार्य न कर सकेगा।

मात्र ज्ञानशक्तिसे ही कार्योत्पादप्रभुताका उदाहरण बतानेका निष्फल प्रयास—शकाकार कहता है कि स्याद्वादियोंने जो यह कहा है कि ईश्वर यदि समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमे ज्ञानशक्तिके ही द्वारा समर्थ है तो इस प्रकारके कथनमे जो भी अनुमान बनाया जायगा उसका कोई उदाहरण न मिलेगा, सो यह कथन सङ्गत नहीं है। क्योंकि हमारे इस अनुमानमे उदाहरण मौजूद है। उसका प्रयोग हम यो करेंगे

कि जैसे इच्छाके विना भी जिनेश्वर उपदेश करते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी इच्छाके विना ही ज्ञानशक्तिके द्वारा कार्योंको कर देगा। यों ईश्वर ज्ञानशक्तिके द्वारा ही समस्त कार्योंको उत्पन्न कर देता है, इस कथनमे अनुमान मिला स्याद्वादियोंका जिनेश्वर। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि तीर्थंकर नामके धर्मविशेष होनेपर ही जिनेश्वर देव मार्गको उपदिष्ट करते हैं, परन्तु मात्र केवल ज्ञानसे ही उपदेश नहीं करते। तीर्थंकर जिनेश्वरकी जो दिव्य ध्वनि खिरती है उसमें कारण है तीर्थंकरत्व नामका धर्मविशेष। केवल ज्ञानसे ही जिनेश्वर उपदेश नहीं किया करते, यदि केवल ज्ञानसे उपदेशकी बात होती तो जिसके समस्त कर्म दूर हो गए ऐसे सिद्ध भगवानके भी केवल ज्ञान मौजूद है फिर उनकी वाणी क्यों नहीं निकलती ? कारण यह है कि सिद्ध भगवानके समस्त कर्म नष्ट होनेपर तीर्थंकर नाम का भी धर्म विशेष न रहा, पुण्य प्रवृत्ति न रही, इसलिए वहाँ तत्त्वका उपदेश नहीं होता। तब यह बात सिद्ध हुई कि शंकाकारने जो यह कहा कि महेश्वरेच्छाके विना भी और प्रयत्नके विना भी केवल ज्ञानशक्तिके ही द्वारा मोक्षमार्गका प्रणयन और शरीर इन्द्रिय आदिक कार्योंको कर लेगा। जैसे कि प्रतिवादियोंके यहाँ याने स्याद्वादियोके द्वारा माने गए जिनेश्वरका ज्ञानशक्तिके ही द्वारा प्रवचन उपदेश करनेरूप कार्य नहीं बनता, किन्तु तीर्थंकरत्व नामक पुण्य प्रकृतिका उदय होनेपर ही जो कि दर्शन विशुद्धि आदिक भावनाओंके कारण तीर्थंकर प्रकृति बंधी थी उसका उदय होनेपर केवलज्ञान जिसके उत्पन्न हुआ है ऐसे जिनेश्वर भगवानके प्रवचन नामक तीर्थ को करनेकी प्रसिद्धि हुई। तब ही जो जिनके समस्त कर्म प्रक्षीण होगए ऐसे सिद्ध भगवानके दिव्य ध्वनिकी प्रवृत्ति नहीं बन सकती। तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिका विनाश होनेपर केवलीके भी वचन प्रसिद्धि असम्भव है। सो यो धर्मविशेषसे युक्त उत्तम संहनन शरीर वाले केवली भगवान जिनेश्वर प्रवचनका कर्ता है याने तीर्थका करनेवाला होता है। पर ऐसी बात महेश्वरमे तो सम्भव नहीं है। इसलिए महेश्वर प्रयत्न इच्छाके बिना भी ज्ञानशक्तिसे कार्य करले, यह बात सम्भव नहीं है।

तथा धर्मविशेषोऽस्य योगश्च यदि शाश्वतः।
तदेश्वरस्य देहोऽस्तु योग्यन्तरवदुत्तमः॥ १७॥

महेश्वरके धर्मविशेष और योग माननेपर सदेहत्व माननेकी अनिवार्यता—और, भी देखिये। जिस महर्षि योगीके धर्मविशेष और योगविशेष प्रसिद्ध है उसका देह भी उत्तम होता है। जो योगी नहीं हैं, साधारणजन हैं उनका इन देहो से विशिष्ट देह प्रसिद्ध ही है, तो उसी प्रकार महेश्वरके भी देह उत्तम होना ही चाहिए क्योंकि उत्तम देह हुए विना धर्मविशेष अथवा योगविशेष सम्भव नहीं हो सकता है। जैसे कि ऐश्वर्य न होनेसे वैराग्यका योग नहीं होता तो इस स्थितिमे अब वह ईश्वर

अज्ञ प्राणियोकी तरह या मुक्त आत्माओकी तरह जगतका निमित्त कारण कैसे हो सकता है ? जैसेकि ससारी अज्ञानी प्राणी इस जगतकी सृष्टिका निमित्त कारण नहीं हैं तथा ये मुक्तात्मा जीव निष्कर्मा जगतके निमित्त कारण नही हैं उसी प्रकार ईश्वर भी जगतका निमित्त कारण सिद्ध नही हो सकता।

निग्रहानिग्रहौ देहं स्व निर्मायान्यदेहिनाम्।
करोतीश्वर इत्येतन्न परीक्षाक्षमं वचः ॥ १८ ॥

स्वदेहको रचकर अन्य देहियोका निग्रह अनुग्रह करने वाले ईश की शङ्काकार द्वारा मान्यता—अब यहाँ शङ्काकार योग अथवा वैशेषिक ईश्वरके अवतार जैसी बात चित्तमे लाकर शङ्का करते हैं, जिसका निराकरण किया जायगा। शङ्काकार कहता है कि ईश्वर अपने शरीरकी रचना करके अन्य प्राणियोके निग्रह और अनुग्रहको करते हैं। ईश्वर शरीरका निर्माण करने वाला होता है, क्योंकि अन्य प्राणियोके निग्रह अनुग्रहका करने वाला है। जो जो अन्य प्राणियोके निग्रह और अनुग्रहको करता हुआ पाया जाता है वह वह स्व देहका निर्माण करने वाला याने अपने देह वाला जरूर देखा गया है। जैसे कि राजा दूसरे प्राणियोका निग्रह आग्रह करता है तो उसका देह तो बना ही हुआ है। उसकी रचना जरूर है। यह महेश्वर भी अन्य प्राणियोके निग्रह और अनुग्रह करता है इस कारण अपने देहका निर्माण करने वाला ईश्वर है यह बात अपने आप सिद्ध होती है। अनुग्रहका अर्थ है कुछ सुखके साधन देना कृपा करना। और, निग्रहका अर्थ है उसे क्लेश देना दण्ड देना। नाना सुख दुःख पा रहे हैं तो इस सुख दुःखका करने वाला ईश्वर तब ही बन पायगा जब वह अपने देह का निर्माण कर लेगा, तो इसपर यह आपत्ति मिट जायगी कि ईश्वर अशरीर हो कर सब शरीरोको दूसरे जीवोके शरीरको कैसे बना देता है ? यहाँ जब अपने देहको रचकर अन्य देहियोके निग्रह अनुग्रहको करने वाला अपने आप सिद्ध हो जाता है। ये सब बाते अनुमान प्रयोगसे सिद्ध हो जाती हैं। किसी दुष्टका निग्रह करना और शिष्ट का अनुग्रह करना ईश्वरका कार्य है क्योकि वह प्रभु है, समर्थ है। जैसे इस लोकमें प्रसिद्ध जो प्रभु है, राजा आदिक है वह दुष्टका निग्रह और शिष्टका सज्जनका दयापात्र पुरुषोका अनुग्रह करता है यहाँ कोई ऐसी आशङ्का न करे कि इस तरह तो नाना ईश्वरकी सिद्धि हो जायगी, क्योकि राजा अनेक हैं अनेक अधिकारी हैं तो ये तो सब नाना ईश्वर बन गए। ये सब जीवोका निग्रह कर रहे हैं। सो नाना ईश्वरोकी यो सिद्धि नहीं होती, क्योकि हैं तो लोकमें नाना प्रभु मगर वे सब एक महा प्रभुके आधीन ही देखे जाते है। इसको भी अनुमान प्रयोगसे सिद्धकर लो! विवादापन्न नाना प्रभु याने लोकमें दीखने वाले ये अनेक राजा महाराजा जो दूसरोका निग्रह अनुग्रह कर रहे हैं वे सब पुरुष एक महाप्रभुके ही आधीन हैं नाना प्रभुत्व होनेसे। चूंकि ये

प्रभु नाना हैं तो जहाँ नाना समर्थ पुरुष दीख रहे हों वहाँ उन सबपर कण्ट्रोल करने वाला कोई एक महाप्रभु होता है। जो-जो महाप्रभु हैं वे-वे सब यहाँ एक प्रभुके आधीन देखे गए हैं। जैसे अनेक सिपाही एक जमादारके आधीन हैं, अनेक जमादार एक विशिष्ट पुरुषके आधीन हैं, ऐसे ही विशिष्ट एक कर्नलके आधीन हैं। ऐसे ही सामंत होते हैं। सामन्त मण्डलीक महामण्डलीक एक चक्रवर्तीके आधीन हैं और ये नाना चक्रवर्ती इंद्रादिक ये सब प्रभु हैं इस कारण ये सब एक महाप्रभुके आधीन हैं। और जो ये महाप्रभु हैं सो एक महेश्वर है। इस तरह एक ईश्वरकी सिद्धि है और वह ईश्वर अपने देहको रचकर अन्य प्राणियोंका निग्रह अनुग्रह करता है। उक्त शंका के प्रति आचार्यदेव कहते हैं कि यह शंकाकारका वचन परीक्षाको नहीं सह सकता है, क्योंकि महेश्वर स्वयं अशरीर है, शरीररहित है तो वह अपने देहका निर्माण भी नहीं कर सकता। इस प्रकारके निराकरणको अब आचार्य महाराज कहते हैं।

देहान्तराद्विना तावत्स्वदेहं जनयेद्यदि।
तदा प्रकृतकार्येऽपि देहाधानमनर्थकम् ॥ १९ ॥
देहान्तरात्स्वदेहस्य विधाने चानवस्थितिः।
तथा च प्रकृतं कार्यं कुर्यादीशो न जातुचित् ॥ २० ॥

ईश्वरके स्वदेहनिर्माणकी असमञ्जसता—उक्त शङ्काके समाधानमें आचार्यदेव कहते हैं कि यदि ईश्वर अन्य देहके बिना भी अपने देहको केवल एक विचार मात्रसे उत्पन्न कर देवे तब तो विचारमात्रसे ही अन्य प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रहरूप कार्यको कर देवे फिर तो अन्य प्राणियोंका निग्रह अनुग्रह कार्यके करनेके लिए देहका धारण करना अनर्थक सिद्ध होता है। यदि यह कहा जाय कि अन्य शरीरके द्वारा अपनेमें देहको धारण करता है तो फिर उस अन्य देहको भी किसी अन्य देहके द्वारा धारण करेगा। इस तरह अनवस्था दोष आयगा, और इस तरह अपने ही अनेक देहोंके निर्माण करनेमें ही ईश्वरकी शक्ति क्षीण हो जायेगी, तो वह कभी अन्य प्राणियोंके शरीरादिक कार्योंको कर न सकेगा। जैसे कि प्रकृत कार्यको उत्पन्न करनेके लिए ईश्वर अपूर्व शरीरको धारण करता है तो उस नये शरीरके निष्पादन करनेके लिए फिर और नया अन्य शरीर बनाना होगा। फिर उस शरीरको निष्पादन के लिए और नया शरीर बनाना होगा। इस तरह अनवस्था दोष कैसे दूर हो सकता है? किन्हीं भी प्राणियोंके निग्रह अनुग्रह करनेसे पहिले ईश्वरके शरीरका प्रयोग बन नहीं सकता। क्योंकि जो भी ईश्वरके शरीरका प्रयोग बताया गया उससे पहिले अन्य शरीरोंका प्रसङ्ग हो जायगा। और, फिर एक बात और है—यदि कोई इस अनव-स्था दोषको अनादि संतानमें घटित करदे कि यह तो अनादि कालसे ईश्वरके शरीर

की संतति चली आ रही है, तब तो उस शरीरको अशरीरी न मानना चाहिए। यहाँ मूलमें २ प्रश्न किए गए हैं शङ्काकारसे कि ईश्वर जो अपने शरीरको बनाता है, यह कहा है तो वह अपने शरीरको अन्य देहके बिना अशरीर होकर ही बना डालता है या अन्य देहके द्वारा अपने शरीरको बनाता है ? इसमें यदि प्रथम विकल्प स्वीकार किया जाय कि ईश्वर अन्य देहके बिना ही अपने देहको बना डालता है। तो ऐसे ही संसारके सारे कार्योंको भी अपने देहके ही बिना बना डाले, फिर अपने देहोंको धारण करनेकी विवशताका स्वाङ्ग क्यों किया जा रहा है ? और यदि ऐसा मानोगे द्वितीय विकल्पके अनुसार कि अन्य देहोंसे ही अपने देहका धारण करना होता है ईश्वरके तब इसमें अनवस्था दोष आता है। तो जैसे देहको बनानेके लिए अन्य देहोंकी आवश्यकता पडी अन्य देहोंको बनानेके लिए और अन्य देहोंकी आवश्यकता पडेगी। इस तरह यह ईश्वर अपने शरीरकी सही सम्हाल न बना पावेगा, फिर प्रकृत कार्यको करेगा ही कब ? शङ्काकार यदि यह कहे कि एक ही निर्मित शरीरके द्वारा नाना देश दिशाओंमे रहने वाले प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रहके विधानको ईश्वर कर बैठता है सो यह बात सम्भव नहीं। एक निर्मित शरीरके द्वारा समस्त प्राणियोंके निग्रह अनुग्रहको ईश्वर करदे यह तो घटित नहीं है। यदि ऐसा बनना होता तो एक साथ अनेक शरीर उसके प्रसङ्गमे न आते। और, उन अनेक शरीरोंके माननेपर उनको बनानेके लिए अनेक शरीर होने चाहिएं। इस तरह अनादि नाना शरीरोंकी परम्परा ईश्वरके आ पडती हैं। एक शरीरसे ही नाना शरीरोंको कर लेता है, यदि शङ्काकार ऐसा कहे तो जैसे उसने एक शरीरसे नाना शरीर बना डाले, यों ही एक साथ या क्रमसे उस शरीरको ही नाना देश दिशाओंमें रहने वाले प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रहको भी कर डाले, फिर तो यह बताओ कि ईश्वर अनेक भिन्न-भिन्न शरीरोंको लेकर अवतार क्यों धारण किया करते हैं ? जैसे कि कणादका अनुग्रह करनेके लिए और गजासुरका निग्रह करनेके लिए उल्लूका शरीर धारण किया। या अन्य शरीरोंका जो धारण करना बताते हैं अनेक अवतार। जिस किसी भी शरीरको लेकर अवतार कहा जाता है, तो ऐसा अवतार लेनेका कथन उनका युक्त नहीं जचता है। यदि शङ्काकार इस प्रसङ्गमे यह कहे कि न तो अन्य देहोंके बिना अपने देहको उत्पन्न करता है और न देहान्तरोंसे अपने स्वदेहको उत्पन्न करता है, किन्तु ईश्वर स्वयं ही शरीरके बनाये बिना भी अन्य शरीरको बनाये बिना भी अपने शरीरको उत्पन्न कर लेता है। इसका समाधान आचार्यदेव करते हैं।

स्वयं देहाविधाने तु तेनैव व्यभिचारिता।
कार्यत्वादेः प्रयुक्तस्य हेतोरीश्वरसाधने ॥ २१ ॥

ईश्वरदेहका ईश्वर द्वारा निर्माण न माननेपर कार्यत्व हेतुकी व्यभि-

चारिता होनेसे सृष्टिकर्तृत्वकी असिद्धि—शङ्काकारके कथनानुसार यदि ईश्वर स्वय अपने देहका निर्माण नहीं करता और उसका देह अपने आप माना जाता है तो ऐसा कहनेमें तो उनके कार्यत्वहेतुका व्यभिचार अपने आप सिद्ध हो जाता है। उनका प्रयोग था कि ईश्वर शरीर इन्द्रियादिक कार्योंको कर लेता है क्योंकि कार्य होनेसे। अब यहाँ देखिये कि ईश्वरका शरीर कार्य तो है पर उसका करने वाला नहीं बता रहे, ईश्वरके शरीररूप कार्यको स्वय ही बना हुआ बता रहे। सो यदि ईश्वर देहको धारण नहीं करता है तो यह बतलाओ कि वह ईश्वरका शरीर नित्य है या अनित्य ? नित्य तो कह नहीं सकते। क्योंकि उनमें अगोपाङ्ग मौजूद है ? जो अवयव वाला होगा वह अनित्य ही देखा जाता है, जैसे घट पट आदिक पदार्थ। इनके सावयव हैं, ये अनित्य हैं और अवयव वाला ईश्वरका देह है इस कारण ईश्वरका देह नित्य नहीं हो सकता। और, यदि कहो कि ईश्वरका देह अनित्य है तो ईश्वरका शरीर उत्पन्न कहाँसे हुआ सो बताओ। यदि कहो कि महेश्वरके पुण्य विशेषसे धर्मविशेषसे उसका देह उत्पन्न होता है। तो सर्व प्राणियोंका शुभ अशुभ शरीर भी उनके ही पुण्य पापसे बन बैठेगा ? फिर ईश्वरको निमित्त कारण माननेकी क्या आवश्यकता ? यो उनका जो अनुमान प्रयोग है कि विवादापन्न शरीर इन्द्रिय आदिक बुद्धिमन निमित्तक है कार्य होनेसे अथवा अपने आरम्भक अवयवोंकी रचना विशिष्ट है इस कारण अथवा अचेतन उपादान होनेसे, आदिक हेतु जो ईश्वरकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त किए जाते हैं उनका ईश्वरके देहसे ही व्यभिचार आयगा कि देखो ईश्वरका देह ईश्वरने रचा नहीं और कार्य सो है। इस तरह ईश्वरकी सृष्टिकर्ताकी सिद्धि होती है।

यथाऽनीशः स्वदेहस्य कर्त्ता देहान्तरान्मतः ।
पूर्वस्मादित्यनादित्वान्नानवस्था प्रसज्यते ॥ २२ ॥

तथेशस्यापि पूर्वस्माद् देहाद् देहान्तरोद्भवात् ।
नानवस्थेति यो ब्रूयात्तस्यानीशत्वमीशितुः ॥ २३ ॥

नीशः कर्मदेहेना नादि सन्तानवर्तिना ।
यथैव हि सकर्मा नस्तद्वन्न कथमीश्वरः ॥ २४ ॥

अन्य देहियोंकी तरह पूर्व पूर्व देहसे उत्तर उत्तर देहका निर्माण मानने पर महेश्वरके अनीशत्वका प्रसङ्ग—शङ्काकार कहता है कि देखो ! जैसे ये अन्य संसारी प्राणी अपने देहका कर्ता अन्य पूर्व देहसे मानते हैं अर्थात् पहिले देहसे यह वर्तमान देह बना, वह पहिला देह उससे पूर्वके देहसे बना, इस तरह देहोंसे देहोंका

निर्माण होते चले जाना यह अनादि सिद्ध बात है। और, वहाँ अनवस्था दोष नहीं माना। प्रभु ईश्वरके भी पहिले देहसे अन्य देहकी उत्पत्ति मान ली जाय तो इसमें अनवस्था दोष नहीं आता। पूर्व पूर्व देहसे उत्तर उत्तर देह बनते चले जाते हैं स्वयमेव उसमें अनवस्थाकी क्या गुंजाईस ? इस प्रकार जो शङ्काकार बोलता है वह इस ओर दृष्टि नहीं दे रहा कि इस तरहकी समता बतानेपर महेश्वरके भी अज्ञपना अनीश्वर-पना प्रकट हो जाता है। जैसे कि अनादि सतानके कार्माण देहके द्वारा यह जीव सकर्मा बन रहा है और अपने उपभोगके योग्य अनेक शरीरोको उत्पन्न करता चला आ रहा है तो वह सकर्मा है। इसी प्रकार ईश्वर भी कैसे अज्ञ न हो जायगा ? और कैसे कर्मसहित न हो जायगा। जो शकाकारने प्रतिवादियोका उदाहरण दिया है अर्थात् स्याद्वाद सिद्धान्तियोका उदाहरण दिया है सो वहाँ स्पष्ट है कि अज्ञ पुरुषोको शरीरका कर्ता अन्य शरीरके बिना नही माना गया है। उसका उदाहरण देकर यह ईश्वरवादी भी अशरीरी ईश्वरके अपने शरीर निर्माणके सामर्थ्यकी बात बताये और पूर्व पूर्व शरीरसे आगे आगेके शरीर बनते हैं ऐसी अनादि संतति बताकर अनवस्थाका परिहार करें यह बात उनके लिए ही घातक सिद्ध होगी। देखिये ! बात क्या है असल मे कि ये ससारी प्राणी कार्माण शरीरसे सशरीर बनते हुए और अनीश अज्ञ बनते हुए अपने उपभोगके योग्य दूसरे शरीरको उत्पन्न करते हैं, जिस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्तमे माना गया है। उसी प्रकार यदि ईश्वर पूर्व कर्म शरीरसे अपने शरीरको बनाये तो उसे कर्मसहित ही होना चाहिए और इस कारण अब वह ईश्वर सदा कर्म-रहित सिद्ध नही हो सकता क्योकि जैसे शरीरमें अज्ञानी पुरुष अनादि संततिसे चले आये हुए कार्माण शरीरके साथ सम्बद्ध हैं इसी प्रकार जब शरीरकी परम्परा ईश्वरके बना रहे हो तो वह भी कार्माण शरीरके साथ सम्बद्ध सिद्ध हो जायगा, और यदि उसके सर्व कर्मोंका अभाव है, कोई भी कर्म उसके शेष न रहे तो भी मुक्त जीवोकी तरह अपने शरीरका निर्माण करने वाला बन ही नही सकता। और, फिर कर्मरहित जीवके जैसे शरीर सम्भव नही उसी प्रकार बुद्धि इच्छा प्रयत्न ये तीनो ही उसके असम्भव हो जायेंगे यह समझ लेना, क्योकि कर्मसे अछूता है, कोई तो उसके न बुद्धि, न इच्छा, न प्रयत्न कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। इस कारण यह बात बिल्कुल प्रकट सिद्ध हुई है कि ईश्वरके शरीर नहीं है और शरीरके बिना वह जगतकी रचना कैसे कर सकता है ?

ततो नेशस्य देहोऽस्ति प्रोक्तदोषानुषङ्गतः।
नापि धर्मविशेषोऽस्य देहाभावे विरोधतः ॥२५॥

येनेच्छामन्तरेणापि तस्य कार्ये प्रवर्तनम्।
जिनेन्द्रवदघटेतेति नोदाहरण सम्भवः ॥२६॥

अशरीर महेश्वरके धर्मविशेषके अभावके कारण कार्यमे प्रवर्तनकी असिद्धिका निष्कर्ष—अब प्रकृत प्रसङ्गका उपसंहार करते हुए आचार्य महाराज इन दो कारिकाओमें सृष्टिकर्ताके अनुमानको अनुदाहरण सिद्ध कर रहे हैं, शकाकारने जो जिनेश्वरका उदाहरण दिया था कि जैसे जिनेश्वर इच्छाके बिना ही मोक्षमार्गका उपदेश करते हैं ऐसे ही ईश्वर भी इच्छाके बिना ही जगतकी रचना करता है। तो उनके इस कथनमें अनेक दोषापत्तियाँ बतायी गई हैं। उन दोषोके कारण यह मानना होगा कि ईश्वरके शरीर नहीं है और धर्मविशेष भी उसके नहीं है। जो शरीरी होगा उसके हो धर्म विशेष सम्भव हो सकता है। शरीरके अभावमे धर्मविशेष अर्थात् पुण्य विशेषका विरोध है। धर्म विशेष एक तीर्थंकर नामका पुण्यकर्म है, वह शरीरके आश्रित है। शरीरके सद्भावमें ही तीर्थंकर प्रकृतिका सद्भाव बनता है। शरीरका सद्भाव न हो, उस जीवके तीर्थंकर प्रकृतिका सद्भाव ही नहीं होता। इस तरह ईश्वरके न शरीर सिद्ध है और न धर्मविशेष सिद्ध है। तब ईश्वरको सृष्टिकर्ता सिद्ध करनेमें यह उदाहरण देना कि इच्छाके बिना भी वह जिनेन्द्र देवकी तरह शरीरादिक कार्योंमे प्रवृत्त हो सकता है ऐसा उदाहरण देना अनुचित है, क्योकि जिनेन्द्रसे वैशेषिक के द्वारा माने गए महेश्वरकी स्थिति विपरीत है। जिनेन्द्र देव शरीर सहित हैं, तीर्थंकर प्रकृति नामक धर्म विशेषसे युक्त हैं, वीतराग हैं, जब कि सम्मत महेश्वर अशरीर माना गया है और धर्म विशेष सहित भी सिद्ध नही हो सकता। अत कोई उदाहरण नही है ऐसा कि इच्छाके बिना कोई सृष्टि कर सके।

ज्ञानमीशस्य नित्यं चेदशरीरस्य न क्रमः ।
कार्याणामक्रमाद्धेतोः कार्यक्रमविरोधतः ॥ २७ ॥

अशरीर महेश्वरके नित्यज्ञानसे कार्योत्पाद माननेपर कार्योंके क्रममें विरोधका प्रसङ्ग—उक्त कारिकाओमें ईश्वरके सिसृक्षाके सम्बन्धमें बहुत कुछ वर्णन किया। अब ईश्वरके ज्ञानके सम्बन्धमें आलोचना कर रहे हैं। जिन लोगोंने शरीर रहित सदाशिवका ज्ञान माना है वह यहाँ इस तरह पूछा जा सकता है कि वे यह बतायें कि ईश्वरका ज्ञान नित्य है अथवा अनित्य है, दोनों पक्षोंमें ही दूषण आता है। यदि महेश्वरका ज्ञान नित्य बताया जायगा तो अशरीर महेश्वरके नित्य ज्ञानसे कार्यों मे क्रम नहीं बन सकता है। क्योकि जो कोई अक्रम साधन है उस अक्रम हेतुसे कार्यमे क्रम पडनेका विरोध है। ईश्वरज्ञानको मान लिया नित्य और नित्यज्ञानको मान लिया सृष्टिका कारण। तो जब नित्य ज्ञान सदा ही है तो सारी ही त्रैकालिक सृष्टि एकदम क्यों नहीं होती ? उन कार्योंमे क्रमका क्यो सद्भाव है कि पहिले यह बना, फिर यह बना, फिर अन्य बना, ऐसा कार्योंमें क्रम कैसे बन जायगा ? और, अनित्य मानोगे ईश्वरके ज्ञानको तो वह आपके सिद्धान्तका ही स्वय विरोध है। फिर तो ईश्वर भी

विनाशीक हो गया।

ईश्वरज्ञानको निरन्वय क्षणिकवादियोंकी तरह अनित्य न माननेसे, किन्तु परिणामी नित्य माननेसे कार्यमे क्रमकी संभावनाका शकाकार द्वारा कथन अब यहाँ शकाकार कहता है कि देखिये ! महेश्वरके ज्ञानको नित्य मानने पर भी कार्योंमे अक्रमता नही आती। कार्योंमे अक्रमता तो निरन्वय क्षणिकवादियोंके आ सकेगी या अपरिणामी नित्य पुरुष मानने वाले सांख्योंके यहाँ आयगा। हम तो ईश्वरज्ञानको परिणामी नित्य मानते हैं। उस ज्ञानसे कार्योंका क्रम भङ्ग न हो सकेगा देखिये ! निरन्वय क्षणिकवादमे ऐसा माना है कि प्रति समय समयका ज्ञान उतना ही उतना पूर्ण वस्तु है उसका न पहिले सद्भाव है न आगे सद्भाव है। एक समयको ज्ञान हुआ और वह नष्ट हो जाता है। तो निरन्वय क्षणिक माननेपर अब वह ज्ञान दूसरे कालमें तो जा नहीं सकता, दूसरे देशमे जा न सका। तो क्रम बनता है वह अन्य कालकी अपेक्षा व अन्य देशकी अपेक्षासे बनता है। तो यो निरन्वय क्षणिकमे न कालापेक्ष क्रम बन सकता न देशापेक्ष क्रम बन सकता। क्रम उसीको कहते हैं कि अगले समयमे भी सम्बन्ध रहे उससे समयमे अन्य सम्बन्ध रहे, पर निरन्वय क्षणिक मे कालापेक्षता है ही नहीं। तो इस तरह निरन्वय क्षणिकवादियोंके क्रम होना असम्भव है। यदि निरन्वय क्षणिकवादी यह कहे कि संतानके द्वारा हम क्रम मान लेंगे। यद्यपि एक देशमें भिन्न-भिन्न समयमे भिन्न भिन्न एक-एक ज्ञान होते रहते हैं, परन्तु उन ज्ञानोके होनेका संतान तो बना हुआ है। उस परम्पराके कारण वहाँ क्रमपना बन जायगा तो यह भी कथन उनके सङ्गत नही है। संतान तो अवस्तु माना गया है, वह तो कोई वस्तु ही नही है। इस कारणसे संतानके माध्यमसे भी परमार्थत. कार्यों मे क्रम नही माना जा सकता। तो जैसे निरन्वय क्षणिकवादियोके यहाँ कार्यक्रम नहीं बन सकता, उसी प्रकार कूटस्थ नित्य मानने वाले सांख्य पुरुषोके यहाँ भी कार्योंमे क्रम नही बन सकता।

ईश्वरज्ञानको सांख्यसम्मत पुरुषकी तरह कूटस्थ नित्य न माननेसे किन्तु सातिशय परिणामी नित्य माननेसे कार्यक्रमकी सभावनाका शङ्काकार द्वारा कथन - सांख्य लोग मानते हैं पुरुषको कूटस्थ, उस तरह हम ईश्वरज्ञानको कूटस्थ नहीं मानते, किन्तु सातिशय नित्य मानते हैं। उस ईश्वरज्ञानके साथ सातिशयता भी चलती है। तो सातिशय नित्यपना हानेके कारण ईश्वरज्ञानसे कार्यकी रचना क्रमसे बन जायगी। हाँ पुरुष तत्त्व जो सांख्यो द्वारा सम्मत है वह निरतिशय माना गया है। वह प्रतिसमय स्वरूपसे है ही। इस तरह शब्दानुसारी और ज्ञानानुसारी विकल्पके द्वारा जो कि वास्तविक नही है, उस ही विकल्पसे ऐसा कहा करते हैं कि पुरुष पहिले था, इस समय है, आगे रहेगा। यो क्रमकी तरह वहाँ लौकिक जन

व्यवहार किया करते हैं, पर वास्तवमें सांख्योंने उसको कर्ता नहीं माना, क्योंकि वह अपरिणामी है। वह क्रमसे अनेक कार्य करने वाला भी नहीं बन सकता, क्योंकि वह अकर्ता है और उसको उदासीन रूपसे अवस्थित मानना है। सांख्य कहते कि यहाँ कोई यह शङ्का न करे कि जब पुरुष क्रमसे या अक्रमसे कोई अर्थक्रिया ही नहीं कर सकता तो वह तो अवस्तु बन जायगा। यह दूषण यों नहीं लगता कि वस्तुका लक्षण अर्थक्रियाकारी होता नहीं है, किन्तु सत्ता सम्पन्न होना वस्तुका लक्षण है। यदि अर्थक्रियाकारीपना वस्तुका लक्षण मान लिया जाय तो जो कोई पुरुष उदासीन है, कुछ काम नहीं कर रहा है उसमें वस्तुत्व फिर न रहेगा। इस कारण सत्ता ही वस्तुका सही लक्षण है और इसी कारण वैशेषिकोंके यहाँ अभाव भी वस्तु कहलाता है, अभाव वस्त्वन्तरका स्वभाव है। तो जैसे पुरुष तत्व अपनी सत्ताको नहीं छोड रहा उसी प्रकार अभाव भी अपनी सत्ताको नहीं छोड रहा। यों अभावमें भी वस्तुपना रहता है। इसी तरह सामान्य विशेष आदिक भी वस्तु कहलाते हैं, क्योंकि स्वरूप सत्स्वरूप वस्तुका लक्षण सबमें पाया जाता है। कोई भी वस्तु सत्तासे अलग नहीं है, ऐसा जो सत् है वह वस्तु है, यह बात बिल्कुल ठीक बैठती है। लेकिन उदासीन होकर भी पुरुषको वस्तु सिद्ध करे ऐसा सांख्य लोग मानते किन्तु वैशेषिकोंके यहाँ तो यदि ईश्वर ज्ञानको उदासीन मानकर कुछ आगे बात बनायें तो वह व्यर्थकी बात है। उदासीन ईश्वर ज्ञान हो तब उसकी कल्पना करना ही व्यर्थ है। ईश्वरज्ञान तो कार्यकारी ही होगा सांख्योंके पुरुषकी तरह अकार्यकारी नहीं होता।

ईश्वरज्ञानको सातिशय व कार्यकारी बतानेका शङ्काकारका प्रयास— अब आगे सुनो! जो कार्यकारी होता है वह अतिशयवान ही हो सकता है। लोकमें भी देखा जाता है— कुम्हार, जुलाहा आदिक कार्य करने वाले हैं तो वे अतिशयको लिए हुए हैं। पूर्व समयकी स्थितिसे उत्तर समयकी स्थितिमें कुछ अपूर्वता आये, विलक्षणता आये, इसको अतिशय कहते हैं। तो यों ईश्वरज्ञान सातिशय कार्यकारी है। कोई यहाँ यह दोष न दे सकेगा कि ईश्वरज्ञानको सातिशय और कार्यकारी मान लेनेपर फिर तो सांख्योंमें जैसे प्रधानको माना गया है परिणामी नित्यता इस तरह ज्ञान भी स्वरूपसे परिणामी नित्य बन जायगा। क्यों वह दोष नहीं है कि हम वैशेषिकोंके यहाँ ज्ञानको परिणामी नित्य तो मानते हैं मगर जो परिणामीपना है वह अतिशयोंका है और वह अतिशय क्रमसे होता है और क्रमसे होने वाला यह अतिशय ईश्वरसे भिन्न है क्योंकि वह अतिशय अगर ईश्वरसे अभिन्न हो जाय तो अतिशयोंकी तरह ईश्वरका ज्ञान भी नष्ट हो जायगा और उत्पन्न हो जायगा। तो अतिशयोंसे ईश्वरको अभिन्न माननेपर या तो महेश्वरका ज्ञान नष्ट और उत्पन्न होने लगेगा या ईश्वरज्ञानकी तरह अतिशय भी अविनाशी हो बैठेगा। उनका उत्पाद विनाश न रहेगा इस प्रकार यह ईश्वरज्ञान क्रमसे अनेक अतिशयोंसे युक्त होनेपर यह क्रमसे सृष्टिकी

रचना करता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता। शङ्काकार ही कह रहा है कि स्याद्वादियोने जो यह उलहना दिया था कि ईश्वरज्ञान यदि नित्य है तो उससे क्रमिक कार्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकेगी ? उसका उत्तर शङ्काकार यह दे रहे हैं कि ईश्वरके ज्ञानमें अतिशयोका सम्बन्ध है और वह अतिशय क्रमसे होता है। उन अतिशयोके कारण ईश्वर ज्ञानसे क्रमिक कार्योंकी रचना सिद्ध हो जाती है। जो सर्वथा ही अक्रम हेतु हो उनमे ही कार्योंमें क्रमका विरोध आता है। पर यह ईश्वर ज्ञान तो अक्रम है, नित्य है, पर उसमे हुआ अतिशय सक्रम है, अनित्य है। इस कारणसे ऐसे अतिशयोंसे सहित ईश्वरज्ञानसे क्रमवर्ती कार्योंकी रचना बन जाती है और इस तरह सांख्योके द्वारा माना गया निरतिशय सर्वथा उदासीन पुरुषोकी कल्पना व्यर्थ हो जाती है और वैशेषिकोके यहाँ माना गया आत्मा आदिक वस्तु जो नित्य है, लेकिन भिन्न अतिशयो के कारण वे सातिशय भी है। इस कारण किसी भी पदार्थका सर्वथा उदासीन इन्होंने नहीं माना। यो ईश्वरज्ञानसे क्रमिक कार्योंकी उत्पत्ति बराबर सिद्ध होती चली जाती है।

ईश्वरज्ञानसे भिन्न अतिशयोकी अकिञ्चत्करता बताते हुए शंकाकार की उक्त शंकाओका समाधान—उक्त शङ्काके समाधानमें ये वैशेषिक इस तरह पूछे जाने योग्य हैं कि अतिशय ईश्वरज्ञानसे भिन्न माने गये हैं तो उन अतिशयोके क्रमवानपना माननेपर भी वास्तवमे ईश्वरज्ञानके क्रमवानपना तो सिद्ध नही होता। कैसे सिद्ध होगा सो बताओ। जब भिन्न अतिशय है तो वे ईश्वर ज्ञानके क्यो कहलाये ? उनसे सम्बन्ध कैसे बन गया ? यदि कहो कि उन अतिशयोका ईश्वरज्ञानमे समवाय सम्बन्ध है इस कारणसे सातिशय ईश्वरज्ञानमें क्रमवर्तिता आयगी। तो अब यहाँ यह पूछनेकी बात है कि भिन्न अतिशयोका ईश्वरज्ञानमे ही समवाय क्यो हुआ ? अन्य पदार्थोंमे उन अतिशयोका समवाय क्यों न हो गया ? याने उन अतिशयोका अन्यत्र समवाय क्यो न हो गया ? यदि कहो कि ईश्वरज्ञानमे अतिशय है, इस प्रकारका ज्ञान विशेष बनता है। "इह इद" ऐसे ज्ञान विशेषके कारण उन अतिशयोमेंका ईश्वरज्ञानमें समवाय सिद्ध होता है। तब तो यह बात भी पूछने योग्य है कि 'इह इद" ऐसा ज्ञान विशेष भी उस ईश्वर व अतिशयोके बारेमे क्यो हुआ, अन्य जगह क्यो नही हो जाता, क्योकि भिन्नताकी तो सबसे समानता है। यदि वह अतिशय भिन्न है ईश्वरज्ञानसे तो उन अतिशयोका 'ईश्वरमे है" ऐसा ज्ञान होना और 'घट पट आदिकमें है" ऐसा ज्ञान क्यो नही होता ? जैसे कि महेश्वर ज्ञानमे भिन्न भी अतिशय प्रतीत होता है उसी प्रकार घट पट आदिकमें भी यह भिन्न अतिशय प्रतीत होने लगे। यदि कहें शङ्काकार कि महेश्वरमे ही अतिशयोका समवाय होनेसे "इह इद" ऐसा ज्ञान विशेष बनता है, अन्य जगह नही बनता तो इसमे तो इतरेतराश्रय दोष आयगा कि जब "इह-इद" ऐसा ज्ञान विशेष बने तो अतिशयोका ईश्वरज्ञानमे ही समवाय सिद्ध हो, और

जब ईश्वरज्ञानमें ही समवाय सिद्ध हो ले तो महेश्वरमें यह अतिशय है, ऐसा ज्ञान विशेष बन सके तो यो तो किसी भी एक की प्रसिद्धि नही बनती। न "इह इद" ऐसे ज्ञानकी सिद्धि हो सकी और न महेश्वरमें अतिशयोका सामर्थ्य है, यह सिद्ध हो सका। अथवा मान भी लिया जाय कि उन भिन्न अतिशयोका महेश्वरमें समवाय है तो वह समवाय क्रमसे होता है या एक साथ, यह बतलायें। यदि कहो कि क्रमसे समवाय होता है तो भला यह बतलावो कि अक्रम ईश्वरज्ञान कमे क्रमभावी अनेक अतिशयोंके साथ समवायको कर लेगा ? यह बात तो अत्यन्त कठिन है। यदि कहो कि क्रमवर्ती अन्य अतिशयोके द्वारा ईश्वरज्ञानमे क्रमवत्ता सिद्ध हो जायगी अत दोष न आयगा। याने ईश्वरज्ञानमे अतिशयोंका क्रमसे समवाय बनानेके लिए अन्य अतिशय पडे हुए हैं। यदि ऐसा कहो तब फिर वह अन्य अतिशय भी ईश्वरज्ञानसे भिन्न ही तो है। वह अतिशयोका क्रमसे समवाय कैसे सिद्ध कर देगा ? यदि और अन्य अतिशय मानें तो इसमे अतिप्रसङ्ग आयगा। यदि कहो कि उन अन्य अतिशयोका ईश्वरज्ञानमें समवाय है तो यह स्पष्ट करो कि वह क्रमसे होगा या एक साथ ? क्रमसे मानोगे तो वे ही सब प्रश्न यहाँ उपस्थित होते हैं, या एक साथ मानोगे तब भी वे ही प्रश्न हैं और पहिले की तरह अनवस्था दोष आता है।

ईश्वरज्ञानमे अतिशयोके समवायकी भी स्वग्रहग्रान्यता शङ्काकारका जब यह प्रस्ताव आया कि इच्छा और प्रयत्नके बिना केवल ईश्वरज्ञानसे ही सृष्टि बन जाती है तो वहाँ यह पृष्टव्य हुआ कि ईश्वरज्ञान तो एक स्वभाव है। उससे नाना कार्योंकी उत्पत्ति कैसे हो जायगी ? तब इस बातको सम्हालनेके लिए शङ्काकारने यह कहा कि नाना अतिशयोका ईश्वरज्ञानके साथ सम्बन्ध हो जाता है। इस कारण वे परिणामी नित्य कहलाते हैं, और उससे फिर नाना कार्योंकी उत्पत्ति हो जाती है। तब इस सम्बन्धमे यह पूछा गया था कि उन अतिशयोका ईश्वरज्ञानमें क्रमश समवाय होता है, तो उसका खण्डन तो अभी कर ही चुके हैं। अब दूसरे विकल्पकी बात समझाते हैं। यदि ईश्वरज्ञानमें अतिशयोका एक साथ समवाय होना मानते हो तो अतिशयोका सम्बन्ध भी बना दो ईश्वरज्ञानमे किन्तु एक साथ बनाया गया ना सम्बन्ध, तब पदार्थोके क्रमसे उत्पन्न न हो सकनेकी बात ज्योंकी त्यो खडी रही, क्योंकि अतिशयोका ईश्वरज्ञानमे अक्रमसे समवाय है एक साथ समवाय है सो सातिशय होनेपर भी ईश्वरज्ञानमे अक्रमता ही आई, और यो अक्रम ईश्वरज्ञान भी कार्यका क्रम नहीं हो सकता है, यह भली प्रकार बताया गया है। अब और भी बात देखिये ! कि वह नित्य ईश्वरज्ञान प्रमाणरूप है या फलरूप है ? दोनो पक्षोंको लेकर यहाँ दूषण दिए जा रहे हैं।

तद्बोधस्य प्रमाणत्वे फलाभावः प्रसज्यते।
ततः फलावबोधस्यानित्यस्येष्टौ मतक्षतिः ॥ २८ ॥

फलत्वे तस्य नित्यत्वं न स्यान्मानात्समुद्भवात् ।
ततोऽनुद्भवने तस्य फलत्वं प्रतिहन्यते ॥ २९ ॥

नित्य ईश्वरज्ञानको प्रमाणरूप या फलरूपमाननेके दोनों विकल्पोमे दोषापत्ति—ईश्वरका ज्ञान यदि प्रमाणरूप माना जाता है तब तो फलका अभाव हो जायगा और अगर उस ईश्वर ज्ञानसे अनित्य फलका ज्ञान माना जाता है तो सिद्धान्त की हानि होती है। शङ्काकार वैशेषिक ईश्वरज्ञानसे अनित्य फल ज्ञानकी उत्पत्ति नही मानता है, और यदि ईश्वरज्ञानको फलरूप मान लेता है तो ईश्वरज्ञान नित्य नहीं बन सकता। क्योकि वह प्रमाणमे उत्पन्न हुआ है अगर उसे उस ईश्वरज्ञानसे उत्पन्न न मानें, प्रमाणसे उत्पन्न न माने तो फल नही बन सकता। तो भाव यह है कि ईश्वर-ज्ञानको प्रमाणरूप मानें तो फलाभाव होनेसे कार्य न बनेगा। और, ईश्वरज्ञानको फल रूप मानेंगे तो नित्य न रहेगा। यो प्रमाण मानें, चाहे फलरूप मानें, दोनो ही पक्षोमे दोष उपस्थित होता है। ईश्वरज्ञान नित्य प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता, क्योकि उसका फल ही नही। जिसका फल नहीं वह प्रमाण भी नहीं बनता। फलज्ञान तो अनित्य है, उसकी यदि कल्पना करते हो तो महेश्वरके ज्ञानमे अब दो विकल्प करें कि वह नित्य ज्ञान है या अनित्य ज्ञान है। इस तरह दोनो ही कल्पनाओमे सिद्धान्तका विरोध आता है। यदि ईश्वर ज्ञानको फलरूप मानते हो तो ईश्वर ज्ञानकी अनित्यता न रही क्योंकि उसकी उत्पत्ति प्रमाणसे मान ली अब। और, उस प्रमाणसे उत्पत्ति न मानी जाय तो वह ईश्वरज्ञान फलरूप नही रह सकता इस कारणसे नित्य ईश्वरज्ञान न माना जा सकेगा। यो ईश्वरज्ञान नित्य तो कहा नही जा सकता। अब ईश्वरज्ञान अनित्य मान लें तो उसमे क्या दूषण आता है? सो कहते हैं—

अनित्यत्वे तु तज्ज्ञानस्यानेन व्यभिचारिता ।
कार्यत्वादेर्महेशेनाकरणेऽस्य स्वबुद्धितः ॥ ३० ॥

बुद्ध्यन्तरेण तद्बुद्धेः करणे चानवस्थितिः ।
नानादिसन्ततिर्युक्ता कर्मसन्तान तो विना ॥ ३१ ॥

ईश्वरज्ञानको अनित्य माननेपर ईश्वरज्ञानके साथ ही कार्यत्व हेतुकी व्यभिचारिता—यदि ईश्वरके ज्ञानको अनित्य मान लिया जाता तो लो इस ईश्वर ज्ञानसे ही कार्यत्व हेतुमे दोष आता है। यह कार्यत्व हेतु व्यभिचारी बन गया कि देखो! व्याप्ति तो यह बना रहे थे कि जो जो कार्य होते हैं वे वे सब बुद्धिमान ईश्वर के द्वारा किए गए होते हैं। लेकिन वहाँ ईश्वरका ज्ञान तो कार्य बन गया, क्योकि वह

अनित्य है, लेकिन महेश्वरके द्वारा वह किया गया नहीं है, इसलिए नहीं है वह तो महेश्वर स्वरूप है। तो कार्यत्वहेतु भी पाया जाय, वहाँ यह नियम नहीं बना कि वह महेश्वरके द्वारा किया गया है। ईश्वरज्ञान अनित्य है और वह ईश्वर बुद्धिका कार्य नहीं है। तो जो पहिले शङ्काकारने अनुमान प्रयोग किया था कि शरीर इन्द्रिय आदिक बुद्धिमान कारण जन्य हैं कार्य होनेसे। तो इस हेतुका इस ईश्वरके अनित्य ज्ञानके साथ अनेकान्तिक हेत्वाभासका दूषण लगता है क्योंकि अब यहाँ यह स्पष्ट हुआ कि ईश्वरका नित्य ज्ञान कार्य तो है किन्तु ईश्वरज्ञानके द्वारा वह उत्पन्न नहीं किया जा सकता। यदि शङ्काकार यह कहे कि ईश्वरका अनित्य ज्ञान कार्य है वह ईश्वर अपनी उस अनित्य बुद्धिको अन्य बुद्धिके द्वारा उत्पन्न कर लेता है। याने ईश्वरका जो अनित्य ज्ञान है वह पहिलेके अनित्य ज्ञानसे उत्पन्न किया है ईश्वरने, तब कार्य बन गया, और बुद्धिमानके द्वारा किया गया। तो मूल जो अनुमान किया गया था कि शरीर इन्द्रिय जगत ये सब बुद्धिमान महेश्वरके द्वारा बनाये गए हैं उसमे दोष नहीं आया। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि ईश्वर अपनी बुद्धिको अन्य बुद्धिके द्वारा करता है तो परापर उपदेयकी परीक्षामें ही इसके निर्माणमे ही ईश्वरकी शक्ति क्षीण हो जायगी, क्योंकि कहाँ तक निर्माण करेगा? जो भी बुद्धि बनेगी उसके लिए नई बुद्धि चाहिए। तो इस तरह पर अपर बुद्धि प्रतीक्षामे ही क्षीण हो गई तो प्रकृत बुद्धिका कारण कैसे हो सकेगा? शङ्काकार कहता है कि महेश्वर अपनी वर्तमान बुद्धिको उत्पन्न करनेके लिए किसी नई बुद्धिमें अपेक्षा नहीं रखता। किन्तु पहिली उत्पन्न हुई बुद्धिकी सहायतासे वर्तमान बुद्धिको उत्पन्न कर लेता है। याने महेश्वरको प्रकृत बुद्धिके करनेके लिए अन्य अपूर्व बुद्धियोंकी प्रतीक्षा न करनी होगी। किन्तु ऐसा नियोग है कि पूर्व उत्पन्न हुई बुद्धिका आश्रय करके वे प्रकृत बुद्धिको पहिली बुद्धिके आश्रयमें कर लेते हैं। इस तरह अनादि बुद्धि सतान है ईश्वरके, तब अनवस्था दोष नहीं दिया जा सकता। इसके उत्तरमें कहते हैं कि उस प्रकार बुद्धिका जो सतान बनता है, यह बुद्धि पूर्व बुद्धि से उत्पन्न हुई और वह अपनी बुद्धिसे उत्पन्न हुई ऐसा बुद्धिका सतान कर्मसतानका अपाय होनेपर सम्भव नहीं हो सकता। हमारी बुद्धिका सतान उन्हीं जीवोंके देखा गया है जिन जीवोंके कर्म लगे हुए हैं और उस अदृष्टके निमित्तसे इस प्रकारकी बुद्धि से बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। बुद्धि क्रमसे उत्पन्न होती है। और परापर जो बुद्धिके कारणभूत अदृष्ट विशेष है उसकी क्रमसे उत्पत्ति होती है अन्य प्रकारसे नहीं, इस अदृष्ट विशेषको धर्म कहो, पुन्य कहो, ज्ञानावरणका क्षयोपशम कहो जैसे वह होता है उस प्रकारसे यह बुद्धि उत्पन्न होती है। तो कर्म सहित जीवके ही तो बुद्धिकी सतान बन सकती। कर्मरहित अनादि मुक्त सदा शिव महेश्वरमें यह बुद्धि उत्पन्न हो ही नहीं सकती।

योगजधर्मसततिसे ईश्वरके बुद्धिसतान माननेहर दोषापत्तिका विवरण

शङ्काकार कहता है कि अनादि ईश्वरमें भी योगजधर्मकी संतति तो लगी हुई है इस कारण बुद्धि भी सतान उनकी बन जायगी । तब उपालम्भ नही दिया जायगा क्योकि पूर्व समाधि विशेपसे धर्मकी उत्पत्ति हुई है, जिसको अदृष्ट विशेष कहते हैं और इस दृष्टि विशेषसे बुद्धिविशेषकी उत्पत्ति हुई । यो अदृष्ट सतानके कारणसे बुद्धिकी सतति बनती चली जायगी । इस कारणसे वह उक्त उलाहना नहीं दिया जा सकता । इसके उत्तरमे भी कहते हैं कि मान लो ऐसा कि पूर्व धर्मविशेषसे उत्तर बुद्धि उत्पन्न हुई और उत्तर बुद्धिसे अन्य धर्म विशेष हुआ यो हो जायगी धर्मकी संतति मानलो लेकिन ऐसा माननेपर ईश्वरकी सकर्मता कैसे सिद्ध न होगी ? वह धर्मविशेष अदृष्ट विशेष कर्मके निमित्तसे ही तो हुआ करता है । और तब ईश्वर कर्मसहित सिद्ध हो गया तो सकर्म भी कैसे सिद्ध न होगा । तो ईश्वर कर्मसहित और ईश्वर सहित सिद्ध बन गया तो कर्मसहित और शरीर सहित होनेपर अब उस ईश्वरमे सदामुक्त सिद्ध नही हो सकता । अब अनुपम सिद्ध नहीं हो सकता । वह तपश्चरण करे, कर्मोका अभाव करे, तब वह सिद्ध बन सके । तो कर्म पहाडका भेदने वाला सिद्ध हो गया ना ! तो अब यह भी सिद्ध हो गया कि उसकी सदेह मुक्ति है याने वह देह सहित परमात्मा हुये, उसे मुक्ति प्राप्त हुई । अब ऐसा वह जीवन मुक्त उसको यदि सदाशिव मानते हो तो उस जीवनमुक्त देहके साथ कार्यत्व आदिक साधनका शरीरादिक बुद्धिगत कारणपना सिद्ध करनेमे अनेकान्तिक दोष कैसे दूर किया जा सकता है ? क्योकि अब देख लीजिए ! कि ये शरीरादिक कार्य अब बुद्धिमान कारण जन्य नही हुए । और यदि बुद्धिमान कारण जन्य मान लेते हो उस शरीरको तो अनवस्था दोष ज्योका त्यो रहता है । ईश्वरके शरीर मानना ही पडेगा । और उस शरीरको यदि ईश्वरकृत नहीं मानते तो उसमे कार्यत्व हेतुका व्यभिचार दोष है और ईश्वर शरीरको यदि बुद्धिमन् निमित्तक मानते हो तो इसमे अनवस्था दोष आता है ।

अन्यापि च यदि ज्ञानमीश्वरस्य तदा कथम् ।
सत्कृत्सर्वत्र कार्याणामुत्पत्तिर्घटते ततः ॥ ३२ ॥

यद्येकत्र स्थितं देशे ज्ञानं सर्वत्र कार्यकृत् ।
तदा सर्वत्र कार्याणां सकृत् किं न समुद्भवः ॥ ३३ ॥

कारणान्तरवैकल्यात्तथाऽनुत्पत्तिरित्यपि ।
कार्याणामीश्वरज्ञानाहेतुकत्वं प्रसाधयेत् ॥ ३४ ॥

सर्वत्र सर्वदा तस्य व्यतिरेका प्रसिद्धितः ।
अन्वयस्यापि सन्देहात्कार्यं तद्धेतुकं कथम् ॥ ५३ ॥

ईश्वरज्ञानको अव्यापी माननेपर सर्वत्र एकदा कार्यानुत्पत्तिका प्रसंग–यह बतायें ये सृष्टिकर्ता मानने वाले लोग कि ईश्वरका ज्ञान अव्यापी है व्यापी अर्थात् सारे लोकमे फैला हुआ है या नहीं फैला हुआ है ? यदि कहो कि ईश्वरका ज्ञान अव्यापक है तो सब जगह एक साथ कार्योंकी उत्पत्ति नही बन सकती। अगर कहो कि एक जगह रहकर वह सब जगहके कार्योंको करता है तो सब जगहके कार्य एक साथ क्यो नही उत्पन्न हो जाते ? किन्तु एक जगह रह रहा है, सब जगहके कार्य होते तो कारण तो जो ईश्वरज्ञान है वह तो सदा है किसी जगह सही सारे कारण एक जगह क्यो न उत्पन्न हो जायेंगे ? तथा इस तरह सब कार्य ईश्वर ज्ञान हेतुक सिद्ध नहीं हो सकते क्योकि सब जगह सब कालमे ईश्वर ज्ञान भी व्यतिरेक न बन सकेगा। जब ऐसी बात बन सकती होती कि जहाँ ईश्वर ज्ञान नही है वहाँ कार्य नहीं होता, तब तो कुछ बात चलाई जाती, लेकिन ईश्वर ज्ञान तो सब जगह है, सब कालमें है। तो जब व्यतिरेक न बन सका तो उसके अन्वयमें भी सन्देह है। तब शरीरादिक कार्य ईश्वर ज्ञानके द्वारा किया गया है, यह कैसे सिद्ध हो सकेगा।

शङ्काकार द्वारा ईश्वरज्ञानकी अव्यापिताका समर्थन—यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि ईश्वरके ज्ञानको हमने अव्यापक स्वीकार किया है क्योंकि वह प्रादेशिक है याने ईश्वर जितनेमे है उतनेमे ही वह ज्ञान है, बाहर नहीं है। कहीं है, कहीं नहीं है। जैसे सुख आदिक। तो जहाँ है वहीं तो अनुभव होता है, ऐसा हम आप जीवोका सुख अपने ही प्रदेशोमें अनुभव होता है। तो यह कहा जायगा कि हमारा सुख प्रादेशिक है। इसी तरह ज्ञान अपने आपमें ही अनुभव किया जाता है। यो ईश्वरका ज्ञान भी सुखकी तरह प्रादेशिक ही बना और जो प्रादेशिक है वह अव्यापी कहलाता है। तो ईश्वरज्ञान प्रादेशिक है इसकी भी सिद्धि करलो। अनुमान प्रयोग है कि ईश्वरज्ञान प्रादेशिक है, क्योकि व्यापक द्रव्यका विशेष गुण होनेसे। जो विभु द्रव्यका विशेष गुण होता है वह प्रादेशिक हुआ करता है। जैसे सुख आदिक। उसी प्रकार ईश्वर ज्ञान भी विभु द्रव्यका विशेष गुण है। इस कारण वह प्रादेशिक ही सिद्ध होता है। जब ईश्वर ज्ञान प्रादेशिक है तो वह अव्यापी सिद्ध हो गया। यहाँ कोई यह आशङ्का न करे कि संयोग आदिक सामान्य गुणके साथ वे व्यभिचारी बन जायेंगे जैसे संयोग आदिक गुण विभु द्रव्यके विशेष गुण हैं लेकिन प्रादेशिक नहीं हैं। यह आशङ्का यो नही की जा सकती कि वह विभु द्रव्यका गुण है, पर विशेष गुण नहीं है। जो विभु द्रव्यका गुण होता है वह प्रादेशिक होता है। तब कोई यह आशङ्का न कर बैठे कि तब तो रूपादिक विशेष गुणके साथ व्यभिचारी हो जायेंगे यह हेतु। तो इसे व्यभिचारी यो नहीं बता सकते कि हेतुमे विभु द्रव्यादिक दिया है। रूपादिक विशेष गुण हैं तो विशेष गुण मगर विभु द्रव्यके विशेष गुण नहीं हैं। वह तो जो अणु है, जो पृथ्वी है, जो भी अग्नि आदिक है उसका वह गुण है, पर वह विभु द्रव्य

का विशेष गुण नहीं है रूपादिक। तो जो विभु द्रव्यका विशेष गुण होता है वह प्रादेशिक होता है। शङ्काकार ही कहे जा रहा है कि कोई अन्य लोग यहाँ ऐसा दोष न दे कि विभु द्रव्यका विशेष गुण हो तो वह अनित्यको सिद्ध कर देगा इसलिए विरुद्ध हेत्वाभास है। और, वहाँ ऐसी व्याप्ति न बनायें कि जो विभु द्रव्यका विशेष गुण होता है वह अनित्य होता है, ऐसा विभु द्रव्यका विशेषगुणपना हेतु देकर जैसे ईश्वरज्ञानको प्रादेशिक सिद्ध कर रहे हैं ऐसे ही अनित्य भी सिद्ध हो जायगा, क्योंकि विभु द्रव्यका विशेष गुण ऐसा कोई देखनेमे नही आता जो कि नित्य हो। शङ्काकार समाधानमे कहता है कि कोई ऐसी आशङ्का न करे, क्योंकि महेश्वर हम लोगोकी अपेक्षा बहुत बडा महान विशिष्ट है और विशिष्ट है। यह नियम न लगाना चाहिए कि जो धर्म जो योग्यता इसमे देखी जाय वह धर्म ईश्वर ज्ञान, ईश्वरज्ञानमें भी जबरदस्ती लगा दिया जायगा। अगर ऐसा बर्ताव करने लगोगे कि जो बात इसमे पाई जाती है वह बात ईश्वरज्ञानमे भी लगा बैठें तो इसमे बडी विडम्बना बन जायगी। वह ऐसी विडम्बना बनेगी कि जिस प्रकार हम लोगोका ज्ञान साधारण तुच्छ है, समस्त पदार्थोंका जानने वाला नही है, उसी प्रकार ईश्वरका ज्ञान भी सकल पदार्थों को जानने वाला सिद्ध नहीं हो सकता। अत. सब जगह हम लोगोकी बुद्धि आदिक गुणोंकी अनित्यताके साथ व्याप्ति प्रसिद्ध है और उसके ही साथ अर्थात् अनित्यपनेके साथ साथ ही विभु द्रव्यके विशेष गुणपनेकी प्रसिद्धि है। अथवा इस प्रसङ्गमे विभु द्रव्य कहनेसे इसका महेश्वर ही इष्ट है। इससे यह अर्थ हुआ कि विभु द्रव्यका विशेष गुण है। दोनो ही इस अर्थको बताने वाले हैं। इस कारण, यह जो अनुमान प्रयोग किया गया है कि ईश्वरका ज्ञान अव्यापी है, प्रादेशिक होनेसे और ईश्वरका ज्ञान प्रादेशिक है विभु द्रव्यका विशेषगुण होनेसे। तो यहाँ इतना ही अर्थ लगाना चाहिए कि महेश्वरका विशेष गुण होनेसे। तब तो रूपादिक गुणोके साथ या अनित्य पनेके साथ किसीके साथ दोष नही दिया जा सकता है। इस तरह जो हम वैशेषिको का कथन है उसमें उदाहरणका अभाव भी नही बताया जा सकता। ईश्वरका सुख आदिक ही तो उसका उदाहरण है। जैसे ईश्वरके सुख आदिक महेश्वरके विशेषगुण हैं और प्रादेशिक हैं इसी प्रकार ईश्वरका ज्ञान भी ईश्वरका है और वह प्रादेशिक है, तो यह अनुमान प्रयोग यथार्थ है। इसमे न साध्य विकलता है और न साधनविकलता है। तब यह अनुमान प्रयोग निर्बाध सिद्ध हुआ कि ईश्वरका ज्ञान प्रादेशिक है ईश्वर का विशेषगुण होनेसे और ईश्वरका ज्ञान अव्यापक है, क्योंकि ईश्वरका ज्ञान प्रादेशिक है। अब इसके उत्तरमे स्याद्वादी कहते हैं।

शङ्काकार द्वारा कल्पित सृष्टिकर्ता ईश्वरज्ञानको अव्यापि माननेपर होने वाली अव्यवस्थाओका विवरण—उक्त शङ्काका समाधान करते हैं कि वैशेषिक जिस ईश्वरज्ञानके द्वारा विश्वकी सृष्टि मान रहे हैं उस ज्ञानको अव्यापी कह

रहे हैं तो यदि ईश्वरज्ञान अव्यापी है तो सभी जगह एक साथ शरीरादिक कार्य कैसे हो ही सकते हैं ? जो ज्ञान अव्यापी है, एक देशमे स्थित है, उस ईश्वरज्ञानके द्वारा सारे विश्वमे एक साथ कार्य होना कैसे सम्भव है ? दूसरी बात यह है कि वह ईश्वर ज्ञान समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमे सब जगह ता मौजूद नहीं है तो वह निमित्त कारण भी कैसे बन सकेगा ? देखो ! काल आदिक पदार्थ जब सब जगह व्यापक हैं, सर्वत्र मिलते हैं तो सब जगहके कार्योंकी उत्पत्तिमें वे पदार्थ निमित्त कारण हो जाते हैं। अब ईश्वरज्ञान तो सब जगह व्यापक है नहीं, फिर वह कार्योंकी उत्पत्तिका निमित्त-कारण कैसे बन सकेगा ? यदि शङ्काकार यह कहे कि हम ईश्वरज्ञानको निमित्त कारण नही कह रहे किन्तु व्यापक महेश्वरको निमित्त कारण कह रहे हैं। शङ्काकार का यह भाव है कि ईश्वर तो विभु है, सर्वत्र व्यापक है और उसका ज्ञान एकदेशमें रहता है, अव्यापी है। तो ईश्वरज्ञान एक देशमे रहे, पर हम तो ईश्वरको निमित्त कारण कहते हैं, क्योंकि सब जगह रह रहा है तब तो यह दोष न आयगा। इसके समाधानमे कहते हैं कि ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब शरीरादिक कार्योंका कारण बुद्धिमान माना है सब जगत बुद्धिमन्निमित्तक बताया गया है तो जिस जिस जगहमें बुद्धि होगी उस उस जगहमें ही वह निमित्त कारण बनेगा। जहाँ महेश्वरकी बुद्धि नही है वहाँके कार्योंका कैसे निमित्त कारण महेश्वरको बता दिया जायगा ? यदि बुद्धिके अभावमे भी महेश्वरको निमित्त कारण बता दिया जायगा, शरीरादिक सब कार्योंके लिए तब वस्तुत. वे सब कार्य बुद्धिमन्निमित्तकारण जन्य नहीं कहलाये। क्योंकि बुद्धि तो वहाँ है नहीं, तो बुद्धिमानके निमित्तसे वह कार्य नहीं हुआ। भले ही कुछ देरको अपनी अन्धाधुन्धीमे महेश्वरको निमित्तकारण न बना क्योंकि उन जगहों में बुद्धि ही नही है जहाँ वे कार्य हो रहे हैं। बुद्धि तो कहीं एक देशमें पडी हुई है। तब शरीरादिक कार्योंको बुद्धिमन्निमित्तक कारण मानना व्यर्थ है, क्योंकि अब देखो ! बुद्धिके अभावमे अतएव बुद्धिमान्‌के अभावमे वहाँके ये सब कार्य बन रहे हैं। इस प्रकार जो मूल अनुमान दिया था कि शरीर इन्द्रिय आदिक बुद्धिमन्निमित्तकारणक हैं कार्य होनेसे, तो यह कार्यत्व हेतुसाध्यका साधक नहीं है क्योंकि कार्यत्वहेतु व्यभिचारी है। जिन जगहोंमें बुद्धिसे रहित केवल ईश्वर है वहाँ बुद्धिके अभावमें भी कार्य उत्पन्न देखे जा रहे हैं। जो हेतु साध्यके विपक्षमें रहे वह व्यभिचारी कहलाता है। साध्य है बुद्धिमन्निमित्तक और साधन है कार्य। तो देखो ! कार्यत्व हेतु वहाँ भी है जहाँ बुद्धि मन्निमित्तकता नही है। यो कार्योंको बुद्धिमन्निमित्तकारणसे माना युक्त नहीं है।

प्रादेशिक ईश्वरज्ञानसे समस्त कारकोंका ज्ञाता हो जानेसे सिद्ध की जाने वाली बुद्धिमन्निमित्तिकताकी आशंका व उसका समाधान—अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि यद्यपि ईश्वरका ज्ञान एकप्रदेशी है तो भी महेश्वरमें एकप्रदेशी ईश्वरज्ञानके द्वारा एक साथ समस्त कारकोका ज्ञान कर लेते हैं। यही कारण है कि

वह समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमें एक साथ सब कारकोंका प्रयोगता बन जाता है। तब तो समग्र शरीर इन्द्रिय आदिक कार्य बुद्धिमन्निमित्तक कारकहैं, यह सिद्ध हो ही जायगा। इसमे उपर्युक्त कुछ भी दोष नहीं आते। इस शङ्काके समाधानमे स्याद्वादी कहते हैं कि वैशेषिकोंका यह कथन ठीक नही है कि महेश्वर सब जगह है, बुद्धि कहीं एक जगह है और एक जगहकी बुद्धिके द्वारा वह महेश्वर सब कारकोंका ज्ञान कर लेता है और तब समस्त कार्योंका, कारकोंका प्रयोक्ता बन जाता है। यह कथन यो ठीक नही कि क्रममे शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमे वह महेश्वर निमित्तकारण नहीं बन सकता। इसका कारण यह है कि अब बात मान ली गई है यह कि ईश्वरका ज्ञान एक देशमे रहता है और ईश्वर समस्त कारकोंकी शक्तिका परिज्ञान कर लेता है और इस कारण वह समस्त कारकोंका प्रयोक्ता है। तो ऐसी स्थितिमे एक ही साथ सारे कार्योंकी उत्पत्ति जितने भविष्यकालमे होनी है, सभी कार्योंकी उत्पत्ति सभी जगह क्यो नही हो जाती ? जब समर्थ निमित्तकारण मौजूद है अर्थात् महेश्वर सर्वग है और ईश्वर ज्ञानके द्वारा उसने समस्त कारकोंका साक्षात्कार कर लिया है तब और कमी क्या रह गई ? फिर क्या वजह है कि समर्थ निमित्तकारणके रहनेपर भी सब कार्योंका उत्पाद नहीं होता। साराश यह है कि महेश्वर ज्ञान शरीर इन्द्रिय आदिक कार्यका निमित्तकारण माना जाता है तो एक ही समयमे समस्त काल और समस्त देशमे होने वाले कार्य एक साथ उत्पन्न हो जाने चाहियें क्योकि वह समस्त कारकोंका ज्ञाता है, प्रयोक्ता है, सब जगह है। तो वह जब योग्य पूर्णतया समर्थ है तो त्रैकालिक सब कार्य एक साथ उत्पन्न क्यो नही हो जाते ? ऐसा होता तो नही है। इससे सिद्ध है कि महेश्वर विश्वके समस्त कार्योंका कारण नही है।

अन्य कारणान्तरोंसे युक्त होनेपर महेश्वरको जगत्कर्ता माननेपर अन्वयव्यतिरेक सिद्ध न होनेसे अकर्तृत्वका ही पोषण-- अब यहाँ शङ्काकार कह रहे हैं कि हमारा कहना तो यह है कि केवल निमित्त कारणसे शरीर इन्द्रिय आदिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु समवायी कारण हो, असमवायी कारण हो और निमित्त कारण हो, तीन कारणोंके मिलनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति हुआ करती है। तो ३ कारण एक साथ बन जायें, यह बात सम्भव नही है। कभी बनते हैं, तो यो क्रम सिद्ध हो जाता है। समस्त कार्य एक साथ उत्पन्न क्यो नहीं हो जाते, उसका कारण यह है कि यद्यपि महेश्वर निमित्त कारण सदाकाल है, किन्तु समवायी कारण और असमवायी कारण सदा नहीं हुआ करता है। इस कारण समवाय असमवाय कारणोंका अभाव होनेसे एक साथ सभी जगह कार्योंकी उत्पत्ति नही होती। इस शङ्काके समाधानमे स्याद्वादी कहते हैं कि समवायी कारण असमवायी कारणके न होने पर निमित्त कारण कार्यको नहीं करता, इस कथनसे तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि कार्य ईश्वरज्ञानका अन्वय और व्यतिरेक दोनो असिद्ध हैं। देखिये ! ईश्वरज्ञानके

होनेपर भी कितने ही कार्य समवायी कारण असमवायी कारणोंके अभावमें उत्पन्न नहीं हो रहे। और, जब समवायी कारण असमवायी कारण मिल जाते हैं तो कार्य उत्पन्न होते हैं। तब कार्योंका अन्वय व्यतिरेक अन्य कारणोंके साथ तो मिल गया पर ईश्वर ज्ञानके साथ अन्वय व्यतिरेक न बन सका। इस कारण शरीर इन्द्रिय आदिक कार्योंको अन्य कारणोंके द्वारा उत्पन्न हुए मानना तो ठीक है, पर एक महेश्वरके कारण से उत्पन्न हुआ मानना ठीक नहीं है।

अवस्था विशेषकी अपेक्षामें महेश्वरका कार्यके प्रति अन्वयव्यतिरेक बतानेका शंकाकारका प्रयास-अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि देखो ज्ञानवान महेश्वर के होनेपर ही शरीर आदिक कार्य उत्पन्न होते हैं इस कारण तो महेश्वरका कार्योंके साथ अन्वय सिद्ध है। और विशिष्ट अवस्थाओंकी अपेक्षासे महेश्वरके व्यतिरेक भी सिद्ध है याने अन्य कारणोंसे युक्त महेश्वर जब नहीं होते तब कार्य नहीं होते, इस तरह विशिष्ट कार्योंकी अपेक्षासे यहाँ व्यतिरेक भी सिद्ध है। इस तरह व्यतिरेक भी सिद्ध है। इस तरह व्यतिरेक सिद्ध है कि कार्योंकी उत्पत्ति करनेमें समर्थ जो अन्य कारण है जैसे कि समवायी कारण और असमवायी कारण बताया गया है, उनका सन्निधान हुआ तो ऐसे सन्निधानसे युक्त महेश्वर जब न हुआ याने महेश्वर तो सदा है, पर कारण संयुक्त महेश्वर जब न हुआ तब उन कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती। इस तरह विशिष्ट अवस्थाकी अपेक्षासे महेश्वरका सर्व विश्व कार्यके साथ व्यतिरेक भी सिद्ध होता है। यों अन्वय व्यतिरेक सिद्ध हो गया। कोई यहाँ यह आशङ्का न रखे कि अवस्थावानके होनेपर कार्योत्पत्ति नहीं होती। समस्त अवस्थाओंमें महेश्वरके होनेपर कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है अवस्थावानके न होनेपर कार्यका न होना भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अवस्थावान वह ईश्वर सदाकाल है, उसका कभी अभाव नहीं है। द्रव्यकी अवस्था विशेष न होनेपर उसके द्वारा साध्य कार्य विशेषकी उत्पत्ति नहीं होती है। इस तरह व्यतिरेक सिद्ध है, लो यों महेश्वरका शरीरादिक समस्त कार्योंके साथ अन्वय भी सिद्ध हो गया और व्यतिरेक भी सिद्ध हो गया। वस्तुत अनादि अनन्त अवस्थावान द्रव्यका उत्पाद विनाशसे जो शून्य है ऐसा उस द्रव्यका अप-लाप करना युक्त नहीं है, क्योंकि वह अवस्थित अन्वय ज्ञानसे सिद्ध है। कोई यह सोचे कि ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो अनादि अनन्त उत्पत्ति विनाशसे रहित हो ऐसा कोई अवस्थानवान पदार्थ नहीं है तो यह न कहा जा सकेगा क्योंकि हम सब जीवोंके अबा-धित अन्वय ज्ञान बन रहा है, यह वही है जो पहिले था। बहुत कालमें रहने वाला अनेक अवस्थाओंमें रहने वाला कोई एक द्रव्य पदार्थ है, यह भली भाँति अन्वय ज्ञानसे सिद्ध हो रहा है। यदि उस अवस्थावान अनादि अनन्त द्रव्यका अपलाप कर दिया जाय तो क्षणिकवादका प्रवेश हो जायगा फिर स्याद्वादियोंकी इष्ट सिद्धि कहा रही? तो यह मानना चाहिए कि विशिष्ट अवस्थाकी अपेक्षासे महेश्वरका कार्योंके साथ व्यतिरेक सिद्ध होता है।

अवस्था विशिष्ट महेश्वरका कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक बनानेकी असगतता—अब उक्त शङ्काके समाधानमें यहाँ वैशेषिक यो पूछे जाने योग्य हैं कि अवस्थावानसे अवस्था भी भिन्न है अथवा अभिन्न है ? अवस्थावान तो महेश्वर है और अवस्थामे बताया गया है कार्यके उत्पादन करनेमे समर्थ कारणोसे युक्त होना। तो यो अवस्था अवस्थावानसे भिन्न है कि अभिन्न? यदि कहा जाय कि अवस्थावानसे अवस्था भिन्न है तब फिर किस अवस्था विशेषकी अपेक्षासे शरीरादिक कार्योंका ईश्वरके साथ साथ अन्वय व्यतिरेक लगाया जा सकता है याने अन्वय व्यतिरेक तो अवस्थाके साथ सिद्ध हुआ है। उस अन्वय व्यतिरेकको ईश्वरके साथ कैसे लगाया जा सकता है ? देखो जैसे इस पर्वतमे अग्नि है धुवाँ होनेसे इस अनुमानमें धुवाँका ही अग्निके साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जा रहा तो अन्वय व्यतिरेक धूमका पावकके साथ बनेगा न कि पर्वत आदिक पदार्थोंके साथ अन्वय व्यतिरेक बन सकेगा, क्योंकि पर्वतका उस अग्नि विशिष्ट अवस्थासे भेद यहाँ बना हुआ है। यहाँ शङ्काकारका पक्ष यह चल रहा है कि अवस्था अवस्थावानसे भिन्न होती है। तो जैसे पर्वत आदिकसे अग्निकी भिन्नता है उसी प्रकार ईश्वरमे अन्य कारणोके सन्निधानकी भिन्नता है अवस्था विशेष अन्य कारणोका सन्निधान ही तो कहा गया है तो अन्य कारणोका सन्निधान रूप अवस्था विशेष ईश्वरसे भिन्न माना है तो दोनो ही जगह भिन्नताकी अविशेषता है तो जैसे धूम का पावकके साथ अन्वय व्यतिरेक होनेपर पर्वतके साथ अन्वय व्यतिरेक नही लगाया जा सकता, इसी तरह अवस्थाका कार्योंके साथ अन्वय व्यतिरेक होनेपर महेश्वरके साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं लगाया जा सकता। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यद्यपि ईश्वरका अवस्थासे भेद है अवस्था याने कारणान्तरका सन्निधान ये भिन्न चीज दे और ईश्वर भिन्न चीज है तो अवस्था भेद होनेपर भी अवस्थाओका उस ईश्वर के साथ सम्बन्ध मौजूद है, इस कारणसे ईश्वरके साथ अन्वय व्यकिरेक विधान बन जायगा क्योंकि अवस्थाके साथ कार्योंका अन्वय व्यतिरेक है। और अवस्थाका ईश्वरसे सम्बन्ध है। इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं तब तो इसी तरह पर्वतका भी पावकके साथ सम्बन्ध है तो धुवेंका अग्निके साथ जो अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध बना है सो वह सम्बन्ध पर्वतके साथ भी बन बैठेगा क्योंकि पर्वतका अग्निके साथ सम्बन्ध है। यदि शङ्काकार यह कहे कि अग्नि विशिष्ट पर्वतके साथ अन्वय व्यतिरेक, धूमका हम मान ही रहे याने धुवेंका अग्नि विशिष्ट पर्वतके साथ अन्वय व्यतिरेक माननेमे कोई बाधा नही और उसी प्रकार अवस्था विशिष्ट ईश्वरके साथ शरीरादिक, कार्योंका अन्वय व्यतिरेक माननेमे भी कोई बाधा नहीं है। इस शङ्काके समाधानमे कहते है कि यह कथन यो ठीक नहीं है कि फिर तो पर्वत आदिककी तरह ईश्वरमे भी भेद प्रसङ्ग हो जायगा। जैसे कि अग्नि विशिष्ट पर्वतसे भिन्न अग्नि रहित पर्वत कोई हुआ करता है इसी प्रकार अन्य कारणोके सन्निधानरूप अवस्थासे विशिष्ट ईश्वरसे पहिले कारणान्तरके सन्निधानमे रहित ईश्वर क्यो न सिद्ध हो जायगा ? याने अब ईश्वरमें

भेद बन गया। ईश्वर कारणान्तरके सन्निधानरूप अवस्थासे युक्त है और अवस्थासे रहित भी है तब तो महेश्वर अनेक स्वभाव सिद्ध हो गया।

सत्ता सामान्यकी तरह विशेषण विशिष्ट होनेपर भी ईश्वरके एकत्व का शंकाकार द्वारा समर्थन— यहाँ वैशेषिक कहता है कि हमारा अभिप्राय तो यह है कि जैसे सत्ता सामान्य द्रव्यादिक अनेक विशेषणोंसे विशिष्ट होनेपर भी उसके उन विशेषणोंसे भेद नहीं होता, वह एक ही बना रहता। जैसे पृथ्वी सदा सत् है ऐसा कहनेमे पृथ्वी अलग हो जाय, सत्ता अलग हो जाय, यह कथन तो ठीक नहीं है। पृथ्वी सत्ताविशिष्ट है ऐसा कहनेसे क्या कोई यह अर्थ लगा लेगा कि कोई पृथ्वी सत्ता रहित भी होती है? न लगा सकेगा! तो जैसे सत्ता सामान्य द्रव्यादिक अनेक विशेषणोंसे विशिष्ट होनेपर भी सत्तामे भेद नही है, वह एक ही बना रहता है। अथवा जैसे समवाय अनेक समवायी विशेषणोंसे विशिष्ट होनेपर भी एक ही रहता है, अनेक नहीं हो जाते इसी तरह यहाँ भी घटित करें कि ईश्वर अनेक अवस्थाओसे विशिष्ट होने पर भी वे ईश्वर नाना नहीं हो जाते। देखिये समवाय एक है और कई पदार्थों और विशेषणोमें वह पाया जाता है। शुक्लामें शुक्लत्वका समवाय है पृथ्वीमें पृथ्वीत्वका समवाय है। यों विशेषणोंके भेद होनेपर भी समवाय एक ही रहता है। अनेक नहीं होता, इसी तरह अवस्था विशेषसे विशिष्ट होनेपर भी महेश्वर नाना नहीं होता है।

विशेषणविशिष्टताकी अपेक्षा सत्ता समवाय व ईश्वर सभीमे अनेकताकी सिद्धि बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान— उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि यह बात शङ्काकार अपने ही घरमें बैठा हुआ मान रहा है। सत्ता सामान्य और समवायका भी अपने विशेषणके भेदसे भेद पायगा ही। सामान्य और समवाय भी भेदका उल्लघन न कर सकेंगे, जबकि उन्हें विशेषणोंसे विशिष्ट माना जा रहा है। वह सत्ता सामान्य और समवाय भी एकानेक स्वभावरूप होनेसे ही प्रमाणके विषयभूत हो सकता है। प्रमाणका विषयभूत सामान्य विशेषात्मक पदार्थ होता है। सामान्यसे वह एक है, तो विशेषसे वह अनेक है। तो ऐसे ही सत्ता और समवाय भी एक है तो विशेषकी अपेक्षा किससे सम्बन्ध है, किसमें तन्मय है, सत्ता किसमे तन्मय है, ऐसे विशेषकी दृष्टिसे वह अनेक है। इस कथनसे वैशेषिकोंका यह मानना भी निराकृत हो जाता है कि चाहे कितने ही मूर्तिमान द्रव्योका सयोग बना हो फिर भी आकाश एक है या अन्य विभु द्रव्य एक है। और जब उस एकको किन्हीं विशेषणोंसे विशिष्ट निरखा जा रहा हो तो एक कैसे रहेगा? वह भी अपने विशेषणोके भेदसे भिन्न प्रतीत होता है और ये समस्त पदार्थ एक अनेक स्वभाव वाले व्यवस्थित हो जाते हैं। अब शङ्काकार पूर्व विकल्पका समाधान पाकर द्वितीय विकल्पमें आता है। उसका कथन है कि हम अवस्थाको अवस्थावानसे भिन्न नही मानते। जिन अवस्था-

ओमे सयुक्त अवस्थावान महेश्वरके साथ शरीर इद्रिय आदिक कार्योंका अन्वय व्य-तिरेक मान रहे हैं उन अवस्थाओसे हम अवस्थावान महेश्वरको भिन्न नही मानते । तो इन विकल्पोका यह उत्तर है कि यह अवस्थाओसे अवस्थावान भिन्न नही है तो एक होनेका अर्थ तो यह है कि जो बात अवस्थाओमे पायी जाय वही बात अवस्था-वानमे मिलेगी । तो अवस्थायें तो नाना हैं तब अवस्थावान महेश्वर भी नाना होने पडेंगे, अथवा अवस्थावान जब एक माना है और उसकी अवस्था अभिन्न माना है तो अवस्थावानकी तरह अवस्था भी एक क्यो न हो जायगी ? अभेदमे तो एक दूसरेरूप परिणति हो जाया करती है । तो यो अवस्थाओकी अपेक्षासे भी महेश्वरमे अन्वय व्यतिरेक सिद्ध नही कर सकते ।

अवस्था और ईश्वरमे भेद माननेपर धर्म धर्मीरूप व्यवहारकी भी असिद्धि इस प्रसङ्गमे वैशेषिक कहते हैं कि यद्यपि अवस्थायें अवस्थावानसे अलग नही हैं, एक हैं, अभिन्न हैं, फिर भी एक नही कहला सकते । इसका कारण यह है कि वे अवस्थायें तो धर्म हैं और अवस्थावान धर्मी है । धर्म धर्मीसे अभिन्न नहीं होता, अन्यथा धर्म धर्मीवान ही न बोल सकेंगे । धर्म अपना अस्तित्व रखता है, धर्मी अपना अस्तित्व रखता है, यह बात धर्म और धर्मी इस प्रकाके भेद व्यवहारमे प्रसिद्ध है तो अवस्थायें अवस्थावानसे अभिन्न है, फिर भी वे एक नहीं हो जाती हैं । इस तरह धर्म और धर्मीमें भेद सिद्ध है । तो धर्मोके भेदसे धर्मीका भेद नही माना जा सकता । जिससे कि अवस्थाओके भेदसे ईश्वरमे भेद कर दिया जाय । अवस्थायें और ईश्वर यद्यपि भिन्न–भिन्न नहीं हैं फिर भी अवस्थायें तो नाना हैं, ईश्वर एक है । अवस्थायें अवस्थावानसे अन्य पदार्थोंकी तरह भिन्न नही है । इसपर भी अवस्थायें उसका धर्म है और अवस्थावान धर्मी है । उन अवस्थाओका धर्मी महेश्वर है । इस तरह अवस्था और अवस्थावानमे जो धर्म धर्मी भाव सिद्ध है उससे यह प्रकट है कि धर्म नाना होते हैं धर्मी नाना नहीं हुआ करते हैं । इस कारण अवस्थाओके नाना होनेसे ईश्वरको भी नाना हो जानेका प्रसङ्ग नहीं आता या ईश्वरके एक होनेसे अवस्थाओके भी एक होनेका प्रसङ्ग नही आ जाता । समाधानमें कहता है कि शङ्काकारका यह कथन अपने मनोरथमात्र है । केवल अपनी कल्पनामे मान लिया है कि धर्म और धर्मी अभिन्न हैं फिर भी धर्म नाना हैं । धर्मी एक है अरे धर्मीका धर्मके साथ यदि अवस्था भेद मान लिया जाय तो उनमें धर्म धर्मी भावका विरोध हो जायगा, फिर वह धर्म धर्मी न कहला सकेगा । जैसे विन्ध्याचल पर्वत और हिमालय ये भिन्न भिन्न हैं, तो इसमें कोई क्या यह कह सकता है कि अमुक पहाड धर्म है और अमुक पहाड धर्मी है । इस प्रकार अवस्था और महेश्वरमे भेद माननेपर उनमे धर्म धर्मी भाव सिद्ध नही किया जा सकता ।

अबाधित इहेद प्रत्ययके द्वारा भिन्न ईश्वर व ज्ञानमे भी सम्बन्ध मान

लेनेका शङ्काकारका प्रस्ताव— शङ्काकार कहता है कि धर्म और धर्मीका सर्वथा भेद माननेपर भी चूंकि वहाँ बाधारहित एक ज्ञानविशेष बनता है कि यह उसका है। तो यो निर्वाध ज्ञानका विषय होनेके कारण धर्म धर्मी भावमें विरोध नहीं है। यह धर्म इस धर्मीका है, ऐसा चूंकि ज्ञान होता है स्पष्ट इस कारण धर्म धर्मी भिन्न होने पर भी धर्म धर्मी भावके माननेमें विरोध नही है। लेकिन विन्ध्याचल और हिमालय आदिक अत्यन्त पृथक पदार्थोमे निर्वाध धर्म धर्मीका ज्ञान भी नही होता। तो यो धम धर्मीके ज्ञानका विषयपना न होनेके कारण धर्म धर्मी भावकी व्यवस्था नही बनती। तो स्याद्वादियोने यह आपत्ति दी थी कि धर्म धर्मीमे भेद होनेपर हिमालय और विध्याचलकी तरह धर्म धर्मीकी व्यवस्था न बनेगी, ऐसा नहीं कह सकते। इस पर्वत मे तो धर्म धर्मीका ज्ञान नहीं हो रहा और ईश्वर ज्ञान अथवा ईश्वर ज्ञानके साथ अन्य सहकारी कारणोके बिना निर्वाध बोध हो रहा है इसलिए धर्म धर्मी भावकी व्यवस्था बन जायगी। हम लोग भेदसे ही धर्म धर्मीकी व्यवस्थाका कारण नही कहते। भेद होनेसे धर्म धर्मीकी व्यवथा होती है, यह तो हमारा अभिप्राय है ही नहीं, जिससे कि भेद होनेपर धम धर्मीका विरोध दिखाया जाय और इसी प्रकार सर्वथा अभेदसे भी कुछ धर्म धर्मी भावकी व्यवस्थाका कारण नही मानते। उसमे भी धर्म धर्मी भावका विरोध नहीं बताया जा सकता। तो भेद होनेसे अथवा अभेद होनेसे धर्म धर्मी भावकी व्यवस्था नहीं होती, किन्तु ज्ञान विशेषसे धर्म धर्मी भावकी व्यवस्था बतायी गई है सो वैशेषिकोके यहाँ सवत्र अबाधित ज्ञानके उपायसे ही धर्म धर्मी भावका सद्भाव माना गया है। यदि वहाँ अबाधित प्रत्ययका विरोध हो तो धर्म धर्मी भावमे विरोध सिद्ध होगा।

भिन्न पदार्थोंमें इहेद प्रत्ययमें बाधा बताते हुए उक्त शकाका समाधान—शङ्काकारकी उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि ऐसा कहने वाला यह वैशेषिक अपने दर्शनके अनुरागमे मुग्ध हो गया है। सो वह बाधक प्रत्यय को देख भी रहा है फिर उसको मानते नहीं हैं। पहिले तो यह ही बतलाइये कि जहाँ धर्मीका एकान्त हुआ वहाँ धर्म धर्मी ज्ञानका विषय ही नहीं बन सकता। अत्यन्त भिन्न दो चीजें हों उनमे यह ज्ञान कैसे बनेगा कि यह धर्म है यह धर्मी है। जैसे कि विन्ध्याचल और हिमालयमे भेद है तो धर्म धर्मी ज्ञानका विषय भी नहीं हो पाता, तो चूंकि धर्म धर्मी ज्ञान विशेष नहीं हो सकता है जहाँ कथञ्चित् भेद स्वीकार किया जाय। शङ्काकार कहता है कि ईश्वर और ईश्वरके ज्ञानमें, अवस्थावोमें भेद है तो भी उनमें प्रत्यासत्ति विशेष है, खास सम्बन्ध है, उस सम्बन्धके कारण धर्म धर्मीके प्रत्ययका उद्भव हो जाता है। परन्तु हिमाञ्चल, विन्ध्याचल पर्वतमें प्रत्यासत्ति विशेष नहीं है इस लिए वहाँ धर्म धर्मीका बोध न हो सकेगा। तो ईश्वर और ईश्वरकी अवस्थाओंमें धर्म धर्मीपना जब सिद्ध कर रहे हैं तो उसका विरोध करनेके लिए विन्ध्याचल और हिमालय

जैसे अ: न पृथक पदार्थोंका उदाहरण देना उचित नहीं है। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि ऐसा माननेपर भी शंकाकारकी इष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। कारण कि वह धर्म धर्मीसे भिन्न है तो धर्मधर्मीकी यह प्रत्यासत्ति है यह भी कैसे कहा जा सकता है? धर्म धर्मीमें कोई सम्बन्ध विशेष चल रहे हो तो हम उसी सम्बन्ध विशेषके बारेमें कह रहे हैं कि यह भी तो धर्म धर्मीमें भिन्न नहीं है विशेषवादके सिद्धान्तकी जड ही भेद है। विशेषवाद कहो या भेदवाद कहो तब ही तो द्रव्य गुण, कर्म सामान्य विशेष समवाय ये भिन्न-भिन्न पदार्थ मान डाले गए हैं। भली प्रकार कोई सोचे तो गुण द्रव्यसे न्यारा कहा रहता है? जिस समय क्रिया द्रव्यमें हो रही है तो वह द्रव्यमें हो रही है तो वह द्रव्यमें ही तो चल रहा है, अलग कहाँ है? द्रव्य का सामान्य अलग कहाँ है? द्रव्यका विशेष न्यारा कहाँ है? और जब यह कुछ भेद नहीं है तो समवायकी कहाँ कल्पना लगाना युक्त है? तो यो विशेषवादका सिद्धान्त भेदके आधारपर ही बना हुआ है। तो धर्मधर्मीका प्रत्यासत्तिसे सम्बन्ध बताते हो तो वह प्रत्यासत्ति भी तो धर्म धर्मीसे भिन्न है। तब फिर यह प्रत्यासत्ति धर्म धर्मीकी है यह भी नहीं कहा जा सकता। और कहेंगे तो फिर वहाँ ही कहा जायगा और हिमालय और विन्ध्याचल पर्वतमें प्रत्यासत्ति न कही जाय इसका कारण तो बताओ! तो धर्म धर्मीकी यह प्रत्यासत्ति है, यह सिद्ध करनेके लिये कारण बतायें। यदि शङ्काकार कहे कि अन्य प्रत्यासत्ति प्रत्यासत्तिको धर्म धर्मीको जुटानेके कारण बनती है तब तो वह दूसरी प्रत्यासत्ति इन दोनों धर्मोंकी प्रत्यासत्तिकी प्रत्यासत्ति है, इसके सिद्ध करनेके लिए और तीसरी प्रत्यासत्ति कहनी होगी, इस तरह अनवस्था दोष आयगा। तो प्रकृत (पहिले) प्रत्यासत्तिके नियमकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती।

भिन्न पदार्थोंमें धर्म धर्मीकी व्यवस्था बनानेके लिये प्रत्यासत्तिविशेष बतानेका विफल प्रयास—यदि शङ्काकार यह कहे कि धर्म धर्मीकी यह प्रत्यासत्ति है यह व्यवस्था प्रत्ययविशेषसे बन जायगी, याने उसमें जो ज्ञानविशेष होता है कि यह प्रत्यासत्ति धर्म धर्मी की है इस ज्ञानविशेषसे व्यवस्था बन जायेगी तब उत्तर कि इतना ही है वस्तुका ही तो विचार चल रहा है कि यह प्रत्ययविशेष कैसे बन गया जिसके लिये जवाब देते हुये प्रत्यासत्ति भी बनी। और जब हम यह पूछते हैं कि यह प्रत्यासत्ति किसके है यह कैसे जाना? तो कहते हैं कि इसी तरहका ज्ञान होरहा उससे जाना। तो अब सोचिये कि यदि प्रत्ययविशेषसे धर्म धर्मीके सम्बन्धकी कोई व्यवस्था बनाई जायेगी तो यहाँ यह विचारना है कि वह जो प्रत्ययविशेष हुआ, ज्ञान विशेष हुआ तो क्या सम्बन्धका सम्बन्ध वालोंसे सर्वथा भेद माननेपर याने धर्म और धर्मीको भिन्न माननेपर ईश्वर और उसकी अवस्थामें सम्बन्ध है। इसतरहसे उत्पन्न होता है या सम्बन्ध सम्बन्धवानमें अभेद माननेपर वह सम्बन्धका ज्ञानविशेष उत्पन्न होता है या उनमें कथञ्चित् तादात्म्य मानने पर वह ज्ञानविशेष उत्पन्न होता

हैं। सर्वथा भेद माना तो बाधा, सर्वथा अभेद माना तो बाधा और इस सम्बन्धमें अनेक दोषोकी कथनी पहले कही जा चुकी है। तो सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद स्वीकार करनेपर सम्बन्ध वाला ज्ञानविशेष उत्पन्न नहीं हो सकता। अब रह जाता है विचारणीय कथञ्चित तादात्म्य, सो हाँ कथञ्चित तादात्म्य माननेपर धर्म धर्मीका यह प्रत्ययविशेष उत्पन्न होते हैं लेकिन इस तरह ईश्वर और की अवस्थामें कथञ्चित तादात्म्य मान लिया जाय तो यह दोष आता है कि अवस्थाऐं जब अनेक हैं तो ईश्वर अनेक हो जायेंगे अथवा ईश्वर एक है तो अवस्था याने धर्म एक हो जायगा।

धर्म धर्मीके कथचित् तादात्म्य विषयक वैशेषिकोका असङ्गत उलाहना

अब वैशेषिक कहते हैं कि जरा स्याद्वादी भी तो अपने घरकी गल्ती देखें! एक और अनेक मे कथञ्चित् तादात्म्य होना ही धर्म और धर्मीकी प्रत्यासत्ति स्याद्वादियोने कहा है। तो जरा वे बतायें कि यह उनका व्यपदेश, वह उनका तादात्म्य यदि एक और अनेक दोनोसे भिन्न है तो यह तादात्म्य इसका है यह व्यपदेश कैसे हो सकेगा? और यदि वह तादात्म्य एक अनेकसे भिन्न है तो अभिन्नके होनेपर सब एक कहलाया फिर कौन किसके द्वारा कहा जायगा? याने एक अनेकसे तादात्म्यकी अभेद वृत्ति मान लेनेसे दोनोकी एकरूप परिणति हो जायगी। फिर किसके द्वारा कौन कहा जायगा? यदि स्याद्वादी यह कहें कि उन दोनोसे तादात्म्य कथचित् भिन्न है, कथञ्चित् अभिन्न है। तब उसका यह तीसरा कथञ्चित भिन्न कथचित अभिन्न सम्बन्ध मानना पडेगा और इस तरह अनवस्था दोष आयगा। एक अनेकमे कथचित् तादात्म्य सिद्ध करनेके लिये दूसरा कथञ्चित तादात्म्य माननेपर उसका भी सम्बन्ध सिद्ध करके के लिये कथञ्चित तादात्म्य तीसरा मानें यों अनवस्था बन जायगी। जब यह अनवस्था कथचित् तादात्म्यको स्वीकार न करने देगी तब एक अनेकमें कथञ्चित् तादात्म्य वाली बात तो निर्दोष न बनी। मगर इस अनवस्थाको दूर करना चाहते हैं तो कथचित् तादात्म्यको धर्म धर्मीसे जुदा ही स्वीकार करना होगा। वैशेषिक यहाँ यह कथन कर रहे हैं जैसा कि उनके सिद्धान्त भेदवादपर निर्भर है। उसी दृष्टिको बतला रहे हैं कि स्याद्वादियोके यहाँ भी जो एक अनेकका कथचित् तादात्म्य माना सो उस तादात्म्यमें भेद ही मानना पड़ेगा। तो जब धर्म धर्मीके कथञ्चित् तादात्म्यसे भिन्न माननेसे ही पूरा पड सकता हुआ तो मूलमे धर्म और धर्मीमे भेद मान लीजिए, जिसे आगे जाकर स्वीकार करना पडेगा, उसे पहलेसे ही क्यों न स्वीकार करलें! उस भेदको स्वीकार न करनेपर धर्म धर्मीमे जो भेद व्यवहार प्रसिद्ध है वह न बन सकेगा। उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि ऐसी शङ्का करने वाले विशेषवादीकी अज्ञता ही प्रकट होती है। मानो अज्ञानसे उनका मन आकुलित हो बैठा हो। बात यह है कि कथचित् तादात्म्यको ही धर्म धर्मीका सम्बन्ध कहा करते हैं सो वह कथचित् तादात्म्य धर्म धर्मीका सम्बन्ध उन दोनोसे विजातीय होनेके कारण वह अपृथक ही सिद्ध होता है। धर्म और धर्मीमें भेदभाव है। यह व्यवहार कहीं दूसरे सम्बन्धके

कारण नही बनता किन्तु स्वतन्त्रतासे ही यह व्यवहार चलता है और जब स्वरूपत: धर्म धर्मीमे व्यवहार चलता है तो अन्य कथचित् तादात्म्यके माननेकी जरूरत नहीं है और इसी कारण अनवस्था दोष भी नही आता। इसी कथचित् तादात्म्यको धर्म धर्मीमे कथचित् तादात्म्य प्रसिद्ध है और धर्म धर्मीका कथचित् तादात्म्य है, यह ज्ञान भी सिद्ध होता है।

तादात्म्यका सम्बन्ध सम्बन्धवानोमे अभेद प्रसिद्धि व तत्त्ववोधके लिये भेदप्रसिद्धि कथञ्चित् तादात्म्य भेदाभेदरूप माना गया है। वस्तुत कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद ये दोनो ही कथञ्चित् तादात्म्य कहलाते हैं। जब धर्म धर्मी मे कथञ्चित् भेदकी विवक्षा होती है तब धम और धर्मीका कथञ्चित् तादात्म्यका सम्बन्ध कारकके ढङ्गसे भेद विभक्त बनता है। धर्मीका धर्म इस तरह भेदको प्रसिद्ध करने वाले षष्ठी विभक्ति हुआ करती है और उसस भेद व्यवहार किया जाता है। इस प्रसङ्गमे जरा देखिये तो यही कि षष्ठी विभक्ति भेद ज्ञापक है, लेकिन मोहियोने षष्ठी विभक्तिका उपयोग अभेद प्रयोगमे किया है। जैसे यह मेरा पुत्र है, यह मेरा धन है, तो षष्ठीके प्रयोगसे ही यह सिद्ध होता है कि बिल्कुल जुदे जुदे हैं। लेकिन मोह अवस्थामे लोग उसका अभेद बना लेते हैं, मेरा ही है, मुझमे ही मिला हुआ है। तो षष्ठी विभक्ति भेदज्ञापक हुआ करता है। धर्म धर्मीका कथञ्चित् यादात्म्य है, ऐसा षष्ठी विभक्तिके माध्यमसे जो प्रयोग किया गया वह है कथञ्चित् भेदकी विवक्षाका परिणाम। अब आगे देखे! जब वहाँ कथञ्चित अभेदकी विवक्षा की जाती है तो इस तरहका अभेद व्यवहार वहाँमे उठना है कि धर्म और धर्मी ही कथञ्चित तादात्म्य है, क्योकि धम धर्मीसे अलग कोई भेदाभेद नही है। याने कथञ्चित भेद धर्म धर्मीसे अलग कोई भेदा भेद नहीं है। याने कथञ्चित भेद धर्म धर्मीसे अलग हो या कथचित अभेद धर्म धर्मीसे अलग हो ऐसा नही है। धर्म ही धर्मीरूपसे कभी परखा जाता, यह भेद और अभेद विवक्षाका परिणाम है। वास्तवमे धर्म ही कथञ्चित भेद है और धर्मी ही कथञ्चित् अभेद है और धर्म धर्मी ये दोनो ही कथञ्चित् भेदाभेद हैं, इसीको कहते हैं कथञ्चित यादात्म्य। तो स्याद्वादियोंके कथञ्चित तादात्म्यका उदाहरण देकर ईश्वर और ईश्वरकी अवस्थामे सम्बन्ध सिद्ध करनेका साहस एक दु साहस है। देखिये! तादात्म्य शब्दका व्युत्पत्य अर्थ क्या है? तादात्म्य शब्दकी व्युत्पत्ति है—तस्य आत्मानो यदात्मानो तयोर्भावस्तादात्म्यम् अर्थात् वस्तुके जो दो स्वरूप हैं आत्मा है, उसे कहते हैं तदात्मा। और तदात्माका जो भाव है उसे कहते हैं तादात्म्य! तादात्म्य शब्दका ही अर्थ है भेदोभेद स्वभावपना। वस्तुके दो स्वरूप हैं। एक भेद और दूसरा अभेद। इन दोनोको ही तादात्म्य कहा जाता है। और, तादात्म्यके साथ कथञ्चित् शब्द लगा देनेसे परस्पर निरपेक्ष भेद और निरपेक्ष अभेदका निराकरण हो जाता है। अब भेद पक्षमें जो दोष दिया गया वह कथञ्चित तादात्म्य माननेपर नहीं आता और

अभेद पक्षमें जो दोष दिया गया वह भी कथञ्चित तादात्म्य माननेपर नहीं आता। तो एक अनेकमे, द्रव्य पर्यायमे कथञ्चित तादात्म्यका बोध किया गया है।

सापेक्ष भेदाभेद स्वीकारतामे अनेक मिथ्या आशयोंका निराकरण — अब यहाँ एक नई बात यह भी समझ लेना है कि परस्पर सापेक्ष भेद अभेदका प्रसंग किया जानेसे सर्वथा भेदाभेदमे विलक्षण कथञ्चित भेदाभेदरूप वस्तुकी व्यवस्था बनती है और जब कथचित् भेदाभेद रूप वस्तु हो तो सर्वथा शून्यवाद भी खण्डित हो जाता है। अतएव स्याद्वादनयके विवेचन करने वाले विद्वान् वस्तुका कथचित् भेदा-भेदरूप मानते, कथचित् धर्मधर्मी रूप कहते, कथचित् द्रव्य पर्याय रूप कहते। इसी तरह स्याद्वादके न्यायमें जिनकी निष्ठा है उन्होंने वस्तुके स्वरूपकी ऐसी प्रतिष्ठा की है। हमे इनकी तरह प्रतिष्ठा मान लेनी चाहिये जैसे सामान्य और विशेष तथा मेचक ज्ञान। क्षणिकवादियोंके यहाँ मेचक ज्ञान माना गया है तो नाना चित्र-विचित्र पदार्थोंका प्रतिभास है, फिर भी वह एक ज्ञान है तो इसने ही तो सिद्ध हुआ कि वह ज्ञान सामान्यविशेषात्मक है। नैयायिक और वैशेषिक तो द्रव्यत्व आदिकको सामान्य और विशेष दोनो रूप मानते हैं। मानना पड़ता है
अभेद भेदरूप मानते हैं। बौद्ध भी देखलो मेचक ज्ञानको नील आदिक अनेक रूप मानते हैं। और उन रूपोंसे भेदरूप स्वीकार करते हैं। जो उनके भी इस छुटपुट कथनके द्वारा यह सिद्ध हुआ कि सब पदार्थ कथञ्चित भेदाभेदरूप हैं। कथचित धर्मीधर्मरूप हैं और कथचित द्रव्यपर्यायरूप है, ऐसी कथचित भेदाभेदकी व्यवस्था होनेसे यहाँ विरोध वैयाधिकरण्य आदिक कोई दूसरा उपस्थित नही होते।

ईश्वरज्ञान व कार्यके साथ अन्वयव्यतिरेकाभावकी तरह द्रव्य व पर्यायके साथ भी अन्वयव्यतिरेकाभावके प्रसङ्गका शङ्काकार द्वारा कथन— अब यहाँ वैशेषिक कहते है कि स्याद्वादियोंके यहाँ भी तो ऐसा ही दोष आता है कि जैसा दोष महेश्वरज्ञान और कार्योंके साथ अन्वयव्यतिरेकका विरोध कहा गया है। देखिये! स्याद्वादी मानते हैं कि द्रव्यमे पर्यायके कारण अगली पर्यायकी उत्पत्ति होती याने पूर्व पर्यायको हेतु और उत्तरपर्यायको कार्य मानते हैं किन्तु यह बतायें ये स्याद्वादी कि द्रव्य तो नित्य होता है, सो द्रव्यके साथ कार्योंका अन्वय व्यतिरेक घटित नही हो सकता। जैसे कि हमारे प्रति कहा गया था कि ईश्वर तो नित्य है तब उसके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नही बन सकता। ईश्वरके होनेपर हो और ईश्वर के न होनेपर न हो, यह बात अन्वय सम्बन्ध मे नही बनती। ऐसे ही द्रव्यके होनेपर कार्य हो, द्रव्यके न होनेपर कार्य न हो यह बात नही बन सकती। क्योंकि द्रव्य सदा है। तब सारे कार्य एक साथ हो जाने चाहियें। द्रव्य तो सदा काल रहता है तब समस्त कार्यों की उत्पत्ति एक साथ हो जानी चाहिये। द्रव्यका कभी अभाव

नही होता, इस कारण व्यतिरेक व्याप्ति भी नहीं बन सकती है। तो द्रव्य के साथ अन्वय व्यतिरेक तो बना नही। अब पर्यायकी बात देखिये पर्याय क्षणिक होती हैं। इसकारण उनके साथ कार्यका अन्वय व्यतिरेक नही बन सकता। पूर्व पर्याय नष्ट हो जानेपर अब वह पूर्व पर्याय जब असत हो गयी तब उत्तर कार्यकी उत्पत्ति हुई। तो कैसे कारण कहा जायगा ? और पूर्व पर्याय जब तक मौजूद थी तब तक कार्य उत्पन्न नही होता तो कैसे व्याप्ति बन जायगी ? यदि अभाव होनेपर भी कार्य बने और होनेपर कार्य न बने और फिरभी सम्बन्ध मानलें तो एक क्षणमे ही सर्व पर्यायो का सद्भाव सिद्ध हो जायगा तब अविनाभाव तो न रहा तो पर्यायो के साथ भी कार्यका अन्वय व्यतिरेक नही बनता। यदि स्याद्वादी यह कहे कि द्रव्यके होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है इस कारणसे तो अन्वय सिद्ध है और उन कार्योंके निमित्त भूत पर्यायका अभाव होनेपर कार्यकी अनुत्पत्ति होती है इस तरह व्यतिरेक सिद्ध हो जायगा। यों कार्य का अन्वय व्यतिरेक का विधान बन जायगा। तब वे शंकाकार कह रहे हैं कि यह बात तो हम ईश्वर के सम्बन्ध मे कह रहे हैं कि ईश्वर की इच्छा और ज्ञान नित्य है। तो नित्य होनेपर भी उनके होनेपर शरीरादिक कार्यों का सद्भाव बनता है, इस कारणसे अन्वय बन गया। अन्वयकी यही तो मुद्रा है कि उसके होनेपर होना। अब व्यतिरेक देखिये ! किस तरह बनता है कि ईश्वर अथवा इच्छा विज्ञानके सहकारी कारणरूप जो अवस्था नही है तो अवस्थाके न होनेमे कार्य नही बना। यो व्यतिरेक बन गया। इस तरहसे अन्वय व्यतिरेक हमारा भी मान लीजिए। द्रव्य पर्यायके अन्वय व्यतिरेकके समान हमारे ईश्वरज्ञान और कार्यका अन्वय व्यतिरेक बन जाता है। तब तो समस्त कार्य बुद्धिमन्निमित्तक हुए, यह बात सिद्ध हो ही जाती है।

द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुमे कार्यका अविरोध बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान---उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि स्याद्वादियोंके द्रव्यपर्यायकी बात मानकर उलहना देने वाले विशेषवादी कार्यकारण भावको समझने वाले नहीं हैं। स्याद्वादियोंके पर्यायनिरपेक्ष द्रव्यको अथवा द्रव्यनिरपेक्ष पर्यायको अथवा परस्पर निरपेक्ष द्रव्यपर्यायको कार्यकारी नहीं मानते हैं। पर्यायशून्य द्रव्य कार्यकारी नही है, द्रव्यशून्य पर्याय कार्यकारी नही है। प्रथम तो यह बात है कि पर्यायशून्य द्रव्य द्रव्य कभी भी नही है और द्रव्यशून्य पर्याय भी कभी नही है। तो परस्पर निरपेक्ष होकर ये द्रव्य पर्यायें कार्यकारी नही मानी गई हैं। क्योंकि निरपेक्ष द्रव्य या पर्याय कुछ कार्य कर सके, ऐसी प्रतीति नही देखी गई है। द्रव्यपर्यायात्मक ही जात्यंतर ... अतिरिक्त न केवल द्रव्य, न केवल पर्याय, किन्तु द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु ही ... रूपसे लोगोको विदित है और कार्यकारण भाव भी द्रव्यपर्यायात्मक ... प्रसिद्धि है। अब देखिये ! वस्तु द्रव्य रूपसे तो अन्वयज्ञानका विषयभूत

ज्ञानके विषयभूत वस्तुके होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है तब अन्वय बन गया और उस कार्यके निवघन भूत हेतुभूत पर्याय विशेषके उत्पन्न होनेपर कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। सो यहाँ व्यतिरेक बन गया। इस तरह द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुका कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक बनता है और यो कार्यकारण भेद सिद्ध होता है। दृष्टान्तके लिए ऐसा समझें कि घड़ा रूप कार्य होनेके लिए मिट्टी तो द्रव्य स्थानीय है और घड़े से पहले होने वाला मृतपिण्ड रूप पर्याय अथवा कुसूलरूप पर्याय वह कार्यका निवघनभूत पर्याय विशेष है। सो यो देख लीजिए कि मिट्टीके होनेपर ही तो घड़ा बना और उस मिट्टीका जब तक कुसूलरूप पर्याय नहीं आता तब तक घड़ा नहीं बनता। तो यो मिट्टी और कुसूलात्मक उस वस्तुसे घड़ेका अन्वय व्यतिरेक बन गया सो इसी तरह सर्वत्र द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुमे ही कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक बनता है। यों कार्य कारण भाव सिद्ध होता है। यहा यह बात ध्यान पूर्वक समझियेगा कि द्रव्य रूपसे भी वस्तुका सर्वथा नित्यपना निश्चित नहीं किया गया, क्योंकि वह द्रव्यरूप वस्तु क्षणिक पर्यायोंके साथ कथंचित अनर्थान्तररूप है अर्थात् पर्याय शून्य द्रव्य नहीं है। जो द्रव्य होगा वह क्षणिक किसी न किसी पर्यायरूप ही रहता है, इस कारणसे कथंचित अनित्यपना सिद्ध होता है। तब वस्तु केवल नित्य न रही किन्तु नित्यानित्यात्मक है। लेकिन वैशेषिक सिद्धान्तमें तो महेश्वरको सर्वथा नित्य माना है और इसी कारण वहाँ कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं बन सकता। तब कार्योंकी उत्पत्तिका योग न बनेगा। अब यहाँ देखें तो पर्यायोंकी द्रव्यरूपसे नित्यत्वकी सिद्धि है इस लिए कथंचित नित्यपना होनेसे सर्वथा अनित्यरूप नहीं माना जाता है। तो विशिष्ट पर्याय के सद्भावमें कार्यकी उत्पत्ति होती है और विशिष्ट पर्यायके अभावमे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। तब द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुके साथ कार्यका अन्वय व्यतिरेक सिद्ध हो जाता है। हाँ जो निरन्वय क्षणिक पर्यायें हैं, जिन क्षणिकवादियोंके यहाँ पर्यायका यह स्वरूप माना है कि उसका कुछ भी अन्वय नहीं रहा करता है वह तो अपूर्व ही नई वस्तु उत्पन्न होती है और दूसरे समयमे वह मूलत नष्ट हो जाती है। तो ऐसे क्षणिकवादियोंके निरन्वय क्षणिक पर्यायोमें अन्वय व्यतिरेक नहीं घटित होता सो वहाँ कार्यकारण भाव न बनेगा। पर्यायात्मकनयकी प्रधानतासे अविरोध है और द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे उसका विरोध है अर्थात् द्रव्य ही नया बने द्रव्य ही पूरा मिटे, इस प्रकारकी दृष्टि रखे तब यह निरन्वय क्षणिकवाद प्रमाण सम्मत नहीं रहता, हाँ यदि द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानता स्वीकार की जाय तो वहाँ भी कार्यकारण भाव बन जायगा। वे क्षणिकवादी यह मान लें कि यह पर्याय दृष्टिसे कथन हो रहा है तो वहाँ विरोध न रहेगा। जैसे द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानतासे द्रव्यमे कार्यकारण भावका विरोध नहीं है उसी प्रकार पर्यायार्थिकनय नयकी प्रधानतासे यदि वर्णन चले तो वहाँ भी कार्य कारण भावका विरोध न बनेगा। अथवा और देखिये। जब प्रमाणकी विवक्षा होती है तो द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुके होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है और

द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुके न होनेपर कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। इस तरह द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुका कार्यके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध बन जाता है। और यह समस्त जनोंके लिए साक्षीभूत है। तो ऐसे कार्य कारण भावकी ही व्यावस्था मानना चाहिए। सर्वथा एकान्तकी कल्पना होनेपर अन्वय व्यतिरेकका अभाव ही प्रकट होता है। वहाँ कार्यकारण भावका अभाव ही सिद्ध होता है। इस विषयमे अधिक चर्चा करना आवश्यक नही है। इससे यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि महेश्वरका ज्ञान जो कि नित्य माना, अव्यापक माना और सब जगहके कार्य करनेमें समर्थ माना तो ऐसा वह समर्थ महेश्वर ज्ञान नित्य अव्यापक माना जानेपर भी उसके सब देश और सब कालमे व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता। तो जब व्यतिरेकका निश्चय नहीं है तो निश्चित अन्वयका भी निश्चय नही बननेका। ये शरीरादिक कार्य अन्य कारणो की अपेक्षासे भी महेश्वरकृत सिद्ध नही होते हैं, क्योंकि अन्वयव्यतिरेक अन्य कारणो के साथ आता घटित हो गया, किन्तु महेश्वरके साथ अन्वयव्यतिरेक घटित नही होता। इस प्रकार नित्य अव्यापी माननेपर ईश्वरज्ञानसे सृष्टि नही चल सकती, यह वर्णन किया गया। अब ईश्वरज्ञानको नित्य व्यापक मानें तो इस मान्यतामे भी दूषण बताते हैं।

एतेनैनेश्वरज्ञानं व्यापिनित्यमपाकृतम् ।
तस्येश्वरत्सदा कार्यक्रमहेतुत्वहानितः ॥ ३६ ॥

ईश्वरज्ञानको नित्य व्यापि माननेपर भी सृष्टिकर्तृत्व की असिद्धि—महेश्वरज्ञान नित्य अव्यापि है इस पक्षमे जो दूषण दिया गया है उस विवेचनसे यह भी घटित हो जाता है कि ईश्वर ज्ञान नित्य व्यापक हो तो भी वह शरीरादिक कार्योंका कर्ता नही बन सकता, क्योंकि जैसे ईश्वर सब जगह सदा अकेला उपस्थित है तो वहाँ अन्वय व्यतिरेक नही बनता और इसी प्रकार कार्यके क्रमसे उत्पन्न हुआ सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार ईश्वरज्ञान भी नित्य और व्यापी मान लिया गया तब वह भी शरीरादिक कार्योंका क्रमसे जनक सिद्ध नही हो सकता। अभी उक्त प्रकरणोमे नित्य अव्यापक ईश्वरज्ञानमे व्यतिरेकका अभाव सिद्ध किया और व्यतिरेक का अभाव सिद्ध होनेसे अन्वयमे भी सन्देह होनेकी बात कही थी तो उसी कथनसे व्यापक नित्य ईश्वरज्ञानमे भी वे ही सब दोष समझ लेने चाहिए तब महेश्वर शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमे निमित्त कारण सिद्ध नही होसकता। जैसे ईश्वर सर्वव्यापी और नित्य है तो वहाँ व्यतिरेक नहीं बनता। इसी प्रकार ईश्वरज्ञान भी सर्वव्यापी और नित्य है तो वहा भी व्यतिरेक नही बनता है। अब रही अन्वयकी बात तो व्यतिरेकशून्य केवल अन्वय अन्य आत्माओंकी तरह संदिग्ध है। दूसरी बात यह है कि ईश्वरज्ञानको अब नित्य व्यापक मान लिया तो जब ईश्वर ज्ञान नित्य व्यापक

है तो वह सदा ही है और सब जगह है, फिर सभी कार्य एक साथ क्यों नहीं उत्पन्न हो जाते? और यों एक साथ उत्पन्न होनेका प्रसङ्ग आता है। तब फिर भी महेश्वर इन कार्योंका क्रमसे उत्पादक नहीं बन सकता। जब वह ईश्वरज्ञान व्यापक है तो वहाँ देशकृत क्रम नहीं आ सकता। इसी प्रकार जब ईश्वरज्ञान नित्य है तो वहाँ कालकृत क्रम नहीं बन सकता और स्वयं महेश्वर तो सर्वथा क्रमरहित है ही इसी प्रकार ईश्वरज्ञान भी अक्रम है। उसे क्रमवान माना जायगा तो वह नित्य और व्यापी नहीं बन सकता याने ईश्वरज्ञान क्रम वाला है तो क्रममें यह ही तो बात आई कि काल की अपेक्षा क्रम है। पहले वह न था। अब यह हो गया तो वहाँ कालका क्रम तो न बन सकेगा। अगर देश की अपेक्षा क्रम कहा जाय कि वहाँ था अब यहाँ नहीं है तो इस अपेक्षामें भी क्रम नहीं बन सकता। तो जैसे अग्नि आदिक क्रमवान अनित्य और एक देश हैं तो वे पदार्थ नित्य और सर्वव्यापी तो नहीं हैं। जो तो क्रमवान होगा वह नित्य और सर्वव्यापक नहीं हो सकता। इस प्रकार ईश्वरज्ञानको नित्य व्यापक माननेपर भी शकाकारकी इष्टसिद्धि नहीं होती।

सहकारी कारणके सम्बन्धमे ईश्वरज्ञान न कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक माननेपर कारणान्तरोंके साथ ही कार्य व्याप्तिकी सिद्धि—अब शंकाकार कहता है कि हम यह मानते हैं कि प्रतिनियत देशकालमे प्राप्त होने वाले सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे महेश्वरकी तरह महेश्वरके ज्ञानमे भी सर्व कार्योंके क्रमसे उत्पन्न करनेमे कारणपना बन जाता है। जैसे महेश्वर ज्ञान विभिन्न देशमे विभिन्न कालमे जैसे सहकारी कारण प्राप्त हुयेतो उन सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे कार्योंके प्रति वह क्रमका जनक बन जाता है इस कारण अब उपरोक्त दोष नहीं हैं। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि विशेषवादियोंका यह कथन भी सङ्गत नहीं है। क्योंकि इस तरह वास्तविक सहकारी कारणोंमे हीं बना। सब क्रमवान सहकारी कारणोंके होनेपर शरीरादिक की उत्पत्ति हुई और उन कारणोंके न होनेपर उत्पन्न नहीं हुई तब उन कारणोंके साथ ही अन्वयव्यतिरेक रहा, कार्यकारण भाव रहा। पर महेश्वरज्ञानके साथ उन कार्योंका अन्वय व्यतिरेक न रहा तब कार्योंका हेतु महेश्वर अथवा महेश्वरज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता।

कारणान्तरोंका महेश्वराधिष्ठितपना होनेसे कर्तृत्वसिद्धिकी आरेका—विशेषवादी कहते हैं कि यद्यपि यह ठीक है कि सहकारी कारण अनित्य है। क्रमजन्य भी है इससे उनके साथ ही सीधा कार्यका अन्वय व्यतिरेक बना देना चाहिए। लेकिन यहाँ यह समझलो ये स्याद्वादी लोग कि वे सहकारी कारण अचेतन हैं सो कितने ही सहकारी कारण मिल जायें, जब तक किसी चेतनके द्वारा अधीष्ठित नहीं होते जब तक उन कार्योंमें कारणोंकी उत्पत्ति करनेके लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती जैसे घड़ा बननेके सब साधन मौजूद हैं। चका, डन्डा, जल आदिक सब चीजें रखी

हुई हैं लेकिन वे सब अचेतन है। स्वयं कार्य तो न बना देंगे। उनका प्रयोगता कुम्हार जब प्रयोग करता है। वे कारण तब कुम्हारके द्वारा प्रवाधित होता है तब कार्य की उत्पत्ति होती है। इसी तरह यह भी समझना चाहिए कि सब कुछ कारण मौजूद हैं शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिके लिए किसी चेतनाके द्वारा अधीष्ठित होकर ही वह कारण कार्यको उत्पन्न कर सकता है। इससे सिद्ध होता है कि उन कारणोंका अधिष्ठाता कोई चेतन है यह बात अनुमान प्रयोगसे भी सिद्ध होती है कि एक विवादापन्न कारणान्तर याने शरीरके उत्पादक उन समस्त कारणोंके प्रति कहा जा रहा है कि ये सभी कारण जो कि क्रमवर्ती हैं और अक्रम हैं वे सब चेतनके द्वारा अधिष्ठित होते हुए ही शरीरादिक कार्योंको किया करते हैं, क्योंकि स्वयं अचेतन होने से जैसे दण्ड चक्र आदिक कारण मौजूद हैं लेकिन वह कुम्हार चेतनके द्वारा अधिष्ठित होकर ही घट कार्योंको कर सकता है। क्यों कि स्वयं अचेतन है। जो जो अचेतन पदार्थ होते हैं वे वे सब चेतनके द्वारा अधिष्ठित होते हुए ही अपने कार्यको करते हुए देखे गए हैं। जैसे तुरी तन्तु वेम सलाका आदिक अनेक साधन मौजूद हैं लेकिन वे जुलाहाके द्वारा अधिष्ठित होते हुए ही कपड़ा रूप कार्यको कर सकते हैं। तब यहाँ देखिये कि ये कारणान्तर सब स्वयं अचेतन हैं इस कारण चेतन द्वारा अधिष्ठित होते हुए ही शरीरादिक कार्योंको ये कर पाते है। अब जो उनका अधिष्ठाता है यहां वह कोई महेश्वर पुरुष विशेष ही हो सकता है जो कि क्लेश कर्म विपाक आदिकसे अछूता हुआ, समस्त कारक शक्तियों का परिज्ञान रखता हुआ सृष्टि करनेकी इच्छा और विशेष प्रयत्न रख रहा हो। ऐसा प्रभु ही हो सकता है इन समस्त कारणान्तरों का अधिष्ठाता, क्योंकि जो अभी प्रभुकी विशेषता बताया है उससे विपरीत कोई पुरुष हो याने जिसके क्लेश कर्म विपाक लग रहे हो कारक शक्तियोंका परिज्ञान जो न रखता हो, जिसकी सृष्टि करनेकी इच्छा और पौरुष न बना हो, ऐसा कोई भी पुरुष समस्त कारकोंका अधिष्ठाता नहीं हो सकता है। तो यहां एक बात और विशेष समझना है कि कुम्हार जुलाहा आदिक बहुतसे जीव भी कारकोंके अधिष्ठाता बन रहे हैं, वे अपने अपने कार्योंके करनेमे अधिकार रखते हैं। तो उनको भी यह समझना चाहिए कि वे बहुतसे भी मनुष्य जो प्रतिनियत ज्ञानादिक शक्ति रखते हैं, सब तो चेतन नहीं हैं। तो ऐसी प्रतिनियत शक्तियाँ रखने वाले इन समस्त पुरुषोंमे भी यह घटाना चाहिए कि वे सब एक महाप्रभु महेश्वरके द्वारा अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्ति कर पाते हैं। जैसे दण्ड, चक्र आदिक कारण कुम्हारके द्वारा प्रतिष्ठित होकर कार्य कर पाते हैं ऐसे ही कुम्हार, जुलाहा आदिक भी महेश्वरके द्वारा अधिष्ठित होकर अपना कार्य कर पाते हैं। यों समझना कि जैसे सामन्त, महामत मंडरीक राजा महा राजा आदिक ये एक चक्रवर्तीके द्वारा अधिष्ठित होकर प्रवृत्ति करते हैं याने सब राजाओंका अधिपति जो एक चक्रवर्ती है उसके द्वारा अधिष्ठित होकर ये प्रवृत्ति कर पाते हैं। या जैसे किसी कारखानेमे अनेक पुरुष काम करते हैं तो वे किसी एक बड़े

इञ्जीनियरके द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं। ऐसे ही जगतमें जितने भी पुरुष घड़ा, कपड़ा आदिक कार्योंको करते हुए देखे गये हैं, वे भी एक महापुरुषके द्वारा अधिष्ठित होकर ही कार्यको करनेमें समर्थ होते हैं। शङ्काकार ही कह रहा है सब कि इन सब युक्तियोंसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि विवादापन्न सभी कारणान्तर चेतनके द्वारा अधिष्ठित होकर शरीरादिक कार्योंको करते हैं क्योंकि वे सब अचेतन हैं। यहाँ हेतु बताया गया है स्वयं अचेतनत्वात्'।

अचेतनत्व हेतुसे एक चेतनाधिष्ठित सिद्ध करने का विफल प्रयास— शङ्काकार कहता है कि हमारा मूल अनुमान यह है कि समस्त कारणान्तर चेतनके द्वारा अधिष्ठित होकर ही शरीरादिक कार्योंको करता है, क्योंकि वह कारणान्तर स्वयं अचेतन है। कोई इस अनुमानमें यह दोष न दिखा सकेगा कि अचेतनत्व हेतु गाय दूधके साथ अनैकान्तिक दोष वाला बन जाता है। जैसे बछड़ेकी वृद्धिके लिए गायका दूध प्रवृत्त होता है तो गायका दूध अचेतन है और वह किसी चेतनसे अधिष्ठित होकर प्रवृत्त तो नहीं होता इस कारण इसमें अनेकान्तिक दोष आयगा। ऐसी शंका कोई इस कारण नहीं कर सकता है कि जो गोक्षीर प्रवृत्ति होती है वह भी बछड़के द्वारा जिसके कि धर्म अधर्म अदृष्ट विशेषका सहकारी है उस चेतन बछड़ेके द्वारा अधिष्ठित होकर प्रवृत्त हुआ है। गायसे जो दूध निकला वह चेतन बच्छड़ेके द्वारा अधिष्ठित होकर निकला, वहाँ अनेकान्तिक दोषकी गुञ्जाइस नहीं है कि गोक्षीर अचेतन है वह भी चेतन बछड़ेके द्वारा अधिष्ठित है। यदि ऐसा न हो अर्थात् गायसे जो दूध निकलता है वह चेतन प्राणियोंकी अदृस्टसे अधिष्ठित होकर निकलता है, ऐसा न माना जाय तो बछड़ेके मर जानेपर जो गोभक्त जन हैं, मालिक हैं जो गायकी सेवा करता है उसके साथ भी क्षीरकी प्रवृत्ति न होना चाहिए। या जब बछड़ेके गुजर जानेपर भी गायसे दूध निकलता है और वह दूध निकल रहा है गायकी सेवा करने वाले लोगोंके भाग्य से तो वहाँ जो गायसे दूध निकला वह है गोभक्त गोसेवक पुरुषसे अधिष्ठित अर्थात सभी लोग यह जानते हैं कि गायका बछड़ा गुजर जाय फिरभी जिन जिन को दूध पीने में आयगा उन उन गोभक्तोंके अदृष्टसे गायका दूध निकलता रहता है और वहाँ गायके दूधका अधिष्ठाता ये गोभक्त लोग हैं। शङ्काकार कह रहा है समाधानकर्ताओंसे कि यहाँ ऐसा भी ये लोग न कह सकेंगे कि जब जोभक्त लोगोंके भाग्यसे दूध निकल रहा है तो जब बच्चा जीवित है उस अवस्था में भी जो गोका दूध निकल रहा है उस दूधकी प्रवृतिमें गोभक्तोंको ही अधिष्ठाता मानलेवें अर्थात बछड़ा भले ही जीवित है लेकिन गायका जो दूध निकलता है वह गायकी सेवा करने वाले लोगोंके भाग्यसे अधिष्ठित होकर निकलता है और तब अदृष्ठ विशेषसे सहकृत चेतन गो बछड़ेको अधिष्ठान न मानना चाहिए कि उसे अधिष्ठित होकर दूध निकलता है। शङ्काकार कहता है कि ऐसा कहना भी उनका

ठीक नही है, क्योकि गायके दूधको पीने वाले जितने भी व्यक्ति हैं, बछडा हो, पुरुष हो, सभीके दृष्ट विशेषसे विशिष्ट चेतन द्वारा अधिष्ठित होकर गायसे दूधकी प्रवृत्ति बनती है। एक कार्यके होनेमे सहकारी कारण कितने भी हो जायें, उनका कोई नियम नहीं है। सहकारी कारण अनेक हो सकते है। तो गायसे जो दूध निकलता है वह बछडेके द्वारा या गोभक्त पुरुषोके द्वारा सभीके द्वारा अधिष्ठित होकर निकलता है। यदि कोई ऐसा कहे कि महेश्वरमे भी यह बात घटा लो कि महेश्वर अन्य चेतन द्वारा अधिष्ठित होकर कार्यमे प्रवृत्त होता है, क्योंकि महेश्वर चेतन है। जैसे कि किसी कार्यालयमे अनेक कर्मचारी काम करते हैं तो वे सब कर्मचारी किसी एक विशिष्ट अधिकारीके द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं और वह विशिष्ट अधिकारी भी अन्य अधिकारी द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य करता है। शङ्काकार कहता है कि यह तर्क देना भी ठीक नही है, क्योकि कितने भी कर्मचारी हो, विशिष्ट अधिकारी हो, आखिर उनका सर्वोच्च अधिष्ठाता वह महेश्वर कहलाता है। अधिष्ठाताकी कल्पना ऐसी बन जायगी पर आखिरी जो अधिष्ठाता है वह महेश्वर ही कहलाता है। यह महेश्वर अंतिम अधिष्ठाता है, क्योकि वह पूर्ण स्वतन्त्र है। जो स्वतन्त्र होता है उसका दूसरा अधिष्ठाता नही होता। जिसका दूसरा कोई अधिकारी न हो वही तो महेश्वर है। उससे भिन्न अन्य किसी भी चेतनमे महेश्वरपना सिद्ध नही किया जा सकता है। साथ ही कोई यह भी नही कह सकता कि अन्तिम अधिष्ठाता व्यवस्थित नहीं है, क्योकि शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिकी जो व्यवस्था चल रही है समझ लीजिए कि वे सभी प्रत्येक कार्य व्यवस्थित ढङ्गसे पैदा हो रहे हैं। जैसे प्रतिनियत पशुवोसे प्रतिनियत पशुवोंकी उत्पत्ति होना सभी मनुष्य एक सकलके उत्पन्न होते हैं, सबके अपने-अपने चेतन जुदे-जुदे हैं। तो यह जो ढङ्गसे कार्योंकी उत्पत्तिकी व्यवस्था बनी हुई है वह किसी एक अधिष्ठाताके न होनेपर सम्भव नही है। साथ ही यह भी विचारें कि यदि महेश्वर भी अन्य महेश्वरकी अपेक्षा करे तो यो वह भी किसी अन्य की अपेक्षा करेगा, तो यो अन्य-अन्य महेश्वरोकी अपेक्षामे ही शक्ति क्षीण हो जायगी शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति कदापि नही हो सकती। यो अचेतनत्व हेतुसे यह सिद्ध हो जायगा कि जितने भी जगतमे कारणान्तर हैं, कार्यके उत्पादक कारण है वे सब किसी महेश्वर द्वारा अधिष्ठित होकर ही कार्यको करते है।

अचेतनत्व हेतुसे एक चेतनाधिष्ठितता सिद्ध करनेकी आशंकाका समाधान--अब शङ्काकारकी उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि अचेतन स्वहेतुसे कारणान्तरको अचेतनाधिष्ठित होकर ही कार्यकारिणी कहने वाले वैशेषिक हेतुकी सामर्थ्यके जानकार नही हैं। कौनसे हेतुमे समर्थता है? किसमे नही है? कौन निर्दोष होता है? कौन निर्दोष नहीं होता? इसका परिज्ञान नहीं है। देखिये। ससारी जीवोके ज्ञानमे अचेतनत्व हेतु तो नही पाया जाता याने ससारी जीवोके ज्ञान

अचेतन नही है लेकिन वह पक्षके अन्तर्गत है। पक्ष बनाया गया है समस्त कारणान्तर चेतनके द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं। तो ससारी जीवोका ज्ञान ही कुछ कार्य तो करता है मगर उसमे अचेतनत्व हेतु नहीं पाया जाता, क्योकि ससारी जीवों का ज्ञान चेतन है। तब शकाकारका यह अचेतनत्व हेतु सम्पूर्ण पक्षमे न रहनेसे याने कुछ कारणोमे रह गये, कुछ कारणोमें न रहे तब पक्षव्यापक याने भागासिद्ध दोष आता है। भागासिद्ध दोषका अर्थ यह है कि हेतु समस्त पक्षोमें नहीं पाया जाय किन्तु पक्षके एक देशमे पाया जाय तो उसे कहते है भागासिद्ध दोष। भागासिद्ध दोपसे जो हेतु दूषित होता है वह साध्यका साधक नही समझा जाता। तब अचेतनत्व हेतुको निर्दोष कैसे कहा जा सकता है ? उसम तो स्पष्ट दोष मौजूद है।

चेतन समवायको चेतन कहनेकी प्रयुक्तता शकाकार कहता है कि अचेतनत्व हेतुका अर्थ तो पहिले सुन लीजिये ! हमारे अचेतनत्व हेतुका अर्थ चेतनपने का अभाव होना यह नहीं है, किन्तु चेतनाके समवायका अभाव होना सो अचेतन है। अचेतनका अर्थ यह न लेना कि जहा चेतना न हो सो अचेतन है किन्तु यह अर्थ लेना कि जहाँ चेतनाका समवाय नही बनता उसे अचेतन कहते हैं, तब यहाँ ससारी जीवो का जो ज्ञान है वह स्वय चेतन है वह चेतनाके समवायसे चेतन नही है हमारे अचेतनत्व हेतुका अर्थ यह है कि जिनमे चेतनाका समवाय न हो वह अचेतन कहलाता है। मगर ससारी जीवोके ज्ञान तो खुद अचेतन हैं। उसमे चेतनाके समवायकी आवश्यकता ही नही है और इसी कारण चेतनाके समवाय का वहाँ प्रसङ्ग ही नही बताया जा सकता। वह चेतनाके समवायीमे चेतन नही है। क्योकि चेतनमे अन्य चेतनाका समवाय सिद्ध नहीं होता। तो जब अचेतनत्व हेतुका यह अर्थ कर दिया कि जहाँ जहाँ चेतनका समवाय न हो वह चेतन है तो ससारी जीवोंके ज्ञानमे भी चेतन का समवाय नही है क्योकि वह ज्ञान खुद चेतन है। यो अचेतनत्व हेतु पक्षाव्यापक न रहा। पक्षके कुछ क्षेत्रमे न रहे यह बात न रही ससारी जीवोके ज्ञान भी अचेतन हैं, मगर कैसे अचेतन हैं ? वे यो अचेतन हैं। कि ससारी जीवोंके ज्ञान खुद अचेतन हैं। उनमें चेतनका समवाय नही है यो चेतना का समवाय न होनेसे ससारी जीवो के ज्ञान अचेतन हैं। यो भागासिद्ध दोष न आया तब तब अचेतनत्व हेतु हमारे साध्य को सिद्ध करनेमे पूर्णतया समर्थ है। उक्त शकाके समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकार की यह मान्यता युक्तिसङ्गत नही है। इसका कारण यह है कि ससारी आत्माओ में भी अचेतनाके समवाय का चेतनपना प्रसिद्ध है। तब अचेतनाका यह अर्थ करके कि जहाँ चेतनाका समवाय न हो सो अचेतन है। यो अर्थ करके ससारी जीवोके ज्ञानोको अचेतन नहीं कहा जा सकता उनमे चेतनाका समवाय है। अतएव वे चेतन हैं, उनमें अचेतनतारूप हेतु प्रविस्ट नहीं होता।

अचेतनोको चेतनाधिष्ठितताका एकात माननेपर अनेक दोषापत्तियाँ

अब यहाँ शङ्काकार वैशेषिक कहते है कि हमारा यहाँ यह आशय है कि ससारी आत्मा यद्यपि चेतनाके समवायसे चेतन है परन्तु वह आत्मा स्वत तो अचेतन है। तब उनमे अचेतनत्व हेतु पाया ही गया। यो अचेतनत्व हेतु पक्षाव्यापक नही है। याने अचेतनत्व हेतु समस्त पक्षोमे रह गया। इस शङ्काके समाधानमे कहते है कि शङ्काकारका यह अभिप्राय ठीक नही है, क्योकि इस तरह यदि ससारी आत्माओको अचेतन माना जायगा और अचेतन होनेसे वह चेतनाके समवायसे चेतन नही माना जाता और यो अचेतनत्व हेतुको उनमे घटित किया जाता है तो इस तरह महेश्वर भी अचेतन बन जायगा, क्योकि वह महेश्वर भी स्वय तो अचेतन है। चेतनाके समवायसे ही तो उस महेश्वरको चेतन कहा गया है। तो वह स्वत चेतन न रहा। ऐसी स्थितिमे जितने अनेक सहकारी कारण देखे गए हैं, अथवा जो दिखनेमे नही आते हैं उन दृष्ट और अदृष्ट सहकारी कारणोकी तरह अर्थात जैसे ये सहकारी कारण महेश्वरके द्वारा अधिष्ठित बताये गए हैं उसी तरह वह महेश्वर भी उन दूसरे चेतन द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य कर पायगा और जब दूसरा महेश्वर भी तीसरे महेश्वरके द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य कर पायगा। यो महेश्वरकी अनवस्था बन जायगी, क्योकि बहुत दूर जाकर भी शङ्काकारने किसीको भी तो स्वय चेतन माना ही नही है। जितने भी आत्मा हैं—ससारी हो योगी हो, महेश्वर हो, सभी आत्मा स्वत अचेतन हैं, उनमे चेतनाके समवायसे उन्हे चेतन स्वीकार किया है तो इस कारण उन महेश्वरोमे अनवस्था दोष आ जायगा। यदि शङ्काकार यह कहे कि महेश्वर भले ही स्वत अचेतन है, लेकिन कोई उसका दूसरा चेतन अधिष्ठाता नही है तो ऐसा कहनेमे शकाकारका अचेतनत्व हेतु तो इस ही महेश्वरके साथ व्यभिचारी बन गया, क्योकि यह महेश्वर है तो स्वत अचेतन पर उसका कोई दूसरा चेतन अधिष्ठाता नहीं है। शङ्काकारका तो यह सकल्प था कि जो अचेतन होता है वह किसी चेतनके द्वारा अधिष्ठित होता है, तो यहाँ महेश्वरका आत्मा भी अचेतन ही तो है और उस किसी चेतनाके द्वारा अधिष्ठित मान नही रहे तो हेतु यही व्यभिचारी बन गया। तो अचेतनपना हेतु जब महेश्वरके साथ व्यभिचारी बन गया तो ऐसा व्यभिचारी हेतु अपने साध्यका साधक कैसे हो सकता है ? व्यभिचारी हेतु साध्यका साधक नही बनता। तब उस हेतुसे समस्त कारकोका चेतनसे अधिष्ठित बताना कैसे सिद्ध हो सकता है ? और, फिर यह दुहाई देना कैसे शोभा दे सकता है कि यह अज्ञानी ससारी प्राणी अपने सुख दुखमे असमर्थ है ? वह तो ईश्वरके द्वारा प्रेरित होता हुआ ही स्वर्गको जाता है अथवा नरकको जाता है। यह कथन किस बलपर शोभा देगा ? तब तो यहाँ समस्त कारक चेतन द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य करें, यह सिद्ध ही नही हो रहा।

समस्त कारकान्तरोकी ज्ञानाधिष्ठतताके सम्बन्धमे विचार— शङ्काकार कहता है कि आप इस सब प्रकरणको इस आशयसे देखिये कि जो चेतना

है वह ज्ञान कहलाता है। उस ज्ञानसे अधिष्ठितपना समस्त कारकान्तरोमे सिद्ध कर रहे हैं और वह भी अचेतनत्व हेतुके द्वारा सिद्ध कर रहे हैं, याने सारे कारण किसी चेतन द्वारा अधिष्ठित होकर ही कार्य कर पाते हैं यह बात रखी जा रही है और वह ज्ञान जिस ज्ञानके द्वारा अधिष्ठित होकर कारक कार्य कर पाता है वह ज्ञान समस्त कारकोकी शक्तिका जाननहार होता है, नित्य होता है तथा चूकि वह ज्ञान गुण है अतएव आश्रयके बिना रह नही सकता। इस कारण उस ज्ञानका आश्रयभूत जो भी आत्मा है वह हम लोगोके आत्माओसे विलक्षण है, वही तो हमारा महेश्वर है। सारांश यह है कि इस प्रकरणको यहांसे लेकर चलें कि जगतमें जितने भी कारण हैं वे सब ज्ञानके द्वारा अधिष्ठित होकर ही कार्य करते हैं। तो जो ऐसा कोई ज्ञान है वह ज्ञान सारे कारक पदार्थोकी शक्तियोका जाननहार होना चाहिए नित्य होना चाहिए। तो ऐसा जो भी ज्ञान होगा, जो समस्त कारकोकी शक्तियोका जाननहार होगा वह ज्ञान भी गुण ही तो है और गुण द्रव्यके आश्रय रहता है। तो यह ज्ञान गुण भी किसी आत्माके आश्रय रहेगा। तो ऐसा विशिष्ट ज्ञान जो समस्त कारकोकी शक्तियोका जाननहार है वह जिसके आश्रय रहेगा वह ससारी समस्त आत्माओसे विलक्षण होगा, उत्कृष्ट होगा। तो ऐसा वह उत्कृष्ट ज्ञान जिस आत्माके आश्रय रहता है उस हीका नाम महेश्वर है। इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि शङ्काकारका यह अभिप्राय भी समीचीन नहीं है, क्योंकि बात तो कुछ ठीक की जा रही है पहिले २ लेकिन उसे घटित यों करना चाहिए कि ससारी आत्माओके ज्ञानोके द्वारा भी अधिष्ठित होकर दृष्ट अदृष्ट सहकारी कारण शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिके कारण बन जाते हैं। सामान्यतया यह कहा जाय कि ज्ञान द्वारा अधिष्ठित होकर अदृष्ट विशेष शरीरादिक कार्योंका उत्पादक है, यहाँ तक तो सही है। ससारमें अनन्त जीव हैं, उन सबमें ज्ञान पाया जाता है और उनमें अधिष्ठित हैं धर्म अधर्म अदृष्ट विशेष सहकारी कारण और वे उन उन आत्माओसे सम्बन्धित शरीरादिक कार्योंको करलें इसमे क्या विरोध है? तो मानना यह चाहिए कि सभी आत्माओका अदृष्ट शरीरादिक कार्योंका उत्पादक है न कि कोई एक पृथक महेश्वर समस्त शरीरादिक कार्योंका उत्पादक है। क्योकि कार्योंकी व्यवस्था उन समस्त कारणोके साथ अन्वय व्यतिरेक रखते हुए बन रही है। और इस तरह शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें शुभाशुभ कर्म जो कि स्वय उन प्राणियोके द्वारा अधिष्ठित हैं और अनेक सहकारी कारण इनका ही व्यापार सिद्ध होगा, उससे ही शरीरादिक कार्य बनेंगे, फिर ईश्वर ज्ञानसे अधिष्ठित कुछ कल्पनायें करना व्यर्थ है।

विप्रकृष्टार्थ विषयीकी सृष्टिमे प्रवृत्तिके सम्बन्धमें आरेका—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि हमारा मत तो यह है कि ससारी आत्माओके विज्ञान विप्रकृष्ट अर्थको विषय नही करते अर्थात् जो परोक्षभूत अर्थ है, भविष्यकालमे होने वाला है,

बहुत पहिले हो चुका है, अत्यन्त दूरवर्ती है, ऐसे पदार्थोंको विषय नहीं करता, इस कारण संसारी आत्माओंके ज्ञान धर्म अधर्म परमाणु काल आदिकके अतीन्द्रिय पदार्थ हैं कार्यके सहकारी कारण होनेसे कारक हैं, उनका विशेष साक्षात्कार करनेमें समर्थ नहीं है याने संसारी आत्मा अतीन्द्रिय कारकोंका परिज्ञान नहीं कर पाते हैं और जब वे संसारी आत्मा अतीन्द्रिय कारकोंका ज्ञान नहीं कर पाते तब वे कार्योंके प्रयोजक हैं यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। तब संसारी आत्मा अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान ही नहीं कर पाते तो वे कार्योंके करने वाले कैसे बन सकते हैं? और जब संसारी आत्मा उनके कार्योंके प्रयोजक न रहे तब उन ज्ञानोंसे अधिष्ठित धर्मादिक कार्योंकी, शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें प्रवृत्ति नहीं बन सकती। संसारी आत्माओंके ज्ञान अतीन्द्रिय कारकोंको जानते नहीं हैं तब उन ज्ञानोंसे अधिष्ठित जो आत्मा है अथवा धर्मादिक कारण हैं वे शरीरादिक कार्योंको उत्पन्न न कर सकेंगे। तब यह मानना चाहिए कि अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार करने वाले ज्ञानके द्वारा जो अधिष्ठित हो वह कारणान्तर अपने कार्यमें व्यापार कर सकता है। तो ऐसा ज्ञान कौन है जिससे अधिष्ठित होकर कारणान्तर कार्य कर सके? वह ज्ञान है महेश्वरका ज्ञान। उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यह सब कथन बिना विचारे ही कहा गया है, इसकी त्रुटियोंपर विचार नहीं किया गया है। देखिये! समस्त अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार करने वाले ही ज्ञानको यदि कारकोंका अधिष्ठाता मानते हो तो देखिये! अब ऐसा कोई दृष्टान्त न मिलेगा कि जो आपके इस पक्षका समर्थन कर सके कि समस्त अतीन्द्रिय पदार्थोंके साक्षात्कार करने वाला ज्ञान ही कारकोंका अधिष्ठाता हुआ करता है। जब ऐसा कोई दृष्टान्त न मिला तो इस हेतुका अन्वय सिद्ध न हो सका। कोई अधिकसे अधिक कुम्हारका दृष्टान्त देगा किन्तु वहाँपर भी बात घटित न होगी। कुम्हार आदिक कोई पुरुष कुम्भ आदिककी उत्पत्तिमें जितने कारक कारण हैं उनका साक्षात्कार करने वाले ज्ञानमें कोई समर्थ नहीं है। कुम्हार घड़ेकी उत्पत्तिके कारणोंका साक्षात्कार कर सकने वाला ज्ञान नहीं रख रहा। दण्ड चक्र आदिक जो कारण देखे गए हैं उनका भी साक्षात्कार करनेमें बाधा है क्योंकि उनके निमित्तभूत जो अदृष्ट विशेष है, काल आदिक हैं, उनका तो साक्षात्कार नहीं हो रहा। अधिकसे अधिक यह कह सकते कि दण्ड चक्र आदिक कारणोंका साक्षात्कार बनता रहता है, लेकिन उसके अतिरिक्त अन्य भी तो कारण हैं काल भी कारण है पर कालका साक्षात्कार कुम्हारको कहाँ हो रहा? तो यह बात नहीं कह सकते कि समस्त कारणोंका जो साक्षात्कार कर सकता हो ऐसे ज्ञानसे अधिष्ठित कारण ही कार्यके करनेमें समर्थ हैं शङ्काकार कहता है कि कुम्हार आदिकको भी सब कारकोंका किसी न किसी ढङ्गसे ज्ञान बनता ही रहता है। साधन विशेषसे साध्यका ज्ञान कर लिया जाता है। तो देखिये वहाँ आनुमानिक ज्ञान तो मौजूद ही है। तब उस प्रकार अपनी ही दृष्टि विशेष कुम्हार आदिक कुम्भ आदिक कार्योंको करते हैं, अन्य जन नहीं करते। जिन

पुरुषोंको कारकोंका ज्ञान है चाहे प्रत्यक्ष हो चाहे अनुमानसे हो, किसी भी प्रकार हो, ऐसा ही पुरुष कार्योंको करता है, अन्य पुरुष नहीं किया करते, क्योंकि अन्य पुरुषोंको उस प्रकारके अदृष्ट विशेषका अभाव है। कुम्हारके ही ऐसे अदृष्ट विशेषका प्रभाव है तत्सम्बन्धी संस्कार, तत्सम्बन्धी कुछ भाग्य भावतव्यकी बात मौजूद है। इस कारण कुम्हार ही कुम्भका उत्पादक हुआ, अन्य लोग नहीं हुए, दूसरी बात उस प्रकारका अदृष्ट विशेष न होनेसे अन्य जन कार्योंको नहीं कर सकते, ऐसा वहाँ आगमज्ञान भी मौजूद है, जो कि उन कारणोंके परिज्ञानका कारणभूत है। तब यह सिद्ध हुआ कि कुम्हार आदिकका ज्ञान कुम्भ आदिक कारकोंका परिच्छेदक है और उनके द्वारा उन कार्योंका प्रयोग होता है। इससे उनके द्वारा ये कुम्भ आदिक रचे गए हैं, यह अन्वय मिल जाता है। तो जब यह दृष्टान्त मिल गया तब हेतुको अन्वय नहीं कह सकते।

विप्रकृष्टार्थ विषयीको सृष्टिप्रवृत्तिके सम्बन्धमे आरेकाका समाधान

उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि इस तरहसे तो सर्व संसारी जीवोंके यथा स्वच्छन्द होते हुए शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमे परिज्ञान मान लिया जायगा। किसीको अनुमानसे ज्ञान है, किसीको आगमसे ज्ञान है, तो कार्योंके कारणभूत अदृष्ट कारकोंका परिज्ञान सिद्ध हो जायगा। फिर तो किसी भी संसारी जीवको आप अज्ञ नहीं कह सकते। कारकोंका परिज्ञान होना चाहिए, चाहे वह किसी रूप भी हो प्रत्यक्षसे हो, अनुमानसे हो अथवा आगमसे हो जिन्हें कारकोंका परिज्ञान हो वे कारकोंको कर सकते हैं तब उन्हें अज्ञ कैसे कहा जा सकता है? जिससे कि संसारी आत्माओंको सुख दुःख आदिक कार्योंकी उत्पत्तिमे कारण न माना जाय। सब ही संसारी जीव ज्ञान रखते हैं और उस ज्ञानसे अधिष्ठित होकर अनेक कारण सुखदुःख आदिक कार्यों को कर देते हैं फिर भी आगम बनाना कि सभी संसारी जीव ईश्वरसे प्रेरित होकर ही स्वर्ग या नरकमे जाते हैं, यह बात युक्त नहीं बैठती। सारांश यह है कि यह बात सिद्ध हो जाती है कि जितने भी आत्मा हैं वे सब ज्ञानी हैं और उन ज्ञानोंसे अधिष्ठित कारणान्तर शरीरादिक सुख दुःख आदिक कार्योंको कर देते हैं, फिर सृष्टिके होनेमें ईश्वरकी कल्पना करना व्यर्थ है। जो कारणान्तर देखे गए हैं अथवा नहीं देखे गए अथवा क्रमसे उत्पन्न हुए हैं या अक्रमसे उत्पन्न हुए हैं उन कारणान्तरोंके साथ स्वयं ही शरीरादिक कार्योंके साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है तो उन क्रमजन्य दृष्टादृष्ट कारणोंको क्रमजन्य 'शरीरादिक कार्य मान लिया जाय। और भीतरसे यह भी व्यवस्था बनती है कि उन शरीरादिक कार्योंके उपभोक्ता जो संसारी जीव हैं वे ज्ञानवान हैं और वे ही उस शरीरादिकके, सुख दुःखादिकके अधिष्ठापक हैं, यह बात भी सिद्ध है, किन्तु बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो बात सुगम है, प्रमाण सिद्ध है, निर्बाध है उसे तो माना नहीं जा रहा और जो एक कल्पनाकी चीज है, परोक्षभूत है उस बातको स्वीकार कराया जा रहा है। खैर किसी तरह मान लो कि है महेश्वर ज्ञान,

जिससे अधिष्ठित होकर कारणान्तरको कार्यका उत्पादक कहते हो। लेकिन यहा अब यह तो बताओ कि जो महेश्वरका ज्ञान है वह अस्वसम्विदित है या स्वसम्विदित है ? अस्वसम्विदितका अर्थ यह है कि वह ईश्वरज्ञान अपने आपका ज्ञान नही कर पाता। अपने आपके ही ज्ञानसे वह जाना गया नही है। और स्वसम्विदितका अर्थ है कि वह ईश्वरज्ञान अपने ही ज्ञानके द्वारा जाना गया है अर्थात् जो ज्ञान दूसरोको तो जाने पर खुद अपने स्वरूपको भी जान लेता हो उसे तो स्वसम्विदित कहते है। जो ज्ञान चाहे पर पदार्थोंको जानता रहे, पर अपने आपके स्वरूपको नही जान पाता, अपने द्वारा विदित नही हो पाता, उसे अस्वसम्विदित कहते हैं। इन दो कल्पनाओं से जिसे आप पसन्द करेंगे कि महेश्वरका ज्ञान अस्वसम्विदित है। तो इस कल्पनामे क्या दूषण आता है, सो सुनो।

अस्वसंविदितं ज्ञानमीश्वरस्य यदीष्यते।
तदासर्वज्ञता न स्यात्स्वज्ञानस्याप्रवेदनात् ॥ ३७ ॥

ज्ञानान्तरेण तद्वित्तौ तस्याप्यन्येन वेदनम्।
वेदनेन भवेदेवमनवस्था महीयसी ॥ ३८ ॥

गत्वा सुदूरमप्येवं स्वसंविदितवेदने।
इष्यमाणे महेशस्य प्रथमं तादृगस्तु वः ॥ ३९ ॥

अस्वसविदित ज्ञानी महेश्वरके सर्वज्ञत्वकी असम्भवता—महेश्वरका ज्ञान अपने आपके ज्ञानको नहीं जान पाता ऐसा माना जायगा तो इसका अर्थ यह है कि अब महेश्वर सर्वज्ञ न रहा, क्योकि उस महेश्वरने अधिकसे अधिक सारी दुनियाको जान लिया, पर पदार्थोंको जान लिया मगर खुदके ज्ञानको तो नही जान पाया। तो ज्ञानतत्त्व तो जाननेसे रह गया। तो अपने ज्ञानका वेदन न करनेसे अब ईश्वरके ज्ञान सर्वज्ञता न रह सकी। यदि शङ्काकार कहे कि महेश्वरका ज्ञान अपने ज्ञानको जान लेता है और यो सर्वज्ञ बन जाता है, लेकिन वह अपने ज्ञानको जान पाता है अन्य ज्ञानके द्वारा, यो अन्य ज्ञानके द्वारा अपने ज्ञानको जानकर महेश्वर सर्वज्ञ बन गया। तो ऐसी कल्पना करनेमे भी दोष आता है और वह दोष यही है कि जब महेश्वरके ज्ञानको किसी दूसरे ज्ञानने जाना तो उस दूसरे ज्ञानको किसी तीसरे ज्ञानने जाना। इस तरह अन्य अन्य ज्ञानोके द्वारा ज्ञानोंका वेदन मानना पडेगा और इस तरह बहुत बडी अनवस्था हो जायगी। इस अनवस्थासे घबडाकर बहुत दूर तक अनेक ज्ञानोकी कल्पना करनेके बाद यदि किसी ज्ञानको स्वसम्वेदी मान लिया जाता है कि ५०-६०

ऐसे ज्ञान मानें कि अब ६१ वाँ ज्ञान स्वय अपने आपको जानने वाला मान लिया तो बहुत दूर जाकर किसी ज्ञानको स्वसम्वेदी मानोगे तो उससे अच्छा यह है कि महेश्वर का वह पहिला ही ज्ञान स्वसम्वेदी क्यो न मान लिया जाय ? यह शङ्काकार महेश्वर के ज्ञानको स्वसम्वेदी न माने तो महेश्वरका ज्ञान निज ज्ञानको नही जान पाता और इसमे युक्ति वे यह देते हैं कि स्व आत्मामे क्रियाका विरोध है। खुद खुदमे क्या क्रिया करे, कुछ भी वस्तु अन्य वस्तुमे अपनी क्रिया कर सकती है, लेकिन एक आपत्ति इसमे साक्षात् यह है कि जो अपने ज्ञानको ही नही जान सकता, अपना आपमें ही क्रियाको नहीं कर सकता, वह समस्त कारकोंके शक्ति-समूहको कैसे जान लेगा ? इस बातकी अनुमानसे भी सिद्धि होती है कि ईश्वरज्ञान समस्त कारकोंकी शक्ति समूहका जाननहार नही है, क्योकि वह स्वका जाननहार नहीं। जो जो पदार्थ स्वके जाननहार नहीं होते वे वे पदार्थ समस्त कारक शक्तियोंके समूहके भी जाननहार नही होते। जैसे-- आँखें अपने आपको जानने वाली नही हैं, किसीकी भी आँखें अपनी आँखोके स्वरूपको नहीं जान पा रही, तब ही तो लोग आँखोंको देखनेके लिए दर्पण उठाते हैं। दर्पणको देखकर दर्पणमे प्रतिबिम्बित आँखोको निरखकर, आखोंके दोष मैल आदिक जान लिया करते हैं। तो जैसे चक्षु अपने आपका सम्वेदक नहीं है तो वह समस्त कारक शक्तियोंके समूहका भी जाननहार नहीं है, इसी तरह ईश्वरज्ञान भी स्वका सम्वेदक नही है इस कारण वह समस्त कारक शक्ति समूहका जानने वाला नही हैं, फिर ईश्वरज्ञानको समस्त कारकोंका अधिष्ठापक कैसे कहा जा सकता है ? और जिसमे कि उन कारकोंका आश्रयभूत ईश्वरको समस्त कार्योंका कर्ता कह दिया जाय कि ईश्वरज्ञान शरीरादिक समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमे निमित्त कारण हैं और इस तरह महेश्वरकी असर्वज्ञता ही सिद्ध हो जायगी। समस्त कारकोंका जाननहार न रहा, समस्त कार्योंका निमित्त न रहा, और यो वह सर्वज्ञ भी न रहा। अथवा और भी देखिये ! यदि ईश्वरका ज्ञान स्वय ईश्वरके द्वारा नहीं जाना जाता, इस तरह उसे अस्वसम्विदित मानते हो तब महेश्वरके सर्वज्ञता न रही क्योकि उसने अपने ज्ञानको नहीं जान पाया। महेश्वरका ज्ञान भी तो एक वस्तु है। जैसे किसीने ९९९ वस्तुओं को जाना हो और एकको न जाना हो तो वह शतज्ञ अर्थात् १०० का जाननहार तो न कहलायगा। इसी तरह जिस महेश्वर ज्ञानने अन्य समस्त पदार्थोंको जान लिया हो किन्तु अपने ज्ञानको न जान पा रहा हो, वह सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकता है ?

सर्वके जाने बिना सर्वज्ञत्वकी सिद्धिकी असम्भवता—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि समस्त ज्ञेयोको ही जानकर कोई सर्वज्ञ कहा जाता है। एक अपने ज्ञान को न जाने, उससे सर्वज्ञता न रहे, यह बात नहीं है। जो समस्त ज्ञेयोको जानता हो वह सर्वज्ञ है। ज्ञान तो ज्ञेय नहीं है। ज्ञान तो ज्ञान है। तो उस ज्ञानको यदि किसी ने न जाना तो कहीं ज्ञेयोका ज्ञान न रुक जायगा। जैसे कि चक्षुका ज्ञान नहीं हो

शङ्काकारका कथन है। उस सम्बन्धमे विकल्प पूछा गया है कि वह महेश्वर ज्ञान क्या स्वसंविदित है या अस्वसंविदित है। अस्वसंविदित पक्ष माननेपर जो दोष आता है उनका वर्णन किया गया। अब यदि महेश्वरज्ञानको स्वसंवेदन माना जाय तो क्या दोष आता है ? उसका कथन करते हैं।

तत्स्वार्थव्यवसायात्म ज्ञानं भिन्नं महेश्वरात् ।
कथं कस्येति निर्देश्यमाकाशादिवदञ्जसा ॥ ४० ॥

समवायेन, तस्यापि तद्भिन्नस्य कुतो गतिः ।
इहेदमिति विज्ञानादबाध्याद्व्यभिचारि तत् ॥ ४१ ॥

इह कुण्डे दधीत्यादि विज्ञानेनास्तविद्विषा ।
साध्ये सम्बन्धमात्रे तु परेषां सिद्धसाधनम् ॥ ४२ ॥

विशेषवादमे भिन्न ज्ञानका महेश्वरसे सम्बन्ध समझनेकी अशक्यता—यदि महेश्वरज्ञानसे स्वार्थ व्यवसायात्मक मानते हो अर्थात् स्वसंविदित मानते हो याने वह ज्ञान पदार्थोंका भी निर्णय करता है और अपने आपका भी सम्वेदन करता है, ऐसा स्वसंविदित ज्ञान महेश्वरसे भिन्न माना गया है यह तो उनका सिद्धान्त ही है। तो महेश्वरसे भिन्न वह ज्ञान कैसे कहा जा सकेगा कि यह महेश्वरका ज्ञान है। जब ज्ञान महेश्वरसे भिन्न है तो आकाशसे भी वह ज्ञान भिन्न है जैसे, तो ज्ञान आकाशका है यह तो नही कहा जा सकता। इसी प्रकार यह ज्ञान महेश्वरसे भिन्न है तो यह महेश्वरका ज्ञान इस प्रकार कैसे निर्दिष्ट किया जा सकेगा ? शङ्काकार यदि यह कहे कि समवायसे सिद्ध हो जायगा। महेश्वरके साथ ज्ञानका समवाय है, इस कारण यह सिद्ध हो जायगा कि ज्ञान महेश्वरका है। तो वहाँपर भी यह ही शङ्का होती है कि महेश्वर और ज्ञान इन दोनोंसे भिन्न है वह समवाय। तो यह समवाय इन दोनोंमे लग बैठता है, यह ज्ञान कैसे होगा ? यदि यह कहे शङ्काकार कि वहाँ यह प्रत्यय बनता है कि इसमे यह है 'इह इद' इस प्रत्ययके द्वारा समझ लिया जायगा कि महेश्वरमे ज्ञानका समवाय माननेकी बात जो कही है तो उस हेतुमें व्यभिचार आता है। ऐसा ज्ञान तो यहाँ भी होता है कि इस कुण्डमे दही है। तो इह इद बोध तो हो गया मगर समवाय सम्बन्ध तो नहीं माना। यदि कहो कि हम सम्बन्ध मात्र मान लेंगे तो ठीक है इसमें कोई विरोध नही पर समवायकी बात न बनी और सम्बन्ध मात्रमे भी यह प्रश्न होता है कि महेश्वरमे ही ज्ञानका सम्बन्ध कैसे होगा ? यही बात टीकामें स्पष्ट की गई है कि वह स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान अर्थात् स्वसम्वेदी ज्ञान ईश्वरका

है यह कैसे जाना गया ? इसके लिये शङ्काकार यदि ऐसा अनुमान बनाये कि स्वार्थ-व्यवसायात्मक ज्ञान ईश्वरका माना जाता है क्योंकि वह ईश्वर हम लोगोसे विशिष्ट पुरुष है। यो स्वसम्वेदी माननेपर ईश्वरसे भिन्न ज्ञान तो मानना ही होगा, क्योंकि अगर महेश्वरसे अभिन्न है तो ऐसा तो विशेषवादमे कहा नही गया । विशेषवादके सिद्धान्तका विरोध होगा, क्योंकि विशेषवादमे उस ज्ञान को महेश्वरसे भिन्न माना गया है। और, फिर आकाश आदिककी तरह वह ज्ञान महेश्वरका है यह भी व्यपदेश कैसे बनेगा ? यह एक प्रश्न सामने आता है। उसका उत्तर निकालनेके लिए यदि शङ्काकार यह कहे कि देखिये ! महेश्वरसे भिन्न होना हुआ भी वह ज्ञान महेश्वर का है, ऐसा व्यपदेश होना ठीक है, क्योंकि ज्ञानका महेश्वरमे समवाय है, आकाश आदिकके साथ ज्ञानका समवाय नही है। इस कारण यह ज्ञान आकाश आदिकका है, ऐसा निर्देश भी नही होता। तो यह ज्ञान महेश्वरका है, ऐसा निर्देश होनेके कारण समवाय सिद्ध हो जाता है। इसके उत्तरमे कहते हैं कि यहाँपर भी तो यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि ईश्वर और ईश्वरज्ञान अथवा ज्ञान इन दोनोसे भिन्न जो समवाय है उसका भी बोध कैसे होगा ?

इहेद प्रत्ययमे समवायाधिष्ठानके निर्णयका अनियम—अब शङ्काकार, उक्त मतव्यका समर्थन करनेके लिए कहता है कि देखिये ! इह इद ऐसे ज्ञानविशेषके द्वारा समवायका परिज्ञान हो जाता है। इह इद इस प्रकारके ज्ञानमे कोई बाधा भी नही पाई जाती है। सभी लोगोको ऐसा परिचय हो रहा है कि महेश्वरमे ज्ञान है। तो ऐसा जब अबाधित प्रत्यय बन रहा है तो उससे समवायकी सिद्धि हो जायगी। इस महेश्वरमें ज्ञान है, इस प्रकारका जो इह इद बोध है वह विशिष्ट पदार्थोंके कारण है, क्योंकि सब बाधाओसे रहित यह इह इद बोध बन रहा है। तो जो भी सर्व बाधारहित बोध होता है वह किसी न किसी विशिष्ट पदार्थके कारणसे ही होता है। जैसे द्रव्योमे यह द्रव्य है, ऐसा जो अन्वय सम्बन्धी परिज्ञान हो रहा है याने सभी द्रव्योमे द्रव्य है, इस तरहका जो एक अन्वय पाया जा रहा है वह सामान्य पदार्थके कारण पाया जा रहा है याने सामान्य पदार्थके सम्बन्धसे यह व्यवस्था बनी है कि जितने भी द्रव्य हैं उन सब द्रव्योमे द्रव्य है, इस तरहका परिज्ञान होता रहता है। तो इसी तरह सब बाधाओसे रहित इह इद ज्ञानविशेष है। इस कारणसे यह ज्ञानविशेष विशिष्ठ पदार्थके कारणसे हुआ है, ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् महेश्वरमे ज्ञान है इह इद और जो भी विशेष होता है उसका कोई कारण अवश्य है, और जो भी कारणभूत पदार्थ है उस पदार्थका नाम समवाय है, क्योंकि समवायको छोडकर अन्य किसी भी पदार्थका हेतुपना नही बन सकता। उत्तर इसमे यह है, इस प्रकारके परिज्ञानमे समवाय ही तो कारण बन सकता। द्रव्य गुण आदिक कोई भी पदार्थ कारण नही बन सकते हैं, क्योंकि समवायको छोडकर अन्य पदार्थोंमें इह इदं

इस ज्ञानका हेतुपना नही है । इन ततुओमे पट है, यहाँ जो यह ज्ञान बन रहा है सो वह कही ततुवोके कारण नहीं बन रहा, क्योकि ततुओमे ततु ही हैं, ऐसा ज्ञान होता है । इन ततुओमे पट है, इस प्रकारका जो बोध हो रहा है वह पटके कारण नहीं हो रहा है, क्योकि पटसे तो पट है, इस प्रकारका ही ज्ञान बनेगा । तथा किसी वासनाके कारण भी इन ततुवोमें पट है, ऐसा ज्ञान नही हो रहा, क्योकि वासना तो कारण रहित कैसे यहाँ सम्भव हो जायगी ? उसमे भी कुछ कारण तो है ही । कोई कहे कि पहिले उस प्रकारके ज्ञानका वासना कारण नही तो वह पूर्व ज्ञान भी किस हेतुसे रहा ? यह विचार करना होगा । अगर कहो कि पूर्व वासनासे रहा तो वह ज्ञान किससे रहा ? अन्य पूर्व वासनासे । तो इस तरह अनवस्था दोष माना है । यहा शकाकार इह इव, ऐसे ज्ञानको समवाय हेतुक सिद्ध कर रहा है और उसके लिए छाट छाँट करते हुए उदाहरण दे रहे हैं कि देखो इन ततुओमें पट है, ऐसा जो ज्ञान हो रहा है वह ज्ञान समवायके कारण हो रहा है अन्यके कारणसे नही हो रहा । यदि कोई इनमें अन्य किसीको कारण ढूढे तो उसपर विवेचन कर लिया जायगा । कोई कहे कि ततुओमें पट है, ऐसा ज्ञान ततुओके कारण है सो बात गलत है । ततुओके कारण तो ततुओमे ततु है ऐसा ज्ञान बनेगा । ततुओमे पट है यह ज्ञान पटके कारण भी नही बनता । पटके कारण तो पट है ऐसा ज्ञान बनेगा । ततुओमे पट है ऐसा ज्ञान कहीं वासना विशेषके कारण भी न बनेगा, क्योकि वासनाका कारण तो बतलाओ । यदि कहो कि पहिले उस प्रकारका ज्ञान वासनाका कारण है तो पहिले वह ज्ञान किस कारणसे हुआ ? वासनासे ! वह वासना कैसे हुई ? पहिले ज्ञानसे ! इस तरह तो अनवस्था दोष आता है । यदि कोई कहे कि ज्ञान और वासनामे अनादि सतान मान लिया जायगा तो भाई जब नित्य सतान मानते हो तो बाह्य अर्थकी कैसे सिद्धि होगी ? यदि कहो कि अनादि वासनाके बलसे होगी तो नील आदिक ज्ञान भी अनादि वासना के बलसे हो जायें फिर उनमें विज्ञान सतानकी, नानापरकी सिद्धि नहीं हो सकती । सतान भिन्न भिन्न अन्य अन्य सतानोका ग्रहण करने वाला जो विज्ञान है वह भी सतानान्तरके बिना वासना विशेषसे बन जायगा । जैसे कि स्वप्न सतानान्तरका परिज्ञान होता है । यहाँ शङ्काकार ही क्षणिकवादियोको लक्ष्यमें लेकर कहे जा रहा है कि ज्ञान और वासनामें अनादि सतान कल्पना माननेपर बाह्य अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, फिर तो एक अतरिक ज्ञान ही ज्ञान रहेगा और इस तरह अनादि वासना माननेपर विग्यान सतानका भी नानापना न बन पायगा । और, नाना सतान न मानने पर एक ग्यान सतानकी भी सिद्धि कैसे होगी ? जब अपनी सतान नही है तो उसका ग्रहण करने वाला ग्यान बन गया । स्वसतान यदि नहीं मानते तब फिर सविदित द्वैत कैसे सिद्ध होगा ? यदि क्षणिकवादी यह कहे कि स्वत, प्रतिभास हो जानेसे ग्यान सिद्ध हो जायगा तो वह भी बात यो नहीं बनती कि वह प्रतिभास भी तो उस प्रकार की वासना विशेषके कारण बनेगा । वहाँ भी यह कहा जा सकेगा कि स्वसतानके

प्रतिभास करनेकी वासनाके द्वारा ही स्वतः प्रतिभास होना सवेदनका पर परमार्थतः नहीं होता। उसका प्रतिभास होनेमे वासना विशेष कारण रहा, तब फिर वासनामे कोई ज्ञान ही सिद्ध न हो सकेगा। ये सब प्रतिभास कल्पना उपचारसे ही बातें बनेंगी तब फिर ऐसा सिद्धान्त बनाना कि स्वरूपकी स्वतः गति होती है। ज्ञानस्वरूपका स्वतः ही ज्ञान होता है, यह युक्ति खण्डित हो जाती है। तब किसी कारणसे किसी भी तत्त्वको परमार्थसे सिद्ध करने वालेके लिए अथवा कुछ दूषण देने वालेके लिए साधनका ज्ञान और दूषणका ज्ञान, भ्रान्ति रहित, आलम्बन सहित मानना ही पडेगा। उस ही प्रकार सारा अबाधित ज्ञान आलम्बनसहित होता है, तो हमारा भी जो यह ज्ञान हो रहा इह इद, महेश्वरके ज्ञान है इस प्रकारका जो ज्ञान हो रहा वह भी अबाधित है, तो आलम्बन शून्य कैसे होगा? वह किसी कारणसे होगा और जिस कारणसे इहइद ज्ञान होता है वह कारण समवाय। केवल वासना भरके कारणसे हो रहा है यह ज्ञान, यह बात नहीं, किन्तु वासनामे समवाय नामका पदार्थ है और उस पदार्थके कारण इहइद ऐसा ज्ञान हो रहा है। इहइद इस प्रकारका ज्ञान हेतु शून्य नहीं है, क्योंकि वह कादाचित्क है, जो कादाचित्क होता है वह किसी न किसी हेतुसे होता है। तो वह हेतु कौन है यहाँ? वह है समवाय नामका विशिष्ट पदार्थ। यों ही समवायकी सिद्धि होती है और समवायसे महेश्वरका ज्ञान सिद्ध होता है। तब जो शङ्का उठायी थी कि महेश्वरका यह ज्ञान है, यह कैसे सम्भव है? वह शङ्का युक्त नहीं है। वह समवाय सम्बन्धसे सिद्ध हो जाता है। उक्त वैशेषिकोंके मतव्यपर उत्तरमें यहाँ वे पूछते जा रहे हैं कि इह इद इस प्रकारके ज्ञानसे किसी विशिष्ट पदार्थको जो हेतु कहा है वह हेतु क्या है, क्या समवाय है या सम्बन्ध मात्र है? महेश्वरमे ज्ञान हुआ कि महेश्वरमे ज्ञान है तो ऐसा जो इह इद ज्ञान है वह समवाय के कारण है या सम्बन्ध मात्रके कारण है? यदि कहा जाय कि समवायके कारण है इह इद इस ज्ञानमे समवाय नामका पदार्थ कारण है तो जैसे महेश्वरमे ज्ञान है वहाँ इह इदका बोध होता है उसी प्रकार इस कुण्डमे दधि है इस प्रकारका भी बोध होता है। और जैसे महेश्वरमें ज्ञान है इस प्रत्ययको अबाधित बताते हैं ऐसे ही इस कुण्डमे दधि है, यह ज्ञान भी अबाधित है। लेकिन उसमे तो समवाय नहीं मानी गई। यहाँ तो सुना गया ही है, उस दधीको अलग करके दिखा देते हैं दधी अलग चीज है, कुण्ड अलग चीज है तो इह इद इतना ज्ञान होने भरसे अगर समवाय सम्बन्ध मान लिया जाता तो इस कुण्डमे दधि है, यहाँ भी इह इद इतना भर ज्ञान होनेसे यह भी समवाय सम्बन्ध कल्पित कर लेना चाहिए। वह भी तो अबाधित रूपसे ज्ञान हो ही रहा है, पर इस कुन्डमें दही है, ऐसा ज्ञान समवायके कारण नहीं बन रहा। वह ज्ञान तो सयोगके कारणसे बन रहा है। यदि इह इद इस ज्ञानको सम्बन्ध मात्रके कारणसे मानते हो तो यह जैनियोंको सम्मत ही है। दधिमे भी सम्बन्ध मात्रकी बात मान ली जायगी और ज्ञानमे भी सम्बन्ध मात्र मान लो। स्याद्वादियोंके यहाँ सभी

जगह इह इद ऐसा जो भी अबाधित ज्ञान हो रहा हो उसका कारण सम्बन्ध मात्र ही माना गया है।

ईश्वरमें ज्ञानका सम्बन्ध बताने वाले समवायका लक्षण और उस लक्षणमे कहे गये विशेषणोंकी उपयोगिताका शंकाकार द्वारा प्रकाशन—अब शङ्काकार कह रहा है कि देखिये ! वैशेषिकोंके यहाँ ईश्वरमे ज्ञानका सम्बन्ध हम पहिले सामान्य रीतिसे करते हैं। जब सामान्य रीतिसे सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है तब हम वहां विशेष सम्बन्धकी सिद्धि करते हैं। जैसे कि अबाधित इह इद ज्ञानके साधन से पहिले हम सामान्यतया ईश्वरमें और ज्ञानमें सम्बन्ध सिद्ध करते हैं। ईश्वरमे ज्ञान है, इतना तो सभीको अबाधित ज्ञान हो रहा है। उस ज्ञानके बलसे वहाँ सामान्यरूप से सम्बद्ध सिद्ध किया। अब उसके बाद विशेष सम्बन्धका कारणभूत इह इद प्रत्यय होता है जो कि अवयव अवयवीमे, गुण गुणीमे, क्रिया क्रियावानमें, सामान्य सामान्यवानमे, विशेष विशेषवानमे जो एक इह इद ज्ञान होता है वह विशेष सम्बन्धको सिद्ध करता है और ऐसा विशेष सम्बन्ध समवाय ही हो सकता है, क्योंकि समवायका लक्षण इसमे घटित होता है। समवायका लक्षण यह किया गया—

"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेद प्रत्ययलिङ्गो यः सम्बन्धः सः समवायः।"

अपृथक सिद्ध और आधार आधेयभूत पदार्थमें जो इह इद इस ज्ञानके साधन से सम्बन्ध बनता है उसका नाम समवाय सम्बन्ध है। यहाँ अपृथक सिद्ध व आधार आधार्यभूत ये दो खास विशेषण बहुत महत्वपूर्ण हैं। साथ ही इह इद प्रत्ययके द्वारा होने वाला सम्बन्ध यह वचन भी खास महत्वपूर्ण है। जैसे कि कोई यदि यहाँ यह आशङ्का कर बैठता है कि समवायका लक्षण केवल इतना ही कहना चाहिए कि इह इद इस प्रत्ययके साधन द्वारा समवाय सिद्ध होता है। तो यदि कोई इतना ही कहता तो जैसे कहते हैं कि उस ग्राममें वृक्ष हैं, तो ग्राममे जो वृक्ष हैं वे तो अन्तरालपूर्वक हैं तो ऐसे दूसरे ग्राममें वृक्ष हैं, इस तरहके इह इद प्रत्ययमें व्यभिचार आ जाता है। यहाँ बोध तो हो गया लेकिन समवाय नहीं माना गया है। तो इहेद प्रत्ययके साधन पूर्वक समवाय बनता है, ऐसा कहनेमे दोष आता है। इस कारण सम्बन्ध शब्द दिया गया है। लेकिन इहेद ज्ञानको कराने वाला सम्बन्ध है वह समवाय है। तो इस ग्राम मे वृक्ष हैं, यहाँ इहेदका जो बोध हुआ मगर सम्बन्ध नहीं है। लेकिन इहेद प्रत्ययपूर्वक सम्बन्ध होता है उसे समवाय कहते हैं। कोई यहाँ भी यह बात उपस्थित करदे कि ग्राम और वृक्षमें अन्तरालका अभाव तो है इसलिए सम्बन्ध बन जायगा, तब व्यभिचार दोष न आयगा। मानो ग्राममें वृक्ष हैं और अन्तरालका अभाव है। ग्राम दूर हो

वृक्ष दूर हो, ऐसा अन्तराल नहीं है। इस कारण सम्बन्ध भी बन गया। तो उसके साथ व्यभिचार न आयगा। ऐसा कहने वाले यद्यपि वहाँ कुछ खींचातानी करके बचाव भी करले लेकिन दूसरा उदाहरण देखिये। जैसे कहते हैं कि इस आकाशमे पक्षी हैं, यहाँ इहेद यह ज्ञान तो हुआ अब वहा संयोग सम्बन्ध मात्र है। कही आकाश मे पक्षी का समवाय नही है तो सयोग सम्बन्ध मात्र जहाँ कारण है ऐसा इह इद इस प्रत्यय वाले आकाशमे पक्षी है, उसके साथ व्यभिचार आ जायगा। उसी कारणसे समवायके लक्षणमे आधार आधेयभूत शब्द डाला गया है याने इह इद प्रत्यय ऐसा सम्बन्ध होना भी हुआ और साथ ही वह आधार आधेयभूत भी हुआ। तो आधार आधेय शब्द डालनेसे आकाशमे पक्षी है, इस ज्ञानके साथ व्यभिचार न आयगा। जैसे अवयव अवयवीमें जो कि आधार आधेयभूत है, अवयवी आधार है, अवयव आधेय है अथवा अवयव आधार है, अवयवी आधेय है। तो जैसे वहाँ आधार आधेय सम्बन्ध लगता है उस तरह आकाश और पक्षीके आधार आधेय भाव प्रसिद्ध नही है, क्योंकि आकाश और पक्षीमे आधार आधेय सम्बन्ध होना असिद्ध है। कहा कि आकाश तो व्यापक है। जैसे वह पक्षीके नीचे आकाश है, वैसे ही ऊपर भी आकाश है। तो आधार तो नीचे होता आधेय ऊपर होता है, मगर आकाश व्यापक होनेसे उसके बीच रहने वाला पक्षी आधेय नहीं कहा जा सकता है। तो आधार आधेय भूतोके यह विशेषण देनेसे आकाशमें पक्षीके साथ इह इद प्रत्ययका दोष न आयगा। अर्थात् आकाशमें पक्षी है, यह एक साधारण सम्बन्ध वाली बात है। वहाँ समवाय सम्बन्ध नही सिद्ध होता।

समवाय लक्षणोक्त विशेषणोकी उपयोगिताका पुन प्रकाशन--यदि कोई यहाँ यह कहे कि आकाश तो अतीन्द्रिय है। उसके सम्बन्धमें तो हम लोगोको इह इद यह ज्ञान हो ही नही सकता। और, जब वहाँ इह इद ज्ञान नही हो सकता तो अतिव्याप्ति प्रदर्शित करनेमे यह कथन ठीक नहीं, ऐसा कहना भी युक्त नही है, क्योंकि किसी भी साधनसे अनुमान कर लीजिए। जो भी पदार्थ है उसमे बराबर व्यवहार चलता है, तो यो ही किसी लिङ्गसे अनुमान लिए गए आकाशमें पक्षी आदिक किसीका भी इह इद यह ज्ञान हो सकता है। प्राय करके लौकिकजनोको भी आकाश के विषयमें सदेह नही है तो यो आकाशमे पक्षी है इस प्रकारका ज्ञान हो सकता है, इसमें कोई विरोध नही है। अथवा उसमे भ्रान्तिसे किसी भी इह इदका ज्ञान बन जाय तो उसके साथ अतिव्याप्तिकी बात सगत हो जाती है। तो उस अतिव्याप्तिके परिहारके लिए आधार आधेयभूत यह विशेषण कहना सर्व प्रकार उचित है। अब वैशेषिकोके प्रति कोई शङ्का करता है कि समवायके लक्षणमें आधार आधेयभूत भी कह दे फिर भी वह लक्षण समीचीन नही बनता। जैसे इस कुण्डमे दही है, ऐसा ज्ञान तो होता है तो वहाँ इह इदका ज्ञान हुआ, और आधार आधेयभूत भी है [illegible]

है और दधि आधेय है इतनेपर भी यह समवाय सम्बन्ध नहीं माना गया। इस कारण से आधार आधेयभूत पदार्थोमे इह इद इस ज्ञानके द्वारा समझा गया सम्बन्ध समवाय कहलाता है। यह कथन युक्त न रहा। इसके उत्तरमे वैशेषिक कहते हैं कि तभी तो मैने इस लक्षणमे अयुतसिद्ध शब्द डाला है, याने कोई पदार्थ आधार आधेयभूत हो और साथ ही अभिन्न हो तो उनमे समवाय सम्बन्ध बनता है। तो जिस तरह अवयव अवयवीमे अभिन्नता सिद्ध है उस तरह दही और कुण्डमे अभिन्नता सिद्ध नही है। तो अभिन्नता न होनेमे कारण अयुतसिद्ध पदार्थोमे जो सम्बन्ध माना गया है वह समवाय नही कहला सकता। तब वैशेषिकोके प्रति कोई शङ्का कर रहे है कि फिर तो अयुत सिद्ध इतना ही विशेषण दीजियेगा। आधार आधेयभूत यह विशेषण न कहना चाहिए क्योकि अयुत सिद्ध इतना कह देनेमे ही सब बात सिद्ध हो जाती है। जो अभिन्न होंगे उनमे आधार आधेयभूतकी बात क्या कहना ? समवाय तो अभिन्नमे ही हुआ करता है। तो अयुतसिद्ध इतना ही विशेषण देकर आधेयभूत यह न कहकर सम्बन्धका लक्षण कह देना चाहिए। इसके समाधानमे वैशेषिक कहते हैं कि ऐसा विचार न रखिये। क्योकि आकाश और आश शब्द इनमे वाच्य वाचक सम्बन्ध है। समवाय सम्बन्ध तो नही है, लेकिन अयुतसिद्ध तो है ही। तो अयुतसिद्ध होने वाले आकाश और आकाश शब्दके साथ अतिव्याप्ति हो जायगी। आधार आधेयभूत यह शब्द न कहकर यह दोष आता है, इस आकाश वाच्यमे वाचक आकाश शब्द है। यहाँ वाच्य वाचक भाव तो हो गया और वह इह इद इस ज्ञानसे भी जाना गया और अयुतसिद्ध भी है लेकिन समवाय सम्बन्ध नहीं है। तो यदि सम्बन्धका लक्षण इतना ही कहा जाता अयुतसिद्ध पदार्थमे इह इद इस प्रत्ययके कारण जो सम्बन्ध सिद्ध होता है उसका नाम समवाय है। मात्र इतना कहनेसे वाच्य वाचकके साथ अतिव्याप्ति आता है तो उस अतिव्याप्तिको दूर करनेके लिए आधार आधेयभूत यह शब्द देना अत्यन्त आवश्यक है।

आधार आधेयभूत व अयुतसिद्धके अवधारणसे विषय विषयी भाव सम्बन्धका निराकरण और समवायका समर्थन—अब वैशेषिकोके प्रति कोई आशङ्का करता है कि जो आधार आधेयभूत हैं तथा जो अयुतसिद्ध हैं उनमें विषय विषयी भाव सम्बन्ध बन जायगा। समवायकी सिद्धि कैसे बनेगी ? जहाँ भी आधार आधेयभाव है वहाँ सिद्ध हो गया विषय विषयी सम्बन्ध और जहाँ अयुतसिद्ध भी होगा उसमे भी सिद्ध है विषय विषयी सम्बन्ध, वहा समवायकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? और, यह कहा नही जा सकता कि आत्मामे इच्छा आदिकका ज्ञान होना अयुत सिद्ध नही है। जैसे कोई कहता कि आत्मामें इच्छा है तो वह अयुतसिद्ध ही तो है। कोई कहता है कि मैं हू तो मुझमे अस्तित्व है। इस प्रकार की जो बुद्धि बनती है उसमे आधार आधेय सम्बन्ध सिद्ध हो जाता। तब मैं हू इस ज्ञानमे जो आत्म विषयक

है, अयुत सिद्ध है। आत्मा ही जिसका आधार है यह बात तो सिद्ध है और साथ ही उनमे विषय विषयी भाव है तब अयुतसिद्धमे भी, आधार आधेयभूतमे भी समवाय सम्बन्ध कैसे सिद्ध होगा ? उनमे तो विषय विषयी भावका सम्बन्ध मानना चाहिए। इसके समाधानमे वैशेषिक कहते हैं कि यह कथन भी ठीक नही, क्योकि हम तो, वहाँ अवधारण कर रहे हैं कि आधार आधेयभूतके ही और अयुतसिद्धके ही समवाय सम्बन्ध होता है। ऐसा अवधारण कर लेनेमे अब उक्त दोष दूर हो जाता है। वाच्य वाचक भाव जैसे अयुतसिद्धमे होता वैसे युतसिद्धमे भी होता है। तब यह अवधारण तो न रहा कि वाच्य वाचक भाव अयुतसिद्धके ही होता है, इसी तरह आधार आधेयभूतमे भी वाच्य वाचक भाव होता है और जो आधार आधेयभूत नही हैं उनमे भी वाच्य वाचक भाव हो तो तब यह अवधारण कर लिया जायगा कि अयुतसिद्धके ही और आधार आधेयभूतके ही समवाय नामका सम्बन्ध होता है। तो इसमे यह दोष नही रहता। क्योकि विषय विषयी भाव अनवधारित है। भिन्नके भी होता, अभिन्नके भी होता। आधार आधेयभूतके हो और आधार आधेय नही है जहाँ वहाँ भी न हो तब हमारे समवाय सम्बन्धका लक्षण भली प्रकार सिद्ध है।

अयुतसिद्ध व आधाराधेयभूत दोनो विशेषणोके एक साथ कहनेकी उपयोगिता—अब यहां वैशेषिकोके प्रति पुन कोई शङ्काकार करता है कि अयुत सिद्ध के ही ऐसा अवधारण भी बना लिया जाय फिर भी वहाँ तो अतिव्याप्तिका अभाव हो जायगा, लेकिन आधार आधेयभूतके ही इस अवधारणका कहना व्यर्थ हो जायगा। जैसे आधार आधेयभूतके ही इतना जब अवधारण बना लिया तो अयुत सिद्धके ही यह कहना व्यर्थ है याने दोनोमेंसे कोई एक कह लीजिए। देखिये ! कोई विषय विषयी भाव और वाच्य वाचक भाव युतसिद्धमे भी सम्भव है। यही कहकर तो दोष मिटाते हो। सो जैसे आधार आधेय भाव रहित कि यह वाच्य वाचक भाव सिद्ध होता है और इस कारणसे इसमे अतिव्याप्ति दोष नही आता, ऐसे ही अयुत सिद्धके ही ऐसा कह देनेपर अतिव्याप्ति'दोष दूर हो जाता है। इस कारण अवधारण वाला एक ही विशेषण कहा गया अयुतसिद्धके ही और आधार आधेयभूतके ही ऐसे दो विशेषणोका अवधारण बनानेकी आवश्यकता नही है। इसके समाधानहे वैशेषिक कहते हैं कि यह कथन ठीक नही है। देखो ! घट आदिक एक द्रव्यमे समवाय सम्बन्ध से रहता है रूप रस आदिक, इसे कहा करते हैं पदार्थ समवाय। एक पदार्थमे अनेक पदार्थ समवाय सम्बन्धसे रह रहे हैं और वे रूप रस आदिक अयुतसिद्ध है। कहीं पृथक पृथक सिद्ध नही हैं और फिर भी उनका आपसमें सम्बन्ध नही है। याने रूपका और रसका परस्परमे समवाय सम्बन्ध नहीं है। अयुतसिद्ध इसपर भी समवाय सम्बन्ध नही पाया गया तो यो एकार्थ समवाय सम्बन्ध रहा तो उसके साथ अतिव्याप्ति दोष आ जायगा। याने केवल अयुतसिद्धके ही इतना कहा जाय तो अयुतसिद्ध तो

रूप रस भी हैं उनमे परस्पर समवाय सम्बन्ध तो है नही, इस कारण जो वैशेषिकोंके विरुद्ध यह शङ्का कर रहा है कि अयुतसिद्धमे ही इतना भर कहदें तो इसका समवाय सम्बन्ध बन जायगा सो नही बनता। अयुतसिद्धके ही इतना कहनेपर रूप रस आदि के साथ परस्पर समवाय सम्बन्ध माननेका प्रसङ्ग आ जायगा। लेकिन वहाँ समवाय सम्बन्ध नही है। और ऐसा भी नही है कि यह एक अर्थ समवाय भिन्न पदार्थोंमे हो जाता हो। जैसे कि विषय विषयी भाव, वाच्य वाचक भाव पृथक सिद्धके ही माननेसे अवधारण कहकर उनका व्यभिचार डाल दिया जाता है ऐसे ही रूप रस आदिकमे व्यभिचार डाला नही जा सकता, क्योंकि एकार्थ समवाय सम्बन्ध रूप रस आदिककी स्थिति युतसिद्धमे नही होती। अतः अयुतसिद्धके ही ऐसा अवधारण करनेपर उसके साथ व्यभिचार आया, रूप रस आदिकके साथ उसे दूर करनेके लिए आधार आधेय-भूत, यह शब्द अवश्य ही कहना चाहिए। तब देखिये ! रूप और रस इनका परस्पर आधार आधेयभाव नही है। रूपमे रस नही, रसमे रूप नही। तो आधार आधेयभूतके ही, इतना विशेषण और दे देनेपर रूप रसके साथ व्यभिचार नहीं आता, तब दोनों ही अवधारण देना समवाय सम्बन्धके लक्षणमे युक्तिसङ्गत नहीं है। इसी प्रकार आधार आधेयभूतके ही इतना मात्र अवधारण करे और अयुतसिद्धका विशेषण हटा दे तो जहाँ आधार आधेयभूत ही होता है ऐसा कुछ पदार्थोंके साथ व्यभिचार आयगा, जैसे—संयोग विशेष। उनमें कुछ आधार आधेय भाव है और वह संयोग विशेष कभी भी आधार आधेय रहितमें सम्भव नही, तो उसके साथ अतिव्याप्ति बन बैठेगा। याने सम्बन्धके लक्षणमें सिर्फ आधार आधेयभूतके ही, इतना कहा जाय तो संयोग विशेष तो आधार आधेयभूतके ही होता है। फिर उसमे समवायका लक्षण घटित करनेका प्रसङ्ग आ पड़ेगा। इस कारण दोनो ही विशेषण देकर दोनोंमें अवधारण करना उचित है। इस प्रकार अयुतसिद्ध और आधार आधेयभूत इन दोनोंमें ही अवधारण करके इहेद ज्ञानके द्वारा सिद्ध होने वाला सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है, यह भलीभाँति सिद्ध होता है। तो इस तरह ईश्वरमें ज्ञान है यहाँ समवाय सम्बन्ध बन जाता है और समवाय सम्बन्ध बननेसे इसमे ईश्वर और ज्ञानका सम्बन्ध बन गया और तब वह सृष्टि करनेमें निमित्त बनेगा।

समवायसम्बन्ध लक्षणोक्त विशेषणोंकी व्यभिचारिता दिखाते हुए उनकी शङ्काओंका समाधान—उक्त सब शङ्काओंके समाधानमें कहते हैं कि देखो, सबसे पहिले हम आपके अयुतसिद्ध विशेषणपर ही कुछ विचार कर रहे हैं। भला बतलाओ ! अयुतसिद्धपनेका अर्थ क्या है ? वैशेषिक सिद्धान्तमें जो अयुतसिद्धकी बात कही है वह अयुतसिद्ध क्या है ? शास्त्रीय अयुतसिद्ध है या लौकिक ? याने वैशेषिक शास्त्रोंमें जिस ढङ्गसे अयुतसिद्धकी व्याख्या की गई है क्या उसके अनुसार समवाय सम्बन्धके लक्षणमे अयुतसिद्धपनेकी बात कह रहे हो या लोकरूढिमे जैसे अभिन्नपना

प्रख्यात है उस प्रकारके अयुतसिद्धपनेकी बात कह रहे हो ? ऐसे दो विकल्पोको उठाकर उनका निराकरण करनेके लिए दो कारिकायें कहते हैं—

सत्यामयुतसिद्धौ चेन्नेदं साधुविशेषणम् ।
शास्त्रीययुतसिद्धत्वविरहात्समवायिनोः ॥ ४३ ॥

द्रव्यस्वावयवाधारं गुणो द्रव्याश्रयो यतः ।
लौकिक्ययुतसिद्धिस्तु भवेद् दुग्धाम्भसोरपि ॥ ४४ ॥

समवायी पदार्थोंके आधार भिन्न भिन्न होनेसे अयुतसिद्ध विशेषणकी अयुक्तता—यदि यह कहा जाय कि अयुतसिद्ध विशेषण देनेपर व्यभिचार दोष नही आता, तो सुनो ! वह अयुतसिद्ध विशेषण ही सम्यक नही है, क्योकि अवयव अवयवी आदिक जो समवायी पदार्थ हैं उनमे शास्त्रीय अयुतसिद्ध घटित नही होता । याने वैशेषिक सिद्धान्तमे अयुतसिद्धकी जो व्याख्या की गई है उसके अनुसार अयुतसिद्धपने की बात समवायमे घटित नही होती । इसका कारण यह है कि देखिये ! द्रव्य तो अपने अवयवमे रहता है और गुण द्रव्यमे रहता है । तो अब देखिये ! दृष्टा और गुण जिनमे कि समवाय सम्बन्ध बना रहे हो, ये दोनो भिन्न–भिन्न आश्रयमे रहते हैं, देखो ! रहा ना द्रव्य तो अवयवोमे और गुण द्रव्यमे । द्रव्य और गुण ये दोनो एक सत्त्वमे न रहे । तो जब ये दोनो भिन्न–भिन्न आश्रयमे रहे याने दोनोका एक आश्रय जब न रहा तब उनमे शास्त्रीय अयुतसिद्धपना कैसे हो सकेगा ? यदि कहो कि शास्त्रीय अयुतसिद्ध सम्बन्ध नही बनता तो लौकिक अयुतसिद्ध बन बैठे । तो वह भी कथन यो युक्त नही है कि लौकिक अयुतसिद्ध तो दूध और पानी है । जैसे दूध और पानी मिला दिये जायें तो वे अभिन्न हो गए । सभी लोग ऐसा कहते हैं, लेकिन दूध और पानीमें समवायका सम्बन्ध तो नही माना गया । तो अयुतसिद्धका अर्थ शास्त्रीय व्याख्याके अनुसार भी न बना और लोकरूढिके अनुसार भी न बना । तो जब अयुतसिद्ध यह विशेषण ही सिद्ध न हुआ तब समवाय सम्बन्धका लक्षण बनाना कैसे सिद्ध होगा ? वैशेषिक कहते हैं कि देखिये ! तन्तुओमे पट है यह जो इहेद प्रत्यय बन रहा है वह समवाय सम्बन्धके कारणसे ही बन रहा है, क्योकि तन्तुओमे वस्त्र है, यह निर्बाध और अयुतसिद्ध ज्ञान है । सभी लोग इस तरहका ज्ञान कर रहे हैं कि तन्तुओ मे वस्त्र है और साथ ही अयुतसिद्ध भी है । तो यहाँ यह अनुमान प्रयोग बना लीजिए कि तन्तुओमे वस्त्र है, इस प्रकारका जो इहेदं प्रत्यय है वह समवाय समवाय सम्बन्धके कारणसे ही होता है, क्योकि वहा निर्बाध अयुतसिद्ध इहेद ज्ञान है । जो समवाय सम्बन्धके निमित्तसे नहीं होता वह निर्बाध अयुतसिद्ध ज्ञान भी नहीं होता । जैसे इन समवायियोमे समवाय है, यहाँ होनेवाला इहेद ज्ञान यह समवाय सम्बन्धके निमित्तसे

नही है और इस कुण्डमें दही है, यह युतसिद्ध इह इद ज्ञान है यह भी समवाय सम्बन्ध नही है। तो जहाँ निर्बाध अयुतसिद्ध इहेद ज्ञान होता है वहाँ समवाय सम्बन्ध मानना चाहिये। तन्तुओमें वस्त्र है, यहाँ इस ही प्रकारका सम्बन्ध है। और, वह समवाय सम्बन्धके कारण ही हुआ है। तो इसलिये इस अनुमानमें हेतु केवल व्यतिरेकी है और असिद्ध आदिक कोई दोष नहीं है। तो यह समवाय सम्बन्धरूप साध्यको सिद्ध करनेमें पूर्णतया समर्थ है। तो यह सब सिद्धि अयुतसिद्ध इस विशेषणके आधारपर ही हो सकी है। अब उक्त शङ्काके उत्तरमें स्याद्वादी कहते हैं कि आपने जो हेतु दिया है कि निर्बाध होनेपर अयुतसिद्ध इहेद ज्ञान होनेसे इस हेतुमें जो अयुतसिद्धत्व विशेषण दिया गया है वह क्या शास्त्रीय अयुतसिद्ध है या लौकिक अयुतसिद्ध है? शास्त्रीय अयुतसिद्ध तो यहाँ ठीक ठहरता नहीं, क्योंकि अयुतसिद्धकी बात बताई गई थी कि समवाय समवायीमें, अवयव अवयवीमें, गुण गुणीमें, क्रिया क्रियावानमें अयुतसिद्ध समवाय सम्बन्ध है। लेकिन इसमें अयुतसिद्धपना तो घटित ही नहीं होता। वह कैसे घटित नही होता? सो सुनो। वैशेषिक सिद्धान्तमें यह बात प्रसिद्ध की गई है कि "अपृथगाश्रयवृत्तित्वयुतसिद्धत्वम्" अर्थात् अभिन्न आश्रयमें रहनेका नाम है अयुतसिद्धपना याने जिसका पृथक आश्रयमें रहना न हो, किन्तु अपृथक आश्रयमें रहना हो उसे कहते हैं अयुतसिद्ध। ऐसा अयुतसिद्धपना यहाँ नही है। किस तरह नहीं है? सो सुनो। जैसे तन्तुवोंमें पट है, यहाँ समवाय सम्बन्ध घटित किया जा रहा है। तो यहाँ जो तन्तुरूप कारण द्रव्य है वह तो अपने अवयवरूप अशोंमें रहता है और पटरूप जो कार्यद्रव्य है वह अपने अवयवरूप तन्तुओंमें रहता है। याने तन्तु और पट ये दो चीजें बताते हैं। तन्तु तो है कारण द्रव्य और पट है कार्य द्रव्य। तन्तु तो रहता है अपने अवयवमें और पट रहता है तन्तुओंमें। तो आश्रय अभिन्न कहा रहा? पटका आश्रय कुछ है, तन्तुओंका आश्रय और कुछ है। तो इस तरह तन्तुओंमें पट है, इसका समवाय सम्बन्ध घटित नही कर सकते, क्योंकि अपृथक आश्रयमें रहने वाले रहे दोनों।

अवयव अवयवी, गुण गुणवान, कर्म कर्मवान, आदिमें भी समवायका अघटन—उक्त विवेचनके अनुसार अवयव अवयवीमें भी अभिन्न आश्रय वृत्तिपना सिद्ध नहीं होता। वहाँ पर भी पृथक आश्रयमें रह रहे हैं अवयव और अवयवी। और, भी देखिये। किसी भी पदार्थमें रूप, रस आदिकका रहना बताया जाता है। जैसे पटमें रूप इसका समवाय सम्बन्ध कहते हैं। मगर यहाँ भी यह विलक्षणता आती है कि रूपादिक गुण हैं वे तो हैं कार्य द्रव्यके आश्रय और कार्यद्रव्य है अपने अवयवके आश्रय तो जब गुण गुणीका अभिन्न आश्रयमें रहना न बना तो इसमें भी समवाय सम्बन्ध कैसे सिद्ध किया जा सकता है, इसी प्रकार और भी सुनो। कर्मका कार्य द्रव्यमें समवाय सम्बन्ध माना है विशेषवादमें। लेकिन वहाँ भी समवाय सम्बन्धका लक्षण घटित नही होता। अपृथक आश्रयमें रहनेपर ही तो समवाय सम्बन्ध कहा जाता है। तो

क्रिया तो रही कार्य द्रव्यमे और कार्य द्रव्य रहा अपने अवयवोमे तो क्रिया रही अन्य आश्रयमे और कार्य द्रव्य रहा अन्य आश्रयमे तो क्रिया और क्रियावानका अपृथक आश्रयमे रहना सिद्ध न हुआ। उसी प्रकार सामान्य सामान्यवानमे भी अपृथक आश्रय में रहना नही बन रहा। जैसे सामान्य तो है द्रव्यत्व, तो रह रहा है द्रव्यत्वादिकमे और द्रव्यादिक रह रहे हैं अपने आश्रयमे, अवयवमे। इस तरह सामान्य सामान्यवान का भी भिन्न भिन्न आश्रयमे रहना सिद्ध हुआ तो सामान्य सामान्यवानमे भी समवाय सम्बन्धका लक्षण घटित नही होता उसी प्रकार विशेषवानमे भी समवाय सम्बन्धका लक्षण घटित नही होता, क्योंकि वहाँ जो अपर विशेष है वह तो रहता है कार्य द्रव्य मे और कार्य द्रव्य रहा करता है अपने अवयवोमे। तो यहाँ भी विशेष और विशेषवान इनका एक आश्रय न रहा। तो इस तरह कही भी शास्त्रीय अयुतसिद्ध समवायियोमे घटित नही होती। तो शास्त्रीय अयुतसिद्ध तो असिद्ध हो गयी, अब यदि लौकिकी अयुतसिद्धका विश्वास रखा तो यह भी बहुत दोष है। जैसे दूध और जल इनमे लौकिकी प्रसिद्ध है कि इसमे एकपना है, एक आधारमें रह रहे हैं। एकमेक हो गए हैं, पर वस्तुत, ये दोनो पृथक सिद्ध हैं, दूधमे दूध है पानीमे पानी है, तो यहाँ भी अयुतपना सिद्ध नही हो रहा, तो न लौकिकी अयुत सिद्ध होता न शास्त्रीय अयुत सिद्धपना सिद्ध होता। शङ्काकार अपने पक्षका समर्थन करता है और उसके समाधानमे स्याद्वादी कहते हैं

पृथगाश्रयवृत्तित्वं युतसिद्धिर्न चानयो'।
साऽस्तीशस्य विभुत्वेन परद्रव्याश्रितिच्युतेः ॥४५॥

ज्ञानस्यापीश्वरादन्यद्रव्यवृत्तित्वहानितः।
इति येऽपि समादध्युस्तांश्च पर्यनुयुञ्जमहे ॥४६॥

विभुद्रव्य विशेषाणामन्याश्रय विवेकतः।
युतसिद्धिः कथं नु स्यादेकद्रव्यगुणादिषु ॥४७॥

समवायः प्रसज्येताऽयुतसिद्धौ परस्परम्।
तेषां तद्वितयाऽसत्वे स्याद्व्याघातो दुरुत्तरः ॥४८॥

युतसिद्ध और अयुतसिद्धके अर्थकी अनास्पदता—शङ्काकार कहता है युतसिद्धका अर्थ है भिन्न आश्रयमे रहना सो ऐसा युतसिद्ध ईश्वर और ईश्वरज्ञानमे नही है। ईश्वर कही रहता हो, कही ईश्वरज्ञान न रहता हो, ऐसा पृथक सिद्धपना

नही है, क्योंकि ईश्वर तो व्यापक है और इस कारणसे वह किसी पर द्रव्यका आश्रय कैसे करेगा ? दूसरे द्रव्यमे नही रहता और ईश्वरज्ञान भी ईश्वरसे भिन्न अन्य द्रव्यों मे नही रहता, इस कारण ईश्वर और ईश्वरज्ञानमे युतसिद्ध तो है नहीं अयुतसिद्ध है, मायने अभिन्न है, एकमेक है, ऐसा वैशेषिकजनोका कथन है। उसके उत्तरमे स्याद्वादी कहते हैं कि ऐसा कहने वाले वैशेषिक यहाँ इस प्रकार पूछे जाने योग्य हैं कि जो विभु द्रव्य होता है, व्यापक द्रव्य विशेष हैं उनमे अन्यका आश्रय तो होता नही, तब एक द्रव्यके गुणादिकमे युतसिद्ध क्यो न हो जायगा ? अथवा जब विभु द्रव्य अन्य द्रव्यमे नहीं रहता तो उन सर्व द्रव्योकी पृथक सत्ता कैसे रह सकगी ? जैसे आत्मा, आकाश पृथ्वी आदिक अनेक द्रव्य हैं, इस प्रकार जो व्यापक द्रव्य है आत्मा, आकाश दिशा, आदिक तो इन व्यापक द्रव्योमे फिर भिन्नता कैसे ठहरेगी ? क्योंकि अभी तो यह कहा है कि ईश्वर और ईश्वरज्ञान व्यापक है इस कारण अन्य द्रव्यके आश्रय नही है तो ऐसे ही समस्त व्यापक द्रव्योकी बात है। उनका भी एक आश्रय बताना चाहिए और इस तरह उनमे युतसिद्ध घटित न हो सकेगा और इसी प्रकार उनमे तथा एक द्रव्यमें रहने वाले रूप रस आदिक गुणोमे जब अयुतसिद्ध हो गया तो इसका परस्परमें समवाय सम्बन्ध मान लेना चाहिए। यदि उनमें अयुतसिद्ध न माने तो युतसिद्ध मान नहीं रहे, अयुतसिद्ध मान नही रहे। दोनोका अभाव होनेपर विरोध आयगा और विरुद्ध उत्तर दिया जा सकता योग्य नही है।

शङ्काकार द्वारा युतसिद्ध व अयुतसिद्धके लक्षणका समर्थन—शङ्काकार अपने पक्षका विवरण देता है कि देखिये ! पृथक आश्रयमें रहनेका नाम युतसिद्ध है। ऐसा बताया गया है कि पृथक आश्रयमे होनेका नाम युतसिद्ध है। तो इस तरह युतसिद्धका लक्षण करने वाले हम वैशेषिक जनोके समवाय विचार कोटिमे स्थित हो गया और तब समवाय लक्षणकी असिद्धिका प्रसङ्ग होता है। सारांश यह है कि समवायका जो लक्षण बताया है वह तो अयुतसिद्धमें घटित है और अयुतसिद्धका जो लक्षण बताया है कि पृथक आश्रयमें समवाय होना सो युतसिद्धि है। सो वह है समवाय गर्भित। तो अब ये दोनो परस्पर आश्रित हो गए। यों किसी एककी भी सिद्धि नही हो सकती। इस कारण युतसिद्धका लक्षण समवाय घटित न होना चाहिए। जहाँ समवाय न हो उसे युतसिद्ध मान लेना चाहिए। दूसरी बात यह है कि लक्षण कारक नहीं होता किन्तु ज्ञापक हुआ करता है याने लक्षण कुछ काम नहीं करता किन्तु ज्ञान कराता है। तो जो लक्षण होता, जो ज्ञान कराने वाला है उसे तो सिद्ध ही होना चाहिए। जो असिद्ध है, विचार कोटिमे स्थित है अथवा संदिग्ध होता है वह लक्षण सम्यक नही कहलाता। जो लक्षण सिद्ध हो वही अन्यका परिच्छेदक होता है। लक्षणका काम यह है कि बहुतसे मिले हुए पदार्थोंमे अलक्ष्यको अलग करादे सो लक्षण कहलाता है। सो युतसिद्ध ईश्वर और ईश्वरज्ञानमें तो है नहीं, क्योंकि महेश्वर व्यापक

है और नित्य है। इसी कारण उनके दूसरे पदार्थकी वृत्ति नही हो सकती। इसी तरह ज्ञान भी ईश्वरको छोडकर अन्य किसी पदार्थमें नही रहता। तो अब उनमें युतसिद्ध कैसे बन जायगा ? उनका आश्रय पृथक तो न रहा। जैसे दधि और कुण्डका आश्रय पृथक पृथक है तो उनमे युतसिद्ध है। कुण्ड तो रहता है अपने कुण्डके अवयवमें और दधि रहता है अपने दहीके अवयवीमें तब कुण्डके आश्रय हुए कुण्डके अवयव और दहीके आश्रय हुए दहीके अवयव यो पृथक-पृथक आधार हैं। यो उनमें कुण्ड और दहीकी वृत्ति है। इस प्रकार पृथक आश्रय ही कहा जा सकता है। लेकिन इस प्रकारके भिन्न-भिन्न आश्रयमें रहते हुए समवायियोमें सम्भव नही है। जैसे ततुवोकी अपने अवयवरूप अशोमे वृत्ति है उस प्रकार पटके ततुओसे अलग दूसरी जगह वृत्ति नही है। हेतु रह रहे अपने अवयवमे और पट ततुओसे अलग तो नही रहा। ये चार चीजें प्रतीत हुई -- ततु और ततुके अवयव, पट और पटके अवयव। ये चार स्वतन्त्र सत् न रहे याने दो पृथक आश्रय हुए और दो पृथक आश्रय हुए, ऐसी कोई चार चीजे नही है, किन्तु क्या है कि ततु ही अपने अवयवोकी अपेक्षासे आश्रवी कहलाते हैं और वे ही ततु पटकी अपेक्षासे आश्रय कहलाते हैं। इस तरह यहाँ तीन ही चीजे प्रसिद्व हैं। तव पृथकसिद्ध इसे नही कह सकते। तो युतसिद्धका लक्षण बताया गया है पृथक आश्रयमें रहना। सो यह युतसिद्धि ततुपटमें पाई जाती। तो लो शास्त्रीय अयुतसिद्धि समवायमें सिद्ध हो गई ना ! तब हेतुमें जो अयुतसिद्धपना विशेषण दिया गया है वह समीचीन है, असिद्ध नहीं है। हाँ, लौकिक अयुतसिद्ध हम सत्य नही मानते, वह तो अनुभवसे विरुद्ध है। तब अयुतसिद्ध वाले हेतुसे समवायकी सिद्धि होती है।

नित्य पदार्थोमे पृथग्गतिमत्तारूप युतसिद्धिकी असम्भवता बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान—उक्त शङ्काके समाधानमे स्याद्वादी कहते हैं कि विशेषवादियोका यह कथन युक्त नही है। इस कथनके अनुसार तो आत्मा और आकाशादि व्यापक द्रव्य विशेषमे पृथक रहना कैसे बन सकेगा ? इसका कारण यह है कि वह व्यापक द्रव्य है और व्यापक द्रव्य किसी दूसरे आश्रयमे रहता नहीं। तब उन व्यापक विशेप द्रव्यका परस्परमे न रहना, पृथक आश्रयमे रहना ऐसा युतसिद्ध उनमें कैसे सभव होगा ? और, जो यह कहा है कि नित्य पदार्थोमे पृथक गतिवानपना वाला युतसिद्धपना घटित होता है। याने पृथकसे कोई चीज आये तो वहाँ पृथक सिद्ध दोनो पदार्थ मालूम होते हैं, सो ऐसा युतसिद्ध व्यापक द्रव्यमें सम्भव है। जैसे चौकीपर पुस्तक आई तो पुस्तककी गति हुई और गति होकर सम्बन्ध बनता तो उससे यह सिद्ध है कि पुस्तक और चौकी भिन्न-भिन्न चीजें हैं। तो आत्मा आकाश आदिक परस्परमे भिन्न हैं, इसकी सिद्धि इस युक्तिसे नही हो सकती। बताओ आत्मा आया या आकाश आया ? पृथकरूपसे किसकी गति हुई है ? वह तो व्यापक द्रव्य है, किसीकी गति नही

होती है। इससे पृथक गति वाले युतसिद्ध व्यापक विशेष द्रव्योमे सिद्ध नहीं होता। और विशेषणपूर्वक सुन लीजिए। पृथक गतिमानपना दो प्रकारसे बनेगा एक तो यह कि दोमे से कोई एकपना आया याने एककी गति नहीं हुई और दूसरी गति हुई तो यह वहाँ जानें कि ये दोनो भिन्न पदार्थ हैं। जैसे चौकी तो कही रखी है, पुस्तक उठाकर उसमे रख दिया तो भी यह गति हुई और कभी पुस्तक भी लायी जाय चौकी भी लायी जाय और दोनोको एक जगह रखा जाय तो यहाँ दोन मे गति हुई। तो चाहे दोनोमे गति हुई, सम्बन्ध बना तो वह भिन्नपना सिद्ध हुआ और चाहे एकमे गति होकर सम्बन्ध बनता है तो भी गतिवानपना सिद्ध होता। तो इस कथनको कुछ इन उदाहरणोमे भी सुनो! कि पहिले जो एककी गति बतायी है वह परमाणु और व्यापक द्रव्योमे पायी जाती है। व्यापक द्रव्य तो वहीका वही है, स्थिर है और परमाणु गमन करके वहाँ सयोगमे आता है तो यहाँ यह मालूम पड जायगा कि परमाणु और आकाशमे भिन्न द्रव्य हैं। क्योकि उन दोनोमे किसी एककी गति हुई है, पर जो विभु द्रव्य है। आत्मा आकाश न इनमे गति करते हैं और न आकाश गति करता है। उनमे कैसे भिन्नता सिद्ध करोगे? अब दूसरे गतिवानपनेकी बात सुनो। दोनों ही द्रव्य गति करके मिल जायें तो उनमे पृथकपना जाहिर हो जाता है। जैसे दो परमाणु दोनो ही गति करके मिलकर स्कध बने तो वहाँ दोनो परमाणुओमे भिन्नता जाहिर होगी, क्योकि दोनो परमाणुओने जुदा जुदा गमन किया। सो इस तरह दोनो प्रकार की गतिमत्ता व्यापक द्रव्य विशेषोमे परस्परमे सम्भव नहीं है, क्योकि यह व्यापक है उनमेसे कोई भी गति करके आने वाला नहीं है तो इसमे भिन्नता न सिद्ध हो सकेगी, अत अयुतसिद्धका लक्षण ठीक नहीं बना। इसी तरह यहाँ भी देखिये एक द्रव्यके आश्रय गुण कर्म सामान्य रहता है। इसके पृथक आश्रयमे रहता नहीं है। जो जब पृथक आधारमे ये न हुए तो इसमे युतसिद्धि कैसे बनेगी? अयुतसिद्धका जो लक्षण किया है उससे भिन्न चीजोमे भिन्नता सिद्ध नहीं होती। तब युतसिद्धका लक्षण न बना तो अयुतसिद्धि कैसे सिद्ध होगी? तो जब इन सबकी युतसिद्धि नहीं बनती तो लो, भिन्न भिन्न चीजोमें भी अयुत सिद्धपना बन बैठेगा। और, ऐसा अयुतसिद्ध बननेपर इन सबका परस्परमे समवाय बन जायगा। सो आपको इष्ट नहीं है, क्योकि व्यापक द्रव्योमे और एक द्रव्यमे रहने वाले गति आदिकमे आश्रय आश्रयी भाव नहीं हैं। तो यो अयुतसिद्धका लक्षण न बना तो ईश्वर और ईश्वरज्ञानका सम्बन्ध भी कुछ सिद्ध नहीं हो कसता।

विभुद्रव्य विशेषोमे नित्य सयोगकी मान्यतासे युतसिद्धिकी सभवताका शकाकार द्वारा कथन—यहाँ वैशेषिक कहते है कि हम व्यापक द्रव्य विशेषोका परस्परमे नित्य सयोग मानते हैं। चर्चा यह चल रही थी कि पृथक आश्रयके रहनेपर पृथक सिद्ध माना गया है, तब तो जितने व्यापक द्रव्य हैं वे सब पृथक आश्रयमे कहाँ

रह रहे हैं ? व्यापक होनेसे वे किसी दूसरे आश्रयमे रहते ही नही है। तब उन्हे युत सिद्ध न माना जा सकेगा। और ऐसी स्थितिमे उनमे समवाय सम्बन्ध माननेका प्रसङ्ग आ बैठेगा। उस अभेदके निराकरण करनेके लिए वैशेषिक कह रहे हैं कि हम व्यापक द्रव्य विशेषोका परस्परमे नित्य सयोग मानते है, क्योकि वह सयोग किसीसे उत्पन्न नही होता। अनादिमे ही वे व्यापक द्रव्य व्यापक रूपसे ही पडे हुए हैं। जैसे कि बताया था कि पृथक गतिमानपना तो नही विदित हो रहा याने किसी एककी गति हो व्यापक द्रव्यके पास यह भी बात नही है। जैसे कही ठूठ खडा है और वहाँ कोई पक्षी आ गया तो एक पक्षीकी गति हुई ना ? ठूठ तो वहीका वही है। इस तरह जितने व्यापक द्रव्य हैं उनमे ऐसा नही है कि कोई एक आता हो। तो किसी एककी क्रिया द्वारा जन्य सयोग नही है व्यापक द्रव्य विशेषका और उभय कर्म जन्य भी नही है। जैसे कि दो भैसा दोनो दिशाओमे आकर भिड जायें तो उनका जो सयोग हुआ है वह दोनोकी क्रियाओसे उत्पन्न हुआ है। अथवा दो पहलवान लड जायें तो दोनोकी गति हुई है और उन दोनोकी क्रियावोसे वह सयोग बना है व्यापक द्रव्योमे ऐसा भी नही है और न वह सयोग सयोगजन्य है। जैसे दो ततुवोसे उत्पन्न हुए दो धागोका सयोग अथवा शरीर और आकाशका सयोग इस तरह सयोग जन्य भी सयोग नही है। शरीरमे अनेक अवयवोका सयोग हुआ है और फिर उस सयोगके बाद फिर आकाश का सयोग है तो इस तरह भी सयोग जन्य सयोग नही है। सयोगजन्य सयोगका यह अर्थ है कि पहिले तो किसी एक पदार्थ सयोगके कारण बने जैसे अपने अवयवके सयोग के कारण अवयवी बना, अब उस अवयवीका किसी दूसरे द्रव्यके साथ सयोग हुआ है तो उसे सयोग जन्य सयोग कहेगे। तो ऐसा भी सयोग व्यापक द्रव्य विशेषोमे नही है, क्योकि वे सभी निरावयव हैं आत्मा आकाश आदिक जो व्यापक द्रव्य है वे अवयव रहित हैं, अखन्ड एक हैं। तो उनका अवयव सयोग पूर्वक भी परस्परमे सयोग नही है। तब वहाँ सयोगजन्य सयोग भी नही कह सकते। ये सायोग तीन प्रकारके कहे गए हैं। एक तो अनन्तर कर्मजन्य याने किसी एककी क्रियासे उत्पन्न हुआ, दूसरा उभय कर्मजन्य अर्थात् दो की क्रियासे उत्पन्न हुआ तीसरा सायोग जन्य। पहिले एक पदार्थ मे अवयवोका सायोग हुआ, फिर सायोग बनाकर किसी दूसरे पदार्थमे सायोग हुआ ये तीन प्रकारके सायोग अनित्य सायोग कहलाते हैं। यह तो नही है किन्तु व्यापक द्रव्यो की प्राप्ति उस ही जगह अनेक व्यापक द्रव्योका होना यह हमेशासे है इसलिए प्राप्ति लक्षण सायोग व्यापक द्रव्य विशेषमे है और उसे नित्य मानना चाहिए। इस तरह जब व्यापक द्रव्य विशेषोमे सायोग सिद्ध हो गया तो वे युतसिद्ध हो गए। पृथक पृथक सिद्ध हो जाते हैं। क्योकि जिन तिनमें भी सायोग सम्बन्ध होता है वे एक नही हुआ करते है। युतसिद्धके ही सायोग हो सकता है। अभिन्न तत्त्वमे सायोग नहीं होता इसके मायने यह न लगाना चाहिए कि जितने पदार्थ युतसिद्ध हैं, पृथक पृथक रहने वाले हैं उन सबके सायोग होना ही चाहिए। जैसे हिमाचल और विन्ध्याचल पर्वत ये

पृथक सिद्ध हैं, मगर इनका सयोग नही है। तो जो पृथक सिद्ध हो उनका सयोग हो ही यह बात नहीं है, किन्तु सयोग होगा तो वह पृथक सिद्ध पदार्थोंके ही होगा। इस ओर अवधारण है। संयोगके साथ पृथक सिद्धकी व्याप्ति है, किन्तु पृथक सिद्धके साथ संयोगकी व्याप्ति नहीं है। अब अनुमान लगा लीजिए जहाँ जहाँ सयोग होता है वहाँ वहाँ पदार्थोंमें युतसिद्ध होता ही हैं। जैसे कुण्डमें दधि है कुण्डमे बेर है तो यह सयोग पूर्वक युतसिद्ध है तो चूकि सयोग है इस कारण मानना ही पड़ेगा कि ये पृथक सिद्ध पदार्थ हैं। तब दूसरी आपत्ति जो यह बतायी जा रही थी वह भी दूर हो जाती है। एक द्रव्यमे रहने वाले रूप रस आदिक गुणोंमें सयोग तो नहीं है इस कारण वे पृथक सिद्ध नही बनते। आपत्ति यह दी गई थी कि एकार्थ समवाय है रूप रस आदिकका। तो एक पदार्थमे एकार्थ समवाय होनेसे वे सब पृथक सिद्ध बन बैठेंगे। रूप अलग है और रस अलग है। सो यह आपत्ति भी सही नही है, क्योंकि यहाँ एक द्रव्यमे रहने वाले रूप आदिक गुणोका सयोग नहीं माना गया है इस लिए ये पृथक सिद्ध न कहलायेंगे। सयोग गुण है और गुण द्रव्यके ही आश्रय रहते हैं। तो यों गुण का द्रव्यमें सयोग न होनेके कारण वे सब युतसिद्ध नहीं बनते। साथ ही यह भी समझना चाहिए, कि ये सब अयुतसिद्ध भी नहीं हैं। जिससे कि इनमे समवाय माना जाय। समवाय इहइद इस ज्ञानसे सिद्ध होता है, और वह वहीं ही सिद्ध होता है जहाँ आधार आधेयभूत पदार्थ हो। लेकिन एक ही द्रव्यमे रहने वाले गुणकर्म आदिक की परस्परमे आधार आधेय भाव नहीं है याने गुणमे कर्म हो, कर्ममे गुण हो इस प्रकारका कोई आधार आधेय भाव नही है। हाँ उन सबका अपने आश्रयभूत द्रव्यके साथ आधार आधेय भाव रहता है तथा एक द्रव्यमें रहने वाले गुण कर्म आदिकमे इह इद यह ज्ञान भी अबाधित नही बनता। जिससे कि इह इद ऐसे बोधके कारण उन गुण कर्म आदिकमें भी समवाय सिद्ध हो जाय, क्योंकि ऐसा कोई ज्ञान नहीं कर रहा कि इसमे रूप है अथवा इस रूपमे रस है। ऐसा ज्ञान कोई करता ही नही, और कोई जबरदस्ती बनाये तो वह अबाधित ज्ञान नही बनता इसी तरह सामान्यमे कर्म है अथवा इस सामान्यमे गुण है ऐसा प्रत्यय भी अबाधित नही बनता। इस कारण इस प्रत्ययसे जो कि बाधित होता रहता है रसमें रूप, रूपमे रस आदिकका, ऐसा कोई प्रत्यय करे तो वह बाधित नहीं है। अब दूसरी बात यह समझिये कि जहाँ जहाँ अयुत-सिद्ध है याने अभिन्नता है वहाँ वहाँ समवाय है ऐसी व्याप्ति नहीं लगा रहे हैं, किन्तु जहाँ जहाँ समवाय है वहाँ वहाँ अयुतसिद्ध है, इस प्रकारकी व्याप्ति बनायी जा रही है। तब वैशेषिकोका उपर्युक्त समस्त कथन निर्दोष है, ईश्वर और ईश्वरज्ञानमें अयुत-सिद्ध सम्बन्ध है, समवाय है तो इस समवायसे जब ईश्वरज्ञानकी सिद्धि होती है तो वह विश्वकी दृष्टिका कर्ता बन जाता है।

युतसिद्धके लक्षणकी अव्याप्तता बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान–

अब उक्त प्रकारसे अपना पक्ष रखने वाले विशेषयादियोंके प्रति स्याद्वादी कहते हैं कि जो दो प्रकारकी बात कही गई है युतसिद्धके लक्षणमे कि पृथक आश्रयमे रहना सो युतसिद्ध है। दूसरा लक्षण बताया गया कि नित्यकी पृथक गतिमत्ता होना युतसिद्ध है। ये दोनो लक्षण लक्ष्यमें सही घटित नही होते। देखिये ! जो व्यापक द्रव्य हैं उनमे नित्य सयोग माना और उस नित्य सयोगके द्वारा पृथकसिद्धका अनुमान बनाया गया तो वहाँ जा सयोगका युतसिद्धका लक्षण किया है वे दोनो लक्षण सङ्गत नही बैठते। देखिये ! न तो वह व्यापक द्रव्य विशेष भिन्न आश्रयमे रहता है और न वह पृथक गतिमान है। सयोगका और युतसिद्धका यह लक्षण बनाया कि पृथक आश्रयमे रहते हैं और पृथक गतिमानपना हुआ। ये दोनो ही लक्षण विभु द्रव्य विशेषमे व्याप्त नही हैं। इस कारण अव्याप्ति दोषसे ये दोनो ही लक्षण दूषित हैं फिर इन लक्षणो के द्वारा युतसिद्ध बताना और प्रकृत पक्षमे याने ईश्वर और ईश्वरज्ञानमे भिन्न-भिन्न मानकर भी समवाय सम्बन्ध बताना ये सब असगत होते हैं। अब यहाँ शङ्काकार कह रहे हैं कि हम इस सिद्धिके दोनो लक्षणोके अलावा एक लक्षण और कह रहे हैं कि जो सयोगका कारण है वह युतसिद्ध कहलाता है। इस लक्षणके मान लेनेसे अब उक्त दोष न आयगा। तो समाधानमे कहते हैं कि यह कथन भी ठीक नहीं है। देखो, कुण्ड बेर आदिकमे यद्यपि अव्याप्ति परिहार हो गया, परमाणु आकाश आदिकमे परमाणु परमाणुओमे और मनोमे और विभु द्रव्य विशेषोमे परस्पर युतसिद्ध है तो युतसिद्धका जो लक्षण बनाया है सो यद्यपि निर्दोष हो गया अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोष वहाँ नही लग पाये फिर भी कर्म तो युतसिद्धको प्राप्त हो जायेंगे। इसका कारण यह है कि कर्म भी तो अदृष्ट ईश्वर काल आदिककी तरह सयोगका कारण होता है और यह बताया है कि जो सयोगका कारण हो वह पृथक सिद्ध है। तो कर्म इत्यादिकमे पृथक सिद्ध हो बैठेगा। तो यो युतसिद्धिके लक्षणके अतिव्याप्ति का परिहार नही किया जा सकता।

युतसिद्धिके लक्षणकी क्रियामे एवकारके अवधारणसे भी निर्दोषताकी असङ्गतता—अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि हम तो यहाँ अवधारण मानते हैं। सयोगका ही जो कारण है वह युतसिद्ध है। ऐसा एक जो एवकार लगा रहता है इस कारणसे अतिव्याप्ति दोष अब न बनेगा। अतिव्याप्ति दोष तो यह दिया जारहा था कि कर्म सयोगका कारण होता है। तब कर्ममे युतसिद्धिकी अतिव्याप्ति हो बैठेगी। तो जब हमने यह अवधारण किया कि जो सयोगका कारण हो वह युतसिद्ध कहलाता है, तब यह दोष न रहेगा। इसके समाधानमे कहते हैं कि यह कथन भी समीचीन नही है, क्योकि इस तरहसे तो हिमाचल और विन्ध्याचल आदिकमे सयोग का कारण न होने वाली युतसिद्धि तो है तब उनमे युतसिद्धिका लक्षण बन जायगा। अब तो युतसिद्धिका यह लक्षण बनाया जा रहा है कि जो हिमवान और विन्ध्याचलमें

संयोगका कारण होना चाहिए तब युतसिद्धि न रही। सो इस तरह अब युतसिद्धि का लक्षण अव्याप्त बन बैठा। अब शङ्काकार कहता है कि हम क्रियामें एवकार लगायेंगे। जो संयोगका कारण ही है वह युतसिद्ध है, ऐसा अवधारण लगानेपर अतिव्याप्ति दोष न आयगा। इसके उत्तरमें संक्षेपमें इतना समझ लेना चाहिए कि इस प्रकारसे भी संयोगका कारण ही। जो हो ऐसा जो कोई कर्म है वह भिन्न सिद्ध हो जायगा। सारांश यह है कि कर्म संयोगका कारण ही है, कार्य आदिक नहीं है, इसमें युतसिद्धका उक्त लक्षण माननेपर कर्ममें अतिव्याप्ति दोष आ जाता है।

संयोगकारणरूप युतसिद्धिके लक्षणमें भी दोषापत्ति—और भी सुनो! जब ऐसा कहें कि संयोगका ही जो कारण हो वह युतसिद्ध है, तो जो विभाग हेतु है उस युतसिद्धकी कैसी व्यवस्था बनेगी? यह तो नहीं कहा जा सकता कि जो पृथक सिद्ध पदार्थ हैं उनका संयोग ही होता है, विभाग नहीं होता, क्योंकि पृथक सिद्ध पदार्थोंमें संयोग भी होता है, विभाग भी होता है। यदि यह कहकर टाला जाय कि विभागका कारण संयोग है तो यह भी कहना मात्र है, क्योंकि संयोग विभागका विरोधी गुण है, संयोगका अर्थ मिलना है, वियोगका अर्थ बिछुड़ना है, तो संयोग विभागके नाशका ही कारण बनेगा, उत्पत्तिका कारण नहीं बन सकता, जो विरोधी होता है वह विनाश करेगा कि उनका विकास करेगा? तो जब संयोग और विभाग ये दोनों परस्पर विरुद्ध गुण हैं तो संयोग विभागके विनाशका ही कारण बना, विभाग की उत्पत्तिका कारण न बन सकेगा। विशेषवादी कहते हैं कि विभाग संयुक्त पदार्थोंका विजय करता है अर्थात् जिसमें संयोग होता है उनमें ही विभाग होते हैं। इस कारणसे संयोग विभागका कारण बताया गया है। उत्तरमें कहते हैं कि संयोग विभक्तिको विषय करता है अर्थात् जिसमें विभाग होते हैं उनमें संयोग होता है ऐसा कहकर हम यह भी तो कह सकते हैं कि विभाग संयोगका कारण होता है। तब यह बात न बनी कि संयोग विभागका कारण है। संयोग विभागका कारण है, विभाग संयोगका कारण है। तो अब विभागको उत्पन्न करने वाली या विभागके निमित्तसे सिद्ध होने वाली युतसिद्धिकी व्यवस्था नहीं बन सकती, जब कि यह व्याख्या की जाय कि संयोगका जो कारण हो सो युतसिद्ध है। यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि हमारा सिद्धान्त यह है कि किन्हीं दो विभक्त पदार्थोंमें भी उभयकर्म अन्यतर कर्म तथा अवयव संयोग नहीं रहता। और, जब ये तीनों संयोग नहीं होते तो संयोग न बना विभाग संयोगका कारण नहीं है। याने जो यह आपत्ति दी थी समाधानकर्ताने कि संयोग विभक्त पदार्थोंको विषय करता है उस कारणसे विभाग संयोगका कारण बनेगा, सो यह बात यों नहीं बनती कि जो दो विभक्त पदार्थ हैं उनमें कोई प्रकारका कर्म और संयोग नहीं है। तो जब कर्म और संयोग नहीं है तो संयोगकी सिद्धि नहीं है तो विभाग संयोगका कारण भी नहीं है। विभागसे संयोग न बना, संयोगसे विभाग

विशेषता नहीं है। जब ऐसी स्थिति है कि दोनों जगह प्रश्नोत्तर समान रूपसे हो रहे हैं तो यह कहना व्यवस्थित नहीं है कि संयोगका जो कारण है वह युतसिद्ध है, क्योंकि इसके बदलेमें यह कहा जा सकता है कि विभागका ही जो कारण है वह युतसिद्ध है तो युतसिद्धका लक्षण व्यवस्थित नहीं है तो लक्ष्य भी व्यवस्थित न होगा। यहाँ लक्ष्य है युतसिद्ध। उसकी साधनाकी जा रही है शङ्काकार द्वारा और लक्षण उसके नाना बताये जाते हैं ? तो जो भी लक्षण बताया है वह व्यवस्थित न रहे तो युतसिद्धि भी व्यवस्थित न हो सकेगी। जब युतसिद्धकी व्यवस्था न बनी तो अयुतसिद्धकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि अयुतसिद्ध कहनेके लिए यही कहना होता है कि जहाँ युतसिद्धका अभाव है उसे अयुतसिद्ध कहते हैं। तो यों न युतसिद्धि बन सकी और न अयुतसिद्धि बन सकी। तो दोनोंका जब अभाव हो गया तो वैशेषिक मतमें जो विडम्बना बनती है उसका निवारण न किया जा सकेगा। क्योंकि अब युतसिद्धि और अयुतसिद्धि न बननेके कारण सभी जगह न समवाय सिद्ध हो सकता, न समवाय सम्बन्ध सिद्ध हो सकता। जब किसी भी प्रकारका सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता तो सम्बन्धके अभावसे समस्त पदार्थोंका अभाव प्राप्त हो जाता है।

विशेषवादमें सम्बन्धकी असिद्धि होनेपर सर्वशून्यताका प्रसङ्ग—सम्बन्धकी असिद्धिमें कैसे सबका अभाव होगा ? सो सुनो ! जब संयोग न रहा तो देखिये विशेषवादमे आत्मा और मनके संयोगसे बुद्धि आदिक गुणोंकी उत्पत्ति मानी है तो अब संयोग तो रहा ही नहीं, तब बुद्धि नहीं बन सकती और जब बुद्धि न बन सकी जो सबकी व्यवस्था करनेका उपाय था, तो आत्मतत्त्व ही न रहेगा। तो इस तरह संयोग सिद्ध न होनेपर आत्मतत्त्वकी व्यवस्था नहीं बनती। इस तत्त्वको समझाये कौन ? बुद्धि ! *तो बुद्धि तो उत्पन्न हो ही नहीं सकती, क्योंकि आत्मा और मनमें संयोग ही* नहीं हो सकता। और, भी देखिये ! किसी भी प्रकारका सम्बन्ध न माननेपर या सम्बन्ध न बन सकनेसे आकाश तत्त्व भी असत हो जाता है। जैसे दण्ड आदिकका आकाशके साथ संयोग तो हो नहीं सकता। फिर शब्दकी उत्पत्ति न होगी। शब्दकी उत्पत्ति न होनेसे आकाश तत्त्वको माननेमें कोई उपाय न रहेगा, क्योंकि शब्द द्वारा ही आकाशके सत्त्वकी सिद्धि करते हैं विशेषवादी। तो यों संयोग न बननेपर आकाश तत्त्व भी नहीं सिद्ध हो सकता। और भी देखिये ! अवयव संयोगका भी अब सब जगह अभाव हो जायगा क्योंकि किसी भी प्रकारका सम्बन्ध कहीं भी घटित नहीं होता। तो अवयवोंका संयोग कैसे हो जायगा ? तो अवयवोंका संयोग न होनेसे अवयव विभाग भी नहीं बन सकता और जब अवयव विभाग न बना तो शब्द भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द हो रहा विभाग निमित्तका। और भी देखिये ! यहाँ दीख रहे हैं स्कन्ध दो अणु वाले, तीन अणु वाले, असंख्यात अणु वाले। तो अब ये सब न बन सकेंगे, क्योंकि सम्बन्धका तो अभाव हो गया, परमाणुओंके संयोग

से ये स्कंध बनते थे। अब परमाणुओंका संयोग तो रहा नहीं, तो द्व्यणुक आदि अवयव भी न बन सकेंगे और जब यह अवयवी न बन सकेगा तो फिर उसमें पर अपर का भी ज्ञान नहीं हो सकता। यह इससे पहिले है, यह इसके बाद है आदिक कोई पर अपरका ज्ञान नहीं हो सकता। तो पर अपरका प्रत्यय न होनेसे न तो कालकी व्यवस्था बनेगी न दिशाकी? कालकी व्यवस्था तब ही बनती थी जब यह ज्ञान रहता था कि यह पहिले उत्पन्न हुआ, यह बादमें उत्पन्न हुआ। तो पहिले और बादमें उत्पन्न हुआ किसको कहेंगे? जिसको कहेंगे वह ही तत्त्व सिद्ध नहीं होता। तब कालकी कहाँ व्यवस्था रही? इसी तरह दिशाकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। दिशाकी व्यवस्था तब ही तो बनती थी कि जब यह ज्ञान बनता था कि यह पूरब है, यह पश्चिम है। तो कैसे बताया जाय? पूरब पश्चिममें स्कंधकी सिद्धि ही नहीं हो रही तो यों दिशाओंकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। और भी देखिये। जब सम्बन्ध न बन सकेगा तो मन भी न बन सकेगा। अभी तक बात कह रहे थे संयोग सम्बन्धकी, अब जरा समवाय सम्बन्ध न बननेकी विडम्बना देखिये। समवाय सम्बन्ध जब न रहा तो समस्त समवायियोंका अभाव हो जायगा, याने जिसमें समवाय बनता है ऐसे पदार्थोंका अभाव हो जायगा। कुछ भी न रहेंगे। तो जब समवायी पदार्थ न रहे तो मन भी न बन सकेगा। इस तरह सम्बन्ध न बननेपर सर्व पदार्थोंका अभाव प्राप्त होता है। कुछ भी रहा तो विशेषवादका ही विनाश होगया। सारांश यह है कि युतसिद्ध और अयुतसिद्धके जो लक्षण वैशेषिकोंने बनाये हैं उन लक्षणोंपर जब विचार करते हैं तो वे निर्दोष सिद्ध नहीं होते। जब लक्षण निर्दोष न रहे तो युतसिद्धिके निमित्तसे जो संयोगकी व्यवस्था की जा रही थी वह संयोग व्यवस्था भी न बनेगी और अयुतसिद्धिके निमित्तसे जो समवायकी व्यवस्था की जा रही थी वह समवाय भी न बना। तो जब दोनों प्रकारके सम्बन्ध न बन सके तो सम्बन्धके अभाव होनेसे याने पदार्थोंमें संसर्ग न हो सकनेसे समस्त पदार्थोंकी हानिका प्रसङ्ग आता है और सब विनष्ट हो गया असत् हो गया। ऐसे कठिन प्रसंगका निवारण कर सकना अत्यन्त असम्भव होगा। तब वस्तुके सत्त्वको बतानेके लिए वैशेषियोंको युतसिद्धिकी किस तरह व्यवस्था बनाना चाहिए? युतसिद्धि कहते किसे हैं? अयुतसिद्धि कहते किसे हैं? यह व्यवस्था न बनेगी, तो कोई सम्बन्ध न बनेगा, तो फिर कोई पदार्थ ही सत् न रह सकेगा। सर्व पदार्थोंका अभाव हो जायगा और फिर ईश्वर, ईश्वरज्ञान और वह शरीर इन्द्रिय आदिक की सृष्टि करता है, ये सभी बातें कहना भर भी स्वप्नकी हो जायेंगी। और तथ्य भी यही है। युतसिद्ध अयुतसिद्धका लक्षण नहीं बनता, सम्बन्ध नहीं बनता। यह बात तब नहीं बनती कि जब वस्तुस्वरूपसे विपरीत ही कोई पक्ष रखा जा रहा हो तो उसका निवास करनेके लिए सही दुनिया कहाँसे लाई जायगी? यों सृष्टिकर्ताकी व्यवस्था नहीं बनती। तब आप्त वीतराग सर्वज्ञ ही सिद्ध हो सकता है, इच्छावान प्रयत्नवान कल्पित कोई आप्त नहीं हो सकता।

युतप्रत्ययहेतुत्वात् युतसिद्धिरितीरणे ।
विभुद्रव्यगुणादीनां युतसिद्धिः समागता ॥ ४६ ॥

ततो नाऽयुतसिद्धिः स्यादित्यसिद्ध विशेषणम् ।
हेतोर्विपक्षतस्तावद् व्यवच्छेद न साधयेत् ॥ ५० ॥

सिद्धेऽपि समवायस्य समवायिषु दर्शनात् ।
इहेदमिति संवित्तेः साधन व्यभिचारि तत् ॥ ५१ ॥

युतप्रत्ययहेतुरूप युतसिद्धिलक्षणकी भी अव्यवस्था—शङ्काकार वैशेषिक कहते हैं कि युतसिद्धिकी हम व्यवस्था इस प्रकार करेंगे कि युत प्रत्ययका जो हेतु हो सो युतसिद्ध है अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकारसे पदार्थका ज्ञान होना है। इस प्रकारके ज्ञान में कारणपना होनेसे युतसिद्धिकी व्यवस्था बन जाती है। जैसे कि कुण्डमे बेर हैं तो कुण्ड और बेर इनमें भिन्न विज्ञान होता ही है अर्थात् कुण्डसे बेर निराले हैं। इस प्रकार भेद विज्ञान होता है, उस ही प्रकार जो व्यापक द्रव्यविशेष हैं-आत्मा आकाश दिशा आदिक उनमे तथा गुण गुणीमें, क्रिया क्रियावानमें, सामान्य सामान्यवानमे, विशेष विशेषवानमे, अवयव अवयवोमे भेद विज्ञान होता ही है। इस तरहसे युतसिद्धि अपने आप सिद्ध हो जाती है, क्योंकि सभी जगह अभिन्नताका ज्ञान नहीं होता। जहाँ भिन्नतारूपसे विज्ञान हो रहा हो वहाँ समझना चाहिए कि भिन्नताकी सिद्धि है। तो बात क्या हुई कि विभु व्यापक द्रव्य विशेषोमे गुण गुणी आदिकमें अभिन्न प्रत्यय न बन सकेगा। यदि यहाँ वैशेषिक यह कहें कि विभु द्रव्यादिकमें तो देशभेद नहीं है, इस कारणसे उनमें भिन्नताका ज्ञान नही होता। तो सुनो! हवा और गर्मी ये भी पृथक देशवर्ती पदार्थोंमें हैं। जिस जगह हवा है, उसी जगहमें धूप है तब इनमे पृथक बोध न हो सकेगा लेकिन हवा और गर्मीमे पृथक बोध होता ही है। हवाका और लक्षण है, धूपका और लक्षण है। इस सम्बन्धमे यदि शङ्काकार यह कहेंगे कि हवा और धूप चू कि भिन्न-भिन्न अवयवमें रहते हैं तो जो भिन्न-भिन्न अवयव हैं वे ही तो उनके देश हैं, इस कारण देशभेद वहाँ पाया गया और उनमें भिन्नताका ज्ञान बन गया। इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिए कि जिस तरह यहाँ हवा और धूपमें भिन्न-भिन्न देशरूप अवयवोमें वृत्ति बताकर भिन्नता सिद्ध करते हैं, इसी प्रकार फिर ततु पटमे अथवा पटरूपमे अपने-अपने अवयवोंमें वृत्ति है तो उसमें भी भिन्नता का ज्ञान क्यो नहीं करते? उनकी भिन्नताका निषेध क्यो करते हो? वहाँ भी भिन्न भिन्न समझिये क्योकि ततु पटरूप आदिक भी अपने-अपने भिन्न-भिन्न आश्रयमें रहते हैं। ततु अपने अवयवमें है पट ततुवोंमें है। तो भिन्न-भिन्न आश्रयमे होनेसे

पट भी भिन्न-भिन्न सिद्ध हो जाते हैं और इनमे भिन्नताका ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि ततु पट और ये हवा धूप इन दोनो घटनाओंके बारेमें कुछ भी विशेषता नहीं है। सो जब हवा और धूपकी तरह ततुपटमे भिन्नताका दोष होने लगे तो उनमें अयुतसिद्धि सिद्ध नही होती। इस कारण अब युतसिद्धिका जो नया लक्षण बनाया है कि जो पृथक ज्ञान करानेमे कारण हो वह युतसिद्धि है याने जो भिन्नताका विज्ञान बनाता हो उसे युतसिद्धि कहते हैं, यह लक्षण भी व्यवस्थित नहीं हो सकता।

युतसिद्धि व अयुतसिद्धिकी असिद्धिमे समवायकी भी असिद्धि होनेसे ईश्वरके ज्ञानकी अव्यपदेश्यताका प्रसङ्ग—उक्त प्रकार जब युतसिद्धि सिद्ध न हो सकी, तब अयुतसिद्धि भी न सिद्ध होगी। और, जब अयुतसिद्धिका लक्षण सही न बन सका तो हेतुमे जो अयुतसिद्धत्व विशेषण दिया है वह असिद्ध हो जायगा। हेतु यह दिया था शङ्काकारने कि निर्बाधपना होनेपर अयुतसिद्धि इह इद विज्ञान होनेका और पक्ष बनाया था कि ततुओमें पट है आदिक जो इह इद विज्ञान हो रहा है वह समवाय सम्बन्धके कारण हो रहा है। साराश यह है कि इस हेतु द्वारा समवाय सम्बन्धकी सिद्धि की है। और इस समवाय सम्बन्धके द्वारा महेश्वरमे महेश्वरज्ञानका सम्बन्ध बताया जा रहा है। आपत्ति यहाँ यह आरही थी कि महेश्वरसे जब महेश्वर ज्ञान भिन्न है तो उसमे हम यह बोध कैसे कर सकेंगे कि यह ज्ञान महेश्वरका है। आकाश भी यह भिन्न पदार्थ है। यह ज्ञान आकाशका है, यों क्यो नही कह बैठते? इसके उत्तरमे शङ्काकारको यह कहना पड गया कि यह सम्बन्ध बताना चाहिए कि महेश्वरमे ही महेश्वरज्ञानका सम्बन्ध है, तो वह सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध समवाय सम्बन्धके द्वारा बताया जा रहा है और समवाय सम्बन्धके कारणसे इह-इद ज्ञान हुआ करता है। इसकी सिद्धि यहाँ इस हेतुसे की जा रही है। तो इस हेतुका जो विशेषण अयुतसिद्धपना कहा है वह असिद्ध है और असिद्ध हेतु विपक्षसे व्यावृत्ति नहीं करा सकता। हेतुकी समीचीनता तब कहलाती है कि जब वह विपक्षसे व्यावृत्ति करा दे। सो हेतुमें अयुतसिद्धत्व विशेषण असिद्ध है। सो वह हेतु वचन साध्य सिद्धि करने मे समर्थ नही है अर्थात् समवाय सम्बन्धको सिद्ध नही कर सकता। अब आगे और सुनो! यदि किसी तरह अयुतसिद्धत्व विशेषण सिद्ध भी मान लिया जाय तो भी समवायमे समवायका जो इह इद प्रत्यय देखा जाता है उसके साथ हेतु व्यभिचारी बन जायगा। समवायमे समवाय है, ऐसा ज्ञान देखा जा रहा है। जैसे ततु और पटमें जो समवाय है और यह भी तो ज्ञान किया जाता कि ततु और पटमें समवाय है। तो समवायी जो दो पदार्थ हैं उनमें समवाय है, इस तरहका इह इद ज्ञान होता है। तो देखिये! निर्बाध रूपसे इह इद ज्ञान तो हुआ पर समवाय सम्बन्धके कारणसे नहीं हुआ, क्योंकि समवायीमें समवाय है। इस प्रकारका इह इदं ज्ञान यदि समवायके कारणसे बनने लगे तब फिर उस समवायका भी जो इन सब समवायियोमे समवाय

बताया है उसके लिए तीसरा समवाय मानना । यों अनवस्था हो जायगी और सिद्धात का विघात हो जायगा । वैशेषियोंने समवाय एक ही माना है । तो यों हेतु व्यभिचारी है और प्रथम बात तो यह है कि अयुतसिद्धि सिद्ध नहीं होती । तो जब अयुतसिद्धत्व विशेषण असिद्ध है और वह हेतु विपक्षसे व्यावृत्ति नहीं करा सकता अर्थात् सयोगमे हेतु पहुच जाता है तथा सयोग आदिकके साथ व्यभिचार दोष आता है और अयुत-सिद्धत्व विशेषण मान लेनेपर समवायमे समवाय है, इस प्रत्ययके साथ हेतुका व्यभि-चार आता है । तब यह सिद्ध हो गया कि अबाधित इह इद विज्ञान समवायके कारणसे नहीं है किन्तु अन्य ही सम्बन्धके कारणसे है ।

समवायान्तराद्वृत्तौ समवायस्य तत्त्वतः ।
समवायिषु, तस्यापि परस्मादित्यनिष्ठितिः ॥५२॥

तद्वाऽधास्तीत्यबाधत्वं नाम नेह विशेषणम् ।
हेतोः सिद्धमनेकान्तो यतोऽनेनेति ये विदुः ॥५३॥

तेषामिहेति विज्ञानाद्विशेषणविशेष्यता ।
समवायस्य तद्वत्सु तत एव न सिद्ध्यति ॥५४॥

विशेषणविशेष्यत्वसम्बंधोऽप्यन्यतो यदि ।
स्वसम्बन्धिषु वर्तेत तदा बाधाऽनवस्थितिः ॥५५॥

"समवायियोमें समवाय" इस प्रत्ययकी अबाधितताका खण्डन करके अनवस्थादोष परिहारका शकाकार द्वारा विफल प्रयास—अब यहाँ वैशेषिक उक्त बाधाके परिहारके लिए प्रयत्न कर रहे हैं । बाधा यह दी गई थी कि समवायमें समवाय है । यहाँ जो इह इद ज्ञान हो रहा है इसमें तो समवाय कारण है नहीं, तब यह कैसे कहा जा सकता कि जहाँ अबाधित रूपसे इह इद ज्ञान हो वहाँ समवाय सम्बन्ध मानना चाहिए । इस आपत्तिको दूर करनेके लिए वैशेषिक कहते हैं कि सम वायमें समवाय है । यह विज्ञान बाधित है । अबाधित नहीं है । क्योंकि समवायमें सम-वाय है, इस प्रकारके विज्ञानमें अबाधितपना पाया नहीं जाता वह किस प्रकार नहीं पाया जाता सो सुनो ! समवायी पदार्थोंमे समवाय है, इसको यदि अन्य समवायसे वृत्ति माना जाता है तो उसको फिर और अन्य समवायसे माना । सो वहाँ अनवस्था दोष आता है, व्यवस्था नहीं बनती है, इसलिए समवायमे समवाय है, इस प्रकारका जो इह इद विज्ञान है वह बाधित हो जाता है । जब बाधित हो गया तो अब यहाँ हेतु

घटित नहीं होता, याने अबाधित इह इद ज्ञान नहीं हो रहा तब समवायके कारण भी वह ज्ञान न बना, यों समवाय सम्बन्धकी सिद्धिमें दोष नहीं है। इसके उत्तरमे स्याद्वादी कहते हैं कि यह समवायमे समवाय इस प्रकारके इह इद ज्ञानको बाधित बताया जा रहा है। तो इस ज्ञानसे विशेषण विशेष्यपनेका सम्बन्ध भी सिद्ध न हो सकेगा। जैसे तंतुओंमे पट है, ऐसा जो इह इदं ज्ञान है सो इस ज्ञानके होने ही विशेषण विशेष्य सम्बन्ध तो बताया ही जा रहा है। तो विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्धमे भी कुछ बाधा डाल देगा। वह किस तरह कि यह बतलाया कि समवायियोमे समवाय है ऐसा जो विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्ध है वह सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोमे किस सम्बन्ध के कारण रहता है? यह कहना पडेगा कि यह विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्ध अन्य विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्धसे बनेगा तब फिर वह विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्ध और तीसरा विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्ध भी बनेगा तो वहाँ भी अनवस्था दोष आयगा। यो अनवस्था दोष आनेसे समवायमे समवाय है यह विशेषण विशेष्य भाव भी मान लेना कठिन हो जायगा। लेकिन विशेषण विशेष्यत्व भाव तो प्रकट है। तो जैसे वहाँ विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्ध निर्बाध मानना पडता है उसी तरह समवायमें समवाय है इस इह इद प्रत्ययको भी निर्बाध मान लेना होगा। और, निर्बाध माननेपर फिर यह दोष आता है कि लो इह इद ज्ञान निर्बाध तो यहाँ बन गया, किन्तु समवाय सम्बन्ध का कारण है नही तब इह इद विज्ञान समवाय सम्बन्धको सूचित करनेमे असमर्थ हो जायगा। अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि समवायमे समवाय है। इस ज्ञानसे यह तो सिद्ध हो जाता है कि समवाय और समवायी जुदे नहीं है। इनमे अभिन्नता है। अयुत सिद्धपना है, क्योंकि समवायको छोडकर अन्य जगह नहीं रह रहा है। सो यों अयुत-सिद्धपना तो प्रसिद्ध है लेकिन उनमे इह इद यह ज्ञान अबाधित नही है इस कारणसे समवायियोमे समवाय है इसके साथ हमारा हेतु व्यभिचरित नहीं होता। इह इद ज्ञान अबाधित क्यो नही है कि उसमे अनवस्था दोषरूप बाधक मौजूद है याने समवाय मे समवाय है, इसमे होने वाला इह इद ज्ञान यदि मान लिया जाता तो उसके लिए अन्य समवायकी कल्पना करनी पडती। याने समवायमे समवाय यदि अन्य समवायके कारण रहती हैं तो अन्य समवाय भी अपने सम्बन्धियोमे अर्थात् समवाय और समवायी पदार्थ इनमे अन्य तीसरे समवायसे रहेगा। फिर वह अन्य समवायमे रहेगा। तो यो अन्य अन्य समवायियोकी कल्पना अनिवार्य हो जानेसे अनवस्था दोष आयगा। तो समवायियोमे समवाय है इस प्रकारका इह इद ज्ञान बाधित हो जाता है।

सर्वथा भेदवादमें विशेषणविशेष्यत्व भावकी भी असिद्धि होनेसे ईश्वर ज्ञानकी असिद्धिका प्रसङ्ग—वैशेषिक सिद्धान्तमे यह कहा गया है कि एक ही समवाय सत्वकी तरह वास्तविक है। तो समवायमे समवाय इस प्रकारके ज्ञानको इह इद प्रत्यय बताकर और उसे अबाधित माननेपर सिद्धान्त हानि भी आती है। इस कारण

से समवायमें समवाय है इस ज्ञानमें जो इह इद बोध हो रहा है वह अबाधित नहीं है और इसी कारणसे हमारा प्रकृत अनुमान निर्बाध सिद्ध हो जाता है। प्रकृत अनुमान यह है कि तंतुओंमें पट है, इस प्रकारका होने वाला इह इद विज्ञान समवाय सम्बन्ध के कारणसे है, क्योंकि वहाँ अबाधितरूपसे इह इद प्रत्यय हो रहा है। उक्त शङ्काके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि वैशेषिकोंका यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि जिस तरह समवायमें समवायके इह इद ज्ञानको बाधित बताकर इह इद विज्ञानको असिद्ध बता दिया तो इसी तरह उनमें जो विशेषण विशेष्य भाव रूप सम्बन्ध माना है इस तरहके ज्ञान करके सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि वहाँ भी अनवस्था दोष आ जायगा। वैशेषिक लोग समवाय और समवायियोंमें, विशेषण विशेष्यमें भाव स्वीकार करते हैं, याने समवाय तो विशेषण है और समवायी विशेष्य है। समवायका अर्थ यह है कि जिन दो पदार्थोंका यह अभिन्न सम्बन्ध बताया जा रहा है वे दो पदार्थ विशेष्य कहलाते हैं और उनमें समवाय है, ऐसी जो विशेषता बताई जाती है उसे विशेषण कहते हैं। तो समवायी विशेष्यमें समवाय विशेषण सिद्ध नहीं होता। तो उनमें जब विशेषण विशेष्य भाव सिद्ध न हो सका तो समवायका कुछ नियम ही नहीं बताया जा सकता कि अमुकमें समवाय है, अमुकमें नहीं है। क्योंकि विशेषण विशेष्य भाव ही सिद्ध नहीं हो सका है। तो वह विशेषण विशेष्य भाव समवाय समवायियोंसे भिन्न ही माने जायेंगे, अभिन्न नहीं हो सकते, क्योंकि विशेषण विशेष्य भाव सिद्ध न हो सका अन्यथा समवायको भी समवायियोंसे अभिन्न मान लीजिए। तो इस प्रकार भिन्न रूपसे माना गया वह विशेषण विशेष्य भावका सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोंमें अन्य विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्धसे बन सकेगा। इस तरह अनवस्था दोष उसमें प्रवर्त रहे और इस अनवस्था दोषकी बाधा आनेसे इहेद इस ज्ञानसे विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध तो न बनेगा। प्रकृत चर्चा यह चल रही है कि वैशेषिक यह सिद्ध करना चाहते हैं कि समवायमें समवाय है, इस प्रकारका जो इह इद ज्ञान है वह सही ज्ञान नहीं है। और यह सिद्ध भी इस कारण करना चाहते हैं कि कहीं समवाय अनेक सिद्ध न हो जायें और यह भी समवायके कारणसे इह इद ज्ञान न बन जाय अन्यथा सभी इह इद ज्ञान समवाय सम्बन्धसे माने जायेंगे। तो समवाय सम्बन्ध निर्बल पड़ जायगा, क्योंकि उसमें अतिव्याप्ति बन जायगी। जहाँ समवाय नहीं है वहाँ भी इह इद ज्ञान बन जाता है। और इस तरह जब इह इद ज्ञान समवायको सिद्ध करनेमें असमर्थ रहा तो ईश्वर और ईश्वरज्ञानमें भी सम्बन्ध सिद्ध न किया जा सकेगा। तो समवायियोंमें समवाय है, इस प्रकारके ज्ञानको बाधित बता रहे हैं वैशेषिक। तो आपत्ति यह आयगी कि उनमें विशेषण विशेष्य भावका सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं हो सकता। तब विशेषण विशेष्य भाव ही न बना तो जिह्वा ही रुक जायगी फिर कुछ बोला ही न जा सकेगा। और न किन्हीं समवायोंमें समवाय होता है ऐसा नियम फिर कैसे बनाया जा सकेगा? तब तो कुछ भी न कहा जा सकेगा कि कहीं आधार आधेय सम्बन्ध

बताया जाय या किसी भी प्रकारसे बाधा डाली जाय। जो भी वचन बोले जायेंगे उनमें कुछ तो प्रकट रूपसे या कुछ अप्रकट रूपसे विशेषण सिद्ध होता है। जब विशेषण विशेष्य भाव तक भी बननेकी गुन्जायश न रही तब फिर वचन व्यवहार भी नही बन सकता। तब ईश्वरमे ईश्वरज्ञान है, यह कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ? और यो जब महेश्वर और ईश्वरज्ञान दोनोकी सिद्धि नही होती है तब वह शरीर इंद्रियादि की सृष्टिमें कारण है, ऐसा कहना तो व्यर्थका प्रलाप ही सिद्ध होता है।

विशेषणविशेषत्वप्रत्ययादवगम्यते ।
विशेषणविशेष्यत्वमित्यप्येतेन ··· ॥ ५६ ॥

भेदवादमे विशेषण विशेषत्वके अवबोधकी अशक्यता—यदि वैशेषिक यह कहे कि विशेषण विशेष्य भाव विशेषण विशेष्यभावके ज्ञानसे जाना जाता है तो इस सम्बन्धमें भी यही दोष आयगा कि वह ज्ञान भी किसी अन्य विशेष्य विशेषण भावके ज्ञानसे जाना जायगा और इस तरह उसमे भी अनवस्था दोष आयगा। साथ ही वह विशेषण विशेष्य भाव सिद्ध न हो सकेगा जैसे कि इस समवायमें समवाय है, इसको बताया गया है अनवस्था दोषसे बाधित। इस अनवस्थासे बाधित ज्ञानके द्वारा जैसे समवायका ज्ञान नही बनता उसी प्रकार विशेषणविशेष्यभाव भी सिद्ध नही हो सकता। ठीक उसी प्रकार यहाँ भी जानें कि विशेषण विशेषत्व भावके ज्ञानके द्वारा विशेषण विशेष्य भाव सिद्ध नही होता। क्योकि विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्धी ज्ञान अनवस्था दोषसे बाधित हो जाता है। फिर उस विशेषण विशेष्यभाव ज्ञानके सम्बन्धमें पूछा जायगा कि वह ज्ञान कैसे बना ? तो उसके लिए कहना होगा कि यह अन्य विशेषण विशेष्य भावके ज्ञानसे बना। तो इस तरह नाना विशेषण विशेष्य भाव ज्ञान मानते जाना पडेगा। तब अनवस्था दोष आता है। अतः इह इद ज्ञानके दूषण द्वारा विशेषण विशेष्य भाव ज्ञान भी दूषित हो जाता है। तो सभी जगह विशेषण विशेष्य भावसे दूषित समझ लेना चाहिए।

तस्यानन्त्यात्प्रयतृणामाकांक्षाक्षयतोऽपि वा ।
न दोष इति चेदेव समवायादिनाऽपि किम् ॥ ५७ ॥

गुणादिद्रव्ययोर्भिन्न द्रव्ययोश्च परस्परम् ।
विशेषणविशेष्यत्व सम्बन्धोस्तु निरङ्कुशः ॥ ५८ ॥

संयोगः समवायो वा तद्विशेषोऽस्त्वनेकधा ।
स्वातन्त्र्ये समवायस्य सर्वथैक्ये च दोषतः ॥५९॥

विशेषवादमें अनन्त विशेषण विशेष्यत्व माने जानेमें भी दोष टाले जानेकी अशक्यता—अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि हमने तो विशेषण विशेष्यभाव अनन्त स्वीकार किया। जब अनन्त हैं तो उनमें संतान बन जायगा। अनवस्था न आयगी। तो इस तरह विशेषण विशेष्यभावका ज्ञान सिद्ध हो जाता है। दूसरी बात यह है कि जो जानकार लोग हैं उनकी आकांक्षा कुछ दूर तक तो चलेगी, विशेषण विशेष्यभावका परिचय करते रहनेके लिए, कुछ समय बाद उनकी इस आकांक्षाका भी नाश सम्भव है। इस कारण अनवस्था दोष नहीं आ सकता। इसके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि उनका कथन यो युक्तिसङ्गत नहीं है कि इस तरह विशेषण विशेष्य भावको अबाधित मान लेनेपर अनवस्था दोषसे रहित मान लेनेपर समवाय आदिक सम्बन्ध मानना व्यर्थ ही ठहरेगा। क्योंकि सब काम विशेषण विशेष्यत्व भावरूप सम्बन्धसे ही सिद्ध हो जायेंगे। गुण आदिक और द्रव्यमें तथा द्रव्य द्रव्यमें विशेषण विशेष्यभाव मान लिया जाय उससे ही सब व्यवहार बन जायगा। अलगसे कोई संयोग और समवाय सम्बन्ध न मानना चाहिए। संयोग तथा समवाय आदिक सम्बन्धको अगर मानना ही है तो उसे विशेषण विशेष्य भावमें ही यह भेद समझ लेना चाहिए। हमारा विशेषण विशेष्य भाव इतना गहरा है कि वहाँ समवाय सिद्ध होता, कोई विशेषण विशेष्यभाव इस प्रकारका है कि जिसमें संयोग जैसा परिज्ञान होता। तो संयोग और समवाय, विशेष्यभावके ही भेद बनेंगे। यदि समवायको स्वतंत्र और सर्वथा एक माना जाता है तो उसमें अनेक दोष आते हैं। तो समवाय कोई स्वतन्त्र एक पदार्थ नहीं है, किन्तु विशेषण विशेष्यभावका ही एक भेद है। अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि देखिये ! विशेषण विशेष्यभाव अनन्त हैं; वे समवाय की तरह एक नहीं हैं। तो जब विशेषण विशेष्यभाव अनन्त हैं तो उसमें अनवस्था दोषकी क्या आवश्यकता ? वहा तो एक संतति चली और उस सन्ततिमें भी जहा तक जानकार लोगोंकी आकाक्षा रही वहा तक तो परिचय चलता रहा और जहाँ यही एक जानकार लोगोंकी आकाक्षा नहीं रहती बस वहासे आगे कोई अनवस्थाका प्रसङ्ग ही नहीं। जैसे ज्ञाताका व्यवहार समाप्त हो जाता है जहाँ पर वहाँ उसकी आकाक्षा नहीं रहती, क्योंकि यहाँ अन्य विशेषण विशेष्यभावकी आवश्यकता नहीं रहती। जाननहार पुरुषको जितना जाननेकी आवश्यकता थी वहाँ तक तो उसकी आकाक्षा चली और जहाँ अब जाननेकी आवश्यकता न रही वहाँ उसकी आकांक्षा भी नहीं रहती। तब अनवस्था दोष विशेषण विशेष्य भावके परिचयमें कहीं भी नहीं आती। इसके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि यह कथन सङ्गत नहीं है। इसका कारण यह है कि इस तरह यदि विशेषण विशेष्यभावसे ठीक व्यवस्था बना ली जाती है तो समवाय आदिक सम्बन्ध भी कोई अर्थ नहीं रखते, क्योंकि जो समवाय है उसमें भी विशेषण विशेष्य भाव स्वीकार कर लिया जायगा। तथा जो संयोगी पदार्थ हैं उनमें विशेषण विशेष्य भाव स्वीकार कर लिया जायगा।

विशेषण विशेष्यभाव बननेपर इससे ही सर्वसिद्धि कर ली जानेसे समवाय माननेकी व्यर्थता देखिये ! गुण और द्रव्यमे, क्रिया और द्रव्यमे गुणत्व और गुणमे, कर्मत्व और कर्ममे, गुणत्व और द्रव्यमे, कर्मत्व और द्रव्यमें तथा विशेष और द्रव्यमे बराबर विशेषण विशेष्य भाव प्रतीत हो रहा है। कही तो साक्षात् विशेषण विशेष्य भाव विदित हो जाता है और कही परम्परासे विशेषण विशेष्य भाव विदित हो जाता है। जैसे कि हम दो द्रव्योमे कही कही साक्षात् निरखते हैं उस तरह विदित हो जाता है। तो सभी प्रकारके सम्बन्धोमें विशेषण विशेष्य भाव प्रतीत होता है। उनकी प्रतीतिमे कोई बाधा नही आती। जैसे गुणवान और द्रव्य है वहाँ विशेषण विशेष्य भाव स्वीकार होते हैं। देखो ! यह द्रव्य द्रव्यवान है। इस द्रव्यमे गुण है, इस तरह कहते हैं उसको इस तरह कह बैठें कि यह द्रव्य गुणवान है, तो विशेषण विशेष्य भाव सीधा विदित हो जाता है। हाँ, द्रव्यमे गुण है, यह कहनेसे परम्परासे विशेषण विशेष्य भाव विदित होता है। और भी देखिये ! जैसे यह कहा जाता है कि द्रव्यमे कर्मका सम्बन्ध है द्रव्यमे कर्म है, यहाँ विशेषण विशेष्य भाव परम्परासे जाने गए और इस हीको अब इन शब्दोंमे परिवर्तित करके कहेगे कि द्रव्य क्रियावान है तो यहाँ विशेषण विशेष्यभाव साक्षात् विदित हो जाता है। और भी देखिये ! द्रव्यमे द्रव्यत्व है इसमे विशेषण विशेष्यभाव परम्परासे जाना जाता है। यहाँ विशेषण विशेष्यभाव इतना गहरा है कि उसमे समवाय सम्बन्धकी कल्पना बनानी पडी है और वास्तवमे तो वह विशेषण विशेष्यभावका ही रूप है। तो जैसे द्रव्यमें द्रव्यत्व है इससे विशेषण विशेष्यभाव परम्परासे जाना जाता है। जब इसको इस शब्दमे परिवर्तित कर देंगे कि द्रव्य द्रव्यत्ववान है तो यहाँ विशेषण विशेष्यभाव साक्षात् विदित हो जाता है कि लो द्रव्य तो विशेष्य है और द्रव्यत्ववान यह विशेषण है। अब विशेष द्रव्यमें पाया जाता है या द्रव्यका विशेष है, ऐसा जब कथन करते हैं तो इसमे विशेषण विशेष्य भाव परम्परासे विदित होता है और जब इस प्रकार कहेगे कि द्रव्य विशेषणवान है तो इसमे विशेषण विशेष्यभाव साक्षात् विदित हो जाता है। यहाँ द्रव्य तो विशेष है और विशेषवान यह विशेषण है। जैसे कोई पूछे कि कैसा है द्रव्य ? तो उसके उत्तरमे कहा जायगा कि द्रव्यवान है द्रव्य। इसी प्रकार गुणमे गुणत्व है, इस कथनमे तो विशेषण विशेष्यभाव परम्परासे विदित हुआ और तब यो कहेंगे कि गुण गुणत्ववान है तो यहाँ विशेषण विशेष्यभाव साक्षात् विदित हो जाता है। इसी तरह कर्ममे कर्मत्व है इसके परिचयमे विशेषण विशेष्यभाव परम्परया विदित होता है और जब इसे इस तरह बोलेंगे कि कर्म कर्मत्ववान है तो विशेषण विशेष्य भाव साक्षात् विदित हो जाता है। जैसे कहते हैं कि यह पुरुष दण्डवान है तो यहाँ विशेषण विशेष्यवान भाव ही तो जाना गया। कैसा है पुरुष ? दण्डवान है। तथा जैसे कहे कि यह पुरुष कुण्डल वाला है तो यहाँ विशेषण विशेष्यभाव साक्षात् स्पष्ट है। पुरुष तो विशेष्य है, कुण्डलवान विशेषण है। तो इसी तरह उन सब घटनाओमें विशे-

षण विशेष्यभाव ही विदित होता है। जैसे द्रव्यमें गुण तो विशेषण है और द्रव्य विशेष्य है जहाँ गुण और गुणत्व सामने रखे गए वहाँ गुणत्व तो विशेषण है और गुण विशेष्य हो सो किसी प्रकरणमें विशेषण विशेष्यभाव साक्षात् विदित होते हैं और किसीमें विशेषण विशेष्यभाव परम्परया विदित होते हैं किन्तु है सभी जगह विशेषण विशेष्यभावका ही परिचय। इस कारणसे एक विशेषण विशेष्यभावसे ही सम्बन्ध मानना चाहिए। समवायका सम्बन्ध न मानना चाहिए।

संयोग व समवाय सम्बन्धके बिना भी विशेषण विशेष्यभाव बन जाने से विशेषण विशेष्यभावकी समवायापूर्वकताकी असिद्धि—अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि दण्डवाला पुरुष है ऐसा उदाहरण देकर उसकी तरह सभी जगह विशेषण विशेष्यभाव जो मनवानेकी प्रेरणा की है उसके विषयमें सुनो! दण्ड और पुरुषमें जो संयोग है वह विशेषण विशेष्यभावका जनक है इसी तरह अवयव अवयवीमें समवाय अथवा वहाँ संयोग है वह भी विशेषण विशेष्यभावका जनक है तो सब संयोग और समवाय ही तो भले प्रकार समझा रहे हैं, क्योंकि यहाँ विशेषण विशेष्यभाव जो बना वह संयोग और समवायके होनेपर ही बना। यदि संयोग और समवायको नहीं मानते तो विशेषण विशेष्यभावसे नहीं माना जा सकता। इस कारण विशेषण विशेष्यभाव को मानकर फिर उसके अभेद संयोग समवायको बताना ठीक नहीं है, किन्तु संयोग और समवायमें वास्तविक सम्बन्ध है। इसके निराकरणमें स्याद्वादी कहते हैं कि यह मान्यता भी ठीक नहीं है, क्योंकि संयोग और समवाय न भी हो वहाँ तो भी विशेषण विशेष्यभाव पाया जाता है। तब यह बात तो न रही कि संयोग और समवाय विशेषण विशेष्यभावका जनक है। संयोग और समवाय कहीं नहीं भी होते हैं। तो भी विशेषण विशेष्यभाव वहाँ मौजूद रहता है। जैसे धर्म और धर्मीमें न संयोग है न समवाय है फिर भी विशेषण विशेष्यभाव तो है ही। इसी प्रकार भाव और अभावमें संयोग है न समवाय है फिर भी उनमें विशेषण विशेष्यभाव विदित होता है। देखो! संयोग तो होता है द्रव्य द्रव्यमें, धर्म और धर्मी, द्रव्य और द्रव्य तो नहीं हैं। तो उनमें संयोग तो नहीं बनता। और समवाय यों नहीं बनता कि समवायका अस्तित्व स्वीकार करनेमें अन्य समवायका प्रसङ्ग आयेगा। इसी तरह भाव और अभावमें भी वैशेषिकों ने न संयोग माना न समवाय माना। यह तो उनके सिद्धान्तसे ही जाना जाता है, लेकिन भाव और अभावके प्रकरणमें भी विशेषण विशेष्यभाव केवल स्वीकार किया गया है, इस कारण संयोग और समवायके साथ विशेषण विशेष्यभावकी व्याप्ति नहीं है कि संयोग समवाय होनेपर ही विशेषण विशेष्यभाव बने, किन्तु विशेषण विशेष्य भावके साथ संयोग और समवायकी व्याप्ति कह सकते हैं अर्थात् जहाँ विशेषण विशेष्य भाव विदित होता है वहाँ संयोग और समवायकी कल्पनाकी जा सकती है। वस्तुतः विशेषण विशेष्य भावके बिना न तो संयोगकी प्रतिष्ठा बनायी जा सकती

और न समवायकी प्रतिष्ठा बनायी जा सकती । हाँ यह एक दूसरी बात है कि कही विशेषण विशेष्य भावकी विवक्षा न हो और सयोग समवायका परखना देखा जाय तो विवक्षा न होनेकी बात तो रही, पर यह न बनेगा कि विशेषण विशेष्य भाव तो था ही नही और सयोग समवाय बन गया । विशेषण विशेष्य भावके बिना संयोग और समवाय नही बन सकता है, विवक्षा न होनेका कारण यह है कि प्रयोजन नही है इसलिए विशेषण विशेष्य भावरूपमे विवक्षा नही की जा रही है । जैसे द्रव्यमें द्रव्यत्व है । अब और प्रयोजन न होनेसे विशेषण विशेष्य भावका प्रकट रूप नही दिया गया लेकिन यह नही है कि वहाँ विशेषण विशेष्य भाव न हो और फिर कोई सम्बन्ध बनाया जा रहा हो सयोग अथवा समवाय इनका कुछ अविनाभाव आदिक कोई भी सम्बन्ध विशेषण विशेष्य भावके बिना नही बनता इसलिए वे सब विशेषण विशेष्य भावके ही भेद जानना चाहिए । कहीं सयोग और समवाय ये अलग नही कहे जाते । यो समवाय न बना जब कोई सम्बन्ध ही स्वतत्र सिद्ध नहीं होता तो महेश्वर और महेश्वरज्ञानमे जो कि भिन्न भिन्न तत्त्व हैं उनमे समवाय सम्बन्धका भेद कर उसकी व्यवस्था बनाना और इस व्यवस्थाके बाद फिर सृष्टिकर्ताकी व्यवस्था बनाना ये सारी बातें असङ्गत हैं ।

समवायको स्वतत्र और एक माननेमे दोष प्रसगकी वार्ता—यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि समवायको कैसे विशेषण विशेष्य भावका भेद कहा जा सकता है ? वह तो एक स्वतत्र पदार्थ है । द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य, विशेष ये स्वतत्र पदार्थ हैं, उसी प्रकार समवाय भी स्वतत्र है और एक पदार्थ है । उसका याने विशेषण विशेष्य भावका भेद समवायको कैसे बताया जा रहा है ? तो उत्तरमे कहते हैं कि समवाय कोई एक स्वतत्र पदार्थ नही है । यदि समवाय भी एक स्वतत्र पदार्थ माना जायगा तो वहाँ अनेक दोष आ ही जायेंगे !

> स्वतन्त्रस्य कथं तावदाश्रितत्वं स्वय मतम् ।
> तस्याश्रितत्ववचने स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते ॥ ६० ॥

> समवायिषु सत्स्वेव समवायस्य वेदनात् ।
> आश्रितत्वे दिगादीनां मूर्तद्रव्याश्रितिर्न किम् ॥ ६१ ॥

समवायको स्वतन्त्र माननेमे समवायियोमे आश्रितताका विनाश—यदि समवाय स्वतन्त्र है तो फिर आप लोगोने उसका अनाश्रितपना कैसे कह दिया है? आश्रितपना तो स्वयं माना है कि जो समवाय समवायीके आश्रय रहता है याने सम-

वायमें रहता है तो आधार तो बना ही दिया। सो यों समवायमें समवाय रहता है, इस तरहका आश्रितपन कहनेपर वह समवाय स्वतन्त्र नहीं बन सकता। यदि यह कहा जाय कि समवायके होनेपर ही समवायका ज्ञान होता है, यों समवायमे आश्रितपना कहा जाता और इस तरह वह उपचारसे है। तो समाधानमें यह कहना पर्याप्त होगा कि इस तरह फिर दिशा आदिक पदार्थ भी अमूर्त द्रव्योंके आश्रित क्यों न हो जायेंगे ? इसका स्पष्टीकरण यह है कि वास्तवमे यदि समवाय स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है तो वैशेपिकोने स्वय ऐसा कहा है कि नित्य द्रव्योंको छोडकर ६ द्रव्योंमें समवायका आश्रितपना है तो यह वचन वैशेषिकोने स्वय कहा है। तो समवायका आश्रितपना कैसे स्वीकार कर लिया ? अगर स्वतन्त्र था तो उसे अनाश्रित ही बनाना था। तो लो उनके ही सिद्धान्तका यहाँ विरोध आ जाता है, क्योंकि "षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः" इस सूत्रसे तो यह प्रसिद्ध किया कि केवल नित्य द्रव्यको छोडदे तो बाकी ६ पदार्थोंमें आश्रितपना माना गया है। तो यह सिद्धान्त विरोध तो स्पष्ट है। अब स्वतन्त्रता कहाँ रही समवायकी ? जो परके आश्रित हो उसे तो परतन्त्र कहा गया है। इसलिए समवायमे जब पराश्रितपना मान लिया तो स्वतन्त्रताका नाश तो हो ही गया। फिर समवाय स्वतन्त्र न रहा। इस दोष प्रसङ्गपर वैशेषिक कहते हैं कि हम आश्रितपना समवायका मान तो रहे हैं, पर वह वास्तविक धर्म नहीं है, याने समवायमें आश्रितपना है वह वास्तविक नहीं, किन्तु औपचारिक है और इसी कारण सिद्धान्तसे विरोध नही आता। तो समवायमे आश्रितपना उपचारसे कैसे बना ? सो सुनो ! उपचारका कारण यह है कि समवायके होनेपर समवायका ज्ञान होता है। जिस जगह समवायी न हो उस जगह समवायका ज्ञान नहीं होता। सो समवाइयोंके होनेपर ज्ञान बनता है समवाय वाला। केवल इतने मात्रसे समवायका आश्रितपना कहा है सो वह उपचार औपचारिक है। यदि वास्तवमें समवायको आश्रित मान लिया जाय तब आश्रयके नाशसे समवायका भी नाश मानना पडेगा। इस कारण समवाय वास्तवमें समवायियोके आश्रित नहीं है, किन्तु समवायियोंके ज्ञान आश्रित होनेपर ही समवायका ज्ञान होता है। इस दृष्टिसे उपचारसे समवायको आश्रित बताया गया है। वास्तवमें तो अमारपना इस कारण नहीं है कि यदि समवाय वास्तवमे आश्रित हो जाय तो आश्रयके नाश होनेसे समवायका भी नाश मानना पडेगा। जैसे गुण आदिककी बात है कि कई गुण द्रव्यके नाश होनेपर नष्ट हो जाया करते हैं। तो ऐसे ही यदि समवाय समवायीके आश्रित हो वास्तवमें तो समवायीके नाश होनेसे समवायका भी नाश मानना पडेगा। उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि विशेषवादियोंका उक्त प्रकारसे समवायी स्वतन्त्र सिद्ध करनेकी बात सही नहीं है यदि इस तरह समवायका आश्रितपना उपचारको बता दिया जाय और वास्तवमें उसे अनाश्रित और स्वतन्त्र मान लिया जाय तो इसी तरह दिशा आदिकमें भी तो आश्रितपनेका प्रसङ्ग आयगा। इसका कारण यो है कि जितने मूर्तद्रव्य यहाँ दीख

रहे हैं उन मूर्त द्रव्योंकी उपलब्धि होनेपर दिशा ज्ञापक बनती है। ऐसे ही यह इससे पूर्वमें है सो मूर्त द्रव्योंके होनेपर ही तो दिशाका स्पष्टीकरण कर सके है। इसी तरह काल भी कब बोधमें आता है ? जब परत्व और अपरत्वका ज्ञान होता है याने यह इससे जेठा है यह इससे छोटा है, इस प्रकारका जब ज्ञान होता है तो कालका बोध होता है। तो यो दिशा भी मूर्त द्रव्यके आश्रित बन गई और काल भी मूर्त द्रव्यके आश्रित बन गया। तब ऐसी स्थितिमें आपका वह सिद्धान्त नहीं रह सकता जैसा सूत्र में कहा है कि नित्य द्रव्यको छोडकर ६ पदार्थोंके आश्रितपना है, यह सिद्धान्त क्यों न स्थिर रह सका ? यों कि दिशा आदिक नित्य द्रव्य भी उपचारसे आश्रित सिद्ध हो जाते हैं और समवायका उपचारसे आश्रित माननेपर इतना ही दोष नहीं किन्तु इसके अतिरिक्त यह भी प्रसङ्ग आयगा कि सामान्य बात परमार्थ दृष्टिसे अनाश्रित हो जायगी क्योंकि जैसे विशेषवादियोंके यहाँ यह कल्पना है कि समवाय यदि वास्तवमें आश्रित हो तो समवायीके नाश होनेपर समवायका नाश हो जाना पडेगा। उसी तरह यहाँ भी कह सकेंगे कि सामान्य यदि द्रव्यके आश्रित हो तो उसका विनाश होनेपर समवाय भी विनष्ट हो जायगा, लेकिन जैसे आश्रयके नष्ट होनेपर समवायका नाश नहीं माना इसी प्रकार द्रव्यका नाश होनेपर सामान्यका भी नाश नहीं माना है। यों समवायको उपचारसे आश्रित मानना और परमार्थतः स्वतन्त्र मानना यह सब आपकी मान्यतासे ही विरुद्ध पड़ जाता है।

कथं चानाश्रितः सिद्ध्येत्सम्बंधः सर्वथा क्वचित् ।
स्वसम्बन्धिषु येनातः सम्भवेन्नियतस्थितिः ॥ ६२ ॥

समवायको अनाश्रित कहनेपर उसके सम्बन्धत्वकी असिद्धि—उक्त श्लोकमें वैशेषिकोंने यह सिद्ध करना चाहा था कि समवाय परमार्थतः आश्रित नहीं है, किन्तु उपचारसे आश्रित है, इसके सम्बन्धमें कुछ दोष उपस्थित किया था उसके उत्तरमें अब और कुछ उसके सम्बन्धमें कहा जा रहा है कि यदि समवाय परमार्थ दृष्टिसे अनाश्रित है क्योंकि उपचारसे ही उसमें आश्रितपना मानते हैं तो जो परमार्थतः अनाश्रित है वह सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि सम्बन्ध तो उसे कहते हैं कि जिसकी अपने सम्बन्धियोंमें स्थिति सम्भव हो। अब समवायको मान लिया अनाश्रित तो उसके सम्बन्धियोंमें स्थिति नहीं बन सकती। इस तरह यह प्रमाणित किया जा सकता है कि समवाय सम्बन्ध ही नहीं है, क्योंकि समवाय सर्वथा अनाश्रित है। जो जो सर्वथा अनाश्रित होता है वह वह सम्बन्ध ही नहीं कहलाता, जैसे दिशा, काल, आकाश आदिक अनाश्रित हैं तो उनका नाम सम्बन्ध तो न पड़ा। तो जो सर्वथा अनाश्रित है, समवाय है उसको सम्बन्ध कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रकार जो सम्बन्ध इह इद इस ज्ञानसे अनुमानित किया जाता है वह सम्बन्ध समवाय नहीं है।

क्योंकि जो अयुतसिद्ध और आधार्य आधारभूत हैं उनका भी अन्य कोई सम्बन्ध आश्रित होना चाहिए सो उनका संयोग आदिक सम्बन्ध तो सम्भव नहीं है। और, उनका यद्यपि समवाय सम्भव है लेकिन यह तो अनाश्रित है। तो जो अनाश्रित समवाय है उसके सम्बन्धियोंमें सम्बन्ध कैसे बनाया जा सकता है ? यो समवायमें सम्बन्धपनेकी बात कहना युक्त नही है। समवाय जब अनाश्रित है तो वह सम्बन्ध बन ही नही सकता। सम्बन्धका प्रकट रूप तो यह है जो अनेकके आश्रित रहता है उसे सम्बन्ध कहते हैं। अब समवायको आश्रित नहीं कह रहे हो उसे अनाश्रित बताया जा रहा है इस कारण समवाय सम्बन्ध ही नहीं कहलाता। और, जब समवाय कोई सम्बन्ध ही न बना तो इस स्थितिमें अयुतसिद्ध पदार्थोंमें इह इद ऐसे ज्ञानसे ज्ञान जो हेतु बनाया गया है और उस हेतुसे ईश्वर और ईश्वरज्ञानमें समवाय सम्बन्ध सिद्ध कर पाये ऐसा साधन ही नहीं बन सकता है।

समवाय सम्बन्धको सिद्ध करनेके लिये कुछ अघटित कथन—यहाँ विशेषवादी अपना पक्ष स्थापित कर रहे हैं कि देखिये ! हमारा अभिप्राय यह है कि स्याद्वादियोंने जो यह अनुमान बनाया है कि समवाय सम्बन्ध ही नहीं है, क्योंकि वह अनाश्रित है, तो इस अनुमानमें समवायका पक्ष बनाया है तो यह समवाय पक्ष प्रमाण से सिद्ध है अथवा असिद्ध है ? यदि कहो कि समवाय प्रमाणसे सिद्ध नहीं है तो जो अनाश्रितपना यह हेतु बताया है वह आश्रयासिद्ध हो गया। स्याद्वादियोका जो यह अनुमान बना था कि समवाय कोई सम्बन्ध ही नहीं कहलाता। क्योंकि वह अनाश्रित है तो अनाश्रितपना यह हेतु किसमें बताया जाय ? जिसे समवायमें बतानेकी चेष्टा कर रहे हो वह तो समवाय तो प्रमाणसे असिद्ध बतला रहे हैं। यदि समवाय प्रमाण से असिद्ध है तो समवायके खण्डन करनेके लिए जो हेतु दिया है वह दूषित हो जाता है। यदि समवाय प्रमाणसे सिद्ध है तो जिस प्रमाणसे समवाय धर्मीकी सिद्धि की है तो उसी प्रमाणसे अनुमान दूषित हो जाता है। क्योंकि प्रमाणसे समवायको सिद्ध मान लिया। अब समवायका खण्डन करनेके लिए जो हेतु दिया जा रहा है वह दूषित हो गया। जिस प्रमाणसे समवायको सिद्ध माना है उस ही प्रमाणसे यह हेतु बाधित हो गया। जो कुछ सिद्ध करना चाहते हैं वह समस्त प्रतिज्ञा बाधित हो गई। याने समवाय है यह सिद्ध हो गया फिर यह कहना अयुक्त है कि समवाय कोई सम्बन्ध ही नहीं है। दूसरा दोष यह आयगा कि यह हेतु बाधित विषय बन गया। हेतु जिसको सिद्ध करना चाहता है उसको सिद्ध यो अब नहीं कर सकते कि उसके मुकाबलेमें यह सिद्धान्त बन गया कि समवाय प्रमाणसे सिद्ध है सो नि सन्देह जिस प्रमाणसे समवाय की सिद्धि मान ली गई उसी प्रमाणसे अयुतसिद्धका याने जो अपृथक पदार्थ हैं उनका सम्बन्धपना भी ज्ञात हो जाता है, क्योंकि अयुतसिद्धके ही सम्बन्धको समवाय माना है सो समवायमें सम्बन्धपना प्रमाणसे सिद्ध है उसका खण्डन नहीं किया जा सकता।

उक्त शङ्काके समाधानमे स्याद्वादी कहते हैं कि वैशेषिकोका उक्त कथन समीचीन नहीं है, क्योकि समवायका ग्राहक जो प्रमाण है उसके द्वारा आश्रित रूपपनेसे ही समवाय का ग्रहण होता है याने जो समवायी दो पदार्थ हैं उनमे अभिन्नरूपसे समवाय पाया जाता है इस तरह सिद्ध होता है, तो आश्रित ही सिद्ध हुआ। अब उसे कोई अनाश्रित स्वीकार करे तो उस अनाश्रित समवायमे सम्बन्धपनेका अभाव है। यह दोष दे रहे हैं, यह अनिष्टापत्ति उपस्थित कर रहे हैं। और इस अनिष्टापत्तिरूप प्रमाणसे यह सिद्ध कर रहे हैं कि समवाय कोई सम्बन्ध नही है, क्योकि उसे अनाश्रित मान लिया गया है। देखिये ! सभी दार्शनिक यह बात बतलाते हैं कि यदि साध्य और साधनमे व्याप्य व्यापक भाव हो और कोई दूसरा प्रतिवादी व्याप्य स्वीकार करता हो तो उसे व्याप्यका अविनाभावी व्यापक अवश्य मानना पडेगा। तो यहाँ अनाश्रितपनेका सम्बन्ध के साथ व्याप्य व्यापक भाव है और अनाश्रितपना वैशेषिक मान ही रहे हैं तो उससे सम्बन्धका अभाव अपने आप सिद्ध हो जाता है। देखिये ! दिशा आदिक जो ६ द्रव्य हैं वे अनाश्रित हैं ना, तो उनमे अनाश्रितपनाके कारण व्याप्त हो रहा है और इस तरह अनाश्रितपना असम्बन्धके साथ व्याप्त है यह बात प्रकट सिद्ध है, क्योकि कोई भी अनाश्रित हो तो वह सम्बन्ध नही कहलाता। इस कारण हमारे अनाश्रितपने हेतु मे न अनेकान्तिक दोष आता है और न विरोध दोष आता है। अनाश्रित होनेपर भी कोई सम्बन्धपनेको सिद्ध करदे ऐसा कोई अनुमान नही है, इस कारण सप्रतिपक्ष दोष भी नही होता। यो समवाय कोई सम्बन्ध नही बनता। जिससे कि किसीका किसी समवायीमे नियम बनाया जाय कि अमुकमे ही अमुकका समवाय होता है। जैसे ईश्वर मे ही ईश्वरज्ञानका समवाय होता है। समवायका कोई स्वरूप ही नही बन रहा। समवाय नामका कोई सम्बन्ध ही नही बन रहा तो उससे किस महेश्वरमें महेश्वरज्ञान को सिद्ध किया जा सके और उसे सृष्टिकर्ता बताया जा सके, तथा कर्मभूभृतोका भेत्ता नही होता कोई आप्त, यह सिद्ध किया जा सके।

एक एव च सर्वज्ञ समवायो यदीष्यते।
तदा महेश्वरे ज्ञान समवैति न खे कथम् ॥ ६३ ॥

इहेति प्रत्ययोऽप्येष शङ्करे न तु खादिषु।
इति भेदः कथ सिद्ध्येन्नियामकमपश्यतः ॥ ६४ ॥

समवायको एक माननेपर सम्बन्धकी अव्यवस्था—यदि समवाय किसी प्रकार सिद्ध भी मान लिया जाय तो वहाँ एक यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह समवाय एक है अथवा अनेक है ? यदि सर्वत्र एक ही समवाय माना जाय तो महे-

श्वरमे ज्ञानका समवाय है, आकाशमें या दिशाकालमें ज्ञानका समवाय नहीं है यह कैसे समझा जायगा ? यदि विशेषवादी यह कहें कि वहाँ जो इह इद ज्ञान होता है उस ज्ञानसे जाना जाता है कि महेश्वरमें ज्ञान है और इस प्रकारका जो प्रत्यय होरहा है तो वह समवायके कारणसे ही होरहा है। तो यह कहना अथवा दोष देना कि समवाय ज्ञानका ईश्वरमे ही क्यो हुआ आकाश आदिकमें क्यो नही हुआ ? उसका यह उत्तर है कि वहाँ ही इह इद याने महेश्वरमे ज्ञान है, इस तरहका बोध हो रहा है, तो समवाय वही खुद घटित हो गया। ऐसा यदि विशेषवादी उत्तर देना चाहें तो उसमे भी यह प्रश्न होता है कि महेश्वर और ज्ञानके ही प्रसङ्गमे क्यो यह ज्ञान बन बैठे इहेद आकाशमे क्यो नही ज्ञान बन बैठता ज्ञानका सम्बन्ध कि इह इद। तो यहाँ कोई नियामक कारण नहीं है कि समवाय एक स्वतन्त्र भिन्न है तो ज्ञानका ईश्वरमें ही समवाय हो अन्य किसीमे न हो। इसी तरह जिन जिन पदार्थोंमे जिसका समवाय माना है, उसका उन पदार्थोंमे ही समवाय हो, अन्यमें न हो, यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

विशेषणभेदसे सम्बन्धके नियमकी व्यवस्थाका शङ्काकार द्वारा कथन

यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि इह इद इस प्रकार जो ज्ञान बना है उसका नियामक विशेषणभेद है। जेसे कि सत्ताका परिचय कराना विशेषणभेदसे बनता है। इसी तरह विशेषणभेदसे हम इह इद इस प्रकारका ज्ञान बना लेते हैं। जैसे कि सत्ता भी एक ही है और वे द्रव्यादिक विशेषणोके भेदसे भेद वाले देखे जा रहे हैं, क्योकि जिस जिस द्रव्यके बारेमे बात करें उस उस द्रव्यके सत्त्वकी व्यवस्था बनाई जाती है अथवा गुण कर्म आदिकके सम्बन्धमे बात करें तो उसके सत्त्वकी व्यवस्था बन जाती है। तो विशेषणोंसे विशिष्ट होकर सत्ताका ज्ञान बने तो वह सत्ताका ज्ञान उन-उन द्रव्यगुण आदिकका सत्ता बता देते हैं। जैसे द्रव्य सत है, गुण सत् है, कर्म सत् है आदिक द्रव्यादिकके विशेषणोंसे सहित जो सत्ताका ज्ञान बना वह द्रव्यविशिष्ट सत्ता को ग्रहण करने वाला है। कोई विशिष्ट सत्ताका ग्रहण करने वाला है। तो जैसे सत्ता है पर विशेषणभेदसे द्रव्यकी सत्ता, गुणकी सत्ता, इस प्रकार नियम बन जाता, ऐसे ही समवाय भी एक है फिर भी विशेषणभेदसे कि महेश्वरके ज्ञानका समवाय आदिक विशेषणभेदसे इह इद ज्ञानका नियम बन बैठता है। जो भी समवायी हैं उन समवायी विशेषणोसे युक्त इह इद इस ज्ञानमें विशिष्ट समवायकी व्यवस्था बन जाती है। याने समवायी विशेषण है और समवाय विशेष्य है। तो समवायीके भेदसे समवायका भेद पड जाता है और इस उपदेशसे इहेदका परिचय परिज्ञान बन जाता है। वास्तवमें तो विशिष्ट परिज्ञानका तो उपलक्षित समवाय सिद्ध हुआ है और इस तरह यह विशेषणभेद इह इद इस प्रकारसे नियमका कारण बन गया। उदाहरणमें देखिये ! जैसे इन ततुओमे वस्त्र है, तो ततु वस्त्रविशिष्ट ही तो है। इह इद ज्ञान है

तंतुओंमें वस्त्र है, इस तरहसे जब हमने कुछ बोध किया तो उस ही ज्ञानमें तो तंतुओं ही वस्त्रका समवाय है इस तरह भी नियम बना। कहीं स्पर्शके तंतुओंमें समवाय बना। और जब इहेद विशेषण विशिष्ट होकर सभी लोगोंके ज्ञानमें आ रहा है तो यहाँ यह प्रश्न न किया जाना चाहिए कि वही क्यों प्रतिनियत बना ? अर्थात् वह समवाय इनमें ही क्यों घटित हुआ ? अन्यत्र क्यों नहीं घटित होता ? इस तरहके प्रश्न उठाये जाने लगें तो कोई भी दार्शनिक अपने इष्ट तत्त्वको सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि जो भी तत्त्व वह सिद्ध करना चाहेगा उसके व्यवस्थापक ज्ञानमें भी यह प्रश्न लगाया जा सकता कि यह नियम कैसे बना ? यों बहुत दूर जाकर भी किसी अनुभव में आया हुआ ज्ञान विशेषणका माना जाय तो अब यह प्रश्न नहीं लागू होता और उससे फिर कोई तत्त्वकी व्यवस्था बनाये तो ऐसा ही तो हमारा यह है—महेश्वरमें ज्ञान है इस विशेषण युक्त इह इद ज्ञानसे समवाय महेश्वरमें ही नियमित होता है, आकाश आदिकमें नहीं यों विशेषण भेदसे समवायमें भेद है, पर वस्तुत: वह एक है।

समवायको परमार्थत: एक माननेपर विशेषणभेदसे भी नानात्व न हो सकनेसे सम्बन्धकी असिद्धि बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान— उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि विशेषवादियोंका यह वचन यथार्थ नहीं है कि समवाय तो वास्तवमें एक है किन्तु समवायीके भेदसे याने विशेषणके भेदसे उपचारसे अनेक माने जाते हैं। यह कथन यथार्थ क्यों नहीं है ? इसका कारण यह है कि जब समवाय सर्वथा एक है, वास्तवमें एक है तो वह स्वयं किसी भी तरह अनेक नहीं हो सकता है, तो नाना समवाय उसके विशेषण नहीं बन सकते। अब वस्तुत समवाय एक ही है तो वह अनेक समवायियोंसे विशिष्ट भी नहीं बन सकता। तथा शङ्काकारने जो ऊपर समवायके एकत्वको प्रमाणित करनेके लिए सत्ताका दृष्टान्त दिया था वह दृष्टान्त देना यों युक्त है कि सत्तापर भी अभी विचार करना पड़ा है वह भी साध्य कोटिमें है क्योंकि सत्ता भी किसी भी प्रमाणसे सर्वथा एक सिद्ध नहीं होती। जैसे प्रमाण एक सिद्ध नहीं होता उसी प्रकार सत्ता भी एक सिद्ध नहीं होती। इस प्रसङ्गमें वैशेषिक कहते हैं कि सत् सत् है, इस प्रकारका जो एक अनुगत आकार लिए हुए सामान्यज्ञान होता है और सत् सत् इस प्रकारके विषयमें विशेष ज्ञान नहीं हो रहा तो इससे सिद्ध है कि सत्ता एक ही है। इसके उत्तरमें स्याद्वादी कहते हैं कि सत् सत् इसमें अनुगताकार सामान्य प्रत्ययकी बात भी नहीं कह सकते, क्योंकि सर्वथा सामान्यज्ञान भी असिद्ध है। सत्ताको एकसिद्ध करनेके लिए वैशेषिकोंने दो हेतु दिये थे - एक तो सत् सत् इस प्रकारका सामान्यज्ञान होता है। दूसरा सत् सत् इस प्रकारके बोधमें विशेषज्ञानका अभाव है सो विचार करनेपर ये दोनों ही हेतु असंगत हो जाते हैं। न तो सर्वथा सामान्य प्रत्यय है और न सर्वथा विशेषज्ञानका अभाव ही है हाँ, कदाचित् सामान्यज्ञानकी बात सोचें तो वह भी सिद्ध हो सकती है किन्तु किसी दृष्टिसे सामा-

न्यज्ञानकी बात सिद्ध होगी उसमें सत्तामें कथंचित ही एकपना सिद्ध होगा, किन्तु सर्वथा एकपना सिद्ध हो सकता। देखिये ! जिस प्रकार सत्ता सामान्यकी अपेक्षा सत् है, सत् है इस ढङ्गसे सामान्य विज्ञान होता है उसी तरह सत्ता विशेषकी अपेक्षासे सत् विशेषका भी ज्ञान होता है। भिन्न भिन्न सत् विशेषोंका भी ज्ञान होता है। जैसे कि घट सत् से पट सत् है तो सत् सत् इस प्रकारसे सर्व पदार्थोंमें सत्ता सामान्यका बोध होता है। तो अर्थ क्रिया करने वाले वास्तविक सभी पदार्थोंमें वे अमुक अमुक पदार्थ सत् हैं इस प्रकार सद्विशेषका ज्ञान होता है। यह बात अनुभव सिद्ध है, सधी और सुगम है। अब अनुभव सिद्ध बात न मानकर एक अपनी कल्पना बढाई जाय तो यह समीचीन दार्शनिकोंका काम नहीं है। यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि घट सत् है। ऐसे प्रसङ्गमें घट पदार्थ ही तो विशिष्ट हुआ। सत्ता नहीं हुई। घट सत् है। ऐसा कहनेपर घट ही विशिष्ट बना पर सत्ता विशिष्ट नहीं बनी। सत्ता तो एक ही है, अनेक नहीं है। वह घट विशेषण हो गया। पर सत्त्व तो एक ही है। वे नाना नहीं होते। इसके समाधानमें कहते हैं कि यदि घट सत् है, पट सत् है आदिक रूप सत् प्रत्येक होनेपर भी वहाँ सत्ताको एक मानते हो तो हम कह बैठेंगे कि घट पट आदिक सब भी एक ही चीजे हैं। जैसे सामान्य घट ज्ञान होनेसे सारे घट एक हैं। केवल उन घटोंके धर्म ही विशिष्ट बनते हैं और वे धर्म जो कि विशेषण बने वे ही विशेषज्ञानके उत्पन्न करने वाले होते हैं। यद्यपि यह बात विरुद्ध है, प्रत्यक्ष बाधित है, लेकिन यह अनिष्ठ आपत्ति आयगी विशेषवादियोंके यहाँ जो कि सत्ताको एक मानते हैं। जैसे वे कहते हैं कि सत तो एक है पर घट आदिक विशेषण लग जाने हैं तो वह घट ही विशिष्ट है। सत्ता विशिष्ट नहीं होती। तो ऐसे ही यहाँ कहेंगे कि सैकडों घट हैं वे वास्तवमें एक ही घट हैं। सामान्य घट ज्ञान हो रहा है, पर जो ज्यादह घट मालूम हो रहे तो वह घटकी कल्पना कर रहे हो सो घटके धर्म विशिष्ट हुए और वे ही विशिष्ट ज्ञानके जनक हैं।

घटपटादिके अनेकत्वकी तरह सत्वके भी अनेकत्वकी सिद्धि— यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि घटके विषयमें एकत्वकी आपत्तिका प्रसङ्ग क्यों दिया जा रहा है ? घटमें तो यह बात है कि यदि घट एक एक हो तो कहीं भी एक घटके नाश होनेपर जगतके समस्त घटोंका नाश बन जायेगा। अथवा कहीं घटकी उत्पत्ति होनेपर जगतमें सर्वत्र केवल घटोंकी उत्पत्ति होनी पडेगी। इसका बडा भारी प्रसङ्ग उपस्थित होता है। इससे मानना चाहिए कि घट तो अनेक हैं, एक नहीं हैं। इसके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि जैसे कि घटकी समस्या सुलझा ली है इसी तरह सत्ताकी समस्या भी सुलझा लें ! सत्ता आदिक एक हो तो किसीके जो कि पहले सत नहीं है उसकी सत्ताका सम्बन्ध बन जायगा। तो जगतके समस्त कार्योंके साथ एक साथ सत्ताका सम्बन्ध बन बैठे, क्योंकि सत्ताको तो एक मान लिया है, सो सम्बन्ध होनेपर सभी सम्बन्ध एक कहलायेंगे। अथवा और दूसरी बात देखिये ! किसी कार्य

के साथ सत्ताका सम्बन्ध नही रहता जिसे कि विनाश बोलते हैं जो एक भी कार्यके साथ सत्ताका सम्बन्ध न रहे तो सभीके साथ सत्ताका सम्बन्ध न रह सकेगा। तो यो सत्ताका सम्बन्ध और सत्ताका अभाव इन दोनोमे बडा कठिन विरोध परस्पर होगा। विशेषवादी कहते हैं कि इसलिये ! तथ्य यह है कि जो पहले असत है जिसकी सत्ता नहीं है, जिसकी सत्ताका सम्बन्ध नही है, उस असतके उत्पादक कारण मिल जानेसे वह उत्पन्न हो जाता है। तो जो पदार्थ उत्पन्न होता है उसके साथ सत्ताका सम्बन्ध बन जाता है और अन्यके साथ सत्ताका सम्बन्ध यो नही बनता कि अन्यके उत्पादक कारण नही मिल रहे, तो वे उत्पन्न भी नही हो रहे। अन्यके साथ सत्ताका सम्बन्ध नही हो सकता। इस कारण सत्ताको एक माननेमे दिया गया जो दोष है वह समीचीन नही है। इसके उत्तरमे स्याद्वादी कहते हैं कि इस तरह तो घटको भी एक माननेमें कोई दोष न आयगा। जैसे कि शङ्काकार दोष देकर और एक आपत्तिसे बचना चाह रहे हैं। वह कैसे ? सो सुनो ! सत्ताके साथ जैसे विशेषवादियोने कहा है कि सत्ताके उत्पादक कारण मिल जानेसे असत उत्पन्न होता है, व्यक्त होता है तो उसके साथ सत्ताका सम्बन्ध बन जाता है और अन्यके उत्पादक कारण न रहे और इसी कारण उत्पन्न नही हो रहे तो ऐसे अन्य पदार्थोंके साथ सत्ताका सम्बन्ध नही होता है, ऐसा बताया था तो वही बात हम घटके सम्बन्धमे भी कह सकते हैं कि घट के उत्पादक कारण मिल जानेसे घटमे उत्पाद धर्मका सम्बन्ध बनता है और जब उत्पाद धर्मका सम्बन्ध बना तब घटके साथ उसका सम्बन्ध बन गया। तो लो यो सत्ताकी तरह घटमे भी एक मान डालो। और भी देखिये ! कही विनाश कारण मिलनेसे घटका विनाश धर्म हुआ तो घटका अब उस धर्मके साथ असम्बन्ध बन गया, यही विनाश कहलाता। तो यही मानते रहो कि घटको सर्वथा एक माननेपर भी घट के उत्पाद आदिक धर्मोंका सद्भाव और अभावका नियम बन जाता है अपने ही कारणोके नियमसे देश, काल, आकारका नियम बन जाता है। कौन घट किस देशमे है, किस कालमे है, किस आकारमे है, ये सब कारणोसे भेद बन जाते हैं। घट एक ही है। इस तरह यहाँ भी मानना पडेगा। तो घट एक रहा आया उत्पाद आदिक धर्म अनेक रहे आये। उससे कल्पना यो बनेगी कि उत्पाद आदिक धर्म घटसे अभिन्न ही हो ऐसा नही माना है विशेषवादियोने। उत्पाद आदिक धर्म घटसे भिन्न माना है, तो उत्पाद आदिक अनेक हो जायें तिससे घट अनेक बन बैठें, यह आपत्ति नही आती, यदि उत्पाद आदिक धर्म घटसे अभिन्न मान लिया जाय और यो जब सत्ता धर्मको सत्तासे भिन्न मान लिया गया तब उत्पाद आदिक धर्मोंको भी घटसे भिन्न मान लो। ऐसी स्थितिमें उत्पाद आदिक धर्म ही विशिष्ट होते हैं घट विशिष्ट नही होता, याने सत्ताकी तरह घट एक रहता है और नाना घटोका जो व्यवहार चलता है और कभी कोई घडा उत्पन्न हो, कभी कोई घडा नष्ट हो, यह सब बात बन जाती है। बनता कुछ नहीं है। पर सत्ताको एक मानकर जो विशेषणभेदसे सत्ताको भिन्न मानते हैं,

उनके लिए यह दोष प्रसङ्ग है कि यह भी कहा जा सकता है कि घट एक है किन्तु उत्पाद आदिक विशेषणोंसे वह बनता प्रतीत होता है।

सत्ताको सर्वथा नित्य माननेपर उत्पादादि धर्मकी असम्भवता—विशेषवादी कहते हैं कि यदि घट आदिक बनते हो तो उसमे उत्पाद आदिक धर्म कैसे बन सकेंगे ? समाधानकर्ता घटको नित्य बताकर ही तो अनिष्टापत्ति दे रहा है। उससे सिद्ध है कि घट नित्य मोके पर कहा है तो जो यदि घट नित्य हो तो उसमें उत्पाद आदिक धर्म नही बन सकते, क्योंकि जो नित्य होता है वह उत्पाद विनाश धर्म से रहित है। नित्यमे उत्पाद नहीं है। नित्यमें विनाश नहीं है जिसमे उत्पाद और विनाश हो वह तो अनित्य कहलायगा। इसके उत्तरमे स्याद्वादी कहते हैं कि यह बात सत्ताके बारेमें भी तो समझ लीजिए। यदि नित्य हो तो उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले पदार्थोंके साथ उसका सम्बन्ध कैसे बन सकेगा। क्योंकि वह नित्य है। और उसका उत्पन्न होनेके साथ सम्बन्ध है तो नष्ठ होनेके साथ कैसे आयगा ? और सम्बध है तो जैसे पदार्थ उत्पन्न और नष्ठ हुए ऐसे ही सत्ता भी उत्पन्न और नष्ट हो गई यों मानना पडेगा। तो घटमें नित्यकी कल्पना कराकर उसके एकत्वका परिहार जो किया जा रहा है तो उसकी भाँति सत्ताको नित्य मानकर पदार्थोंके साथ उनका सम्बध न बनाया जा सकेगा। विशेषवादी कहते हैं कि पदार्थ तो अपने कारणमे उत्पन्न होता है। और अपने कारणोंसे नष्ट होता है। वह ही पदार्थ सदा ध्रुव रहने वाली सत्ताके साथ सम्बन्धित होता है। सत्ताका कहीं सम्बन्ध बतानके लिए पदार्थोंमे नहीं जाना पडता। सत्ता तो एक व्यापक सदा काल रहती है, अब जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं वे ही पदार्थ सत्ताके साथ सम्बन्ध किया करते हैं। इस कारण सत्ताकी नित्यता माननेसे सम्बन्धकी असिद्धि नहीं बताई जा सकती। इसके उत्तरमे कहते हैं कि यही बात जरा घटके साथ भी जोड लीजिए घट एक है, व्यापक है सदा रहने वाला है। अब अपने कारणोंसे उत्पाद आदिक धर्म ही उस एक घटके साथ सम्बधित हो जाते हैं यों कह दीजिए। अन्यथा अर्थात् सत्ताके बारेमे तो अपने मनकी बात न माने तो यह केवल अपने मन्तव्यका पक्षपात ही कहलायगा जब बात एक समान दोनो जगह घटित हो रही है तो उसमेसे एकको मानना दूसरेको न मानना यह तो पक्षपात है। जैसे जो पदार्थ उत्पन्न हो रहे। और जो पदार्थ नष्ट हो रहे उनका सम्बन्ध तो सत्ताके साथ मान लीजिए और उत्पाद आदिक धर्मका सम्बन्ध नित्य घटके साथ न माना जाय तो यह तो केवल अपने मनकी कल्पना है।

सत्ताको व्यापक माननेपर प्रागभावादिका अभाव होनेसे उत्पादादि की अव्यवस्थाका प्रसग—विशेषवादी कहते हैं कि देखिये ! एक इस दृष्टि कोणसे भी समझिये कि घट यदि व्यापक हो तो व्यापकके मायने सत्व सब जगह व्यापक

रह गया तो सब जगह घट ही तो रह गया। अब घटकी जगह अन्य पदार्थ तो कोई नही रह सकता। तो यो यदि घटको व्यापक मान लिया जाता है तो पट आदिक अन्य समस्त पदार्थोंका अभाव हो बैठेगा और तब उत्पाद आदिक धर्मोंके कारणोका भी अभाव हो जायगा। जैसे घट उत्पन्न होनेमें कारण क्या है ? या यो कहो कि घटमें उत्पाद धर्मका कारण क्या है ? वे दन्डा चक्र आदिक। तो अब घट तो व्यापक मान लिया तो दडा चक्र रहे क्या ? सारी दुनियामे घट ही घट रह गया। तो उत्पाद आदिक धर्म कैसे बन सकेंगे ? विशेषवादियोके इस उलाहनेके उत्तरमें कहते हैं कि यह बात सत्ताके सम्बन्धमें भी समझियेगा। सत्ता भी यदि व्यापक हो तो व्यापकका अर्थ यह ही तो हुआ कि सर्वत्र सत्ता ही सत्ता है, सत्ताके विपरीत कुछ नही है। तो प्रागभाव प्रध्वसाभाव अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव ये चारो प्रकारके अभाव सत्ता के प्रतिपक्ष हैं। अब मान लिया सत्ताको व्यापक तो इसका अर्थ हुआ कि सब जगह सत्ता ही सत्ता है। प्रागभाव आदिक कहीं उत्पन्न न हो सकें तब सत्ताके उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले पदार्थोंके साथ सम्बन्ध कैसे बनेगा ? याने प्रागभाव तो माना ही नहीं कि किसी कार्यका पहिले क्षणमे अभाव हुआ तो अर्थ हुआ कि सभी पदार्थ सत् है तो उत्पन्न होनेकी बात तो नही हुई, सत्ता सत्ता हो एक तो तब उत्पन्न हुआ कुछ नही और कोई नष्ट नही होता तो उन पदार्थोंके साथ सम्बन्ध कैसे बनेगा? देखिये ! प्रागभावका अर्थ है कार्यका पहिले क्षणमे अभाव होना। जैसे जिस समय घडा नही बना हुआ है किन्तु मिट्टीका एक लोदा ही है तो उस मृत्पिण्डमे घडेका प्रागभाव कैसे जाना ? अभी घडा नही है। तो जब प्रागभाव मिटे तब तो घडे की उत्पत्ति बने। प्रागभाव माना नहीं गया तो इसके मायने यह हुआ कि पहिले असत और पीछे उत्पन्न होने वाले पदार्थोंका सत्ताके साथ सम्बन्ध न बन सका। इसी तरह जब प्रध्वसाभाव नही माना तो प्रध्वसका अभाव हानेन ही तो पदार्थ विनष्ट होते थे और पीछे वे पदार्थ असत कहलाते थे। तो ऐसे अब पदार्थका सत्ताके साथ सम्बन्धका अभाव कैसे बनेगा ? शङ्काकार मूलमें यह ही तो कह रहा है कि सत्ताका सम्बन्ध न रहनेमे पदार्थ असत है, तो यह बात अब न बन सकेगी। तब उस सत्ताको सर्व-व्यापक मान लिया। वहाँ कोई अजीव ही न रहा। इस प्रसङ्गमे विशेषवादी यह बतलाते हैं कि अभी समाधानकर्ता हमारे आशयको नही समझा। हमारा अभिप्राय यह है कि सत्ता अपने आश्रयमे रहता है इस कारण सत्ता अपने आश्रयकी अपेक्षा व्यापक है। सम्पूर्ण पदार्थोंकी अपेक्षा हम व्यापक नहीं कह रहे। जैसे आकाश। आकाशके आश्रयकी अपेक्षा सर्वत्र व्यापक है। ऐसे ही सत्ता अपने आश्रयकी अपेक्षा व्यापक है। पदार्थोंकी अपेक्षा व्यापक नहीं है क्योकि सत्ता सब पदार्थोंमें कहाँ रह रही है ? सामान्य आदिक प्रागभाव आदिक पदार्थोंमे सत्ता कहाँ रहती ? कहाँ यह ज्ञान होता है प्रागभाव प्रध्वसाभावके सम्बन्धमे कि इसमें सत्ता पडी हुई है इसी तरह सामान्यमें भी निर्बाध सत्ताथा ज्ञान नहीं होता। हाँ द्रव्यादिकमे हीं सत्ताके ज्ञान बन

रहा है कि द्रव्य सत् है गुण सत् है, कर्म सत् है, तो इसके साथ ही सत्ताका सम्बन्ध प्रतीत होता है और तब यह दोष नही दिया जा सकता कि सत्ता सर्वव्यापक है तो अन्य कुछ न रहे। प्रागभाव रहे, सामान्य विशेष रहे और इस तरह सत्ताका सम्बन्ध द्रव्य गुण कर्मके साथ बन जायगा। इसके समाधानमे कहते हैं कि भले ही विशेषवादी ऐसा मान लें लेकिन यह उनकी जिनकी ही मान्यता है। दार्शनिक मैदानमे तो युक्तियोसे ही बात बनती है। अपने घर बैठे कोई कुछ मान ले उससे क्या ? और चलो मान लो तो जिस तरह सत्ताके सम्बन्धमे एक अपना निजी मान्यता स्वीकार की है। तो इसी तरह घट व्यापक सिद्ध होता है। मान लीजिए कि घट व्यापक है, वह घट भी निर्बाध घट प्रत्ययके जो उत्पन्न करने वाले अपने आश्रय हैं घट उनमें रहते हैं। घट अपने आश्रयमे रहता है, इस कारणसे वह सब पदार्थोंकी अपेक्षा व्यापक नही है। घट अपने आश्रयमे सर्वत्र एक नित्य व्यापक है। और उसके अतिरिक्त पट भी बन रहे हैं। कही पटोका अभाव मानना जरूरी नही हो जाता, क्योकि पट आदिक पदार्थोमे घट है यह भी ज्ञान तो नही है। तो अन्य पदार्थोमे याने जो घट ज्ञान के उत्पादक नही हैं उन अन्य पदार्थोमे घट नहीं रहता। घट अपने आश्रयमे ही व्यापक रह रहा है।

सत्ताको व्यापक माननेपर सामान्य, विशेष, अभाव आदिमे अव्यापकताका अनवकाश—घटके सम्बन्धमें यह भी विशेषवादी न कह सकेंगे कि एक घड़ा बीचके कपडा आदिक पदार्थोको छोडकर दूरवर्ती नाना अनेक देशोमें एक साथ कैसे रह सकता ? यद्यपि दलील ठीक है। बात ऐसी ही है। घडा अनेक हैं और बीच मे पट आदिक अनेक पदार्थ पडे हुए हैं लेकिन सत्ताको एक सिद्ध जिन युक्तियोंसे कर रहे हैं वे युक्तियां समर्थ नही हैं और उन युक्तियोकी तरह घडेमे भी यही आपत्ति आती है अत यह बात वैशेषिक न कह सकेंगे कि एक घडा बीचके पट आदिक पदार्थों को छोडकर दूरके विभिन्न अनेक देशोमे कैसे रह जायगा ? अगर घडा बीचके पट आदिकको छोडकर दूर देशमे नही रह सकता तो एक सत्ता सामान्य विशेष, समवाय और प्रागभाव आदिक पदार्थोंको छोडकर सर्व द्रव्यादिक पदार्थोंमें एक साथ कैसे व्याप सकता है ? विशेषवादियोका यह सिद्धान्त है कि सत्ता सामान्य तो एक है और सर्वव्यापक है मगर व्यापकका भाव यह है कि सत्ता अपने आश्रय रह रही हैं अथवा द्रव्य गुण कर्ममे रह रही हैं। बीचमे जो सामान्य, विशेष, समवाय, प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव पडे हुए हैं उनमे सत्ता नहीं रह सकती। तो उसी बाबत कहा जा रहा कि जैसे घट बीचके पट आदिकको छोडकर अन्य देशमे नहीं रह सकता तो इसी तरह एक सत्ता सामान्य आदिक पदार्थोंको छोडकर द्रव्य गुण कर्म आदिक पदार्थोंमें एक साथ नही व्याप सकता। यह प्रश्न तो जैसे घटमे उपस्थित किया जा सकता है। उसी प्रकार सत्में भी उपस्थित किया जा सकता है। कहीं यह

कहकर बचाव नही हो सकता कि सत्ता तो अमूर्तिक है। उसके साथ किसी पदार्थका प्रतिघात नही होता। याने समस्त द्रव्यादिक पदार्थोमे सत्ता व्यापक हो जायगी। उसे कोई रोक नही सकता। इस तरह सत्ताको अमूर्त कहकर अगर इस दोपसे बचना चाहोगे तो घटमे भी अप्रकट आकृतिको कहकर यहाँ भी दोपसे बचा लिया जायगा। याने जिस घटकी आकृति अभी प्रकट नही हुई है उस घटको किसीसे भी रुकावट नहीं है तो वे घट सारे देशमें व्याप जायेंगे। उसको भी व्यापक यो मान लेनेमे किसी प्रकारका दोप नही आता। सारांश यह है कि जो उत्तर सत्ताके बारेमे देंगे वह ही उत्तर घटके बारेमे दिया जा सकता। तो यो सत्ताको एक नित्य व्यापक मानना पड़ेगा। तो जैसे घट अनेक हैं इसी प्रकार सत्ता भी अनेक हैं। तब सत्ताकी दलील देकर समवायको एक एक सिद्ध करनेका प्रयास अनुचित है।

व्यापकताके सम्बन्धमे सत्ताके मुकाबिलेमे घटके सम्बन्धमे समान आख्यान – प्रकरण यहां चल रहा है कि वैशेषिक समवायको एक नित्य और व्यापक मानते हैं किन्तु पदार्थोमे पदार्थके स्वरूपका कथञ्चित तादात्म्य समझा जाय इसके अतिरिक्त समवाय नामकी कोई चीज नही है। स्वरूप पदार्थसे अभिन्न होता है। स्वरूप पदार्थमे अभिन्न होता है स्वरूपमय ही पदार्थ होता है, स्वरूप स्वरूपवानसे कोई भिन्न चीज नही है अत समवाय सम्बन्धका कोई स्वरूप सिद्ध नही है। उसी प्रकरणसे सम्बन्धित यह बात चल रही है कि यदि समवायको एक नित्य व्यापक माना जाता है तो उसमे क्या क्या दोप आते हैं। उन दोपोके परिहारके लिए विशेपवादियो का समवाय एक नित्य व्यापक सिद्ध करनेके लिए सत्ताका दृष्टान्त दिया था। जैसे सत्ता एक नित्य व्यापक है तो इसके उत्तरमे यह कहा जा रहा है कि सत्ता भी एक नही है। और यो सत्ताको एक माननेका आग्रह किया जाय तो यो घटको भी एक कह सकते है। भले ही हजारो घट हैं, पर कहा जा सकता है कि घट एक नित्य व्यापक है और उसके उत्पाद आदिक धर्म विशेपण हैं, उन विशेपणोके भेदसे घट नाम विदित होते हैं, पर वस्तुत घट एक घट । इसपर वैशेपिक यह कह सकते हैं कि यदि घट व्यापक है तो सभी जगह घटका ज्ञान होना चाहिए। तो इसके उत्तरमे यह कहा जा सकता है कि सत्ता भी यदि व्यापक है तो सब जगह सत्ताका ज्ञान होना चाहिए, पर सर्वत्र सत्ताका ज्ञान नही माना है। जैसे प्रागभाव आदिक चार अभावो मे सत्ताका ज्ञान नहीं माना जा रहा है। तो इसके उत्तरमे यदि वैशेपिक यह कहेगे कि प्रागभाव आदिकमे तो सत्ताका तिरोभाव रहता है, यही कारण है कि प्रागभाव आदिकमे सत्ताका ज्ञान नही हो पाता। तो इसका समाधान सुनो! घटके बारेमे भी यह कहा जा सकता है कि अन्य पदार्थोमे घटका तिरोभाव रहता है, यही कारण है कि अन्य पदार्थोमे घटका ज्ञान नही हो पाता। तो इस तरह घटको भी सत्ताकी तरह एक व्यापक कह डालियेगा! और एक दृष्टिसे देखिये! सांख्य सिद्धान्तमे तो

यह कहा ही है कि 'सर्वं सर्वत्र विद्यते" अर्थात् सब कुछ सब जगह मौजूद है । तो ऐसा कहने वाले सांख्यकी पद्धतिमे तो कुछ विरोध भी नही है । घट सब जगह मौजूद है । तो अनभिव्यक्ति, तिरोभाव और अभिव्यक्ति आविर्भावके द्वारा कही इष्टज्ञानका न होना और कहीं इष्टज्ञानका होना सिद्ध हो सकता है घटके उलहनेमे, इसमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है।

व्यापक होनेपर भी घटत्वकी घटमें अभिव्यक्तिकी तरह व्यापक घट की अभिव्यञ्जक देशमे अभिव्यक्तिका प्रत्यापादन—अब इस प्रकरणमे और भी बात सुनो ! जब वैशेषिक यह स्वीकार करते हैं कि घटत्व आदिक सामान्य घट आदिक व्यक्तियोंमे प्रकट होते हैं इसलिए उनमें घटज्ञान होता है याने घटत्व सामान्य तो एक है, नित्य सर्वव्यापक है । अब घटत्व सामान्य घटमें प्रकट है । इसलिए वहाँ घटज्ञान होता है और जहां घट नहीं पडे हैं ऐसा बीचमे घटत्व अप्रकट है । अत वहाँ घटज्ञान नही होता, ऐसा विशेषवादियोका सिद्धान्त है । इसमें भी घटको तो एक नहीं मान रहे, पर घटत्वको एक मान रहे । और जब उनसे यह पूछा जाता है कि जब घटत्व एक है तो सब जगह घटज्ञान क्यो नहीं होता ? तो उनका कहना यह होता है कि घटत्वकी अभिव्यक्ति घटमें ही होती है । और, जहाँ घडे नही हैं, पट आदिक पदार्थ हैं, उनमें घटत्वकी अभिव्यक्ति नहीं है । तो जैसे घटत्व को एक मानकर कहीं घट ज्ञान होना, कहीं न होना इसकी व्यवस्था बना लेते हैं तो इसी तरह यहाँ क्यो नहीं कह लेते कि घट एक है परन्तु घट अपने अभिव्यञ्जक वाले देशमे प्रकट है । अर्थात् घटका जहाँ प्रकाश है, प्रकटपना है वहाँ ही प्रकट है । तो वहाँ तो घटका ज्ञान हो जाता है, किन्तु अभिव्यजक शून्य स्थानमें वह घट अप्रकट है, इस कारण पट आदिक पदार्थोंमे घटका ज्ञान नहीं होता, यदि ऐसा स्वीकार नही करते तो यह तो अपनी मनमानी ही कहलायगी । जहाँ मन चाहा वहाँ किसीको एक बना दिया, जहाँ मन न चाहा वहाँ न बनाया । तब वह पद्धति तो किसीको एक बनानेमें लगाई जा रही वह दूसरी जगह भी घटित होती है तो वहाँ क्यो नहीं उसे एक स्वीकार करते ?

विभिन्न देशोमे उपलब्धिके कारण घटमे अनेकत्वकी सिद्धिकी तरह सत्तामें भी अनेकत्वकी प्रसिद्धि—अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि हमारा अभिप्राय यह है कि घडे अनेक हैं क्योंकि वे एक साथ नाना देशमें प्राप्त होते हैं । जैसे वस्त्र, चटाई आदिक अनेक पदार्थ भिन्न भिन्न देशमें पाये जा रहे हैं तो वे अनेक हुए ना । इसी तरहसे घडे भी भिन्न भिन्न जगहमें अनेक देखे जा रहे हैं, हर एक गाँवमें, हर मठ एक नहीं किन्तु अनेक हैं और इस तरह घटकी एकता बताकर सत्ताकी एकता भङ्ग करनेका प्रयास करना ठीक नहीं है । घडे तो अनेक हैं क्योंकि एक साथ भिन्न

देशमे पाये जाते हैं किन्तु सत्ता एक ही है। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि इसी युक्तिके आधारसे फिर सत्ताको भी अनेक मान लीजिए ना। सत्ताके विषयमे भी यही प्रमाण उपस्थित किया जा सकता है कि सत्ता अनेक है, क्योंकि एक साथ बिना बाधक के भिन्न भिन्न देशोमे उसकी उपलब्धि होती है। जैसे वस्त्र, चटाई, घडा आदिक अनेक पदार्थ पाये जा रहे हैं इसी तरहसे भिन्न भिन्न जगहोमे घट सत् पट सत् आदिक अनेक सत् पाये जा रहे हैं इस कारण सत्ताको भी एक न कहो। देखिये! भिन्न २ देशमे रहने वाले जो घट पट आदिक पदार्थ हैं उनमे एक साथ सत्ता पाई जा रही है ना! जैसे यही चौकी चटाई, पुस्तक आदिक पदार्थ भिन्न-भिन्न अपना-अपना रूप लिए हुए हैं और उनमे एक साथ सत्ता पाई जा रही पटकी सत्ता पटमे है, चौकी की सत्ता चौकीमे है चटाईकी सत्ता चटाईमे है। तो जैसे यहाँ भिन्न-भिन्न देशोमे, नाना पदार्थोंमे एक साथ सत्ता पाई जा रही है, इसी तरह घडे भी जितने हैं और पदार्थ भी जितने हुए उन सबमे यह सत् है, यह सत् है इस तरहका ज्ञान पाया जा रहा है। उससे सिद्ध है कि सत्ता अनेक है, एक नही है। और, इसको सिद्ध करने वाला अनुमान प्रयोग यह हुआ कि सत्ता अनेक है, क्योंकि एक साथ निर्बाध रूपसे भिन्न-भिन्न देशमे उसकी उपलब्धि होती है।

सत्त्वको अनेक सिद्ध करने वाले अनुमानकी निर्दोषताका वर्णन— यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि उक्त अनुमान प्रयोगमे जो हेतु दिया गया है उसका आकाशके साथ अनैकान्तिक दोष आता है। अनैकान्तिक दोष उसे कहते हैं कि जहाँ हेतु पाया जाय, पर साध्य न पाया जाय। तो देखिये! आकाशमे हेतु तो पाया गया, एक साथ भिन्न-भिन्न देशमे आकाशकी उपलब्धि हो रही है, परन्तु पक्ष नही पाया जा रहा। साध्य बनाया गया कि अनेक है, लेकिन आकाश तो एक है। तो एक होकर भी भिन्न-भिन्न देशोमे उपलब्धि हो सकती है, तो इसी तरह सत्ता एक हो कर भी भिन्न-भिन्न देशोमे पाई जा रही है, 'भिन्न-भिन्न देशोमें निर्बाध उपलब्धि' हेतु देकर सिद्ध करनेका प्रयास अनुचित है। आपका यह हेतु आकाशके साथ अनेकान्त दोषसे दूषित है क्योंकि आकाश नाना देशोमे उपलब्ध होता है लेकिन वह अनेक नहीं है, एक है। इसके उत्तरमे कहते हैं कि आकाश एक है और भिन्न-भिन्न देशोमे उपलब्ध है, यह बात तो वैशेषिक कह भी नही सकते, क्योंकि इस तरह कहनेका क्या प्रमाण है? देखिये! प्रत्यक्ष तो आकाशको विषय कर नही सकता, क्योंकि आकाश तो इन्द्रियके द्वारा विषयभूत नही हो सकता, वह अतीन्द्रिय है। तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे एक साथ भिन्न देशमे आकाश नही प्राप्त होता। यदि कहो कि अनुमान द्वारा आकाशके भिन्न देशमे उपलब्धि सिद्ध होजायगी। तो सुनो! आकाश की सिद्धि करने वाला विशेषवादमे शब्द माना गया है। शब्दके द्वारा आकाशकी सिद्धि करते हैं वैशेषिक, क्योंकि आकाश गुण शब्द कहा है और शब्दको सुनकर

आकाशकी, गुणको सुनकर गुणी की प्रसिद्धि की जाती है। तो आकाश का ज्ञान कराने वाले शब्दोंकी एक साथ भिन्न–भिन्न देशमें उपलब्धि सम्भव नहीं है। इस कारण अनुमानसे भी भिन्न–भिन्न देशमें आकाशकी उपलब्धि सिद्ध नहीं की जा सकती। और जब भिन्न–भिन्न देशमें आकाशकी उपलब्धि सिद्ध न हुई तो आकाशके साथ अनेकान्तिक दोष नहीं कहा जा सकता। वहाँ हेतु ही नहीं पाया जा रहा है। अनेकान्तिक दोष तो तब हुआ कहना कि साधन पाया जाया जाय और साध्य न पाया जाय। तो सत्ताको अनेक सिद्ध करनेमें जो हेतु दिया है कि एक साथ भिन्न देशमें उपलब्धि हो रही है, यह हेतु निर्दोष है और इससे सिद्ध है कि सत्ता अनेक हैं। वैशेषिक कहते हैं कि यह कैसे कहा गया कि आकाशका ज्ञान कराने वाले शब्दोंके भिन्न–भिन्न देशमें उपलब्धि नहीं होती। देखिये ! नाना देशवर्ती आकाशज्ञापक शब्द भिन्न–भिन्न देशके पुरुषों द्वारा सुने जाते हैं। जितने गाँव हैं सभी जगह हल्ला हो रहा है, शब्द सुनाई दे रहे होंगे तो भिन्न–भिन्न देशवासी शब्दोंको सुना करते हैं तो उससे आकाशके एक साथ भिन्न देशमें उपलब्धि सिद्ध हो जाती है और जब आकाश भिन्न देशमें एक साथ उपलब्ध हो गया और उसमें अनेकपना है नहीं तो सत्ताको अनेक सिद्ध करने वाले हेतुमें अनेकान्तिक दोष आ ही गया है। इसके समाधानमें कहते हैं सत्ताको अनेक सिद्ध करने वाले अनुमानका यह हेतु कि 'एक साथ भिन्न देशमें निर्बाध उपलब्धि हो रही है' यह हेतु अनेकान्त दोषसे दूषित नहीं है। अनेकान्तिक दोषके साथ इस हेतुको साथ लगाते जब हम आकाशके भिन्न देशमें उपलब्धि तो मानते और आकाशको अनेक नहीं मानते, लेकिन ऐसा तो नहीं कह रहे। आकाश प्रदेश भेदसे अनेक हैं। अगर एक साथ भिन्न देश वालेके द्वारा आकाशकी उपलब्धि हो रही है तो समझिये कि आकाश इतना बड़ा है अनन्त प्रदेश वाला है तो उसमें कुछ प्रदेशकी उपलब्धि कोई कर रहा, कुछ प्रदेशकी उपलब्धि कोई कर रहा। तो यों प्रदेश भेदसे आकाश अनेक माने गए हैं। जो कोई पदार्थ प्रदेश रहित होगा उसमें एक साथ भिन्न देश काल वाले समस्त मूर्तिक पदार्थोंका संयोग नहीं बन सकता। जैसे एक परमाणु एक प्रदेशी है तो उस परमाणुमें एक साथ भिन्न देश कालके पदार्थ तो नहीं संयुक्त हो सकते। लेकिन यहाँ देखिये ! आकाशमें समस्त मूर्तिमान द्रव्योंका संयोग सब लोग समझ रहे हैं। इससे सिद्ध है कि आकाश प्रदेश भेदरहित नहीं है। उसमें प्रदेश पाये जा रहे हैं तो प्रदेशभेदकी अपेक्षासे अनेक हैं तब आकाशके साथ हेतुका अनेकान्तिक दोष नहीं आता बल्कि उस आकाशको दृष्टान्तमें रख लीजिये कि एक साथ भिन्न देश में उपलब्ध हो रहे हैं तो आकाश भी अनेक हैं। यह बात अवश्य है कि आकाश निरन्तर अनेक हैं। घड़ेकी भाँति बीचमें कोई पदार्थ न रहे उसके एवजमें और कुछ रहा इस तरह नहीं। आकाश निरन्तर व्यापक बन रहा है, पर प्रदेश भेदसे वह अनेक व्यवस्थित किया गया है।

असत्ताके समान सत्ताके भी अनेकत्वकी असिद्धि—अब सत्ताको एक

ही मानने वाले वैशेषिकोंके प्रति असत्ताकी बात रखकर सत्ताको अनेक सिद्ध करनेकी बात सुनो ! सत्ता स्वतन्त्र पदार्थ नही है, क्योंकि सत्ता पदार्थका धर्म है। जैसे कि असत्। वैशेषिक ने स्वय यह माना है कि अभाव स्वतन्त्र पदार्थ नही है किन्तु वह पदार्थका धर्म है और ऐसा ही कहकर अभाव नाना प्रकारका कहा जा सकता है। तो जैसे घटकी असत्ता पटकी असत्ता इस तरह पदार्थका धर्म असत्ता विदित होरही है। और इसी कारण असत्ता कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है। इसके समाधान सुनिये ! इसी प्रकार यहाँ भी तो घटित किया जा सकता है कि घटकी सत्ता, पटकी सत्ता, यों सत्ता भी पदार्थका ही धर्म विदित होता है। इस कारण सत्ता भी स्वतन्त्र पदार्थ न रहा। सत्ता और असत्ता दोनोंके सम्बन्धमे सारी बातें एक सी घटित होती जायेंगी, तब असत्ता यदि स्वतन्त्र नही है तो सत्ता भी स्वतन्त्र नही है। असत्ता एक नही है तो सत्ता भी एक नही है। असत्ताकी तरह सत्ताको ही पदार्थका धर्म मानो और जब सत्ता पदार्थका धर्म बन गया तो जितने पदार्थ हैं उनका धर्म उनके ही साथ है। तब सत्ता एक व्यापक भी न बन सका। यहाँ यदि वैशेषिक यह कहे कि घट सत् है, पट सत् है, लो इस तरहसे सब जगह एक सा ही तो सत् असत्का ज्ञान हो रहा है तो भले ही सत्ता पदाथका धर्म हुआ फिर भी एक सा ज्ञान होनेके कारण सत्ता एक है, अनेक नही है। वैशेषिक यदि ऐसा कहे तो लो इसके उत्तरमे असत्ताके सम्बन्धमे भी सुन लीजिए ! असत् इस प्रकारका भी सब जगह एक सा ज्ञान हो रहा। घट असत् है, पट असत् है, इस तरह असत तो कहते जाइये मगर असत्से जो समझा गया है अभाव न होना, तो ऐसा असत्पना तो सब जगह एक सा ही समझा जा रहा है फिर असत्ताको भी पदार्थके आधीन मानकर भी एक मान लिया जाय ! जैसे सत्ताको पदार्थका धर्म स्वीकार करनेपर भी पदार्थकी भांति अनेक नही माना जा रहा, किन्तु एक ही माना जा रहा। इसी तरह असत्ताको भी पदार्थका धर्म मानकर भी अनेक मत मानो, अभावको भी एक मान लीजिए ! अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि देखिये ! असत्ता एक नही है असत्ता चार प्रकारकी सिद्ध होती है—पहिले असत्, पश्चात् असत्, परस्परमे असत् और अत्यन्त असत् इस प्रकारके ज्ञान भी हो रहे हैं। जैसे जब मृत्पिण्ड है, उस समय घटकी सत्ता नहीं है तो घट पहिले असत्ता हुई ना ! जब घट छोड दिया गया तो उसके बाद घटकी सत्ता नही है, तब कहेंगे ना, कि यह पीछे असत् है। घट और पट इनमें परस्पर असत्ता है। घटकी सत्ता पटमे नही, पटकी सत्ता घटमे नही, तो इसे कहेंगे कि ये परस्पर असत् हैं। इसी तरह पृथ्वीमे जलकी सत्ता नही, द्रव्यमे गुणकी सत्ता नहीं। यों कभी भी सत्ता हो नही सकती, उसे कहेंगे अत्यन्त असत। जिसके ये चार नाम प्रसिद्ध हैं--१ प्रागभाव २ प्रध्वसाभाव ३ इतरेतराभाव और ४ अत्यन्ताभाव। सो अभाव एक नही हो सकता। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि जिस तरह असतको अनेक माना है उसी प्रकार सत्ताको भी अनेक मान लीजिये। देखिये ! सत्ता भी चार तरहकी हो गई। नाश होनेसे पहलेकी

सत्ता। इसका नाम रखो पूर्व सत्ता प्रागसत्ता। दूसरी सत्ता है उत्पत्तिके बादकी सत्ता। इसका नाम रख लीजिये पश्चात् सत्त्व। तीसरी सत्ता है एक जातिके दो पदार्थोंमें किसी भी उनमें एकको दूसरेमें सत्ता। जैसे जीव-जीव दो पदार्थ हैं तो जीवत्वकी दोनों जगह सत्ता है। इसे कहेंगे इतरेतरा सत्ता और चौथी सत्ता हुई अत्यन्त सत्ता। याने तीन कालमें भी वर्तमान जो सत्ता रहती है जो अनादि अनन्त है उसे कहते हैं अत्यन्त सत्ता। जैसे कि प्रत्येक पदार्थमें उसकी सत्ता अनादि अनन्त पाई जा रही है तो इस तरह सत्ताको भी चार प्रकारसे क्यों न मान लिया जा सकेगा? जैसे असत्ताके ज्ञान विशेष होता है उसी तरह सत्ताके भी ज्ञानविशेष हो रहे हैं। पहिली सत्ता, बादकी सत्ता, परस्पर सत्ता और अत्यन्त सत्ता। तो इस तरह सत्ताके ज्ञानमें भी कोई वाधा नहीं आती।

असत्ताको एक माननेमें शंकाकार द्वारा दिये गये अनिष्ट प्रसंगोंकी भांति सत्ताको भी एक माननेमें अनिष्टप्रसंग — वैशेषिकों द्वारा जिस प्रकार सत्ताको सर्वथा एक कहनेमें यह वाधा कही जा सकती कि यदि सत्ता एक हो तो कहीं कार्यकी उत्पत्ति हो गई तो प्रागभावका विनाश हो गया। प्रागभावके विनाशका अर्थ यह है कि कार्यकी उत्पत्ति हो गई। सो कार्यकी उत्पत्ति होनेपर प्रागभावका विनाश हो जानेके कारण सभी जगह प्रागभावके विनाशका प्रसङ्ग आ जायगा। तब कुछ भी प्राक् अभाव वाला न रहेगा। तब सारे कार्य अनादि हो जायेंगे। और, कोई बादकी असत्ता न रहेगी। तो सब कार्य अनन्त हो जायेंगे। इतरेतराभाव न माननेपर किसीका किसीमें असत्त्व ही न रहेगा तो सभी पदार्थ सबरूप हो जायेंगे और अत्यन्ताभाव न माननेपर सब जगह सब कालमें आ जायेंगे, तो सवशून्य हो जायगा। इस तरह असत्ताको एक माननेपर बड़ी भारी वाधा आती है। असत्ताको एक माननेमें वैशेषिक वाधा उपस्थित कर रहे हैं। असत्ता ४ प्रकारकी प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव। प्रागभाव न माना जायगा तब तो सारे कार्य अनादि हो जायेंगे, क्योंकि किसी भी कार्यका पहिले अभाव ही नहीं। प्रध्वंसाभाव न माना जायगा तो सारे कार्य अनन्त हो जायेंगे। क्योंकि अब प्रध्वंस होना ही नहीं है। इसी तरह इतरेतराभाव न माना जायगा तो सब रूप हो जायेंगे। और अत्यन्ताभाव न माना जायगा तो सदा काल सब एक हो जायगा। इस तरह असत्ताको एक माननेपर यह बड़ी वाधा आती है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि जैसी असत्ताको एक माननेपर आपत्ति दी है ऐसी आपत्ति सत्ताको एक माननेपर भी उपस्थित की जा सकती है। देखिये! सत्ता अगर एक होती तो एक जगह किसीका नाश हुआ तो वहाँ सत्ता न रही, तो सत्ताके न रहनेसे सब जगह सत्ताका अभाव हो जायगा। और, फिर इस स्थितिमें कोई किसीसे पहिले सत् ही न रह सकेगा। न पश्चात् सत् रहेगा, न परस्पर सत् रहेगा न अत्यन्त सत् रहेगा। जब सत्ता एक है और वह किसी जगह नष्ट हो गई

नो जैसे असत्को एक माननेमे आपत्ति दी जा रही है इसी तरह सत्ताको एक माननेमे भी आपत्ति आती है। जिस आपत्तिको दूर करना कठिन होगा और इस तरह सर्व शून्यताका दोष आयगा। यदि सर्व शून्यताका दोष दूर करना है तो असत्ताकी भाति सत्ताको भी अनेक मानना पडेगा। इस तरह सत्ता सर्वथा एक सिद्ध नही होती। जैसे कि असत्ता अनेक सिद्ध हो रही है इसी तरह सत्ता भी अनेक सिद्ध होती है। तो जब सत्ता अनेक सिद्ध हो गई तो समवायको एक सिद्ध करनेके लिए सत्ताके एकत्वका दृष्टान्त नही दिया जा सकता है। और, जब जैसे सत्ता अनेक है इसी तरह जिस पदार्थका जो स्वरूप है वह स्वरूप उस ही पदार्थमे है, उसीका नाम समवाय रख लिया जाय तो समवाय भी अनेक है। और जैसे सत्ता प्रत्येक पदार्थकी उस ही पदार्थमे व्यापक है सर्वत्र व्यापक नही है इसी प्रकार स्वरूपका स्वरूपवानमे ही तादात्म्य है उससे आगे तादात्म्य नही है। यो प्रत्येक पदार्थ अपना अपना सत्त्व रखता है। पदार्थका जो कुछ स्वरूप है वही पदार्थ है। स्वरूपसे स्वरूपवान अलग नही होता। तो इस तरह समवाय नामक पदार्थकी सिद्धि नही होती। और, जब समवाय नामक सम्बन्ध कुछ न रहा तो महेश्वरमे महेश्वरज्ञानका समवाय सिद्ध करना और ऐसे भिन्न पदार्थोंका सम्बन्ध बनाना और फिर उस महेश्वरज्ञानको सृष्टिका निमित्त कारण कहना ये सब बातें निराधार सिद्ध होती हैं। वस्तुत प्रत्येक पदार्थ तो अपने ही सत्त्व धर्मके कारण प्रतिसमय सभी पदार्थ अपने ही स्वभावसे उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं और उत्पन्न विनष्ट होकर भी अपना मूल स्वभाव कभी भी नही छोडते हैं तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य यह पदार्थमे ही स्वय सिद्ध है। तो जो लोग पदार्थका ऐसा स्वरूप न मान कर और जगत किसी बुद्धिमानके द्वारा किया गया है ऐसा मानें, और उस बुद्धिमानको आप्त मानें तो उनकी कल्पना सिद्ध नही होती।

शकाकार द्वारा विशेषण भेद होनेपर भी सत्ताकी एकता कल्पित किये जानेपर असत्तामे भी उसी प्रकार एकता माननेका प्रसग – अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि हमारा तो यह अभिप्राय है कि किसी कार्यके नष्ट हो जानेपर सत्ताका नाश नही होता क्योकि सत्ता नित्य है, कार्य अनित्य है। जो नित्य होता है यह कभी भी नष्ट नही हो सकता इस कारण दूसरे पदार्थोंमे सत्ताका ज्ञ न होनेसे भले ही पहले समयकी सत्ता पश्चात् समयकी सत्ता आदिक रूपसे विशेषण भेद मान लिया जाता है इतनेपर भी सत्ताभेद वाली बात नही है किन्तु एक ही है और ऐसा मान लेनेपर सर्व-शून्यताका दोष भी नहीं आता। सत्तामे अनेक भेदका प्रसङ्ग भी नही आता। सत्ता तो एक ही है किन्तु विशेषण भेदसे सत्ताके नाना रूप बता दिए जाते हैं, सो तात्पर्य यह है कि सत्ताके विशेषण भूत कार्य नष्ट हो जायें, पर सत्ताका नाश नहीं होता और सत्ताके विशेषणभूत पदार्थ माना हैं तो भी सत्ता नाना नही होती। उक्त विशेषणोंका ही विनाश होगा, उत्पाद होगा, नानापन होगा, किन्तु सर्वत्र सत्ता तो एक ही है,

अनेक नही है । उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि विशेषवादियोंका यह अभिप्राय कि सत्ता एक ही है कार्योंके भेदसे कुछ भेद डाले जाते हैं पर भेद कार्योंमे ही रहेगा, सत्तामें नहीं रहता, यह कथन सही नहीं है, क्योंकि इस प्रकारके कथन करनेसे किसी कार्यकी उत्पत्ति हो जानेपर प्रागभावका अभाव नहीं हो सकता क्योंकि प्रागभाव और सत्ता ये दोनो प्रतिपक्षी धर्म हैं । सत्ता तो सद्भावको बताने वाली है । और प्रागभाव अभावको बताने वाला है । ये दोनो परस्पर विरुद्ध हैं । तो सत्ताका नाश तो नहीं हो सकता यह माना है । तो जब सत्ता सदाकाल है तो अभावका अभाव नहीं बन सकता तो किसी कार्यकी उत्पत्ति हो जानेपर भी प्रागभावका अभाव न हो सकेगा, क्योंकि वह नित्य है और नित्य इस कारण है कि जब अन्य दूसरे पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है तो उसमे पहिले उनके प्रागभावका ज्ञान कराने वाला प्रागभाव अब भी बना है । देखिये प्रागभावका अर्थ यह है कि कार्यसे पहिले समयमे कार्यका न होना यह प्रागभाव जैसे पहिले था याने कार्य होनेसे पहिले अभाव था उसी प्रकार कार्य होनेपर भी प्रागभावका तो अभाव न बन सका । क्योंकि सत्ता सदाकाल है । तो प्रागभाव जब विद्यमान रहा तो कार्यकी उत्पत्ति कैसे कहलायेगी ? इस कारण उत्पन्न एक कार्यरूप विशेषणकी अपेक्षासे प्रागभावमे विनाशका व्यवहार भले ही किया जाय तिसपर भी अनेक कार्य जो उत्पन्न नहीं हो रहे उन अनुत्पन्न कार्योंकी अपेक्षासे प्रागभाव तो अविनाशी ही रहा । तो लो यों विशेषणभेद होनेपर भी प्रागभावमें भेद न हो सका । जैसे सत्ता एक बताते हैं विशेषवादी उस ही प्रकार प्रागभाव भी एक ही रहा, सदा रहा । तब वहाँ न एकपनेका विरोध है न शाश्वत रहनेका विरोध है । देखिये ! यह बात स्पष्ट हो गई कि उत्पत्तिसे पहिले घटका प्रागभाव पटका प्रागभाव ये विशेषण भेद हो रहे हैं पर अभाव नामका कोई जो एक तथ्य है उसमें कोई भेद नही हुआ । जैसे बताते हैं कि विशेषणोके भेदसे सत्तामे भेद विदित होता है पर सत्तामे स्वयमें कोई भेद नही है, इसी तरह प्रागभाव या अभावमें भी यह कहा जा सकेगा कि विशेषण भेद से अभावमें भेद हो गया तिसपर भी अभावमे स्वत कोई भेद नही पड़ता । जैसे घट की सत्ता, पटकी सत्ता ऐसे विशेषण भेद बन जाते हैं सत्त्वमें, फिर भी सत्तामें भेद नहीं होता । तो इसी तरह, सत्ताकी तरह प्रागभावको भी नित्य और एक कहा जा सकता है । यहाँ यह कहा जा सकता है कि प्रागभावके विशेषणभूत घट पट आदिक पदार्थोंका ही नाश हुआ, प्रागभावका नाश नही हुआ अतएव प्रागभाव सदाकाल रहा और एक ही रहा । केवल विशेषणोका ही विनाश और नानापनका भेद होता है, यो प्रागभाव एक सिद्ध हो जाता है । यद्यपि प्रागभाव एक नहीं है लेकिन सत्ता भी एक नही है । तो जो एक नित्य व्यापी स्वतन्त्र सत्ता या समवाय मानते हो उनके लिए यह दूषण आ रहा है ।

प्रागभावको नित्य माननेमे दी जाने वाली आपत्तियोका सत्ताको

नित्य माननेमें भी प्रसङ्ग—अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि देखिये ! प्रागभावको नित्य कैसे माना जा सकता है ? यदि प्रागभाव नित्य हो तो कार्यकी उत्पत्ति ही न हो सकेगी । प्रागभावका अर्थ यह है—कार्यका कार्यक्षणसे पहिले समयमें अभाव । अब वह अभाव प्रागभाव हो गया । नित्य सदा काल रहा तो प्रागभाव तो कार्यको रोकने वाला था । जब तक प्रागभाव है तब तक कार्य नहीं है तो हो गया प्रागभाव नित्य तब कार्य प्रतिबन्धक प्रागभावके नित्य बन जानेसे घट कार्य उत्पन्न न हो सकेगा । यदि कोई यह कहे कि प्रागभावको हम कार्योत्पत्तिका प्रतिबन्धक नहीं मानते याने प्रागभाव कार्यकी उत्पत्तिको नहीं रोकता तब तो कार्यकी उत्पत्तिके पहिले भी कार्य सिद्ध हो जायगा और वो अनादि हो जायगा, क्योंकि कार्यको कार्यके पहिले समयमें न होनेमें ऐसा कोई नियामक न रहा । अभी तक प्रागभावको नियामक कहा जा रहा था कि कार्यक्षणोंसे पहिले कार्यको न होने देना यह प्रागभावका काम है । लेकिन अब प्रागभावको कार्यका प्रतिबंधक माना नहीं गया तो कार्य पहिले भी हो जायगा और अनादि हो जायगा । इस कारण प्रागभावको नित्य न कहना चाहिए । और फिर सत्ताकी नित्यता मिटानेके लिए प्रागभावका दृष्टान्त देना मुकाबला बताना यह विपरीत कथन है । इसके उत्तरमें कहते हैं कि प्रागभावको नित्य माननेपर कार्यकी उत्पत्ति न होना और प्रागभावको कार्यका प्रतिबन्धक न माननेपर कार्यका अनादि बन जाना यह दोष तो सत्ताके सम्बन्धमें भी लागू हो सकता है । देखिये ! सत्ता यदि नित्य हो तो कभी कार्यका नाश नहीं हो सकता, क्योंकि सत्ता सदाकाल रही आयगी, तो कार्य कैसे नष्ट होगा क्योंकि सत्ता कार्यनाशका प्रतिबन्धक है । और यदि सत्ताको कार्यविनाशका प्रतिबन्धक न माना जाय तो कार्यनाशके पहिले भी नाशका प्रसङ्ग आ जायगा, क्योंकि सत्ताके रहते हुए भी कार्यनाश मान लिया गया । कार्यनाशका और सत्ताका विरोध ही नहीं माना जा रहा । तो इसके मायने यह है कि कार्यनाश जिस क्षणमें हुआ है उस क्षणसे भी पहिले कार्यनाशका प्रसङ्ग होगा और उस दशामें कार्यकी फिर स्थिति ही नहीं बन सकती है । देखिये बात यह थी कि कार्यकी सत्तानाशके पहिले नाशको रोकने वाली थी और इस ही तरह कार्यकी स्थिति बन सकती थी, लेकिन अब सत्ताको कार्यनाशका प्रतिबन्धक नहीं माना जा रहा तब कार्य कब हो, और उससे पहिले नहीं हो, ऐसा कोई नियम नहीं बन सकता ।

कार्यनाशसे पहिले भी कार्यनाश बन जानेका एक प्रसङ्ग—अब यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि तथ्य यह है कि नाशके बलवान कारण मिलनेपर कार्यकी सत्ता नाशको नहीं रोकता याने सत्ता तो सदाकाल है, एक है, मगर कार्यनाशके बलवान कारण मिल जाय, जैसे कोई पुरुष मुद्गर लेकर घड़ेपर पटक ही दे तो यों नाशके बलवान कारण मिलनेपर कार्य विनाशको सत्ता नहीं रोकती है, लेकिन नाशके पहिले तो नाशके बलवानको रोकती ही थी । यो कार्यनाशके पहिले कार्यनाशका प्रसग

न आयगा । सो जो समाधानकर्ताने यह बात अभावके मुकाबलेमे कही थी कि सत्ता मे रहते हुए कार्य नष्ट हो तो कार्यनाशसे पहिले भी कार्यनाश बन जायगा, सो यह दोष नही आता । इसके उत्तरमे स्याद्वादी कहते हैं कि ऐसी ही दलील हम अभावके सम्बन्धमे भी दे सकते हैं । प्रागभाव कार्यकी उत्पत्तिको रोकता भी है और नही भी रोकता, जब उत्पत्तिके बलवान कारण मिल जायें तब प्रागभाव कार्यकी उत्पत्तिको नही रोकता । हाँ कार्योत्पत्तिके पहिले चूंकि उसकी उत्पत्तिके बलवान कारण न मिले थे तब तक प्रागभाव कार्यको रोकता था और इसी कारण कार्योत्पत्तिके पहिले भी कार्य उत्पन्न हो जाय यह दोष न आयगा। । जिससे कि कार्यको अनादि बताने लगे । यो जो बात सत्ताके सम्बन्धमे कहेगे वही बात अभावमें भी घटित होगी । तब प्रागभावको सत्ताकी तरह ही सदाकाल नित्य मान लेना चाहिए । और, जब प्रागभाव नित्य बन गया तो प्रागभाव तो सब जगह एक ही रहा । तो प्रागभाव जब सब जगह एक ही रहा, जब प्रागभाव ही सर्वत्र है तब प्रध्वसाभाव प्रागभावसे भिन्न न रहा । वहाँ यह कहना चाहिए कि कार्य विनाशसे विशिष्ट प्रागभावको ही प्रध्वसाभाव कहते हैं । एक प्रागभाव व्यापक हुआ तो वह ही वह है इसी तरह इतरेतर व्यावृत्तिसे विशिष्ट प्रागभावका ही नाम इतरेतराभाव है । इतरेतराभाव भी कोई पृथक अभाव नहीं है । एक ही अभाव मान लीजिए । यो अभाव सत्ताकी तरह एक मान लें इतनेसे ही सब काम चल जायगा ।

अभावको अनेक माननेकी कल्पनाकी तरह भावको भी अनेक मानने की सिद्धि—अब यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि देखिये ! कार्यके विनाशका ही नाम प्रध्वसाभाव है । कार्य विनाशके अतिरिक्त अन्य कुछ प्रध्वसाभाव नहीं कहलाता । तब विनाश विशिष्ट प्रागभावको प्रध्वसाभाव कहना एक शब्दकी चतुराई रहेगी । प्रध्वसाभाव कार्य विनाशका नाम है और प्रागभाव कार्यके पहिले न हो सकनेका नाम है । इसी तरह इतरेतर व्यावृत्ति भी इतरेतराभावसे भिन्न नहीं है और तब इतरेतरा व्यावृत्तिसे विशिष्ट प्रागभावको इतरेतराभाव नही कहा जा सकता । साराश यह है कि जैसे प्रागभावका अर्थ स्वतत्र है प्राग मायने पहिले, अभाव मायने न होना, कार्यका कार्यक्षणसे पहिले न होना प्रागभाव है । तो प्रध्वसाभावका अर्थ यह है कि कार्यके नष्ट होनेपर कार्यका न रहना और इतरेतराभावका अर्थ यह है कि एक कार्यका दूसरे कार्यमें सद्भाव न होना तो ये सब अभाव जुदे जुदे हैं, ये कहीं किसी एकके विशेषण नहीं हैं । इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि इस तरहके विवेचनसे तो हम यह भी कह डालेंगे कि जो इस समय कार्यकी उत्पत्ति है वही प्रागभावका अभाव है, क्योंकि प्रागभाव उसे कहते हैं कि कार्यका पहिले न होना । तो जब कार्य हो गया तो उस हीका अर्थ हुआ कि प्रागभाव मिट गया । तो कार्यकी उत्पत्तिका ही नाम प्रागभावका अभाव है । उससे भिन्न प्रागभावाभाव नहीं है और इस तरहका निर्णय होने

पर फिर प्रागभावसे कार्यका प्रतिबन्ध नहीं बन सकता। याने प्रागभाव बना हुआ है इस कारण कार्य नहीं हो पा रहा, यह नियम नहीं बन सकता। यदि कार्य उत्पन्न होनेसे अर्थात् उस कार्योत्पादसे भिन्न माना जाय प्रागभावको कि कार्योत्पत्ति जुदी बात है और प्रागभावका अभाव जुदी बात है यों माननेपर कार्योत्पत्तिसे पहिले भी कार्यकी उत्पत्ति हो जाना चाहिए, क्योंकि अब प्रागभाव कार्योत्पादकका प्रतिबन्धक न रहा। जैसे नित्य अभावाभावके होनेपर नित्य सद्भाव माना जाता है। अन्य समय मे तो अभावाभाव है मानने अभावका अभाव तो अन्य समय है और भावका सद्भाव अन्य समय है, ऐसा कालभेद मानना युक्त नहीं जचता। जैसे घटका सद्भाव जिस समयमें है उस समय घटके अभावका अभाव नहीं है, यह कैसे माना जा सकता है? घटके अभावका अभाव होना मायने घटका सद्भाव! तो यो प्रागभावका अभाव और कार्योत्पत्ति इन दोनोको भिन्न-भिन्न कैसे कहा जा सकेगा? देखिये! सभी जगह अभावके अभावको ही भावका सद्भाव माना गया है। जैसे कि भावके अभाव का नाम अभाव रखना। ऐसे ही अभावके अभावका नाम भाव बन गया। अतएव कार्यका सद्भाव ही कार्यके अभावका अभाव है। और, कार्यका अभाव ही कार्यके सद्भावका अभाव है, यह बात तो जो कोई थोडी भी बुद्धि रखता हो वह भी स्पष्ट समझ सकता है। इस तरह अभाव नाशकी तरह भावका भी नाश सिद्ध होता है। विशेषवादी यह मान रहे थे कि अभावका तो नाश हो जाता है, पर सत्ताका नाश नहीं होता। और सत्ताके नाशका ही नाम अभाव है और अभावके अभावका ही नाम सत्ता है। तो यो सत्ता और असत्तामे परस्पर अविशेषता रही। सत्ता भी पदार्थका धर्म है और असत्ता भी पदार्थका धर्म है, तब सत्ता और असत्तामे कुछ भी विशेषता नहीं है। तो उनमेसे सत्ताको ही एक और नित्य मानना, किन्तु असत्ताको नाना और अनित्य मानना यह कोरा पक्षपात ही है। अगर वैशेषिक इस पक्षपातसे दूर रहना चाहते हैं तो जैसे असत्ताको अनेक और नित्य मानते हैं उसी तरह सत्ताको भी अनेक और नित्य मान लेना चाहिये।

सत्ता और स्वभावमे एकत्व अनेकत्व नित्यत्व व अनित्यत्वका निर्णय

उक्त विवेचनके आधारपर अब ऐसा सिद्ध कर लीजिये कि सत्ता कथंचित् एक है, क्योंकि सत् असत् इस प्रकारका सर्वत्र सामान्य बोध हो रहा है तथा वही सत्ता कथंचित् अनेक है क्योंकि पहिले सत् पश्चात् सत् आदिक विशेष परिचय हो रहे है सत्ता के सम्बन्धमें, अत सत्ता कथञ्चित् अनेक है वही सत्ता कथंचित् नित्य है, क्योंकि वहाँ यह सत्ता है, इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है। वही सत्ता कथंचित् अनित्य है, क्योंकि वहाँ कालभेद पाया जा रहा है। पहिले समयकी सत्ता पिछले समयकी सत्ता आदिक कालका सम्बन्ध रखकर जो सत्ताके सम्बन्धमे विशेष परिचय होरहे हैं वे सब विशेष प्रत्यय हैं। तो जहाँ विशेष प्रत्यय हो रहा, जिसमें काल भेदसे भेद नजर आ

रहा वह तो अनित्य कहलायगा। और, ये सभी ज्ञान जो कि एक अनेक, नित्य और अनित्यको सिद्ध कर रहे हैं वे सभी बाधारहित हैं। सो यों सत्ता भी कथंचित् अनित्य है, जैसे कि सत्ताको कथंचित् अनित्य माना गया है तो यहाँ तक यह बात सिद्ध हुई कि सत्ता भी एक नित्य और व्यापी नहीं है। किन्तु जो नित्य हैं उन्हीं पदार्थोंको भेद-दृष्टिमें देखनेपर उनमें सत्ताका धर्म देखा जाता है। सो अनिदेशरूप सत्ताका जो दृष्टान्त दिया था वैशेषिकोंने इस बातकेलिए कि इहेदम्में ही ज्ञानका समवाय क्यों होता है? सो उसके प्रतिनियमका कारण समवायको बताया गया था कि वह समवायी विशेषणसे विशिष्ट 'इह इदं' इस ज्ञानका उत्पादक है। जैसे कि द्रव्यादिक विशेषणोंसे विशिष्ट सत्ता। ज्ञानमें कारण होनेसे द्रव्यादिक विशेषणोंका प्रतिनियम कराने वाली सत्ता होती है, क्योंकि द्रव्यसत्, गुणसत् कर्मसत्। अर्थात् सत्ता एक है तो यह नियम कैसे बना? ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका यही समाधान बनता है कि सत्ता तो एक है, पर विशेषणसे विशिष्ट होकर उसमें नानापनका बोध किया जाता और उसमें प्रति नियम बनाया जाता कि यह सत्ता यहाँ ही है। सो इस तरह जो वैशेषिकोंने कहा था और समवायीके विशेषणसे इह इदं ज्ञानका जनक समवाय को बताया था सो उस कथनमें दृष्टान्त देना विषम है। सत्ता अब एक तो न रही व्यापक और नित्य भी न रही। तो समवायको एक नित्य और व्यापक सिद्ध करनेके लिए जो सत्ताका दृष्टान्त दिया गया था वह दृष्टान्त विषम सिद्ध होता है क्योंकि सिद्ध करना चाहते हैं समवायको एक नित्य व्यापक और दृष्टान्त दे रहे हैं सत्ताका जो कि अनेक अनित्य और अव्यापी है। तब इस सम्बन्धमें ऐसा प्रतिपादन कर लेना चाहिए कि समवाय भी कथंचित् एक ही है क्योंकि इह इदं इस प्रकारका समान बोध हो रहा है। समवाय कथंचित् अनेक ही है, क्योंकि नाना समवायी विशेषणोंसे विशिष्ट होकर इह इदं ज्ञान विशेष होता है याने जो समवायी है उसमें इसका समवाय है, यों विशेषणोंको उपस्थित करके समवायका ज्ञान हो रहा है, अतएव वह अनेक है, वही समवाय कथंचित् नित्य ही है क्योंकि समवायके सम्बन्धमें वही यह है, इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है। वही समवाय कथंचित् अनित्य ही है, क्योंकि भिन्न-भिन्न कालमें वह समवाय प्रतीत होता है। तो यों वास्तविक तादात्म्यरूपसे माना गया समवाय प्रयोजनवश एक है, अनेक है, नित्य है, अनित्य है। यहाँ कोई ऐसा सन्देह न करे कि एक ही जगह एकपना, अनेकपना, नित्यपना और अनित्यपना परस्पर विरोधी तत्त्व कैसे रह गए? यह सन्देह यों न करना चाहिए कि बिना किसी बाधक प्रमाणके ये सब जगह देखे तो जा रहे हैं। जैसे कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्व ये दोनों धर्म एक ही पदार्थमें समझमें आ रहे हैं। जैसे चौकी चौकीकी अपेक्षासे अस्ति है, किन्तु चटाई कपड़ा आदिक अन्य द्रव्योंकी अपेक्षासे नास्ति है। तो जैसे अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनों एक ही पदार्थमें उपलब्ध हो रहे हैं तो ऐसे ही एकपना, अनेकपना, नित्यपना, अनित्यपना ये सब भी एक ही पदार्थमें उपस्थित हो

जाते हैं। तो यो समवायको कथचित् नित्य, कथचित् अनित्य, कथचित् एक और कथचित् अनेक देखिये ! और वे कोई भिन्न पदार्थ नहीं, किन्तु वस्तु ही है। उसके स्वरूपको जब भेददृष्टिसे निरखते हैं तो उपचारसे सम्बन्ध बतानेके लिए कहा जाता कि स्वरूपका स्वरूपवानमे समवाय सम्बन्ध है।

एक वस्तुमे परस्पर विरुद्ध धर्मोंका प्रकाशन—अब यहा वैशेषिक कहते हैं कि एक ही वस्तुमे एक साथ अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनो सम्भव नहीं हैं, क्योकि वे विधि और प्रतिषेधरूप हैं। जो जो विधि एव प्रतिषेधरूप होता है वह एक जगह वस्तुमे एक साथ नही रह सकता। जैसे ठढ और गर्मी तथा विधि प्रतिषेधरूप हैं ये अस्तित्व और नास्तित्व। इस कारण वे एक जगह एक वस्तुमे एक साथ नहीं रह सकते। इस अनुमान प्रयोगमे सभी अङ्गोका समावेश है। और वैसे भी प्रसिद्ध बात है कि जो विधि और प्रतिषेधरूप चीज है वह तो भिन्न विषय वाला है, भिन्न-भिन्न आधार वाला होता है। सो जो विधि ही है सो प्रतिषेध कैसे ? तो यो समवाय के सम्बन्धमे जो बात बताई गई है कि वह एक है, अनेक है, नित्य है, अनित्य है, तो यह बात कैसे सम्भव हो सकती है ? अत मानना चाहिए कि समवाय एक है और नित्य है। उसके साथ अनेकपना और अनित्यपना न जोडना चाहिए। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि विशेषवादियोका यह कथन सङ्गत नही है, क्योकि यह नियम नहीं है कि जो विधि और प्रतिषेधरूप है वह एक जगह एक साथ नहीं रह सकता। देखिये ! अभिधेयपना और अनभिधेयपना एक साथ रह रहे हैं और हैं ये दोनो शब्द विधि और प्रतिषेधरूप। तब शङ्काकारके दिए गए समाधानमें व्यभिचार आयगा। अभिधेयपना किसे कहते हैं ? जो बात कही जा सके वाच्य बन सके। और अनभिधेयपना कहते हैं—जो वाच्य न बन सके। किसी एक वस्तुको अपने वाचक शब्दके द्वारा तो वाच्य कहते हैं और किसी अन्य वस्तुके वाचक शब्द द्वारा वह अवाच्य है, अनभिधेय है, तो लो, एक ही वस्तु अभिधेय भी बन गई और अनभिधेय भी बन गई। जैसे घट घट शब्द द्वारा अभिधेय है, पट वाचक शब्द द्वारा अनभिधेय है, तो अभिधेय और अनभिधेय ये दोनो विधि प्रतिषेधरूप है। अभिधेयपनेमे तो विधि है और अनभिधेयपनेमे प्रतिषेध है। तो विधि प्रतिषेधरूप होकर यह अभिधेय और अनभिधेयपनेकी बात एक वस्तुमे ठहर गई। तो एक जगह अनभिधेयपना और अभिधेयपना जब एक साथ सम्भव हो गए तो तब यह कहना अयुक्त है कि जो विधि प्रतिषेध रूप होता है वह एक जगह नही रह सकता। सो एक, अनेक, नित्य, अनित्य, अस्तित्व, नास्तित्व ये यद्यपि विधि प्रतिषेधरूप हैं तो भी ये एक वस्तुमे एक साथ रह सकते हैं। देखिये ! जब इस तरह स्वीकार किया जारहा है कि स्वरूपकी अपेक्षासे अस्तित्व है और पररूपकी अपेक्षासे नास्तित्व है तो इसमें कौन सी बाधा आ रही है ? निर्बाध रूपसे सबके ज्ञानमे यह बात प्रसिद्ध बन रही है। तो सिद्ध हो गया ना, कि एक

जाह वस्तुमे अस्तित्व और नास्तित्व एक साथ सम्भव हो सकते हैं। हाँ, यदि इस तरह बोला जाय कि स्वरूपसे अस्तित्व और स्वरूपसे नास्तित्व तो उसका विरोध होगा। अथवा यों बोला जाय कि पररूपसे नास्तित्व और पररूपसे अस्तित्व तो इसमें विरोध आयगा। क्योंकि सर्वथा एकान्तरूप अस्तित्व और नास्तित्व धर्मका ही एक साथ एक जगह रहनेमें विरोध है। कथंचित् अर्थात् अपेक्षा लेकर अस्तित्व और नास्तित्वको बतानेमे कोई भी विरोध नहीं है। तो लो यों कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्व एक जगह एक वस्तुमे प्रसिद्ध हो गए। तो जैसे अस्तित्व नास्तित्व एक साथ रह सकते हैं, इसी प्रकार एकपना, अनेकपना भी एक जगह वस्तुमे एक साथ सिद्ध हो जाते हैं। और, नित्यपना, अनित्यपना भी एक जगह वस्तुमे एक साथ सिद्ध हो जाता है। तब समवाय भी एक अनेक है और नित्य अनित्य है। इस प्रतीति में किसी भी प्रकारकी बाधा नही आती। यदि समवायको सर्वथा एक माना जाय तो यह बतायें कि महेश्वरमें ही ज्ञानके समवायसे वृत्ति है आकाश आदिकमे नहीं, यह व्यवस्था कैसे बन सकेगी ? क्योंकि समवाय तो एक है और वह सबके लिए एक समान है। तो ज्ञानका समवाय महेश्वरमे ही क्यो हुआ ? ज्ञानका समवाय आकाशमे क्यो न हो जाय ? महेश्वरमें ही हो ज्ञानका समवाय आकाश आदिकमें न हो, ऐसी व्यवस्था करने वाला कोई नियम नहीं रहता। इससे न तो समवाय एक सिद्ध होता और न महेश्वरमे ज्ञानका समवाय सिद्ध होता तब फिर महेश्वरज्ञान सृष्टिका निमित्त होता, यह बात भी सिद्ध नहीं होती।

न चाचेतनता तत्र सम्भाव्येत नियामिका।
शम्भावपि तदास्थानात्खादेस्तदविशेषतः॥ ६५॥

महेश्वर और आकाशादिकमे ज्ञान समवायके लिये विधि प्रतिषेधमे अचेतनत्व हेतुकी अनियामयकता—यहाँ विशेषवादी कर रहे हैं कि ज्ञानका समवाय महेश्वरमें ही होता है, आकाशमे नही होता। इस व्यवस्थाका बनाने वाला यह नियम है कि आकाश आदिक तो अचेतन हैं और ज्ञान चेतन। यह आत्माका गुण है तो ज्ञान चेतनात्मकका गुण है सो चेतनात्मक महेश्वरमे ही ज्ञानका समवाय बनेगा अचेतन द्रव्यमे ज्ञानका समवाय नहीं बनता। आकाश आदिक अचेतन द्रव्य है, ज्ञान आकाश आदिकका गुण नही है। तब ज्ञानका समवाय आकाश आदिकमें न बनेगा। महेश्वरमे ही बनता है तो यो आकाश आदिक पदार्थोमे रहने वाली अचेतनता इस व्यवस्थाका नियम किया करती है। अर्थात् ज्ञानका समवाय चेतनमे ही हो सकता है, अचेतनमें नही हो सकता। इस आशङ्काके समाधानमें कहते हैं कि भला ये विशेषवादी यह बतलायें कि उनके महेश्वरको भी जब स्वत अचेतन स्वीकार किया है याने महेश्वर स्वत. अपने आप चेतन नहीं है ऐसा माना है। तो अब इस दृष्टिमें महेश्वर और

आकाश आदिक तत्त्व एक समान हो गए। स्वरूपतः अचेतन आकाश आदिक भी हैं और स्वरूपतः अचेतन महेश्वरको भी माना है, तो जब दोनो एक समान हो गए तो उनमेंसे ज्ञानका समवाय महेश्वरमे हो और आकाश आदिकमे न हो, यह प्रश्न तो ज्योका त्यो खड़ा रहता है। वैशेषिकोका सिद्धान्त है कि महेश्वर चेतनाके समवायसे चेतन होता है तो चेतनाके समवायकी जरूरत वही तो हुई कि जो स्वतः अचेतन है और यह केवल फलितरूप नहीं कह रहे किन्तु सिद्धान्त भी इस तरहका बनाया गया है विशेषवादमे कि महेश्वर स्वत अचेतन है और चेतनाके समवायसे वह चेतन होता है। तो स्वत अचेतन होनेके नाते आकाश आदिक और महेश्वर एक समान हैं। तब वहाँ यह प्रश्न बराबर उपस्थित ही है कि ज्ञानका समवाय महेश्वरमे ही क्यो होता आकाश आदिकमे क्यो नहीं होता ? इस तरह अचेतनताको भी इस व्यवस्थाका नियामक नहीं कह सकते कि ज्ञानका समवाय महेश्वरमे ही हुआ और आकाश आदिकमे नहीं हुआ।

नेशो ज्ञाता न चाज्ञाता स्वयं ज्ञानस्य केवलम्।
समवायात्सदा ज्ञाता यदात्मैव स किं स्वतः ॥ ६६ ॥

नाऽयमात्मा न चानात्मा स्वात्मत्वसमवायतः।
सदात्मेति चेदेवं द्रव्यमेव स्वतोऽसिधत् ॥ ६७ ॥

नेशो द्रव्यं न चाद्रव्यं द्रव्यत्वसमवायतः।
सर्वदा द्रव्यमेवेति यदि सन्नेव सः स्वतः ॥ ६८ ॥

न स्वतः सन्नसन्नापि सत्त्वेन समवायतः।
सन्नेव शश्वदित्युक्तौ व्याघातः केन वार्यते ॥ ६६ ॥

महेश्वरको स्वतः अचेतन मानकर चेतनत्वके समवायसे चेतन मानने पर उत्तरोत्तर विडम्बनाओका दिग्दर्शन – यहाँ विशेषवादी कह रहे हैं कि विशेषवादका यह सिद्धान्त है कि महेश्वर स्वतः चेतन है न अचेतन है अर्थात् न ज्ञाता है न अज्ञाता है किन्तु चेतनाके समवायसे वह चेतन होता है। सो यहाँ यह बात देखिये कि महेश्वर यद्यपि स्वत अचेतन हो गया, लेकिन चेतनाका समवायसे चेतन भी तो होता है, परन्तु आकाश आदिक तो कभी भी चेतनाके समवायसे चेतन नही हुआ करते। तब आकाश आदिकमें और महेश्वरमे यह भेद सिद्ध हुआ ना याने महेश्वरको न तो चेतन कहा जा सकता और न अचेतन कहा जा सकता। किन्तु आकाश आदिकको

अचेतन सर्वथा कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि महेश्वर यद्यपि स्वत अचेतन रहो, लेकिन चेतनाके समवायसे चेतन हो जाया करता यह एक इसमें विशेषता है लेकिन आकाश आदिक स्वतः अचेतन हैं और कभी भी इनमे चेतनाका समवाय नही होता। इस कारण आकाश आदिकसे महेश्वरमे भेद होता ही है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि विशेषवादियोकी यह मान्यता भी समीचीन नही है, क्योकि इस कथनमें महेश्वरका ज्ञान निज स्वरूप तो बताया ही नहीं गया। तो जब महेश्वरका स्वत कोई स्वरूप निर्धारित नही है तो स्वरूप ही न बन गया महेश्वर। महेश्वरका कुछ भी स्वरूप न रहा। अब जब स्वरूप ही न रहा तो आकाश पुष्पकी तरह असत् ही हो गया, फिर उसकी चर्चाका अवकाश ही क्या रहेगा? जिससे उसका कोई रूप या कार्य आदि बताया जाय। वैशेषिक कहते हैं कि महेश्वरका स्वत आत्मा रूप है, याने महेश्वरका स्वरूप यह है कि वह स्वय अपने आप है इस कारण उसकी स्वरूप-हानि नही हो सकती। तो इसका समाधान इतना ही कहना पर्याप्त है कि विशेषवाद मे आत्माको भी तो आत्मत्वके सम्बन्धसे आत्मा माना है तो वह स्वत आत्मा न रहा तो महेश्वरका आत्मारूप भी सिद्ध नही होता। तो जब आत्मारूप भी सिद्ध न हुआ, तो स्वरूप भी कुछ न रहा और जिसका स्वरूप कुछ न रहा उसके बारेमे चेतनाके समवायसे चेतन है आदिक कहना व्यर्थकी बात है। वैशेषिक कहते हैं कि बात यह है कि महेश्वर स्वय न आत्मा है और न अनात्मा। केवल आत्मत्वके सम्बन्धसे आत्मा है तो आत्मत्वके सम्बन्धसे आत्मा माननेपर विशेषवादी यह बतलायें कि वह स्वय क्या है? स्वय तो कोई स्वरूप न रहा। स्वत मेरा क्या स्वरूप है? यदि विशेष-वादी यह कहें कि वह स्वय द्रव्यस्वरूप है याने महेश्वर आत्माका स्वरूप द्रव्य है तो उस द्रव्यमे भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विशेषवादके सिद्धान्तमें द्रव्यत्वके योग से द्रव्यव्यवहार बताया गया है, इस कारण महेश्वरका स्वत द्रव्यस्वरूप भी व्यवस्थित नहीं होता। वैशेषिक कहते हैं कि हमारा इस सम्बन्धमे भी यह कहना है कि महेश्वर स्वत न द्रव्य है न अद्रव्य है किन्तु द्रव्यत्वके योगसे भी द्रव्य होता है। तो इसका भी यह उत्तर है कि जब महेश्वर स्वय द्रव्यस्वरूप भी नहीं है तो भी द्रव्यत्वके सम्बन्धमे द्रव्य बनता है, तब स्पष्ट बतायें तो सही कि महेश्वरका स्वय क्या स्वरूप है?

महेश्वरको स्वत असत् मानकर सत्ताके समवायसे सत् माननेपर विरुद्धताका दिग्दर्शन—यदि विशेषवादी यह कहें कि लो महेश्वरका स्वत स्वरूप सत् है तो यह कथन भी यों विरोध बनता है कि विशेषवादियोंने सत्ताके सम्बन्धसे सत् सिद्ध किया है। तो सत्ताके सम्बन्धसे ही तो महेश्वर सत् बना। स्वय क्या है, सो बताओ? यदि विशेषवादी इसपर भी यह कहें कि महेश्वर स्वत न सत् है न असत् है, किन्तु सत्ताके समवायसे सत् है। तब इसपर क्या आपत्ति है? वह तो प्रसिद्ध ही आपत्ति है, क्योंकि इस कथनमें विरोध आता है कि महेश्वर स्वत. न सत्

है न असत् है। अरे! सत्ता और असत्ता तो परस्पर व्यवच्छेदरूप हैं। जो सत् है सो असत् नहीं जो असत् है सो सत् नहीं। इनमेसे किसी एकका निषेध करनेपर दूसरेका विधान मानना ही पडेगा। दोनोका निषेध नही किया जा सकता कि महेश्वर सत् भी नहीं असत् भी नही। और यह यो. नही कहा जा सकता कि महेश्वरको, जब यह कहेगे कि वह स्वत सत् नहीं तो यह बात सिद्ध हो पडेगी कि वह स्वत असत् है। जब यह कहेगे कि महेश्वर स्वत असत् नही, तो यह सिद्ध हो बैठेगा कि महेश्वर स्वत. असत है। दोनोका प्रतिषेध एक साथ सम्भव नही हो सकता। अब यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि यदि सत और असत दोनोका प्रतिषेध नहीं बनता तो फिर स्याद्वाद सिद्धान्तमे सर्वथा सत्ता और सर्वथा असत्ताका प्रतिषेध कैसे कर दिया गया है? उनका भी तो विरोध आना चाहिए क्योकि सत्ता और असत्ता परस्पर व्यवच्छेदरूप है, इस कारण जहाँ सर्वथा सत्ताका प्रतिषेध किया वहाँ सर्वथा असत्ता आ गयी। जहाँ सर्वथा असत्ताका प्रतिषेध किया वहाँ सर्वथा सत्ता आ गयी। तो यह विरोध तो स्याद्वादियो के यहाँ भी सम्भव है। इस शङ्काके समाधानमे स्याद्वादी कहते हैं कि स्याद्वादमे सर्वथा सत्ता और सर्वथा असत्ताका प्रतिषेध करके कथञ्चित सत्ता और कथञ्चित असत्ताका विधान किया है। व्यवच्छेत रूप यह इस प्रकार है, कि सर्वथा सत्ता और सर्वथा असत्ता ये तो एक कोटिमे हैं और कथञ्चिद् सत्ता और असत्ता ये मुकाबलेमे हैं। इन युगलोका परस्पर विरोध है जहाँ सर्वथा सत्ताका निषेध किया वहाँ कथञ्चित सत्ताका विधान बना। सर्वथा असत्ताका प्रतिषेध किया तो वहाँ कथञ्चित सत्ताका विधान बना। सवथा सत्ता कथञ्चित सत्ताके व्यवच्छेद रूपसे है और सर्वथा असत्ता कथचित असत्ताके व्यवच्छेदरूपसे है। तब स्याद्वाद सिद्धान्तमे सवथा सत्ताका निषेध करनेपर कथञ्चित सत्ताकी विधि बनती है। जैसे कहा कि सर्वथा सत नही है तो उसका अर्थ यह निकला कि कथञ्चित सत्त्व है। इस प्रकार जहाँ सर्वथा असत्ताका निषेध किया गया वहाँ कथञ्चित असत्ताका विधान है। जैसे कहा जाय कि सर्वथा असत्ता नही है तो उसका अर्थ यह है कि कथञ्चित असत्ता है। इस तरह सर्वथा सत्ता और सर्वथा असत्ताका निषेध करनेपर स्याद्वादियोके यहाँ कोई विरोध नहीं आता। विरोध तो सर्वथा एकान्तवादियोके ही सम्भव है और उसका परिहार किसी भी प्रकार सम्भव नही है। सर्वथा सत्ता और असत्ताके प्रतिषेध करनेमे विरोध नही है, क्योकि वहाँपर विधान बनता है। कथञ्चित सत्ता और असत्ता तो जैसे महेश्वरको स्वत. न सत बताया न असत बताया तो उनका विरोध है, क्योकि परस्पर व्यवच्छेद रूप है, इस प्रकार वैशेषिकोने जो ऊपर श्लोकोमे कहा है कि महेश्वर स्वत न द्रव्य है और न अद्रव्य है तो इसका भी परस्पर व्यवच्छेद है, अतएव ऐसा कहनेमे भी विरोध है तथा जो यह बताया कि महेश्वर स्वत न आत्मा है न अनात्मा है तो आत्मा अनात्मा ये भी परस्पर व्यवच्छेदरूप हैं, इसलिए इनमे भी विरोध है इसी प्रकार जो यह बताया गया कि महेश्वर स्वत न चेतन है न अचेतन है, तो चेतन और अचेतन ये भी परस्पर

व्यवच्छेदरूप हैं, इस कारण इनका भी परस्पर विरोध है, याने दोनोंका प्रतिषेध करना सम्भव नहीं है। एकका प्रतिषेध करनेपर दूसरेका विधान बन जाता है। हाँ यदि वैशेषिक कथञ्चित सत्ता कथञ्चित असत्ता, कथचित द्रव्यत्व कथचित अद्रव्यत्व आदिक रूपसे विधान बने तो वहाँ गुंजाइस कुछ हो सकती थी कि विरोध न आये। लेकिन ऐसा तो उन्होंने स्वीकार ही नहीं किया है।

महेश्वरका स्वत कुछ स्वरूप न माननेपर उसमें विशेषताओंकी असिद्धि—उक्त प्रकार महेश्वरमें स्वरूपकी असिद्धि होनेके कारण ज्ञानका समवाय सिद्ध नहीं होता। और जब ज्ञानका समवाय सिद्ध न हुआ तो महेश्वर बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। फिर यह अनुमान बनाना कि शरीर इन्द्रिय आदिक सब कुछ बुद्धिमान महेश्वरके निमित्तसे उत्पन्न हुए हैं, यह अनुमान प्रयोग गलत हो जाता है। जब महेश्वर सृष्टि निमित्तक न बना तो उसके लिए फिर यह सिद्ध करनेका प्रयास करना कि महेश्वर सदा मुक्त है, वह कर्मोंसे कभी छुवा ही नहीं गया है। क्योंकि कर्मोंसे छुवा हुआ होता तो सकर्म होनेकी हालतमे कोई सृष्टिकर्ता न होता और कर्म मुक्त होनेकी हालतमे भी मुक्तात्मा सृष्टिकर्ता नहीं होते। यो कर्मसे अछूता महेश्वरको माननेकी कल्पना करनी पडी, लेकिन यह कल्पना ठीक न उतरी और जब महेश्वर कर्मसे अछूता सिद्ध न हुआ तो इसमें विरोध डालना कि जो मोक्षमार्गका प्रणेता है, कर्मभूभृतका भेत्ता है, जो सर्वज्ञ होता है वह कर्म पहाडोका भेदनहार होना ही है इसका निषेध करना सङ्गत नहीं है। तो प्रकृतमें यह बात जो चल रही है कि जो मोक्षमार्गका प्रणेता है, कर्मरूप पहाडका भेदनहार है, समग्र तत्त्वका ज्ञाता है वह आप्त होता है और उसको उन गुणोकी प्राप्तिके लिए नमस्कार करता हू। ऐसा आचार्यका मगलाचरण सङ्गत हो जाता है।

स्वरूपेणाऽसत सत्त्वसमवाये च खाम्बुजे।
स स्यात् किं न विशेषस्याभावात्तस्य ततोऽञ्जसा ॥७०॥

स्वरूपसे असत् परिकल्पित महेश्वरमे सत्त्वका समवाय माननेपर आकाशका पुष्पमें सत्त्व समवायका प्रसङ्ग—अब यहाँ ये दो विकल्प उपस्थित किए जा रहे हैं कि स्वरूपसे सत् महेश्वरमें सत्ताका समवाय माना जाता है अथवा स्वरूपसे असत्में ? इसका अर्थ यह है कि महेश्वर खुद अपने स्वरूपसे कुछ नहीं है ऐसी उस सत्ताका समवाय स्वीकार किया है या महेश्वर अपनाकुछ स्वरूप रख रहा है उसमें सत्ताका समवाय स्वीकार किया जा रहा है ? इन दो विकल्पोंमेंसे पहिले इस विकल्पपर विचार किया जा रहा है कि महेश्वर स्वरूपसे असत् है, नहीं है कुछ तब ही उसमें सत्ताका समवाय करना पडता है। इस विकल्पके विचारमें जरा युक्तियाँ

देखिये कि स्वरूपसे असत् महेश्वरमें सत्ताका समवाय माननेपर फिर यह बात ठीक श्राम हो जायगी कि जो स्वरूपसे असत् हो उसमें सत्ताका समवाय किया जाना योग है। तो आकाश कमल स्वरूपसे असत् है अथवा खरगोशके सींग या अनेक जो असत् हैं उसमें भी सत्ताका समवाय मान लेना चाहिए क्योंकि स्वरूपसे असत्की अपेक्षा दोनों ही समान हैं अर्थात् महेश्वर भी स्वरूपसे असत् है और आकाश कमल भी स्वरूप से असत् है यहाँ विशेषवादी उक्त आपत्तिका निराकरण करनेका प्रयास कर रहे हैं कि देखो भाई आकाश कमलका तो अभाव है, उसका तो अत्यन्ताभाव है इसलिए उसमें सत्ताका समवाय नहीं हो सकता। लेकिन वास्तविक जो द्रव्य गुण कर्म हैं, जिसको सद्वर्ग बताया गया है ऐसे सद्वर्गभूत द्रव्य गुण कर्ममें सत्ताका समवाय हो सकता है। तो महेश्वर भी आत्मद्रव्य है। द्रव्यके जो ६ भेद किए गए हैं उनमें आत्मा एक द्रव्य है और वही आत्मद्रव्य महेश्वर है सो आत्मद्रव्य विशेषरूप अर्थात् जहाँ अनेक आत्मा है नहीं किन्तु एक विभु आत्मा महेश्वर है, उसमें हम सत्ताका समवाय बताते हैं सो वह सिद्ध हो जाता है। इसके उत्तरमें स्याद्वादी कहते हैं कि यह कहना विशेषवादियोंका केवल मनोरथमात्र है मनकी कल्पना है कि कुछ कह डाला जाय। द्रव्य गुण कर्म सद्वर्गमें है। आकाश कमल यह असत है अभावरूप है, ऐसी मान्यता तो उनकी एक कल्पना है याने द्रव्य गुण कर्म भी ऐसे स्वरूपतः असत है, यह पक्ष चल रहा है, और स्वरूपतः असत् द्रव्य गुण कर्ममें सत्ताका समवाय बताया जा रहा। तो जो स्वरूपतः असत हैं उनमें किसीको सद्वर्गमें मान लेना, किसीको अभावमें समझ लेना यह तो कोरी कल्पना ही है। आकाशकमल स्वरूपसे असत है, उसे सद्वर्गमें न लें तो द्रव्यकर्म भी स्वरूपतः असत है, उसे सद्वर्गमें कैसे लिया जा सकता ? तो जब महेश्वरको स्वरूपतः असत मान लिया वही हुआ आत्मद्रव्य विशेष तो ऐसा स्वरूपतः असत महेश्वरको सद्वर्ग नहीं बताया जा सकता और जब वह सद्वर्ग नहीं है स्वरूपतः असत है, सर्वथा असत है तो वह महेश्वरमें और आकाशपुष्पमें कोई फर्क न रहा। स्वरूपतः असत आकाशकमल है और स्वरूपतः असत महेश्वर है। तो यों स्वरूपसे असत महेश्वरमें सत्ताका समवाय होता है। ऐसा विकल्प स्वीकार करनेपर यह दोष आता है कि फिर सत्ताका समवाय आकाशपुष्पमें भी हो जाना चाहिए।

स्वरूपेण सतः सत्त्वसमवायेऽपि सर्वदा।
सामान्यादौ भवेत्सत्त्वसमवायोऽविशेषतः॥ ७१॥

स्वरूपसे सत् परिकल्पित महेश्वरमें सत्त्वका समवाय माननेपर सामान्य आदिकमें भी सत्त्वका समवाय माननेका प्रसङ्ग- अब यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि जो पहिले दो विकल्प बताये गए हैं कि स्वरूपतः असत महेश्वरमें सत्ताका समवाय माना जा रहा है या स्वरूपतः सत महेश्वरको सत्ताका समवाय

माना जा रहा। तो प्रथम विकल्पमें दोष दत है सो ठीक है, दीजिए। हम प्रथम विकल्पको नही मानते, किन्तु यह स्वीकार करते हैं कि स्वरूपसे सत महेश्वरमे सत्ता का समवाय होता है। इसके उत्तरमे स्याद्वादी कहते हैं कि स्वरूपसे सत महेश्वरमें सत्ता समवायकी कल्पना करनेपर समवाय आदिकमे भी सत्ताके समवायका प्रसङ्ग आयगा। यहाँ बात यह चल रही है कि ईश्वर सृष्टिकर्ता वाला यह कह रहे थे कि मोक्षमार्गका प्रणेता और कर्मभूभृत भेत्ता और विश्वतत्त्वका ज्ञाता आप्त होता है यह बात सही नही है किन्तु एक भी ईश्वर जो कर्मसे कभी छुवा नही गया अनादि काल से कर्म अलग ही हैं, ऐसा महेश्वर सही आप्त है और वही सृष्टिकर्ता है। तो उसके निराकरणमे यह पूछा गया कि बहुत-बहुत चर्चाओके बाद जब यह पूछा गया कि पहिले यही विशेषण तो सिद्ध करल कि महेश्वरके ज्ञान भी होता है, क्योकि विशेष-वादियोने जो सृष्टिकर्ता माना है उन्होने महेश्वरको और ज्ञानको जुदे-जुदे दो पदार्थ माना है और ज्ञानके समवायसे महेश्वरको ज्ञानी माना है याने महेश्वर स्वय अचेतन है और उसमे जब चेतनाका सम्बन्ध जोडा जाता तब उसे चेतना कहा है ज्ञानी कहा है। जैसे कि लोक व्यवहारमें यो कहा है कि आत्मामे ज्ञान है, ज्ञानका सम्बन्ध है आत्मामे इसलिए आत्मा ज्ञानी है। तो लोकमे यो कह देते हैं—वहाँ विशेषवादियोने इसे सही करार किया है कि ज्ञान अलग होता है आत्मा अलग है और ज्ञानका जब समवाय होता है तो आत्मा ज्ञानी कहलाता है। इस तरह महेश्वरमे ज्ञानका समवाय बताया गया है। तो यहाँ यह पूछा जा रहा है कि पहले महेश्वरको सिद्ध करनेके लिए यह कहते हैं कि उनमे सत्ताका समवाय है। जैसे जितने भी द्रव्य गुण कर्म ये पदार्थ ज्ञानमें आते हैं इन पदार्थोमे सत्ताका सम्बन्ध है ऐसा विशेषवादी कहते हैं। और, वास्तविक बात यह है कि ये द्रव्य पदार्थ ये स्वय स्वरूपसे सत् हैं, ऐसा नहीं कि ये सत्तासे निराले हों और उनमें सत्ता सम्बन्ध किया जाय तब ये सत् बनें। तो इसी सम्बन्धमे ये दो विकल्प रखे गए थे कि महेश्वर स्वरूपसे क्या सत् है जिसमे सत्ताका समवाय कर रहे हो ? या महेश्वर स्वत असत् है ? तो असत् वाले पक्षमे दोष दिया गया। अब इस पक्षपर विचार चल रहा है कि महेश्वर स्वरूपत सत् है, उसमे सत्ता का समवाय बताया जाता है। तो स्वरूपत सतमे सत्ताका समवाय बताया जानकर सामान्य विशेष आदिकमे सत्ताका समवाय मानना पडेगा।

स्वतः सत् व सत्तासमवायसे सत् परिकल्पित पदार्थोंका कुछ विवरण

विशेषवादी ७ पदार्थ मानते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय और अभाव। इन ७ पदार्थोंमेसे ६ पदार्थ तो सद्भावनात्मक मानते हैं और अभावको अभावात्मक मानते हैं। और उन ६ पदार्थोंमें भी द्रव्य, गुण, कर्म इनको तो सत्ताके समवायसे सत् मानते हैं और सामान्य विशेष समवाय इनमें सत्ताका सम्बन्ध नहीं मानते, किन्तु ये अपने अस्तित्वके कारण हैं। तो यहाँ यह दोष दिया जा रहा है कि

स्वरूपसे सतमें यदि सत्ताका समवाय माना जाता है तो स्वरूपसे सत् तो सामान्य विशेष समवायको भी कहा है कि वह भी अपने अस्तित्वसे है तो उनमें भी सत्ताका समवाय मान लेना चाहिए, किन्तु विशेषवादियोंका द्रव्य गुण कर्म इन तीनोंमें ही सत्ताका समवाय माना है। इन वैशेषिकोंने महेश्वरको स्वरूपतः सत् अभी कहा है तो जैसे महेश्वर स्वतः सत् है उसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश दिशा, आत्मा, मन, ये सभी स्वरूपसे सत् हैं, और जितने भी गुण हैं वे भी स्वरूपतः सत् हैं और कर्म भी स्वरूपतः सत् हैं उसी प्रकार सामान्य विशेष समवाय और प्रागभाव आदिक भी अभाव तक भी स्वरूपसे सत् हैं। जैसे पूछा जाय कि अभाव है या नहीं तो कहते हैं कि अभाव है। तो अभावमें अस्तित्व पड़ा है तो अभावका भी स्वरूपसे असत् माना है। सो जब स्वरूपसे सत महेश्वरमें सत्ताका समवाय बताया जा रहा तो अन्य समस्त पदार्थोंमें भी सत्ताका सम्बन्ध मानना पड़ेगा। तो यों सभी जगह सत्ताके समवायका प्रसङ्ग आता, लेकिन मान रहे यह कि द्रव्य गुण कर्ममें ही सत्ताका समवाय है, अन्यमें नहीं। तो इसकी व्यवस्था करने वाले कारण तो बतावें। अब यहां विशेष-वादी यह कह रहे हैं कि देखिये ! द्रव्य गुण कर्ममें सत् है, सत् है। सत् है, सब है। इस प्रकार सत् सत्का निर्बाध ज्ञान बन रहा है। बस यह एक नियामक हेतु है कि द्रव्य, गुण कर्ममें नहीं होता। इसके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि जैसे द्रव्य गुण कर्ममें सत् सत् ऐसा निर्बाध ज्ञान होता उसी प्रकार सामान्य आदिकमें भी तो यह है ऐसा सामान्यज्ञान होता है। द्रव्य सत् है गुण सत है, क्रिया सत् है, जैसे इन सबमें सत् सत्का निर्बाध ज्ञान हो रहा उसी प्रकार यह भी तो निर्बाध ज्ञान चल रहा कि सामान्य है विशेष है, समवाय है प्रागभाव है, प्रध्वंसाभाव है। तो इसमें भी सत् सत् का ज्ञान होता उनमें सत्ताका समवाय होता है ऐसा मानना पड़ेगा, तब सामान्य आदिकमें भी सत्ताका समवाय स्वीकार करना चाहिए। देखो ! सामान्य आदिकमें भी सत् है, सत् है, इस प्रकारका निर्बाध ज्ञान बन रहा है यदि सामान्य विशेष आदिकमें भी यह है, यह भी है इस प्रकार सत्त्वका ज्ञान नहीं होता तो फिर इसका अस्तित्व कैसे माना जाता ? यह चौकी है, इसलिए स्वयं सत् है।

सामान्य विशेषको सत् समवायसे सत् न मानकर स्वतः सत् मानने की युक्तियोंका शंकाकार द्वारा प्रतिपादन— यहाँ विशेषवादी उत्तर दे रहे हैं अपने पक्षको सिद्ध करनेके लिए कि देखिये ! सामान्य विशेष और अभाव ये तो अस्तित्व धर्मके स्वभावसे सत् हैं, सत्ताके समवायसे नहीं, किन्तु द्रव्य गुण कर्म ये सत्ता के सम्बन्धसे सत् हैं। क्योंकि यदि कर्म आदिकमें सत्ताका समवाय मान लिया जायगा तो अनवस्था दोष आता है। यहाँ शङ्काकार कहे जा रहे हैं कि देखिये सामान्यमें अगर सत्ताका समवाय माना तो सत्ता तो सामान्य चीज है। इसका अर्थ है कि सामान्यमें दूसरे सामान्यका सम्बन्ध माना। यदि सामान्यमें दूसरे सामान्यकी कल्पना

की तो दूसरे सामान्यको सिद्ध करनेके लिए तीसरे सामान्यका सम्बन्ध मानना होगा। और इस तरह अनेक सामान्यका सम्बन्ध जुटाते रहना होगा। तो यो अनवस्था दोष आता है, कही भी विश्राम नहीं हो सकता। इस कारण सामान्यमे सत्ताका समवाय नही है। सामान्य तो अपने अस्तित्व धर्मके कारण सत् है। सामान्य तो अस्तित्व धर्म के कारण सत् है और द्रव्यादिकमे सत्ताका समवाय होनेसे सत् है। इसका सारांश क्या है ? उसमे भाव एक लोक व्यवहारकी अपेक्षासे लगा लीजिए जैसे कोई पूछे कि सामान्यका भेद लावे। सामान्यको दिखा दे। सामान्य कोई ऐसी व्यवहारकी बात नहीं है इसलिए उसकी खास सत्ता नही है। कल्पनामे सोचा तो सत् जचा। ऐसा जो बताया गया है अस्तित्व धर्मके कारण सत् और जिसको हम सत्ताका उडकर सद्भाव मान सकते हैं उन्हें बताया गया है सत्ताके समवायसे सत्। यहाँ विशेषवादमें अस्तित्व धर्मके होनेसे सत् और सत्ताके समवाय होनेसे सत्ताका भेद है। तो यहाँ यह दोष परिहार की बातकी जा रही है विशेषवादपे कि सामान्यमे सत्ताका समवाय नहीं होता क्योकि वहाँ अनवस्था दोष आयगा। अब आगे की और भी बात सुनो ! विशेषमे भी सत्ताका समवाय अगर माना जाय तो अर्थ तो यह हुआ ना, कि विशेषमें सामान्यका सम्बन्ध कराया गया तो विशेषमे अगर सामान्य माना जाता है तब एक सन्देहकी घटना उपस्थित हो जाती है। किस तरह सो सुनो ! अब विशेषमे सामान्य और मान लिया दो बात हो गई। विशेष भी है और सामान्य भी है तो सदेह जब कभी भी हुआ करता है लोगोका तब इस तरह होता है कि विशेषका तो ज्ञान न होना किन्तु सामान्यका ज्ञान होना और उन दोनो वस्तुओंमें विशेषका स्मरण हो तब संशय होता है। जैसे किसीने यह संशय किया कि यह सीप है या चांदी तो संशय कैसे उत्पन्न हुआ कि जो धर्म दोनोमे पाये जा सकते थे। सीपमे भी फबते हो, चांदीमें भी फबते हो ऐसा धर्मका तो उसे ज्ञान हो रहा है और चांदीमे जो खासियत है और सीपमें जो खासियत है उसका ज्ञान नहीं हो रहा और स्मरण हो रहा दोनोका सीपका और चांदीका तो सामान्यका ज्ञान हो विशेषका ज्ञान न हो और दोनो वस्तुओंका स्मरण हो तब संशय ज्ञान बना करता है। तो अब विशेषमे मान लिया सामान्य तो उस वक्त सामान्यका ज्ञान होनेपर विशेषका ज्ञान न होनेपर और दोनो वस्तुओंका इन दोनोके लक्षणका स्मरण होनेपर संशय बन बैठेगा। तब उस संशयको दूर करनेके लिए फिर अन्य विशेष मानना पडेगा, फिर उस विशेषमे सामान्यका समवाय मानना होगा तो इस तरह यहाँ भी अनवस्था दोष आयगा क्योंकि अन्य अन्य विशेष, अन्य अन्य समवाय उनकी कल्पना करते ही रहनी पडेगी। यदि बहुत दूर जाकर भी किसी विशेषमें सामान्यका समवाय न माना तो पहिले ही क्यो न विशेषको समवाय सामान्य रहित मान लिया जाय ? इससे सिद्ध है कि विशेष सामान्य रहित विशेषमें भी सत्ताका समवाय नही होता।

समवाय व अभावोको सत्ता समवायसे सत् न मानकर स्वत. सत्

माननेकी युक्तियोंका शङ्काकार द्वारा प्रतिपादन—अब समवाय पदार्थमे सत्ताका समवाय नही माना गया। इसकी युक्ति सुनो! समवायमे सामान्यका रहना बन ही नहीं सकता, क्योंकि समवायको एक माना गया है और वह अनेकमे रह रहा है। समवाय तो एक माना गया है और समवाय कहा गया है उसे कि जो अनेकमें रहे। तो जो यदि समवायमे सामान्य मान लिया जाता तो वहा भी अनवस्था दोष आता है। समवायमे सामान्यका सम्बन्ध बनाया समवायके ही द्वारा। तो जैसे समवायके द्वारा यह सम्बन्ध बनाया उस समवायमे अन्य समवायका सम्बन्ध मानना होगा, फिर उसमे अन्य समवायका। इस तरह यहाँ भी अनवस्था दोष आता है। इससे समवाय के सम्बन्धमे एक यह बात माननी चाहिए कि सामान्य सत्ताके कारणसे सत नही है, किन्तु अस्तित्व धर्मके कारण सत है। विशेषवादी यहा यह सिद्धान्त बना रहे हैं कि द्रव्य, गुण कर्म तो सत्ताके समवायसे सत है और सामान्य विशेष समवाय ये मोक्ष अस्तित्व धर्मके कारणसे सत हैं। तो सामान्य विशेष समवायमे सत्ताका समवाय नही है यह बात बताई। अब सुनो कि प्रागभाव आदिक चार अभावोमे भी सत्ताका समवाय नही है। क्योंकि प्रागभाव आदिकमें सत्ताका समवाय मान लेनेसे वह सत बन जायगा, अभाव नहीं रह सकता। तब ही तो अभावको अस्तित्वके कारण मानते हैं। सत मायने अभावका अस्तित्व है, लेकिन अभावमे अगर सत्ताका सम्बन्ध करदें तो वे पूरे सत बन जायेगे। फिर अभावका अर्थ क्या रहेगा? तो यो प्रागभाव आदिक अभावमे सत्ताका सम्बन्ध मान लेनेपर फिर उनमे अभावपनेका ही विरोध आयगा। तब प्रागभाव आदिक अभावमे जो अस्तित्वका ज्ञान होता कि है अभाव! वह अस्तित्व धर्मके कारण जाना जाता, पर सत्ताके समवायसे नही जाना जाता। इस तरह अस्तित्व धर्मरूप विशेषणके सामर्थ्यसे सामान्य विशेष समवाय और अभावमे सतका ज्ञान मानना चाहिए, क्योंकि अगर अस्तित्वके सम्बन्धसे सतका ज्ञान नही समझा जाता तो उनमे अस्तित्वका व्यवहार नही बन सकता। अभाव है? हाँ है! तो ऐसा जो अभावका हैपना बनाया वह सत्ताके सम्बन्धमे नहीं, किन्तु अस्तित्व धर्मके कारण है। तब देखिये! अस्तित्व धर्मके कारण सत होनेमें और सत्ताके समवायसे सत होनेमे कितना बडा अन्तर आ गया! तो स्वरूपत सत होनेपर भी द्रव्य गुण कर्ममें ही सत्ताका समवाय है। सामान्य, विशेष समवाय और अभावमे सत्ताका समवाय नही।

सत् पदार्थोंमे स्वतः सत्त्व माननेकी समीचीनता दिखाते हुए उक्त शकाओका समाधान—उक्त शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि विशेषवादियोका यह कथन करना युक्तिसङ्गत नही है। विशेषवादियोने यह साबित किया है कि सामान्य, विशेष, समवाय, और अभावमे तो उपचरित सत्ता है, वास्तवमे सत्ता नही है किन्तु "यह है" ऐसा ख्याल बनता है इसलिए सत है। इसमें उपचरित सत्ता है। मुख्य सत्ता अगर सामान्य समवाय आदिकमे मान ली जाती तो अनवस्था आदि बाधायें

आती हैं, इसलिए उनमें वास्तविक सत्ता नहीं है ऐसा विशेषवादियोंने कहा है। तो यहाँ यह बात विचारें कि द्रव्य, गुण, कर्ममें भी सत्ताका सम्बन्ध माननेकी आवश्यकता क्या ? उन्हें भी यह कह दीजिए कि द्रव्य आदिक भी अपने अस्तित्व धर्मके कारण सत् हैं। सत्ता सम्बन्धकी तरह अस्तित्व धर्मरूप विशेषणके समवायसे भी सत्ता बन जाती है। जैसे सामान्य आदिकसे तो यों कह दिया कि वह अस्तित्व धर्मके सामर्थ्यसे सत है और द्रव्यादिकको यों कह दिया कि वह सत्ताके समवायसे सत है तो सतपना तो अस्तित्व धर्मके सम्बन्धसे भी तो आयगा। सत्तासे अतिरिक्त अस्तित्व धर्मका ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। याने सत्ता कहो या अस्तित्व कहो एक ही बात है। वहाँ ये दो भेद क्यों डाले जा रहे हैं कि कुछ है अस्तित्व धर्मके कारण सत और कुछ है सत्ताके समवायसे सत। सत्ता सम्बन्धको लेकर जो कथन किया गया है वैसा ही कथन अस्तित्व धर्मको लेकर भी किया जा सकता है क्योंकि सत्ता सम्बन्ध और अस्तित्व धर्म दोनों ही एक हैं। अस धातुसे ही सत्ता बना, अस धातुसे ही अस्तित्व बना। है का सम्बन्ध दोनोंमें है। तो उनमें भेद क्या हुआ कि कुछ है अस्तित्व भावसे सत और कुछ है सत्ताके समवायसे सत। यदि अस्तित्व धर्ममें और सत्तामें भेद डाल लिया जाता है तो अस्तित्व धर्ममें भी सत्ताका ज्ञान तो हो रहा है। जैसे सामान्यमें अस्तित्व है तो अस्तित्व भी तो है। तो अस्तित्वमें भी तो अस्तित्वका ज्ञान बन रहा है याने अस्तित्व धर्ममें भी सतका ज्ञान चल रहा है। तब अस्तित्वमें दूसरा अस्तित्व मानना पडेगा। फिर उस दूसरे अस्तित्वमें भी सतका ज्ञान है तो उसमें फिर तीसरा अस्तित्व मानना होगा। इस तरह वहाँ अस्तित्वकी कल्पना करते जाइये, कहीं विश्राम न मिलेगा। इससे मानलो कि अस्तित्व भी वही है और सत्त्व भी वही है।

किसी सत्में उपचरित अस्तित्व माननेपर अस्तित्वमें भी उपचरित अस्तित्व माननेसे अनवस्थाका प्रसङ्ग—उक्त आपत्तियोंके निराकरणके ध्यानसे शङ्काकार कह रहा है कि अस्तित्व धर्ममें तो उपचरित अस्तित्व है। आपत्ति यह दी गई थी कि अस्तित्व धर्मके कारण सामान्य आदिकको सत माना जा रहा है तो उस अस्तित्वमें भी तो 'है' का बोध होता है। तो उस अस्तित्वमें अस्तित्वका बोध करनेके लिए अन्य अस्तित्व मानना होगा। उस आपत्तिको दूर करनेके ध्येयसे शङ्काकार यह कह रहा है कि अस्तित्व धर्ममें जो अस्तित्वका बोध होता है वह उपचरित है, अस्तित्व मुख्य है। इसके उत्तरमें कहते हैं तब तो सामान्य आदिकमें भी उपचरित अस्तित्व मानें, क्योंकि सामान्य आदिकमें भी मुख्य अस्तित्वके माननेमें बाधायें आती हैं। सभी जगह यह ही है कि मुख्यमें बाधा होनेसे ही उपचारमें परिणति हुआ करती है। और जब यों सामान्यमें विशेष समवायमें उपचरित अस्तित्व मानना पडा तो यों ही प्रागभाव आदिकमें मुख्य अस्तित्वके स्वीकार करनेमें बाधा आ रही है। इस कारण प्रागभाव आदिक अभावमें भी उपचारसे अस्तित्वका व्यवहार मानना चाहिए। और,

यहाँ तक ही बात नही रहती। देखिये ! द्रव्य, गुण, कर्ममे भी सत इस प्रकारका जो ज्ञान होता है उसे आप सत्ताके निमित्तसे होता है, यह कैसे सिद्ध कर सकेंगे, क्योंकि उसमें भी बाधक मौजूद है। बाधा यह है कि स्वरूपसे असत हैं वे द्रव्यादिक या स्वरूपसे सत हैं ? जिसमें कि सत्ता सम्बन्ध माना जा रहा है। जैसा विकल्प महेश्वरके सम्बन्धमे किया गया था महेश्वर स्वरूपसे सत है या असत है ? जिसमें कि ज्ञानका समवाय कराया जा रहा है उसी प्रकार यहाँ भी यह विकल्प होता है कि द्रव्य गुण कर्म स्वरूपमे सत् हैं या असत् जिसमे कि सत्ताका समवाय कराया जा रहा है ? यदि कहोगे कि स्वरूपमे असत् हैं वे द्रव्य गुण कर्म जिनमे सत्ताका सम्बन्ध माना जा रहा तो स्वरूपसे असत्में सत्ताका सम्बन्ध माननेपर यह प्रसङ्ग आता कि जब द्रव्य गुण कर्म भी स्वरूपसे असत् हैं। और आकाश पुष्प भी स्वरूपसे असत् है फिर सत्ताका सम्बन्ध द्रव्य गुण कर्म आदिक ही क्यो हुआ ? आकाश पुष्पमे क्यों नही हो जाता ? क्योंकि स्वरूपसे असत् होनेकी बात दोनोमे समान है। तो यों स्वरूपसे असत् द्रव्य गुण कर्ममे सत्ताके समवायकी कल्पना नही बन पाती। यदि कहो कि वे द्रव्य, गुण, कर्म स्वरूपमे सत् है उनमे सत्ताका सम्बन्ध होता है, तो यों माननेपर अनवस्था दोष आता है क्योंकि सत्ता सम्बन्ध भी तो सत् है। तो सत्ता सम्बन्धसे सत् समझनेके लिए अन्य सत्ता सम्बन्धकी कल्पना की जायगी। द्रव्यमें तो सत्ताके सम्बन्धसे सत्त्व है और सत्ता सम्बन्धमे अन्य सत्ता सम्बन्धसे सत्त्व है। उसमें अन्य सत्ता सम्बन्धमे यों अनेक सत्ता सम्बन्ध मानने होंगे और अनवस्था दोष आयगा। यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि सत्ता सम्बन्धमें और सत्ता सम्बन्ध नही माना जाता, क्योंकि अन्य सत्ता सम्बन्ध मानना व्यर्थ है। वह तो सत्ता ही है। इसके उत्तरमे इतना ही कहना पर्याप्त है कि स्वरूपसे सत्तामे भी फिर सत्ताका सम्बन्ध मत मानो। जो स्वरूपसे सत है वह सत है ही। अब उसमे सत्ता सम्बन्ध माननेकी क्या आवश्यकता ? सत्ता सम्बन्ध मानना व्यर्थ है यह द्वितीय पक्ष चल रहा है कि स्वरूपसे सत द्रव्य गुण कर्ममें सत्ताका सम्बन्ध होता है। अरे जब वह स्वयं स्वतः सत है तो और सत्ता सम्बन्धकी बात क्यों उठे ? क्या कमी थी ? वह तो सत है ही। तो उनमे सत्ता सम्बन्ध मानना व्यर्थ है।

असाधारण सतोंमे अनुगत प्रत्यय बनानेके लिये सत्ता समवाय मानने की समीक्षा—यदि शङ्काकार यह कहे कि द्रव्य गुण कर्म इनमें जो स्वरूपसे सत्त्व माना है वह असाधारण सत्त्व है। जैसे वह व्यक्ति है वही असाधारण सत्त्व है तब उन असाधारण सत्त्वोंसे सत सत इस प्रकारका सामान्य अनुगत प्रत्यय नहीं बनता। सब सत हैं इस प्रकारका अनुगत प्रत्यय नहीं बनता। क्योंकि स्वरूपसे सत तो हैं वे द्रव्य, गुण, कर्म, मगर वह स्वरूप सत्त्व असाधारण है और उनसे अनुगत प्रत्यय न बन सकेगा इस कारण द्रव्य, गुण, कर्ममे असाधारण सत्ताके सम्बन्धकी कल्पना करनी पड़ी। क्योंकि द्रव्य गुण कर्म इनमें सामान्यतया सत है। ये सभी सत हैं।

इस प्रकार अनुगत प्रत्यय बन रहा है, सामान्य प्रत्यय बन रहा है। तो सामान्यतया सत्त्वके ज्ञानका कारणभूत है सामान्य सत्ताका सम्बन्ध। तो यो द्रव्य गुण, कर्ममे साधारण सत्ताके सम्बन्धकी कल्पना करना व्यर्थ नहीं है। इनके उत्तरमें कहते हैं कि ऐसी भी मान्यता शङ्काकारकी ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्य गुण कर्ममें जो सादृश्यमें इसका स्वरूप सत्त्व है स्वरूप जो सदृश था, जिस दृष्टिमें पाया जा रहा है उस सादृश्यात्मक स्वरूप सत्त्वसे ही सब सत इस प्रकारका सामान्य बोध बन जायगा क्यों कि जो कुछ भी साधारण और असाधारण सत प्रत्यय होता है वह सदृश और विसदृश परिणामोंकी सामर्थ्यसे ही होता है। द्रव्य गुण कर्ममें जिन जिन बातोंसे सदृशता पायी जा रही है उन दृष्टियोंसे सत सामान्यका बोध हो जायगा और जिन जिन लक्षणोंसे असाधारणता पायी जा रही है याने द्रव्यके जो खास लक्षण हैं उनमे यह द्रव्यकी ही सत्ता है अन्यकी सत्ता नहीं है। यो असाधारण सत्त्वका भी बोध होता है। तो सदृश और विसदृश परिणामोंके ही बलसे द्रव्य गुण कर्ममें साधारण और असाधारण सत्त्व प्रत्यय होता है। हाँ सर्वथा भिन्न हो कोई सत्ताका सम्बन्ध तो उसके बलसे सत यह सामान्य प्रत्यय हो नही सकता है। पदार्थ स्वरूपसे सत है और जब सभी पदार्थ स्वरूपत सत हैं तो उनमें अनेक दृष्टियाँ ऐसी मिलेंगी कि जिनमें सबमें एक रूपसे सत्त्वका बोध होता है और कुछ दृष्टियाँ ऐसी मिलेंगी कि जिनमें असाधारण सत्त्वका बोध होता है। जो द्रव्यका सत्त्व है सो गुणका नहीं आदिक अन्य व्यवच्छेद पूर्वक सत्त्वका बोध होता है। तो यह जो कुछ भी बोध होता है, तो यह जो कुछ भी बोध हुआ वह भिन्न सत्ताके सम्बन्धसे नहीं हुआ किन्तु वह स्वरूपसे ही सत है। उसमें फिर सत प्रत्ययका बोध होता है।

सत्ताके सम्बन्धसे सत् माननेपर "सत्" यह बोध न होकर 'सत्तवान्' ऐसे दो विधिके होनेका प्रसङ्ग—यदि सर्वथा भिन्न ही सत्ताका सम्बन्ध हो, और उसके बलसे फिर सामान्य सत प्रत्ययको माना जाय तो बात तो यही कही ना कि सत्ताके सम्बन्धसे सत बना। अरे सत्ताके सम्बन्धसे सत क्यों कहा? सत्तावान द्रव्य कहे। द्रव्यमें सत्ताका सम्बन्ध है तो द्रव्य सत नहीं हुआ किन्तु सत्तावान हुआ। गुणमें सत्ताके सम्बन्धसे सत्व है तो गुणसत यों न कहे किन्तु सत्तावान गुण ऐसा कहना होगा। कर्ममें सत्ताका सम्बन्ध है तो यह कहना चाहिए कि सत्तावान कर्म है, फिर सत द्रव्य, सत गुण, सत कर्म, इस तरहका ज्ञान न होना चाहिए। लोकमें भी देख लो—कोई गाय उजाड़ करने वाली होती है तो लोग उसके गलेमें घंटा बाँध देते हैं ताकि यह विदित होता रहे कि यह गाय इस तरफ है। खेतमें नहीं है। तो गायके गलेमें कोई घटा बाँध दे तो घटाके सम्बन्धसे गायके प्रति ऐसा ही तो ज्ञान होता है कि घटा वाली गाय न कि घटा है यह गाय। घटा गलेमें डाल दिया तो उस गायका ही नाम घटा है, ऐसा कोई नहीं कहता किन्तु यह गाय घटा वाली है यों ज्ञात होता

है। इसी तरह द्रव्य गुण कर्ममें सत्ताका सम्बन्ध माना जाय तो यो ज्ञान होना चाहिए कि सत्तावान द्रव्य, सत्तावान गुण व सत्तावान कर्म है, फिर वहाँ सत् द्रव्य आदिक रूपमें बोध न होना चाहिए।

लाठीके सम्बन्धसे पुरुषको लाठी कहे जानेकी तरह सत्ताके सम्बन्धसे 'सत् न कहकर सत्त' ऐसे बोधका प्रसङ्ग व उपचरित सत्त्वका प्रसङ्ग— यदि शङ्काकार यह कहे कि देखो ! लाठीके सम्बन्धसे पुरुषको भी 'लाठी है' इस प्रकारका कह दिया करते हैं। तो इसी तरह सत्ताके सम्बन्धसे द्रव्य गुणमें भी ऐसा ज्ञान हो जायगा। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि पुरुष और लाठीके दृष्टान्त माफिक यह ज्ञान करना चाहते हो तो सत्ताके सम्बन्धसे उपचरित ढङ्गसे द्रव्यको सत्ता कहना चाहिए, न कि सत् ! जैसे लाठीके सम्बन्धसे पुरुषको लाठी कहा जाता इसी तरह सत्ताके सम्बन्धसे द्रव्यको सत्ता ऐसा कहना चाहिए। वहाँ इसी तरह ज्ञान होना चाहिए क्योंकि पुरुष और लाठीके उदाहरणमें भेदका उपचार ही तो किया गया है। लाठी और पुरुष ये भिन्न भिन्न दो चीजें हैं, उनमें अभेदका उपचार किया है याने पुरुषको ही लाठी कह दिया है तो ऐसे ही भिन्न है सत्ता और भिन्न है द्रव्य। तो इन दो भिन्न पदार्थोंमें सत्ताका सम्बन्ध बताकर अभेदका उपचार करेंगे तो सत्ता इस तरहका ज्ञान होना चाहिए याने द्रव्यको, गुणको, कर्मको सत्ता कह देना चाहिये पर सत् कह देनेकी बात तो सिद्ध नहीं होती और फिर इस स्थितिमें भी द्रव्य गुण कर्म जो सत्ताका नाम दिया गया सो उपचारसे ही बनेगा परमार्थसे नहीं। जैसे लाठीके सम्बन्धसे पुरुषको लाठी यह जो नाम दिया गया सो उपचारसे ही तो नाम बना, परमार्थसे नाम नहीं बना। इसी तरह भिन्न सत्ताके सम्बन्धसे जो द्रव्यमें सत्ताका नाम सो वह भी उपचारसे बना, परमार्थसे नहीं बना। अब यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि देखिये ! हमारा अभिमत यह है कि जिस तरह सत्ता शब्द सत्ता सामान्यका वाचक है उसी तरह सत्ता शब्द भी सत्ता सामान्यका वाचक है। सत्ता बोलकर ज्ञान किसका हुआ ? सत्ता सामान्यका, न कि किसी खास चीजका ! इसी तरह सत्ता बोलकर भी बोध किसका हुआ ? सत्ता सामान्यका न कि किसी व्यक्तिका ! तो उसके मायने यह हुआ कि चाहे सत्ता शब्द कहो या असत्ता शब्द कहो, या कुछ भी कहकर सत्ता अर्थ निकालें या असत्ता अर्थ निकालें, इसमें कोई फर्क नहीं आता। वहाँ इस तरह भी कह लीजिये कि सत्ताके सम्बन्धसे द्रव्य सत् है गुण सत् है, कर्म सत् है इस प्रकार व्यपदेश होता है। यहाँ सत् शब्द तो है भाववानवाची और सत्ता शब्द है भाववाची, तो भाववान वाचक शब्दको कहकर भी भावका कथन होता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। जैसे कहा गया है कि विसाढी, कुकुदवाली, यह गायपनेमें चिन्ह है तो यहाँ बोला गया है भाववान वाचक शब्दोंसे मगर बोध किसका हुआ ? भावका। गायमें कांधायानपना है, तो भाववान वाचक शब्द बोलकर भी भावका बोध किया जाता तो

इसी तरह भाववान वाचक शब्द है सत्, तो सत्से कहकर भी सत्ताका बोध हो जायगा। साराश यह है कि यद्यपि सत् द्रव्य सत्ता जिन्य याने भाववानका बोधक है फिर भी सत् शब्द भावका भी याने सत्ताका भी बोधक है। इस कारण सत्के सबध से द्रव्य सत् है, गुण सत् है इस प्रकारका विज्ञान उत्पन्न हो जाता है। उक्त शङ्काके समाधानमे स्याद्वादी कहते हैं कि सत्ता (सत्)के सम्बन्धमे किसी भी तरह उपचारित सत मान लिया जाय तो वह उपचारसे ही सत् रहेगा। जैसे कि लाठीके सम्बन्धसे पुरुषमे लाठी है, इस प्रकारका जो बोध होता है वह उपचरित बोध है। कही पुरुष लाठी बन गया है ? लाठीका सम्बन्ध है, उसका ही नाम लाठी रख दिया है, पर वह उपचरित नाम है। जैसे कोई केला बेचने वाला केला लिए जा रहा है—केला लो, केला लो इस तरह कहते हुए जा रहा है। अब जिस केले लेनेकी जरूरत है वह प्राय यो ही पुकारता है कि ऐ केला, यहाँ आना। तो केलावालेमें जैसे केलाके सम्बन्धमे उस पुरुषको ही केला कह दिया है तो क्या वास्तवमे वह केला बन गया है ? वह तो उपचारसे केला यह सज्ञा रख रहा है। तो इसी तरह लाठीके सम्बन्धसे पुरुषको लाठी कहना यह भी उपचरित है। इसी तरह सत्के सम्बन्धसे द्रव्य गुण, कर्मको सत् कहना यह भी उपचरित है।

सत्ता समवायसे सत् माननेपर अन्य दोष प्रसङ्गका दिग्दर्शन— अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि देखिये ! लाठी और पुरुषमे तो सयोग सम्बन्ध है इस कारण पुरुष लाठी है, इस तरहका जो ज्ञान होता है उसे उपचरित मानना सही है, भिन्न वस्तु है, सयोग हुआ है। ऐसे पुरुषको लाठी कहा जाता यह उपचरित ही बात है। लेकिन द्रव्य गुण, कर्ममे जो सत्ताका ज्ञान होता है—द्रव्य सत् है, गुण सत् है, क्रिया सत् है उसे उपचरित नही माना जा सकता क्योंकि द्रव्यादिकमे सत्ताका समवाय है, सयोग नही है। तो जहाँ सयोग हो वहाँ तो उपचार कथन कहा जा सकता, लेकिन जहाँ समवाय है वहाँ तो वास्तविकता है तो द्रव्य, गुण, कर्ममे सत्ताका समवाय है अत उसे सत् कहना यथार्थता है, उपचार नही है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि इस समवायके कारण वहाँ अनुपचरित बोध भी कर लिया जाय तो भी बोध इस तरह होना चाहिये कि जैसे अवयवमे अवयवीका समवाय है तो अवयवोमें अवयवी है, यह इस तरहका बोध होना चाहिए, क्योंकि अवयवोका सम्बन्ध किया गया ना, फर्क तो यह रहा कि उपचरित बोध न हुआ, अनुपचरित रहा। मगर बाधमे मुद्रा तो वह रहेगी। जैसे उपचरितमे वैसे ही अनुपचरिता क्योंकि अन्यके सम्बन्धका बोध किया जारहा है। जैसे लाठीके सम्बन्धसे पुरुषको लाठी कह दिया तो लाठी ही तो कहा। रहा वह उपचरित ज्ञान और अवयवोमे अवयवीके समवायसे क्या कहा जायगा ? अवयवीमे जिसका सम्बन्ध कराकर ज्ञान किया गया है उसका ही तो नाम लिया जायगा। हाँ, यह बात शङ्काकारकी कल्पनासे हम मान लेंगे कि वह उपचरित

वाय माननेमे बाधा आती है । बाधा यह आती कि जो सत् स्वभावसे परिणत तो है ही नहीं और उसमे सत्ताका समवाय माना जाता तो जो कुछ भी सत् स्वभावसे परिणत नही होता उनमे भी सत्ताका समवाय मान लेना चाहिए । तो जो सत् स्वभावसे परिणत है उसमें ही सत्ताका समवाय मानना उचित होता है । तो जिस तरह स्वत सत् परिणतके सत्ताका समवाय माना है उसी प्रकार स्वय द्रव्य गुणस परिणतके द्रव्यत्वका समवाय मानना चाहिए । इसी प्रकार स्वय आत्मरूपस परिणतके आत्मत्व का समवाय मानना चाहिए और स्वय ज्ञानरूपमे परिणत महेश्वरके ज्ञानका समवाय मानना चाहिए । जैसे नीलरूपसे परिणत जो नीलत्वका समवाय माना है उसी प्रकार जो स्वय सत् स्वरूपसे परिणत हो उसमे सत्ताका समवाय मानना उचित है उसी प्रकार महेश्वरमे जो ज्ञानका समवाय कहा जा रहा है यह एक स्वय ज्ञानरूपसे परिणत महेश्वरके ही माना जा सकता है । बात तथ्यकी यह है कि जो उस प्रकारसे परिणत नही है वह सत्ता समवायसे युक्त होकर भी सत नही सकता है । यदि सत्ता स्वभावसे अपरिणतमे भी सत्ताका समवाय माना जाय तो प्रागभाव आदिक या आकाश पुष्प आदिक इनमे भी सत्ताका समवाय मान बैठना चाहिए । यह भी सत् स्वभावसे परिणत नही है । अत प्रमाणसे यह सिद्ध बात हुई कि महेश्वरके सत्त्व द्रव्यत्व और आत्मत्व जैसे स्वय उस रूपसे परिणतके माना जा सकता है उसी प्रकार स्वय ज्ञानरूपसे परिणत महेश्वरके ज्ञातृत्वका समवाय माना जायगा और इस तरह बात यह सीधी सिद्ध हुई कि महेश्वर स्वय ज्ञाता है । तो जब स्वय ज्ञानरूपसे परिणत है तो उसने ज्ञानका समवाय मानना भी व्यर्थ है । ज्ञानका समवाय करके उसे ज्ञाता माननेमें कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता । क्योंकि वह तो स्वरूपसे ज्ञाता है ।

स्वय ज्ञाता महेश्वरमे ज्ञानके समवायकी कल्पनाकी निरर्थकता— यहा विशेषवादी कहते हैं कि महेश्वर स्वरूपसे ज्ञाता रहा आये फिर भी ज्ञातृत्वका समवाय माननेसे यह प्रयोजन पुष्ट होता है कि महेश्वर ज्ञाता है, इस प्रकारका व्यवहार बन जाता है । तो महेश्वर स्वय ज्ञाता है फिर भी ज्ञानका समवाय उसमे इस कारण माना जा रहा है कि ज्ञानका समवाय मान लेनेके कारण महेश्वरमें ज्ञाताका व्यवहार बनने लगता है । इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि जब महेश्वर स्वत ज्ञाता है तो स्वत ही उसमे ज्ञाताका व्यवहार बन जायगा क्योंकि जिसका जो अर्थ प्रसिद्ध है वहाँ उसका व्यवहार बनना ही है यह बात अपने आप देखी ही जा रही है । जैसे आकाश प्रसिद्ध है तो आकाशमे सब लोग आकाश ऐसा व्यवहार बनाते हैं । कहीं आकाश तत्त्वका सम्बन्ध तो नही बनता । तो इसी तरह महेश्वर ज्ञाता है तो महेश्वर में ज्ञातापनका व्यवहार भी उसी परिणतिके कारण बन जाता है । कहीं ऐसा नहीं है कि महेश्वर ज्ञाता है फिर भी अज्ञ न कहा जाय इसलिए समवायकी कल्पना हो । यदि इस तरहका सन्देह रखा जाय तो आकाशमे भी आकाशत्वका समवाय मानना कि

कहीं अनाक श को भी कोई आकाश न कह बैठे इसलिए आकाशमे आकाशत्वका समवाय मानना पड़ेगा। साराश यह है कि महेश्वर स्वय ज्ञाता है इसलिए उसमे स्वय ज्ञाताका व्यवहार बनता है। ज्ञानका समवाय माननेकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि आकाश तो एक है, तब आकाशमें आकाशत्व सम्भव नहीं है, तब आकाशकी व्यावृत्तिके लिए आकाशत्वका समवाय माननेकी कल्पना व्यर्थ है। स्वरूप निश्चयसे ही आकाशमे आकाश व्यवहार बन जाता है। इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि फिर तो स्वरूप निश्चयसे ही ज्ञाता ईश्वरमे ज्ञाताका व्यवहार बन जायगा वहाँ भी ज्ञान समवायकी कल्पना करना व्यर्थ है। वास्तविकता तो यह है कि जो ज्ञान पर्यायसे परिणत हो उसको ज्ञाता कहा जाता है। कहीं खुद तो ज्ञानरहित हो और भिन्न ज्ञानका समवाय हो तब उसे ज्ञाता कहा जाय, यह उचित नहीं है। यदि कोई ऐसा ही मानकर चलता है कि महेश्वरमे भिन्न अभेदज्ञानके समवायसे महेश्वर ज्ञाता होता है तब तो उसे ज्ञानसमवाय वाला कहो, ज्ञाता नहीं कह सकते। ज्ञाता तो वही होगा जो स्वय ज्ञानरूपसे परिणत हो रहा हो। वास्तवमे यह बात प्रत्यक्षसे तो नहीं जानी जा रही कि आत्मा और ज्ञान ये सर्वथा अभिन्न हैं और सर्वथा भिन्न ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर आत्मा ज्ञाता बनता हो तथा सर्वथा भिन्न स्मरणके उत्पन्न होनेपर स्मरण करने वाला बनता हो यह बात किसीको भी प्रतीत नहीं हो सकती। ज्ञाता वही है जो ज्ञानरूपसे परिणम रहा हो। भला कोई आत्मा स्मरण चीज हो और इस भिन्न स्मरणका सम्बन्ध जुटाया जाय तो उसे स्मरण वाला तो कह दो! जैसे लाठीका सम्बन्ध जुटा दो तो लाठी वाला कह दो। तो ऐसे ही स्मरण ज्ञान और भोग इनका सम्बन्ध जुट नेपर इसे स्मरण वाला ज्ञान समवाय वाला, भोग समवाय वाला यो तो बक दीजिए, परन्तु उस आत्माको ज्ञाता कर्ता और भोक्ता नहीं कह सकते। जो उस ज्ञानरूपसे परिणत होगा वही ज्ञाता है जो स्मरणरूपसे परिणत है वही आत्मा कर्ता है। वास्तविकता यह है कि प्रतीतिके आधारपर ही तत्त्वकी व्यवस्था बनती है। कहीं कायदा कानून अलग बना लें और उससे व्यवस्था बनायें, सो बात नहीं होती। जितनी भी निर्बाध प्रतीति हो रही है वह सब वास्तविक प्रतीतिके आधारपर ही होती है और ऐसी वास्तविक प्रतीति करने वाले लोग यथार्थ व्यवहार करते हैं। ऐसे लोगोको ही तत्त्वज्ञ समझना चाहिए। तो अब निष्कर्षमे इतनी बात समझ लीजिए कि महेश्वर ज्ञाता व्यवहारके योग्य है, क्योंकि वह प्रमाणसे ज्ञाता स्वरूप प्रतीत हो रहा है, सो जिस रूपसे प्रतीत हो उसको उसी प्रकारसे व्यवहारमे लाना चाहिए। जैसे सामान्य आदिक स्वरूपसे प्रतीत हो रहे सामान्य आदिक को उस तरहसे उपयोगमें ला रहे हो, उसी तरह ज्ञाता रूपसे परिणत हो रहे महेश्वर को ज्ञाता रूपमे मानना चाहिए। इस स्थितिमें ज्ञाता है महेश्वर, ऐसा व्यवहार करनेके लिए कहीं भिन्न ज्ञानके समवायकी कल्पनाकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु वह आत्मा ही स्वय उस ज्ञ स्वरूपसे रह रहा है। तो यो समवाय कुछ न रहा, न ज्ञानका सम-

बाय करना पड़ा, किन्तु आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है और वही कर्मभूभृतोको भेदकर विश्वका ज्ञाता बनता है ।

तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानतादात्म्यमृच्छत. ।
कथञ्चिदीश्वरस्याऽस्ति जिनेशत्वमसंशयम् ॥७५॥
स एव मोक्षमार्गस्य प्रणेता व्यवतिष्ठते ।
सदेहः सर्वविन्नष्टमोहो धर्मविशेषभाक् ॥७६॥
ज्ञानादन्यस्तु निर्देह सदेहो वा न युज्यते ।
शिवः कर्त्तोपदेशस्य सोऽभेत्ता कर्मभूभृताम् ॥७७॥

स्वपर प्रकाश ज्ञानात्मक ईश्वरके जिनेशत्व व मोक्षमार्ग प्रणेतृत्वकी सिद्धि—जब महेश्वर स्वयं ज्ञानी सिद्ध हो जाता है तो ज्ञानके समवायसे ज्ञानकी कल्पना करना निरर्थक हो गया, अत स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञानका अर्थात् स्वपरका निश्चय करने वाले ज्ञानको महेश्वरसे कथञ्चित अभिन्न मानना चाहिए और ऐसा मानना होगा । क्योंकि अयथार्थ मानकर कब तक चला जा सकता है ? युक्तियाँ अनुभूति उसका खण्डन कर देगी । तो यहाँ अब महेश्वरको उस ज्ञानसे अभिन्न मानना चाहिए और जब ऐसा मान लिया कि महेश्वर स्वपर प्रकाशात्मक ज्ञानसे अभिन्न है, तब विवाद ही क्या रहा ? केवल नाम ही दूसरा रख लिया गया । अब तो उस महेश्वरमे जिनेश्वरपना आ गया । चाहे महेश्वर कहो अथवा जिनेश्वर कहो, स्वरूप एक हो गया अर्थात् स्वपर प्रकाशक ज्ञानसे अभिन्न रहने वाला विशुद्ध आत्मा है, उस ही का नाम महान ईश्वर अथवा रागादिकका विजेता जिनेश्वर है, ऐसा ही जिनेश्वर मोक्षमार्गका प्रणेता होता है । चाहे महेश्वर कहो, ऐसा ही महेश्वर मोक्षमार्गका गमक सिद्ध होता है और वह सशरीर सर्वज्ञ वीतराग और धर्म विशेष वाला होना चाहिए । तब यहाँ कितनी बात सिद्ध हुई ? प्रथम तो यह बात माननी होगी कि कि महेश्वर जिनेश्वर ये पवित्र आत्मा ज्ञानसे भिन्न नहीं हैं । ज्ञानसे भिन्न माननेपर चाहे वह महेश्वर शरीर सहित हो या शरीर रहित हो, मोक्षमार्गके उपदेशका कर्ता नहीं हो सकता । क्योंकि वह कर्मपहाड़का भेदने वाला नहीं है, रागादिक कर्मोंका नाश करने वाला नही है । तब क्या मानना होगा कि जो वीतरागी है और सर्वज्ञ है और साथ ही शरीर वाला है, तीर्थंकर नामकर्मका भी जिसके उदय है, ऐसा पुरुष ही मोक्षमार्गका उपदेशक हो सकता है । यदि ऐसा मानते हो तब तो है वह मोक्षमार्गका प्रणेता, चाहे वह किसी भी नामसे कह लेवें ।

स्वार्थ परिच्छेदक ज्ञानात्मक सदेह धर्मविशेषाभ्युदयी परमपुरुषके

आप्तपरीक्षा प्रवचन

[द्वितीय भाग]

प्रवक्ता ।

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक

मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" जी महाराज

ज्ञानात्मक, सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी तीर्थंकरके वक्तृत्वकी मंगलाचरणमें घोषणा—यह आप्तपरीक्षा ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता आचार्य महाराजके मंगलाचरणका विशदीकरण है। उनका मंगलाचरण है कि मोक्षमार्गके नेता, कर्मभूभृतके भेत्ता और समस्त तत्त्वोंके ज्ञाता आप्तको उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए नमस्कार करता हूं। इसपर विशेषवादियोंने यह आपत्ति दी थी कि ऐसा आप्त तो महेश्वर ही हो सकता है, क्योंकि वह कर्मसे अनादिसे अछूता है, कर्मसे वह निराला ही है और वह कर्म पर्वतका भेदनहार नहीं है। इस पर बहुत विस्तारके साथ यह सिद्ध किया गया कि कोई भी आत्मा ऐसा नहीं हो सकता जो अनादिसे कर्मसे अछूता हो। अनादिसे सभी जीव कर्मसे सहित हैं और उपाय करके वे कर्मसे रहित होते हैं। उसके साथ यह भी सिद्ध किया कि जो कर्मसे अछूता हो ऐसा कल्पनासे जो माना गया हो वह ज्ञानी भी नहीं हो सकता, फिर मोक्षमार्गका प्रणेता कैसे होगा ? इन सब बातोंका विस्तारपूर्वक यहाँ वर्णन हो चुका है, जिससे यह सिद्ध हुआ कि आप्त वही हो सकेगा जो मोक्षमार्गका नायक हो, कर्म पहाड़का भेदनहार हो, समस्त तत्त्वोंका ज्ञाता हो। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि वह शरीर सहित हो तथा धर्म विशेषसे युक्त हो। कोई भी आत्मा जब परमात्मा होता है तो चूंकि वह शरीर सहित सिद्ध तो था ही और असिद्ध दशासे आत्म साधनाके बलसे परमात्मत्व सिद्धत्व प्रकट किया है तो परमात्मत्व प्रकट होनेपर भी शरीर कुछ समय तक रहता है, जब तक आयुका उदय चल रहा है। हाँ वह शरीर पवित्र परमौदारिक स्फटिक मणिके समान स्वच्छ छाया रहित हो जाता है। साथ ही यह भी जानना चाहिए कि जिसके तीर्थंकर प्रकृतिका याने धर्म विशेषका अभ्युदय हो वह मोक्षमार्गका नायक होता है। इस तरह यह सिद्ध

हुआ कि तीर्थंकर प्रकृतिका उदय जिसके चल रहा है ऐसा शरीर सहित परमात्मा जिनेश्वर मोक्षमार्गका प्रणेता है और वह आप्त है। पूर्व प्रकरणमे यह बताया गया था कि धर्मभूभृतसे असम्पृष्ट अर्थात् कर्मोंसे अनादिमुक्त कल्पित ऐसा कोई महेश्वर मोक्षमार्गका उपदेष्टा नही होता। मोक्षमार्गका उपदेष्टा धर्मविशेषसे सयुक्त सशरीर वीतराग सर्वज्ञ मपहाडका भेदनहार ही मोक्षमार्गका प्रणेता हो सकता है। ऐसा कोई विशेषवादियो द्वारा परिकल्पित अनादिमुक्त सदाशिव महेश्वर मोक्षमार्गका उपदेष्टा नही बन सकता। इसके निराकरणके साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि ज्ञानात्मकतासे रहित रूपमें कल्पित कपिल भी मोक्षमार्गका उपदेष्टा नही हो सकता।

एतेनैव प्रतिव्यूढः कपिलोऽप्युपदेशकः।
ज्ञानादर्थान्तरत्वस्याऽविशेषात्सर्वथा स्वतः ॥ ७८ ॥

ज्ञानसंसर्गतो सत्वमज्ञस्यापि न तत्त्वतः।
व्योमवच्चेतनस्यापि नोपपद्येत मुक्तवत् ॥ ७९ ॥

ज्ञानसे भिन्नताकी अविशेषता होनेसे सख्याप्रधानवादियोके पुरुषमे **मोक्षमार्गप्रणेतृत्वकी असिद्धि** इन कारिकाओमे यह बताया जा रहा कि पहिले जैसे बहुत विस्तारके साथ महेश्वरके मोक्षमार्गका उपदेष्टापन प्रतिष्ठित प्राप्त नही होता, उस ही तरह यहाँ यह कह रहे है कि कपिल भी मोक्षमार्गका उपदेशक नही हो सकता। इसका निराकरण यहाँ होता है, क्योकि यहाँ कपिल नामसे पुकारे गये पुरुषके लिए यह विकल्प उत्पन्न होता है कि जब वह भी अपने ज्ञानसे सर्वथा भिन्न है तो वह सर्वज्ञ कैसे हो सकता है? और जब सर्वज्ञ नही हो सकता है तो मोक्षमार्ग का प्रणेता कैसे बन सकता है? निरीश्वर सांख्य सिद्धान्तमे यह बताया गया है कि पुरुषका मात्र चैतन्य स्वरूप है, उसमे ज्ञान नहीं है किन्तु प्रधानका परिणाम है। ज्ञान और उसका ससर्ग होनेसे पुरुष ज्ञानी बनता है। तो स्वरूपत यही तो माना गया कि पुरुष अथवा आत्मा स्वय ज्ञानरहित है। तो जो ज्ञानरहित है, ज्ञानके ससर्ग से ही जो ज्ञानी बताया जाता है, ज्ञानमे सर्वथा भिन्न है तो वह सर्वज्ञ कैसे बन सकता है और मोक्षमार्गका नायक भी कैसे हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि ज्ञानके ससर्गसे उस पुरुषको अथवा कपिलको सर्वज्ञ कह दिया जायगा, तो देखो! भिन्न ज्ञान के ससर्गसे पुरुषको सर्वज्ञ कहा है तो वास्तवमे तो सर्वज्ञ न रहा। जैसे कि आकाश सर्वज्ञ नहीं है, क्योकि वह वास्तवमे ज्ञानी तो नही है। यहाँ शङ्काकार कहता है कि चेतन कपिलके ही तो ज्ञानका ससर्ग हो सकता है, अचेतन आकाशमे ज्ञानका ससर्ग नही होता। इसी कारण कपिलके ही सर्वज्ञता बनेगी, आकाशमे न बनेगी। तो इस

का उत्तर इतनेमे ही पर्याप्त हो जाता है कि ज्ञानका सम्बन्ध चेतनके नातेसे पुरुषमे मान रहे हो तो मुक्त आत्मा भी तो चेतन है, उसके भी ज्ञानका संसर्ग क्यों नहीं मानते ? याने मुक्त आत्माको सर्वज्ञ क्यो नहीं कहते ? इस सिद्धान्तमे मुक्त आत्माको सर्वज्ञ नही माना, किन्तु एक ही पुरुषको सर्वज्ञ माना। तो कितनी बेमेल बात सुननेमे आ रही है कि चेतन तो मुक्त आत्मा है, वहां ज्ञानका संसर्ग माननेमे क्या आपत्ति है ? तो जैसे मुक्त आत्मा चेतन है फिर भी सर्वज्ञ नहीं माना जाता उसी प्रकार कपिल भी चेतन है फिर भी वह सर्वज्ञ नही हो सकता।

सांख्य सिद्धान्तियो द्वारा कपिलके ही मोक्षमार्गप्रणेतृत्वके कारणोपर प्रकाश—विशेषवादी अपना सिद्धान्त रख रहे है कि देखिये ! मोक्षमार्गका उपदेशक कपिल ही हो सकता है और वह कपिल क्लेश कर्मविपाक और आशय इनका भेदनहार है। जैसे कि इस ग्रन्थके लक्ष्यभूत मङ्गलाचरणमे कहा है कि आप्त वह होता है जो कर्मपहाडका भेदनहार है। सो यह विशेषण इस सांख्योंके पुरुषमे घटित हो रहा है। देखिये ! कपिल क्लेश कर्मविपाक और आशय ये ही कहलाये कर्मपहाड इनका भेदनहार है। क्यो वह भेदनहार है ? यों कि उसके रज और तमका अभाव हो गया है। प्रधानके मुख्य गुण हैं सत्त्व रज और तम और प्रधानताके संसर्गमे पुरुष भोक्ता बन रहा है। तो वास्तवमे संसारी प्रधान है, पर उसके संसर्गमे इस आत्मापर लांछन आ रहा है। सो ऐसा वह प्रधान रज और तमकी प्रधानतामे है जहां वहां तो संसारी है, कष्ट है। और जहां सत्त्वकी प्रधानता है रज और तमका सर्वथा अभाव है वहां ये सब कर्म छिन्न भिन्न हो जाते हैं। तो ऐसा कपिल मोक्षमार्गका उपदेशक है और कर्मपहाडका भेदनहार है तथा वह समस्त तत्त्वज्ञान और वैराग्यसे युक्त है। मोक्षमार्ग के प्रणेता बननेके लिए तत्त्वज्ञानकी परम आवश्यकता है, वह भी कपिलमें है और वीतराग होनेकी भी आवश्यकता है सो वैराग्यसे युक्त भी वह कपिल है। इसके साथ ही साथ धर्मविशेषके ऐश्वर्यसे सहित भी है, क्योंकि उसके सब उत्कृष्ट सत्त्वका आविर्भाव हो गया है याने प्रधानका जो संसर्ग है तो सब वह सत्त्वकी प्रकर्षताके रूपमें संसर्ग है, जिस कारणसे रज और तमका सर्वथा अभाव है। जहां सत्त्वका उत्कृष्ट प्रकर्ष हो वहां परम ज्योति उत्कृष्ट ज्ञान प्रकट हो जाता है। तो कपिलमें इतनी बातें सिद्ध हो गयी कि वह मोक्षमार्गका उपदेशक है, क्लेशादिक कर्मका भेदनहार है। रज और तमके उसके सर्वथा अभाव है, समस्त तत्त्वज्ञान और वैराग्यसे सहित है। धर्मविशेषरूप ऐश्वर्यसे युक्त द्रव्य सत्त्वका उत्कृष्ट वहां अभ्युदय है। इसके साथ ही साथ ही साथ वह विशिष्ट शरीर वाला है।

कपिलके ही मोक्षमार्गनेतृत्वकी सिद्धि व महेश्वरके मोक्षमार्गनेतृत्व की असिद्धिका सांख्य सिद्धान्तियो द्वारा प्रतिपादन—उक्त सब उपयुक्त बाते

घटित हो जानेसे कपिल ही मोक्षमार्गका उपदेष्टा किन्तु महेश्वर नहीं हो सकता। महेश्वर तो शरीर रहित है। तो जैसे आकाश शरीर रहित तो उसकी ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और प्रयत्नशक्ति ये तीनों ही शक्तियाँ सम्भव नहीं हैं। तो इन शक्तियोंके बिना कुछ कर्तृत्व बन ही नहीं सकता। उपदेश कैसे दिया जायगा? न ज्ञान है, न इच्छा है, न प्रयत्न है। लोकमें देखा जाता है कि कुम्भकार ज्ञान इच्छा और प्रयत्नके बलसे किसी कार्यका प्रारम्भ कर पाता है तो जो शरीर रहित है उस महेश्वरके कैसे सम्भव है कि वह इन शक्तियोंके बिना मोक्षमार्गका प्रणयन कर सके। जैसे आकाशमें यह आकाश नहीं है तो वह मोक्षमार्गका उपदेष्टा नहीं बनता। और, भी उदाहरण देखिये। जैसे मुक्त आत्माओंके ज्ञानशक्ति इच्छाशक्ति और प्रयत्नशक्ति नहीं है तो मुक्त आत्माओंको मोक्षमार्गका उपदेष्टा तो नहीं कहा गया है। तो ऐसे ही शरीररहित मुक्त आत्मा जैसे मोक्षमार्गके प्रणेता नहीं बन सकते इसी प्रकार शरीर-रहित महेश्वर भी मोक्षमार्गका प्रणेता नहीं हो सकता यदि महेश्वरको सदेह भी मान लिया जाय तो भी वह वह क्लेशादिक कर्मोंसे रहित नहीं हो सकता, क्योंकि कोई कोई सदेह भी हो और सदा ही क्लेशादिकसे रहित हो यह नहीं बन सकता तो महे-श्वरमें जब सब बातें सम्भव नहीं हैं तो कैसे मोक्षमार्गका प्रणेता होगा। और, भी चिन्तन करे। यदि महेश्वरके धर्म विशेषका सद्भाव माना जाय। जो धर्म विशेष मोक्षमार्गके प्रणयन करनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है तो ऐसे धर्म विशेष यदि महेश्वरके मान रहे हो तो धर्म विशेषका साधनभूत समाधि विशेष भी मानना पड़ेगा, अन्यथा अर्थात् समाधि विशेष न मानें तो धर्म विशेष कैसे प्रकट हो सकता है? तो महेश्वरके धर्मविशेषकी कल्पना करनेपर समाधि विशेषकी भी कल्पना करनी होगी और जब विशेष मान लेंगे तो उसके कारणभूत ध्यान भावना प्रत्याहार प्राणायामके साधन यम और नियम तो ८ योगांगोंको भी मानने पड़ेंगे। ये ८ योगके अंग हैं याने इन आठोंके बलसे समाधि विशेष निष्पन्न होती है। तो ८ अङ्ग मानने पड़े जिससे कि समाधि विशेष बनाया और समाधि विशेषने धर्म विशेष बनाया। यों यों जिसको कर्मसे अछूता माना जा रहा है उसको कितनी आपत्तियाँ माननी पड़ी। यदि योगके ८ अङ्ग न माने जायेंगे महेश्वरके तो उसके समाधि विशेष सिद्ध न होगा। और जब समाधि विशेष सिद्ध न होगा तो धर्म विशेष भी उत्पन्न न होगा। उसकी स्थितिमें ज्ञानादिक अतिशयरूप ऐश्वर्यसे जब वह युक्त न हो सका तो वह महेश्वर ही नहीं बन सकता। अनीश्वर हो गया। जो ज्ञानसे शून्य है वह अज्ञ संसारीकी भाँति हो गया। तो कपिलमें तो मोक्षमार्गकी प्रणेतृत्व सिद्ध हो जानेपर महेश्वरमें प्रणयन सिद्ध नहीं होता। यह सब निरीश्वरवादी सांख्य कह रहे हैं। सांख्योंमें दो भेद हैं १ ईश्वर मानने वाले और २ ईश्वर न मानने वाले। तो निरीश्वरवादी सांख्य उक्त प्रसङ्गोंसे अतिरिक्त यह भी प्रसङ्ग दे रहे हैं कि उस महेश्वरको जब सत्त्व प्रकर्ष वाला नहीं माना जा रहा तो वह ईश्वर नहीं रह सकता। जिसमें ज्ञानादिक परिणाम उत्कृष्ट न हो वह ईश्वर ही

क्या ? और, यदि उस महेश्वरको सदा प्रकर्ष वाला मान लिया जाता है तो वह सदा मुक्त और अनुपाय सिद्ध नहीं ठहरता । जहाँ मनका प्रकर्ष है, तत्त्वज्ञान उत्कृष्ट बन गया है तो इससे यह ही तो सिद्ध हुआ कि पहिले यह प्रकर्षता न थी । क्यों न थी कि रज और तम गुण व्याप्त थे सो कमका छूटा होना अपने आप सिद्ध हो गया और जब कर्म वाला सिद्ध हो गया तो बिना उपाय किए, बिना समाधि विशेष धार किए कोई सिद्ध नहीं हो सकता । इससे महेश्वर तो मोक्षमार्गका उपदेष्टा नहीं है किन्तु कपिल ही मोक्षमार्गका उपदेष्टा है ।

ज्ञानसमवायसे सर्वज्ञताकी सिद्धिका अभाव बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान— अब उक्त शङ्काके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि धर्म विशेषसे संयुक्त अर्थात् तीर्थंकर रूपसे माना गया कपिल भी महेश्वरकी तरह मोक्षमार्गका उपदेष्टा सिद्ध नहीं होता । उसका कारण यह है कि जैसे महेश्वरको विशेष वादियोंने ज्ञानसे भिन्न माना है और ज्ञानके समवायसे उस महेश्वरको सर्वज्ञ साबित करना चाहा है इसी प्रकार यह कपिल भी तो ज्ञानसे सर्वथा भिन्न है और इस कारण वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता । जब मूलमें ज्ञान ही नहीं है तो ज्ञानकी प्रकर्षता कहाँसे आयगी ? तो एक ही बातमें सारी शङ्काओंका समाधान हो जाता है कि चूंकि वह पुरुष अथवा कपिल ज्ञानसे भिन्न है ज्ञान स्वरूप नहीं है, जैसे कि सिद्धान्त गढ़ा है तो ऐसे ज्ञानसे भिन्न कपिलको सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकता है ? और जब वह सर्वज्ञ नहीं है तो मोक्षमार्ग का प्रणेता कैसे कहा जा सकता ? अब यहाँ सांख्य कहते हैं कि कपिल ज्ञानसे भिन्न है, फिर भी सर्वार्थ ज्ञानका संसर्ग है कपिलमें इस कारण उसकी सर्वज्ञता बन जाती है । भाव यह है कि यद्यपि ज्ञान परिणाम प्रधानका परिणाम है और वह सर्व पदार्थ विषयक ज्ञान रख रहा है तो ऐसे ही सर्वार्थक ज्ञान वाला प्रधानका संसर्ग है कपिलमें इस कारणसे कपिलमें सर्वज्ञता बन जाती है । इसके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि यदि प्रधानके संसर्गसे कपिलमें सर्वज्ञता बना दी जाती है तो प्रधानका संसर्ग तो आकाश आदिकके साथ भी है । फिर आकाश आदिकको भी सर्वज्ञ मानना पड़ेगा देखिये । समस्त पदार्थ विषयक ज्ञान पुरुष तो है प्रधानका क्योंकि प्रधानके आश्रयसे ही यह ज्ञान प्रकट हुआ है तो ऐसा ज्ञान परिणामके आश्रयभूत प्रधानको एक और सर्वव्यापक माना है । जैसे प्रधानका संसर्ग कपिलसे है ऐसे ही आकाश आदिकमें भी है । लेकिन आकाशमें सर्वज्ञता नहीं बनाया । कपिलमें सर्वज्ञता बता रहे हैं तब समस्त ज्ञानका संसर्ग भी सर्वज्ञताका नियामक न बन सका । अब शङ्काकार कहता है कि यद्यपि यह बात ठीक है कि प्रधानका संसर्ग सबके साथ है । जो प्रधान समस्त पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान परिणाम रख रहा है ऐसा ज्ञान परिणामका आश्रयभूत है । उस प्रधान का संसर्ग आकाश आदिकके साथ है तिसपर भी सर्वज्ञ कपिल ही हो सकता है । आकाश आदिक नहीं हो सकते । क्योंकि कपिल चेतन है, आकाश आदिक चेतन नहीं

है। तो ज्ञान संसर्ग सर्वत्र होकर भी चेतनमे तो सर्वज्ञता आयगी पर अचेतनमे सर्वज्ञता न आयगी। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि यह मान्यता भी सङ्गत नही है। क्योंकि मान्यता प्रधानका संसर्ग होनेपर चेतनमे तो सर्वज्ञता आती है पर अचेतनमे सर्वज्ञता नहीं आती। यह कथन यो ठीक नही है कि देखिये! सांख्य सिद्धान्तमें मुक्त आत्माओंको चेतन होनेपर भी ज्ञान संसर्गमे सर्वज्ञ स्वीकार नही किया है अभी यह प्रतिज्ञाकी जा रही थी कि चेतन तो ज्ञान संसर्गसे सर्वज्ञ हो जाता तो तो मुक्त आत्मा भी तो चेतन है किन्तु उसे सर्वज्ञ स्वीकार नहीं किया गया अन्यथा अर्थात् चेतन मुक्त आत्मामे ज्ञान संसर्गसे सर्वज्ञ स्वीकार कर लिया जायगा अन्यथा सबीज सम्प्रज्ञात समाधिके समवायमे भी याने सम्प्रज्ञात योगमे भी सर्वज्ञता नही बन सकती, सांख्योका सिद्धान्त है कि कोई संसारी पुरुष जब समाधि विशेष कर रहा है और जब वह उत्कृष्ट समाधिमे रहता है उस समय उसकी सर्वज्ञता होती है किन्तु वही जब असम्प्रज्ञात योगमे पहुँच गया निर्बीज समाधिमे पहुच गया जहाँ कि कोई तरङ्ग नहीं रहा करती है उस समयमे ज्ञान संसर्ग नही मानते, अथवा सर्वज्ञ नही मानते है तो उससे यह ही तो बताया गया है कि मुक्त आत्माओमे ज्ञान संसर्ग होनेपर भी सर्वज्ञता नही आती।

शंकाकार द्वारा मुक्तात्मामे असर्वज्ञत्वकी व पुरुष विशेषमे सर्वज्ञत्वकी सिद्धिका प्रयास— अब यहाँ सांख्य कहते हैं कि हमारा मतव्य पूरी तरह समझा नहीं गया ऐसा मालूम होता है। हमारा सिद्धान्त यह है कि मुक्त जीवके ज्ञान संसर्ग ही सम्भव नही है, क्योंकि मुक्त जीवके जब असम्प्रज्ञात योग होता है याने निस्तरङ्ग अवस्था होती है निर्बीज समाधि बनती है उस समय ज्ञान संसर्ग नष्ट हो जाता है। और, तब यह द्रष्टा पुरुष अपने चैतन्य स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है तो इस सिद्धात के अनुसार मुक्त हो जानेपर इसके संस्कार विशेष भी नष्ट हो जाते हैं। हाँ असम्प्रज्ञात योगके समय तो संस्कार शेष रहता है याने सशरीर स्थितिमे तब निस्तरङ्ग अवस्था है, आत्मा आत्मामे अवस्थित हो रहा है उस समय तकमे भी संस्कार सम्भव हो सकता है। पर जब देहसे मुक्त हो जाता है तब मुक्त आत्माके वह संस्कार भी शेष नही रहता। साराश यह है कि ध्यान संसर्ग निर्बीज समाधिके समयमे नष्ट हो जाता है तो देखिये! कि जब कुछ विचारमय समाधि थी वहाँ तक ध्यानका संसर्ग था। जब निर्विचार निर्बीज स्थिति बन जाती है। तो ध्यान संसर्ग नष्ट हो जाता है। हाँ थोडा इस समय तक संस्कार शेष रहता है लेकिन जब देहसे भी मुक्त हो जाता है तो उस मुक्त जीवके न ध्यान संसर्ग रहता है और न असम्प्रज्ञात योगके समय रहने वाला संस्कार ही रहता है। अब तो वह पुरुष मुक्त हो गया है। उस मुक्त आत्माका प्रधान के साथ संसर्ग तो है सामान्यतया क्योंकि प्रधान एक सर्वव्यापक है, लेकिन वह ध्यान आदिक परिणाम रहित हो गया प्रधान ऐसी प्रधानताके साथ मुक्तात्माका सामान्यतया

सम्बन्ध होनेपर भी उसने विशेष ससग न रहा अतएव मुक्तात्माके प्रति ज्ञानससर्ग नष्ट हो जाता है । हाँ, ससारी आत्मामे ससार है यो चेतनस्वरूप कपिलके ज्ञानससर्गमे सर्वज्ञता है पर मुक्त आत्मामे ज्ञानससग ही नही अतएव सवज्ञत नहीं। तो मुक्त आत्माका उदाहरण देकर चेतन कपिलमे सर्वज्ञता अभाव सिद्ध करना उचित नही है, मुक्त आत्मामे ज्ञानससर्ग ही सम्भव है इसलिए वह सर्वज्ञ नही है किन्तु सदेह धर्म-विशेषवान कपिलके ज्ञानका ससग है और उस संसर्गसे वह सर्वज्ञ सिद्ध होजाता है।

प्रधानको व्यापक निरश माननेपर उसके ससर्गमे किसीको सर्वज्ञ व किसीको असर्वज्ञ माननेके कारणका अभाव बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि शङ्काकारका उक्त अभिप्राय सारहीन है, क्योंकि प्रधानको जब व्यापक एक निरश मानते हैं तो व्यापकका ससर्ग विशेष कपिलके साथ तो हो और मुक्त आत्माके साथ न हो ऐसा नियम कैसे बनाया जा सकता है ? जब प्रधान एक है, व्यापक निरश है तो कपिलके साथ उसका ससर्ग माननेपर सबके साथ ससर्गका प्रसङ्ग आयगा और इस तरह फिर किसीके भी मुक्ति न बन सकेगी। इस तरह आत्माके साथ प्रधानका ससर्ग न माननेपर कपिलके साथ भी पदार्थका ससर्ग न हो सकेगा और यदि एक होनेपर भी यह माना जाय कि प्रधानका ससर्ग कपिलके साथ है मुक्त आत्माओंके साथ नहीं है तो इससे प्रधानमे भेद नजर आयगा क्योकि अब प्रधानमें दो विरुद्ध धर्म आयेंगे एक तो ससर्ग करने वाला और एक ससर्ग न करने वाला। तो ऐसे दो विरुद्ध धर्मोका प्रधानमे अध्यास हो इससे प्रधान भिन्न-भिन्न हो जायेंगे। अब उसे साश मानना पड़ेगा। इसके दो अश हैं एक ससर्गवाला दूसरा ससर्गके अभाव वाला। यहाँ सांख्य कहते हैं कि हम प्रधानको एक निरश और व्यापक ही मानते हैं। उस प्रधानमें हम विरुद्ध धर्मका अध्यास नही मानते कि किसी स्वरूपसे प्रधान ससर्ग वाला हो और अन्य स्वरूप प्रधान असससग वाला हो। ऐसे विरुद्ध धर्मोंका अध्यास हम प्रधानमे नहीं मानते और इसी कारण प्रधानमें भेदका प्रसङ्ग नही आता, किन्तु हमारा तो प्रधानके सम्बन्धमे यह कहना है कि प्रधान सर्वथा एकरूपसे ससर्गयुक्त ही है। उसमें दो भेद नहीं पडते कि कुछ अश संसर्ग वाले हो और कुछ अश असंसर्ग वाले हो। ऐसे दो भेद नही हैं किन्तु वहाँ यह विशेषता है कि प्रधान मुक्त आत्माओके प्रति नष्ट होता हुआ भी अन्य ससारी आत्माओंके प्रति अनष्ट है उसका कारण यह है कि वह प्रधान मुक्त आत्माओके प्रति तो निवृत्ताधिकार है और ससारी आत्माओके प्रति प्रवृत्ताधिकार है, याने मुक्त आत्माके प्रति तो प्रधान निवृत्त हो जायगा और ससारी आत्माओके प्रति प्रधान प्रवृत्त है तब ही तो ससारी आत्माके भोगादिकके सम्पादनमें प्रधान प्रवृत्त रहता है। यो निवृत्ति प्रवृत्तिका तो आरोप है, पर उसमें ऐसे दो अश नहीं हैं कि किसीके साथ ससर्ग वाला हो और किसीके साथ असंसर्ग वाला हो। इस शङ्काके उत्तरमे स्याद्वादी कहते हैं कि प्रधानसे

निवृत्ताधिकार और प्रवृत्ताधिकार । नश्वर भी प्रधानकी एकताके प्रसङ्गमे दूर नही हो सकता । विरुद्ध धर्मका प्रधान प्रधानम जैसे दर्शित बन गया था और इसी कारण प्रधानमे भेद आने लगा था उसी प्रकार निवृत्ताधिकार और प्रवृत्ताधिकार माननेपर भी प्रधानमे भेद आता है । ये दोनो भी विरुद्ध धर्म है । प्रवृत्त होना और निवृत्त होना ये । अधिकारकी बात विरुद्ध है । सो इन दोनोका एक साथ अधिकरण नही बन सकता है प्रधानमे प्रवृत्ताधिकार भी रहे और निवृत्ताधिकार भी रहे जैसे कि प्रधानमें संसर्गवान और असंसर्गवान ये दो विरुद्ध धर्मोका आधार प्रधान नही हो सकता और नष्टपना एव अनष्टपना ऐसे दो धर्मोका भी आधार प्रधान नही बन सकता । उस ही प्रकार निवृत्ताधिकार होना और प्रवृत्ताधिकार होना इन दो विरुद्ध धर्मोका भी अधिकरण एक नही हो सकता ।

प्रधानमे विरुद्ध दो धर्मोको आरोपित स्वीकार करके दोष प्रसगसे बचनेका शकाकारका प्रयास—अब शङ्काकार कहता है कि यदि निवृत्ताधिकार और प्रवृत्ताधिकार इन दो का विषय अलग है और विषय भेद होनेमे यहा बताया जा रहा है कि ये दोनो एक आधारमे नही रह सकते । बात यह कहना सही नही है भेद होने पर भी इन दोनोका परस्पर विरोध है । या प्रधानके साथ विरोध नही है । जैसे एक पुरुषमे पितृत्व धर्म और पुत्रत्व धर्म दोनो एक साथ पाये जाते हैं । वही पुरुष किसीका पिता है और किसीका पुत्र है । तो यो पितापन, पुत्रपन ये दोनो धर्म एक पुरुषमे रह गए और इसमे विषय भेद है, पिताका अर्थ अन्य है पुत्रका अर्थ अन्य है और ऐसा भी लगता होगा कि कुछ विरोधी धर्म भी है, पर उनमे विरोध नही है । हाँ एक विषयक प्रतिपक्ष धर्म तो विरोध है । याने विषय ही अलग अलग हैं । अर्थ ही उनके न्यारे न्यारे हैं तो विषय भेद सो इन दोनो धर्मोका आधार एक बन गया, इसी प्रकार निवृत्ताधिकारपना और प्रवृत्ताधिकारपना ये दोनो विषय हैं और आत्माके नाते इन दोनोमे भेद है । निवृत्ताधिकारपना तो मुक्त पुरुषोको विषय करता है याने मुक्त आत्माओके प्रति प्रधान निवृत्ताधिकार है । प्रवृत्ताधिकारपना अन्यवी पुरुषोको विषय करता है याने प्रधान ससारी पुरुषोके प्रति प्रवृत्त है । तो यो भिन्न पुरुषकी अपेक्षासे इसमे भिन्न विषयपना पाया जा रहा है । निवृत्ताधिकारपनेका विषय कुछ अन्य है और प्रवृत्ताधिकारपनेका विषय कुछ अन्य है । तो यो भिन्न भिन्न पुरुषोकी अपेक्षा भिन्न विषयता विद्यमान है और इन दोनोका अधिकरण एक प्रधान बन सकता है । हाँ यदि नष्टपना और अनष्टपना ये दोनो धर्म किसी एकमे ही बताये जायें—जैसे मुक्त आत्मामे ही नष्टत्व और अनष्टत्व धर्म है तो विरोध कह लीजिए या इन दोनो धर्मोका साथ हम ससारी आत्माओमे घटायें तो विरोध कह लीजिए परन्तु एक आत्मामे दोनों धर्म नही घटाये जा रहे । मुक्त आत्माकी अपेक्षासे प्रधानके नष्टत्व धर्म है और अमुक्त याने ससारी आत्माओकी अपेक्षासे अनष्टत्व धर्म है । तो यो नष्टत्व और अनष्टत्व धर्मकी विवक्षासे भी एक प्रधानमे इन दोनोका विरोध नही है ।

जीवभेदसे विषयभेद बताकर भी प्रधानकी विरुद्धधर्मद्वयताको असिद्ध करनेके प्रयासको खण्डित करते हुए उक्त शङ्काका समाधान—शङ्काकारके उक्त अभिप्रायका निराकरण करनेके लिए स्याद्वादी कहते हैं कि विषयभेद बताकर उसके अविरुद्ध होनेकी चेष्टा करना असङ्गत है क्योंकि जीवके भेदसे विषयभेद बनाकर भी शङ्काकार विरोधी धर्मके अध्यासम मुक्त नहीं हो सकता अर्थात् बरी नहीं हो सकता। प्रधान तो एकरूप ही माना गया है। तो जिस रूपसे प्रधान मुक्त आत्माओंके प्रति भी निवृत्ताधिकार वाला बताया जाता और अनष्ट बताया जाता तो बतलाओ विरुद्ध कैसे असिद्ध होगा? प्रधानमे तो दो धर्म स्वीकार कर लिए गए ना। तो यों विभिन्न रूपसे अब यह प्रधान नष्ट अनष्ट दोनों रूप बन गया। तो फिर प्रधान एक न रहा, उसमे भेद सिद्ध हो गया, क्योंकि प्रधानमें दो रूप सिद्ध हो गए। मुक्त आत्माओंके प्रति तो नष्ट है और संसारी आत्माओंके प्रति अनष्ट है। तो इस स्थिति मे प्रधान एकरूप है और अनेकरूप है, यह बात बन गई। एक रूप तो मूलमें है, जैसे कि शङ्काकारने माना है कि प्रधान प्रधान ही रहता है किन्तु अब उसमे रूप दो आ गए, धर्म दो हो गए—एक तो नष्टरूप, दूसरा अनष्टरूप अथवा एक निवृत्ताधिकार रूप दूसरा प्रवृत्ताधिकार रूप।

सांख्य सिद्धान्तियों द्वारा प्रधानमे विरुद्ध धर्मोंका आरोपित कथन व प्रधानके बंधमोक्षकी व्यवस्था व पुरुषमे बन्धमोक्षका आरोपित कथनका विवरण – अब यहाँ सांख्य कहते हैं कि वास्तवमे प्रधान दो विरुद्ध धर्मोंका अधिकरण नहीं है याने प्रधानमे दो धर्म हैं नहीं, पर बात क्या होती है कि शब्दज्ञानको उत्पन्न करने वाले अवास्तविक विकल्पके द्वारा वे दो धर्म आरोपित होते हैं। चूंकि वे दो शब्द हैं और उन शब्दोंका जो ज्ञान बनता है वह मात्र विकल्प है। उस विकल्प के द्वारा प्रधानमे वे दो धर्म आरोपित किये जाते हैं, पर वास्तवमें उन दोनोंका प्रधान अधिकरण नहीं है। उन दो विरुद्ध धर्मोंका आधार प्रधान नहीं है। इससे सिद्ध इस तरह भी होता है कि देखो! प्रधानको यदि वास्तविक आधार एक मान लिया जाय तो उसमें जो दो धर्मोंकी कल्पना की है उन धर्मोंमे भी अन्य धर्मकी कल्पना करें तो यो अनवस्था दोष आता है है, फिर उन अन्य धर्मोंमे भी अन्य धर्मकी कल्पना करें। तो ऐसे अनवस्था दोषसे दूर होनेके लिए यदि बहुत देर तक धर्म अधर्मकी कल्पना करके थकनेके बाद किसी धर्मको आरोपित मानना पड़ेगा तो देखिये! बहुत दूर जाकर किसी धर्मको आरोपित स्वीकार करनेपर प्रधानमे ही क्यों न नष्टत्व धर्म और अनष्टत्व धर्मका आरोप मानलो। आरोपित बात परमार्थिक नहीं कहलाती। तो यों प्रधानमें दोनों धर्म परमार्थिक न रहे जिससे कि भेद सिद्ध किए जायें। सारांश यह है कि प्रधानमे नष्टत्व धर्म, अनष्टत्व धर्म अथवा निवृत्ताधिकार, प्रवृत्ताधिकार ये दोनों धर्म आरोपित ही स्वीकार करना होगा। तब प्रधान एक अनेकात्मक न

बना जिससे कि वह समस्त वस्तुओमे भी एकानेकात्मक सिद्ध कर सके। प्रधान एक है निरश है, व्यापक है और उसके ससर्गसे ससारी आत्मा अथवा कपिल विशेषज्ञ सर्वज्ञ हो सकता है। उस प्रधानका सासर्गमुक्त आत्माओंके प्रति नही है तो मुक्त आत्मा सर्वज्ञ नहीं हुआ करता। उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि शङ्काकारका उक्त अभिप्राय उचित नहीं है। सांख्योने बताया है कि प्रधानमे नष्टत्व और अनष्टत्व धर्म आरोपित है अथवा वह मुक्त आत्माओके प्रति अपना अधिकार खो चुका है लेकिन ससारी आत्माओके प्रति अपना अधिकार बनाये हुए है। ऐसे दो धर्म भी प्रधानमे आरोपित हैं, पारमार्थिक नहीं हैं। तो ऐसा कहने वाले साख्योको ऐसा कहनेपर भी बाध्य होना पड़ेगा कि पुरुषके भी मुक्तपना और अमुक्तपना ये दो धर्म आरोपित हैं, वास्तविक नहीं हैं और ऐसा माननेसे वास्तवमे कोई आत्मा न रह जायगा यह भी एक कल्पनाकी ही चीज मानी जायगी। साराश यह है कि जैसे शङ्काकार बता रहे हैं कि प्रधान वास्तवमे दो विरुद्ध धर्मोंका आधार नहीं है, किन्तु कल्पनासे ही प्रधानमे दो विरुद्ध धर्मोंका आरोप किया जाता है। केवल कल्पनासे धर्मोंका अध्यारोप माननेपर पुरुषके प्रति भी मुक्तपना और अमुक्तपनासे दो काल्पनिक धर्म ठहरेंगे वास्तविक न ठहरेंगे। तो जब वास्तविक न रहे तो यह मानना पडेगा, कि पुरुष कोई मुक्त नही होता। अब यहाँ साख्य कहते हैं कि भाई आपका कहना निःसन्देह ठीक है याने पुरुषका धर्म मुक्तपना और अमुक्तपना नही है। पुरुष तो एकरूप है। मुक्तपने और अमुक्तपनेका भेद तो प्रधानमे ही बनेगा, क्योकि पुरुष तो एक मात्र चैतन्य स्वरूप है। उसमे मुक्ति और बन्धनका भेद नहीं है। हाँ जब ज्ञान अहकार आदिकका समग ज्ञान और अहकार प्रधानकी बात है। जब प्रधान ही अमुक्त रहा। ससारी रहा और यही प्रधान जब मुक्तिके कारणभूत तत्त्वज्ञान और वैराग्य परिणाम वाला बनता है तो इसीके ही मुक्तपना बनता है और यही प्रधान मुक्तिसे पहिले मोक्षका उपदेशक बनता है। तो पुरुष तो एक निर्विकल्प अपरिणामी चैतन्य तत्त्व है, उसमे मुक्ति और बन्धका विकल्प तो प्रधानमे है, वह ससारी आत्माके प्रति तो प्रवृत्ताधिकार है अतएव वहाँ प्रधानमे अमुक्तपना सिद्ध है और वही तत्त्वज्ञान और वैराग्य परिणाममे सम्पन्न होनेपर मुक्त बन जाता है, और तब मुक्त आत्माके प्रति निवृत्ताधिकार हो जाता है। ऐसे ही वही है प्रधान तत्त्वज्ञानके बाद और मुक्तिसे पहिले मोक्षमार्गका प्रणेता होना है। अब इसका समाधान करनेके लिए पहिली कारिकामे शङ्काकारका भाव खोलकर तीन कारिकाओमे शङ्का समाधान पूर्वक उनका निराकरण किया जायगा।

प्रधानं ज्ञत्वतो मोक्षमार्गस्याऽस्तूपदेशकम् ।
तस्यैव विश्ववेदित्वाद् भेतृत्वात्कर्मभूभृताम् ॥ ८० ॥

इत्यसम्भाव्यमेवास्याऽचेतनत्वात्पटादिवत् ।
तदसम्भवतो नूनमन्यथा निष्फलः पुमान् ॥ ८१ ॥

भोक्ताऽऽत्मा चेत्स एवाऽस्तु कर्ता तदविरोधतः ।
विरोधे तु तयोर्भोक्तुः स्याद्भुजौ कर्तृता कथम् ॥ ८२ ॥

प्रधानं मोक्षमार्गस्य प्रणेतृ स्तूयते पुमान् ।
मुमुक्षुभिरिति ब्रूयात्कोऽन्योऽकिञ्चित्करात्मनः ॥ ८३ ॥

प्रधानको सर्वज्ञ, व मोक्षमार्गप्रणेता व कर्मभूभृद्भेत्ता माननेपर पुरुष कल्पनाकी निरर्थकता—शङ्काकारका यह पक्ष था कि प्रधान ही तो तत्त्वज्ञ बनता है, प्रधान ही विरक्त बनता है, प्रधान ही मोक्षमार्गका प्रणेता बनता है। यो प्रधान ही मोक्षमार्गका उपदेशक है। क्योंकि ज्ञानी भी तो प्रधान ही है। प्रत्येक पुरुष ज्ञानसे रहित है वह तो मात्र चित्स्वरूप है। ज्ञान तो प्रधानका धर्म है। तब प्रधान ही सर्वज्ञ है और प्रधान सर्वज्ञ यो है कि वही कर्म पर्वतका भेदने वाला है याने क्लेश, कर्मविपाक आशय इनसे यह दूर हो जाता है, जब सत्त्व गुणका प्रकर्ष प्राप्त होता है। इस तरह प्रधान ही मोक्षमार्गका प्रणेता रहा, किन्तु अरहत या महेश्वर या पुरुष सर्वज्ञ व मोक्षमार्गका प्रणेता नही होता, ऐसी शङ्का शङ्काकारकी थी। उसके समाधानमे इतना ही कहना पर्याप्त है कि चूकि प्रधान अचेतन है, ऐसा अचेतन प्रधान कर्म पहाडका भेदने वाला और समस्त तत्त्वोका जानने वाला हो सके यह बात सिद्ध नही हो सकती और जब न विश्ववेत्तापन सिद्ध हुआ न कर्मपर्वतका भेत्तापन सिद्ध हुआ तो मोक्षमार्गका प्रसङ्ग भी नही बन सकता। यदि अचेतन होनेपर भी और उस हीको कर्मभूभृतका भेत्ता और समस्त तत्त्वोका ज्ञाता सिद्ध कर दिया जाय और साथ ही उस प्रधानको ही मोक्षमार्गका प्रणेता मान लिया जाय तब पुरुषकी कल्पना करना ही व्यर्थ है। अब पुरुष किस काम आया सो बताओ। सारे काम प्रधानने कर डाले, वही ससारी बन गया। वही मुक्त बन गया, फिर पुरुष तत्त्वके माननेकी क्या आवश्यकता है? इसके समाधानमे यदि शङ्काकार यह कहे कि पुरुष भोक्ता है सो भोग्य पदार्थका भोक्ता होनेके कारण पुरुषकी कल्पना सार्थक है, पुरुषकी कल्पना निरर्थक नही हुई। तो इसके समाधानमे इतना ही कथन पर्याप्त है कि यदि पुरुष भोक्ता है तो वही कर्ता बन जायगा क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व एक आधारमे विरुद्ध नहीं हैं। जो करता है सो भोगता है। जो भोगता है सो करता है। भोक्ता और कर्ता दोनो एक आधारमे रह सकते हैं। यदि कर्तृत्व और भोक्तृत्वका एक आत्मामें रहनेका विरोध बताया जाय तो यही देख लीजिए भोक्तापन भी पुरुषमे सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि भोक्ता का अर्थ क्या है? भुजि क्रियाका कर्ता। भुजि नामकी क्रियाका अर्थ है भोगना। उस भुजि क्रियाका कर्ता कहलाया भोक्ता। तो पुरुषमे तो कर्तापनका विरोध बताया जा रहा तो वह भोगनेका कर्ता कैसे बन गया? भोगनेका कर्ता होनेका ही अर्थ है भोगने

वाला यदि एक पुरुषमें भोक्ता और कर्ता इन दोनोंका विरोध हो तब फिर भोक्ता ही सिद्ध नहीं हो सकता। और, फिर सबसे अधिक आश्चर्यकी बात तो देखो कि मोक्षमार्गका प्रणेता तो बताया जा रहा है प्रधानको और आदेश दिया जा रहा है मुमुक्षु पुरुषोंको कि वे पुरुषकी स्तुति करें। जब भगवान प्रधान कहलाया, मोक्षमार्गका प्रणेता कहलाया तो स्तुति भी उस प्रधानकी करे। तो मोक्षमार्गका नायक बताया प्रधानको और स्तुति कर रहे हैं पुरुषकी तो ऐसा विरुद्ध आचरण करने वाला अकिञ्चित्करको छोड़कर और कौन हो सकता है?

प्रधानके ही सर्वज्ञत्व, कर्मभूभृद्भेतृत्व सिद्ध करके मोक्षमार्ग प्रणेतृत्व सिद्ध करनेका शङ्काकारका प्रयास— सांख्य कहते हैं कि हम तो प्रधानको ही मोक्ष मार्गका उपदेशक मानते हैं। क्योंकि प्रधान ही ज्ञाता है प्रधानसे ही महान बुद्धि अथवा ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। इस कारणसे प्रधान ही ज्ञाता है और वही मोक्षमार्ग का उपदेशक है। यहाँ यह अनुमान प्रयोग किया जायगा कि जो मोक्षमार्गका उपदेशक नहीं है वह ज्ञाता भी नहीं हो सकता। जैसे घट पट आदिक अचेतन पदार्थ जो व्यवहारमें सामने विदित होते हैं वे मोक्षमार्गके उपदेशक नहीं हैं तो ज्ञाता भी नहीं देखे जाते अथवा मुक्त आत्मा मोक्षमार्गका उपदेशक नहीं है। सो वह भी ज्ञाता नहीं देखा गया, किन्तु प्रधान यहाँ ज्ञाता है अतएव वही मोक्षमार्गका उपदेशक है। प्रधान ज्ञाता है सर्वज्ञ है यह बात असिद्ध नहीं है क्योंकि कपिल आदिक पुरुषोंके साथ जिसका संसर्ग है वह प्रधान अर्थात् सर्वज्ञ है। उसका ज्ञातापन असिद्ध नहीं है क्योंकि वह सर्वज्ञ बन रहा है। जो ज्ञाता नहीं है वह विश्ववेदी नहीं हो सकता। जैसे घट आदिक ये ज्ञाता भी नहीं हैं और सर्वज्ञ भी नहीं हैं। यहाँ कोई ऐसी शङ्का न करे कि प्रधान तो अचेतन है वह ज्ञ और सर्वज्ञ कैसे हो सकता है? शङ्का यों न करना चाहिए कि हम पृथक रहते हुए प्रधानको सर्वज्ञ नहीं कह रहे किन्तु कपिल आदिक पुरुषोंके संसर्ग के कारण प्रधानको ज्ञाता और सर्वज्ञ कहते हैं। यहाँ तक यह बात सिद्ध हुई कि प्रधान मोक्षमार्गका उपदेशक है, क्योंकि वह ज्ञाता है और प्रधान ज्ञाता है क्योंकि वह सर्वज्ञ है। अब सिद्ध करते हैं कि प्रधान सर्वज्ञ है, क्योंकि वह कर्म पर्वतका भेदनहार है। वह किस तरह सर्वज्ञ है और किस तरह कर्मपर्वतका भेदनहार है सो यों समझिये कि कपिलके आत्मासे जिसने संसर्ग किया है ऐसा प्रधान सर्वज्ञ है, क्योंकि वह कर्मसमूहका नाश करने वाला है। जो विश्ववेदी नहीं है अर्थात् सर्वज्ञ नहीं है वह कर्मसमूहका नाशक भी नहीं बन पाता। जैसे आकाश आदिक पदार्थ सर्वज्ञ नहीं हैं सो वे कर्मसमूहके नाश करने वाले भी नहीं हैं। कर्मसमूहका नाश करने वाला तो यह प्रधान है, अतएव यह प्रधान विश्ववेदी है। कोई यहाँ यह जानना चाहे कि प्रधान कैसे कर्मसमूहका नाश करने वाला है तो सुनो! चूंकि रज और तम इन दोनों परिणामरूप अशुद्ध कर्मसमूहका उसके ही सम्प्रज्ञात योगके बलसे नाश हो जाता है। इससे प्रधान

कर्मभूभृत्का भेत्ता है यह बात सिद्ध होती है। प्रधानमें तीन गुण हैं—सत्त्व रज और तम। जब रज और तम ये अशुद्ध परिणाम उसके प्रबल होते हैं तो यही तो कर्म कहलाता है। जब उसमें सत्त्व गुणका प्रकर्ष होता है तो रज और तम ये दुर्गुण दूर हो जाते हैं। तो सत्त्वका प्रकर्ष होनेसे सम्प्रज्ञात योग उत्पन्न होता है। सम्प्रज्ञात योगका अर्थ है ऐसी समाधि, ऐसी समता कि जहाँ हलन चलन भी समाप्त है, और भीतर विचारकी तरंगें भी दूर हो जाती हैं। ऐसी सम्प्रज्ञात योग उत्पन्न होता है तब प्रधान में सत्त्वका प्रकर्ष बनता है। तो सत्त्वके प्रकर्ष होनेसे सम्प्रज्ञात योग उत्पन्न होता है और सम्प्रज्ञात योगके बलसे सत्त्व और रज इन अशुद्ध कर्म परिणामका विनाश हो जाता है। सो प्रधान कर्म पहाड़का भेदनहार है और इसी कारण वह सर्वज्ञ है और सर्वज्ञके कारण वही वास्तविक ज्ञाता है। और ज्ञाता होनेसे प्रधान ही मोक्षमार्गका उपदेशक है। यह सिद्ध होता है। सम्प्रज्ञात योग सर्वज्ञके होता है, इस बातको जितने सर्वज्ञवादी हैं सभी मानते है, चाहे उसका नाम कोई शुक्लध्यान रख ले कोई कुछ रख ले। सम्प्रज्ञात योग माने बिना सर्वज्ञताकी मान्यता किसीने नहीं की है। तो इस तरह यह सिद्ध हो गया कि प्रधान ही वास्तविक मोक्षमार्गका उपदेशक है।

प्रधानमे अचेतनत्व होनेके कारण सर्वज्ञत्व आदिका अभाव बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि शङ्काकारका उक्त मतव्य सम्भव सिद्ध नही होता। जब प्रधानको स्वय अचेतन स्वीकार किया है, तो वह कर्मसमूहका नाशक कैसे सिद्ध होगा? यहाँ यह अनुमान प्रयोग किया जायगा कि प्रधान कर्मसमूहका नाशक नही है क्योंकि वह स्वय अचेतन है। जो स्वय अचेतन है वह कर्मसमूहका नाशक नही बन पाता, जैसे वस्त्रादिक। और, स्वय अचेतन है प्रधान इस कारण वह कर्मसमूहका नाशक नही हो सकता। और, जब कर्मसमूहका नाशक न बना तो सर्वज्ञ न बना। सर्वज्ञ न बना तो ज्ञाता न बना। ज्ञाता न बना तो मोक्षमार्गका उपदेशक नही बन सकता। इस प्रसङ्गमे शकाकार कहते हैं कि हम प्रधानको सर्वथा अचेतन नही मानते। चेतन आत्माके ससर्गसे प्रधानको हमने चेतन स्वीकार किया है, इस कारण आपका हेतु असिद्ध है। हेतु यह दिया गया था कि प्रधान स्वय अचेतन है इस कारण वह कर्मभूभृतका भेदनहार नही हो सकता। सो हम प्रधानको सर्वथा अचेतन नही मानते हैं। चेतनके ससर्गसे चेतन हो जाता है। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि शङ्काकारका यह कथन उचित नहीं है कि प्रधानको चेतनके ससर्गसे चेतन माना है, इससे हेतु असिद्ध हो जायगा। हेतु यह दिया गया है कि प्रधान स्वय अचेतन है। स्वय जो विशेषण दिया गया है उससे यह सिद्ध होता है कि प्रधान स्वरूपत अचेतन है इस कारण कर्मभूभृतका भेत्ता नही हो सकता। चेतनके ससर्गसे प्रधानको चेतन मान लिया जाय तो वह तो औपचारिक बात है। परमार्थत स्वय तो अचेतन है। तो स्वय जो अचेतन है वह नही हो सकता कर्मपर्वतका भेदन-

हार। चेतनके संसर्गसे चेतन कहनेकी बात उपचारसे हो सकती है। स्वरूपतः तो पुरुषको ही चेतन स्वीकार किया गया है और इसी तरह स्वरूपतः प्रधानको अचेतन स्वीकार किया है। स्पष्ट ही उनका कथन है कि चेतन पुरुषका स्वरूप है तो प्रधान स्वयं अचेतन रहा। इससे यह हेतु सिद्ध हो गया कि जो स्वयं अचेतन होता है वह कर्म पहाड़का भेदनहार नहीं होता और जब प्रधान कर्मपहाड़का भेदनहार नहीं है तो वह विश्ववेदी भी नहीं बन सकता। जो कर्मसमूहका नाशक न होगा वह विश्ववेदी नहीं होता। और, जब प्रधान विश्ववेदी नहीं है तो वह ज्ञ भी नहीं है अर्थात् ज्ञाता नहीं है। जो स्वयं अचेतन होता है वह ज्ञाता कभी नहीं बन सकता। ऐसा अज्ञ कोई भी हो मोक्षमार्गका उपदेशक नहीं बन सकता। तो प्रधानमें ये सारीकी सारी बातें असम्भव हैं—वह न कर्मभूभृतका भेत्ता है न विश्ववेदी है, न ज्ञाता है और न मोक्षमार्गका उपदेशक है। कितने आश्चर्यकी बात है कि स्वयं अचेतन प्रधानमें कैसी असम्भव बात मान ली गई है। तो जब ये चारों बातें नहीं हैं तो यह भी समझ लेना चाहिए कि स्वयं अचेतन प्रधानके सम्प्रज्ञात समाधि भी नहीं बन सकती। और सम्प्रज्ञात समाधि बनानेका कारण यह बताया था कि बुद्धिसत्त्वका प्रकर्ष हो जाता है याने उत्कृष्ट ज्ञान हो जाता है यह बात भी अचेतन प्रधानके असम्भव है। उत्कृष्ट ज्ञान, केवल ज्ञान वही तो बुद्धिसत्त्व है, उसका तो नाम निशान भी अचेतनमें नहीं हो सकता। और, जब सत्त्व प्रकर्ष प्रकर्ष याने ज्ञानकी उत्कृष्टता प्रधानमें नहीं बन सकती है, तो यह कहना कि रज और तमरूप मल आवरणका नाश हो जाता है, यह कथन भी हास्यास्पद है।

विपर्यय ज्ञानसे प्रधानके संसारित्वकी व तत्त्व ज्ञानसे प्रधानके सर्वज्ञत्वकी व्यवस्थाका शंकाकार द्वारा प्रयास—सांख्य कहते हैं कि देखिये! प्रधान यद्यपि अचेतन है, लेकिन यह भी तो देखा जाता है कि उसका विपर्यय हो जाय तो बंध होने लगता है, संसारीपना बन जाता है, याने विपरीत ज्ञान हो जानेसे बन्ध होता है और संसारी बन जाता है यह प्रधान। इसमें तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है तो कर्मरूप मल आवरणका नाश होता है और वहाँ ऐसे कर्मका नाश होनेसे समाधि विशेष जागृत होता है और उस समाधिविशेषसे प्रकृति पुरुष विषयक भेद विज्ञान बनता है और प्रकृति पुरुष विषयक भेद विज्ञान होनेसे सर्वज्ञता प्रकट होती है, फिर मोक्षमार्गका उपदेष्टा बनता है। तो यों जीवनमुक्त दशामें तो मोक्षमार्गका प्रणेता हुआ और जब यह विवेक ख्याति भी नष्ट हुई तो निर्बिज समाधि बनी। फिर मुक्त हो गया। ये सब बातें प्रधानमें उत्पन्न होती हैं। इनसे क्या विरोध आता? याने प्रधानमें दो खासियत हैं—एक तो विपरीत ज्ञान हो तो वह संसारी बनता है और तत्त्वज्ञान हो तो उस तत्त्वज्ञानके उपायसे प्रकाश बढ़ता जाता है और यह जीवनमुक्त होता है जहाँ कि मोक्षमार्गका उपदेशक है। पश्चात् आत्मा याने पुरुष मुक्त हो जाता है वह किस क्रमसे

कि पहिले तो उसमें तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ। तत्त्वज्ञान होनेसे कर्म नष्ट हुए, कर्म नष्ट होनेसे समाधि विशेष उत्पन्न हुई, विवेक ख्याति हुई अर्थात् प्रकृति और पुरुषमे भेद विज्ञान हुआ इस भेद विज्ञानसे सर्वज्ञता हुई और सर्वज्ञता होनेसे मोक्षमार्गका प्रणेता बन गया और वही बात जीवनमुक्त दशामे बन गई। अब समय गुजरनेपर जो भेद विज्ञानकी तरग है वह दूर हो जाती है तब इसके निर्बीज समाधि निस्तरङ्ग नीरङ्ग निर्विकल्प प्रकाश रहता है और उस प्रकाशबलसे यह मुक्त हो जाता है। यह हमारा मतव्य है।

प्रधानके ही ससार मोक्ष आदि सब मान लेनेपर पुरुषकी कल्पनाकी अनर्थकता बताते हुए उक्त शकाका समाधान— उक्त शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि शङ्काकारने तो ऐसी कल्पनाकी है कि सब कुछ प्रधानके ही बन गया लेकिन ससारी भी प्रधान बना, बध भी प्रधानके ही हुआ। विपरीतज्ञान प्रधानके हुआ तो ससार अवस्थाकी सारी बात प्रधानमे हुई। तत्त्वज्ञानसे लेकर मुक्त होने तक ये सारी बातें भी प्रधानकी बनी तो अब पुरुषकी कल्पना किसलिए की जाती है। जब प्रधानसे ही ससार बना, मोक्ष बना, ससार और मोक्षके कारणभूत उपाय बने, सब कुछ हो गया प्रधानसे ही, तो प्रधानको मानना ही पर्याप्त है। फिर पुरुष तत्त्वको माननेकी क्या आवश्यकता रही? उक्त आपत्तिके निवारणार्थ साख्य कहते हैं कि जब ससार आदिक परिणामोका कर्ता प्रधान सिद्ध हो जाता है और भोग्य सिद्ध हो जाता है तब किसी भोक्ता पुरुषकी कल्पना करनी चाहिए ना! प्रधान तो भोग्य है, कुछ भी भोग्य भोगने के बिना बन नहीं सकता। तो तब कर्ता और भोग्य प्रधान सिद्ध हो गया था जब भोक्ताकी कल्पना करना सही है और इस तरह पुरुषकी कल्पना करना व्यर्थ नहीं है। इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि कर्ता माना प्रधानको और भोक्ता माना पुरुषको, ऐसी कल्पना करना व्यर्थ है क्योकि भोक्ता कहा जा रहा है जिसको उसी पुरुषके कर्तापन भी सिद्ध होता है। और यो प्रधानको कर्ता मानना अनुचित बात है। जब भोक्ता पुरुष है तो वही कर्ता है, अन्यका कर्तृत्व मानना निरर्थक है। इसमे कोई विरोध नही आता कि जो कर्ता हो सो ही भोक्ता हो। भोक्तृत्व और कर्तृत्वमे विरोध नही है। अगर विरोध मान लिया जाय तो "भोक्ता" यही बात सिद्ध नहीं हो सकती, क्योकि भोक्ता शब्द बना कैसे? भुजि धातुमे कर्तृत्व सम्बन्धी प्रत्यय लेकर भोक्ता बना है। भोक्ताका अर्थ है भोगनेकी क्रियाका करने वाला। अब पुरुषको "करने वाला" इस शब्दसे ही सिद्ध हो गई। तो वह भुजि क्रियाका कर्ता कैसे बन जायगा? यो वह भोक्ता भी नहीं बन सकता। तो पुरुषको भोक्ता यह सज्ञा भी नही दी जा सकती है। साख्य कहते हैं कि देखिये! "भोक्ता" इस शब्दमें कर्ता अर्थमे जो प्रत्यय लगा है और कर्ता अर्थमे शब्द प्रयोग होता है तो इस शब्द प्रयोगके कारण पुरुषमें वास्तविक कर्तृत्व नही कहा जा सकता। शब्दमे ही कर्तृत्व जाहिर हो रहा है तो वह शब्द

प्रयोगकी बात है। कही कर्ता अर्थमे शब्द प्रयोग हो जानेसे पुरुषमे वास्तविक कर्तृत्व नहीं कहा जा सकता। क्योंकि शाब्दिक ज्ञानका उत्पन्न करने वाला कर्तृत्व विषयक जो विकल्प है वह अवस्तु है, वास्तविक नहीं है। तो शब्दमे ही तो समझा गया कि यह भोक्ता है। भुजि क्रियाका कर्ता है तो यह शाब्दिक ज्ञानका विकल्प है। शाब्दिक ज्ञानका विकल्प वस्तुरहित होता। वह तो एक विकल्पकी समझ बनायी गई है। तो यों शब्द प्रयोगमे कर्तृत्व जाहिर होनेसे कही वस्तु कर्ता न बन जायगा। इस तरह पुरुष तो भोक्ता ही है कर्ता नही है। इस शङ्काके समाधानमे कहते है कि यदि शब्द प्रयोग मात्रसे वास्तविकता नही मानी जाती अर्थात् कर्ता अर्थमे शब्द प्रयोग हो गया कि यह भोक्ता है और इस तरह यहाँ वास्तविक कर्तृत्व नही मानते तो पुरुषके कर्तापनका भी धर्म अवस्तु हो जायगा। और जब पुरुष अभोक्ता हो गया तो वह चेतन भी सिद्ध न हो सकेगा। देखिये ! चेतन शब्द कहा तो उससे जो शाब्दिक ज्ञान होता है तो उस शब्द ज्ञानका जनक यह चेतना विषयक विकल्प है। चेतना शब्द सुनकर किसी तरहका विकल्प ही तो हुआ। तो शब्द ज्ञानसे जो विकल्प बना वह भी अवस्तु बन गया। तो लो तब चेतन भी अवस्तु बन गया, क्योंकि चेतन शब्द सुनकर जो कुछ विकल्प बना तो विकल्प अवस्तु है। तो यों पुरुष चेतन न रह सका, क्योंकि चेतन अवस्तु बन गयी। जैसे कि कर्तृत्व भावतृत्व आदिक शब्द शाब्दिक ज्ञानके उत्पन्न करने वाले हैं वे विकल्प हैं तो शब्द और शाब्दिक विकल्प अवस्तु माना गया है और उस तरहसे कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये वस्तु धर्म न रहे। इसी तरह चेतनपना भी वस्तु धर्म न रहेगा।

पुरुषको अवक्तव्य कहनेपर व्यवस्थाका पूर्ण अभाव—साख्य कहते हैं कि देखिये ! चेतनमें चिति शक्तिकी बात है। चिति शक्ति न तो किसी शब्दका विषय है और न किसी विकल्पका विषय है। तो शब्द और विकल्पका विषय न होनेसे पुरुष अवक्तव्य है यान पुरुष चेतन किसी भी शब्द और विकल्पके द्वारा कहने योग्य नही है। शब्द और विकल्पका विषय होनेसे ही तो अवस्तु बनता था। तो पुरुष शब्द और विकल्पका विषय ही नही है इसलिए उसे अवस्तु करार देनेका कोई अवकाश नही है। इसके समाधानमे स्याद्वादी कहते हैं कि पुरुषको यदि सर्वथा अवक्तव्य कह दिया जाय तो वह अवक्तव्य शब्दके द्वारा भी कैसे कहा जा सकता है ? यदि पुरुष सर्वथा अवक्तव्य होता तो उसके लिए अवक्तव्य शब्द भी कहा जा सकता था। किसी तरह इसको वक्तव्य बना ही तो दिया। अवक्तव्य कहकर भी कुछ अर्थ ही तो ध्यानमे आता है, और दूसरी बात यह है कि यदि पुरुषका अवक्तव्य कहा जाय तो दूसरे पुरुषोंको, शिष्योंको उसका ज्ञान कैसे होगा, यह भी बताना चाहिए। बताओगे यही ना कि दूसरोंको ज्ञान शब्द प्रयोग द्वारा ही कराया जाता है। तब फिर वह उपाय बताओ, वह शब्द प्रयोग कहो जिससे कि चेतनका बोध हो सके। यदि साख्य

यह कहें कि शरीरज्ञानसे दूसरोंको उस पुरुषका ज्ञान हो जाता है तो यह कथन यों सङ्गत न रहेगा कि शरीरज्ञान भी तो तब ही प्रवृत्त हो सकता था जब वह शब्दका विषयभूत होता, लेकिन पुरुषको तो शब्दका विषयभूत ही नहीं माना, उसे अवक्तव्य कहा जा रहा है। तो ऐसे शब्दके अविषयभूत पुरुषमें शरीरज्ञानकी भी प्रवृत्ति नहीं बन सकती। सारांश यह है कि जब पुरुष किसी भी शब्दका विषयभूत नहीं है तो उसमें शरीरज्ञानरूप कार्यानुमानको प्रवृत्ति करना असम्भव है। यही तो शङ्काकार कह रहा था कि पुरुष है, क्योंकि शरीरज्ञान हो रहा है। यदि पुरुष न होता तो शरीरज्ञान न बन सकता था। तो भला जब पुरुषको सर्वथा अवक्तव्य शब्दने अविषय बता दिया तो शब्दके अविषयभूत पुरुषकी जानकारीके लिए कुछ भी तो नहीं कहा जा सकता, फिर शरीरज्ञानरूप कार्यानुमान कैसे बना डाला जायगा ? तो देखो ! शब्दव्यवहारके बिना दूसरोंको पुरुषका ज्ञान कराना भी अशक्य होगया। और, स्वय के लिए भी उस प्रकारके पुरुषका ज्ञान कैसे हो सकता ? क्योंकि वह तो समस्त विषयोंका अविषय है और फिर अकिंचित्कर भी है। अकिञ्चित्कर यों है कि सारा ससार मोक्ष, उपाय, तत्त्वज्ञान सबके सब प्रधानके ही तो मान डाले हैं, पुरुषमें कुछ काम ही नहीं माना गया है। तो ऐसे पुरुषको स्वयका ज्ञान कैसे हो सकता है ? स्व-सम्वेदनसे उसका ज्ञान मानना असङ्गत है, क्योंकि पुरुष तो ज्ञानरहित है। ज्ञानी तो प्रधानको माना है। तो ज्ञानरहित पुरुषमें स्वसम्वेदनकी बात कैसे बन सकती है ? यदि यह कहा जाय कि पुरुषके स्वरूपकी सचेतना स्वय होती है। तो यह सब बात उन्मत्त जनों जैसी है। सिद्धान्तमें तो यह बताया कि बुद्धिसे परिज्ञात पदार्थोंको पुरुष अनुभव करता है और अब यहाँ यह कहने लगे कि पुरुष अपने स्वरूपका स्वय अनुभव करता है। तो ये परस्पर विरुद्ध बातें हैं। स्वय जब बुद्धिसे अज्ञात है तो उस स्वरूप को पुरुष जान कैसे सकता है ? जैसे कि बुद्धिसे अज्ञात अपने स्वरूपको जान लेता है ऐसे ही बाह्य पदार्थोंको भी पुरुष जान लेगा। फिर बुद्धि और प्रधानकी कल्पना करना व्यर्थ है।

स्वतः स्वरूप सवेदनकी तरह अर्थ सवेदनकी उपपत्ति भी स्वतः मान लेनेका प्रकरण—सांख्य कहते हैं कि बाह्य पदार्थोंका ज्ञान तो कभी कभी होता है, कादाचित्क है। कभी होता कभी नहीं इस कारण बाह्य पदार्थोंके ज्ञान करनेमें पुरुष को बुद्धिकृत अध्यवसायकी अपेक्षा होती है। सिद्धान्त यह है कि बुद्धिसे निर्णीत किए गए पदार्थका पुरुष सचेतन करता है तो बुद्धिका अध्यवसाय भी अनित्य है, क्योंकि विधि बुद्धि अनित्य है। तब बाह्य पदार्थका ज्ञान भी अनित्य हो गया। सारांश यह है कि प्रधानका धर्म है बुद्धि, जिसके द्वारा बाह्य पदार्थका परिज्ञान किया जाता है। सो बुद्धि है अनित्य तब उसके कार्यरूप बाह्य पदार्थ विषयक ज्ञान भी अनित्य हुआ। तो पुरुष जो अर्थ सचेतन करता है, पदार्थ विषयक अनुभव करता है तो उसमें बुद्धिके

निश्चयकी अपेक्षा होती है। यदि पुरुषके अर्थसम्वेदनमे बुद्धिके अध्यवसायकी अपेक्षा न मानी जाय तब सदा ही पुरुषको अर्थसम्वेदन करते रहना चाहिए यह प्रसङ्ग आता है क्योंकि पुरुष है नित्य और वह अर्थसम्वेदनमे किसी अन्यकी अपेक्षा करता नही है तब सदा ही अर्थसम्वेदन होना चाहिए लेकिन ऐसा मानते नहीं हैं, क्योंकि अर्थसम्वेदन कभी-कभी होता है कभी नही होता है, ऐसा देखा जा रहा है। इस तरह जो स्याद्वादियोंने आपत्ति दी थी कि जिस प्रकार पुरुष बुद्धिमे अनिश्चित अपने स्वरूपको जानता है, उस ही प्रकार वह बाह्य पदार्थोंको भी अपने ही स्वरूपत जान लेवे, फिर व्यर्थमे बुद्धिकी कल्पना करनेसे क्या लाभ है ? इसका हम सांख्य यह समाधान दे रहे हैं कि यदि बुद्धिमे अनिश्चित् किए गए पदार्थको भी पुरुष सीधा जान ले तो फिर सदा अर्थसम्वेदन होते ही रहना चाहिए, यह प्रसङ्ग आता है। और चूंकि ऐसा है नही कि वह पुरुष सदा अर्थसम्वेदन करता रहे तब यह मानना होगा कि पुरुष बुद्धिसे ज्ञात किए गए पदार्थको अनुभवता है उक्त शङ्काके उत्तरमे स्याद्वादी पूछते है कि फिर तो यह बतलायें सांख्य कि अर्थसम्वेदन करने वाले पुरुषके भीतर स्वरूप सम्वेदन चलता है वह भी तो कादाचित्क है, कभी होता कभी नही होता। तो ऐसा अर्थ सम्वेदन करने वाले पुरुषके कादाचित्क स्वरूप सचेतना अर्थात् स्वरूपकी अनुभूति किसकी अपेक्षासे होती है याने पुरुषका अपने स्वरूपका सचेतन करनेमे किसकी अपेक्षा करनी पडती है ? सांख्यसिद्धान्तमे यह माना गया है कि बुद्धिने ज्ञान पदार्थको तो पुरुष अनुभव करता है वह तो हुआ अर्थानुभव और वस्तुत अर्थानुभवमे भी क्या कर रहा है ? अपने स्वरूपका सचेतन कर रहा है ! तो उस स्वसचेतनमे किसकी अपेक्षा होती है जिससे कि उसे भी अनित्य स्वीकार किया जा सके ? पुरुषको ही नित्य माना जा रहा है और स्वरूपसचेतन अथवा अर्थसम्वेदन यह तो अनित्य माना जा रहा है। तो स्वरूपसचेतनमे किसकी अपेक्षा होती है, यह बतलाओ ? यदि सांख्य यह उत्तर दे कि अर्थसम्वेदनकी ही अपेक्षा होती है जैसे कि अर्थसम्वेदनमे बुद्धिके अध्यवसायकी अपेक्षा होती है, उसी तरह स्वरूपानुभवमे अर्थसम्वेदनकी अपेक्षा होती है। तब यह बतायें शकाकार कि अर्थसम्वेदनमे पुरुषको क्या भिन्न माना जाता है ? यदि कहो कि हाँ अर्थसम्वेदनसे पुरुष को भिन्न माना गया है। तब तो स्वरूपसम्वेदनको भी पुरुषसे भिन्न मान लेना चाहिए क्योंकि जो जो कादाचित्क स्वरूप हैं अनित्यरूप हैं वे सब पुरुषसे भिन्न माने जाते हैं। तो स्वरूप सम्वेदनको भी निराला पुरुषको मान लेना चाहिए, क्योंकि वह भी कादाचित्क है स्वरूप सम्वेदन भी सदा रहने वाला नहीं है।

स्वरूपसम्वेदनसे अभिन्न आत्माको माननेकी भांति आत्माको अर्थ सम्वेदनमे भी अभिन्न मान लेनेका तथ्य—सांख्य कहते है कि हम तो पुरुषको स्वरूप सम्वेदनमे अभिन्न कहते हैं। पुरुष है सो उसका स्वरूप है और स्वरूपका सम्वेदन हो रहा है तो जैसे पुरुषमे पुरुषका स्वरूप अभिन्न है, उसी प्रकार स्वरूपसम्वे-

दन भी अभिन्न है । इसके उत्तरमे स्याद्वादी कहते है कि फिर तो पुरुषको ज्ञानसे भी अभिन्न स्वीकार कर लीजिए । क्यो ऐसा कहा जा रहा है कि ज्ञानका स्वभाव रखने वाले प्रधानका जब ससर्ग होता है, पुरुषमें जब ज्ञान होता है तो वह ज्ञान पुरुषसे अभिन्न बताया जाता । जैसे स्वरूपसम्वेदन पुरुषसे अभिन्न है ऐसे ही प्रत्येक ज्ञान पुरुष से अभिन्न मान लेना चाहिए । सांख्य कहते हैं कि ज्ञान तो अनित्य है इसलिए ज्ञानसे पुरुषको अभिन्न नही माना जा सकता । क्योंकि पुरुष नित्य है, यदि अनित्यज्ञानसे पुरुषको अभिन्न मान लिया जाय तो पुरुष अनित्य बन बैठेगा । इस कारण ज्ञान जुदा तत्त्व है, पुरुप जुदा तत्त्व है । इसके समाधानमे कहते हैं कि जैसे इस डरसे सांख्य जन कि कही पुरुष चेतन नहीं बन बैठे, ज्ञानसे भिन्न मान लेते हैं । क्या उन्होने सोचा है कि ज्ञान अनित्य है ? उससे अगर हम अभिन्न मान लेंगे पुरुषको तो पुरुष अनित्य बन बैठेगा । तो यह डर तो यहाँ भी मान लेना चाहिए—स्वरूप सम्वेदन भी तो अनित्य है । जब-जब जो-जो अर्थसम्वेदन होता है उस कालमे उस ढङ्गसे पुरुष स्वरूप सचेतन करता है । तो स्वरूपसचेतन भी तो सदा नही होता, एक समान नही होता । तो स्वरूप सम्वेदन भी अनित्य बना । तो ऐसे अनित्य स्वरूप सम्वेदनसे पुरुषको अभिन्न कह दिया तो वहाँ भी पुरुषका अनित्यताका प्रसङ्ग होगा । यदि सांख्य यह कहें कि स्वरूप सम्वेदनको हम धर्म मान लेंगे तब उक्त दोष न होगा याने अर्थसम्वेदन तो अनित्य है और उससे पुरुष निराला है अन्यथा पुरुष अनित्य बन जाता । लेकिन स्वरूप सम्वेदन नित्य है और स्वरूप सम्वेदनसे पुरुष अभिन्न है, इस कारण पुरुष अनित्य नही बन सकता है । इसके समाधानमे यदि यह कहा जाय कि जैसे स्वरूपसम्वेदन को नित्य मान लिया उसी प्रकार अर्थसम्वेदनको भी नित्य मान लिया जाय तब भी अर्थसम्वेदनसे पुरुषको अभिन्न मान लेनेपर अनित्यताका प्रसङ्ग न आयगा ।

अर्थसवेदनकी भाँति स्वरूपसवेदनकी भी अनित्यता सिद्ध होनेसे पुरुषको सम्वेदनात्मक व नित्यानित्यात्मकत्वकी सिद्धि—यहाँ यदि सांख्य यह कहें कि अर्थसम्वेदनमें तो परकी अपेक्षा होती है, इस कारण अर्थसम्वेदन नित्य नहीं होता, अनित्य है । स्पष्ट है कि जो-जो कार्य परापेक्ष होते हैं वे-वे सब अनित्य कहलाते हैं । तो पुरुषने जो किसी बाह्य पदार्थका अनुभव किया उस अनुभव करनेमे बुद्धिके निर्णयकी अपेक्षा होती है । तो यो परापेक्षता होनेसे अर्थसम्वेदन अनित्य है । सांख्यके इस प्रकार कहनेपर यह समाधानमे कहा जा सकता है कि इस परापेक्षताके कारण जब अनित्यता बनती है तो स्वरूप सम्वेदनमें भी तो परापेक्षता है, वह भी अनित्य बन जायगा याने स्वरूप सम्वेदन भी तो उस-उस ढङ्गसे उस-उस कालमें होता है जिस-जिस प्रकारसे अर्थसम्मेलन चलता है । तो स्वरूप सम्मेलनमे अर्थसवेदन की अपेक्षा है । इस कारणसे स्वरूप सम्वेदन भी अनित्य बन गया । तो अब स्वरूप सम्वेदनसे पुरुषको अभिन्न माननेपर पुरुष अनित्य हो जायगा । दूसरी बात यह है कि

आत्माको कथञ्चित् अनित्य मान लिया जाय तो इसमे कोई असङ्गत बात नहीं है, क्योकि पुरुषको अर्थात् आत्माको सर्वथा नित्य माननेमे तो विरोध आता है । प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणसे आत्मा सर्वथा नित्य कूटस्थ प्रतीत नही होता । सब आत्माका स्वरूप संचेतनरूप तरङ्ग उठा करती है तो उस अभिन्न स्वरूप सचेतनरूप परिणतिकी दृष्टिमे पुरुष अनित्य बन जायगा उसमे क्या आपत्ति आती है लेकिन स्वरूप सम्वेदनसे अभिन्न पुरुषको नित्य माना जा रहा और अर्थ सम्वेदनसे अभिन्न पुरुषको इस भयसे स्वीकार नहीं किया जा रहा कि पुरुष अनित्य हो जायगा । सो बडे आश्चर्यकी बात है कि सांख्य जन अनित्य स्वरूप सम्वेदनात्मक होनेपर भी पुरुषको तो नित्य और निरतिशय प्रतिपादित करते हैं अर्थात् आत्मामे किसी प्रकारका अतिशय नही बना, क्योकि अतिशय मान लेनेपर वह भी अनित्य बन जायगा । सो अनित्य स्वरूप सम्वेदनात्मक तो मान लिया है पुरुषको पर नित्य ही माना करते हैं लेकिन पुरुष कही अनित्य न बन बैठे इस भयसे अनित्य अर्थ सम्वेदनसे अभिन्न स्वीकार नही करना चाहते हैं । तथ्य तो यह कहता है कि जब अनित्य स्वरूप सम्वेदनमे पुरुष अभिन्न हो गया तो इतनेपर भी निरतिशय नित्य बना रह सकता है । तो ऐसे ही अनित्यज्ञानसे अभिन्न रहा आये पुरुष और निरतिशय नित्य बना रहे इसमे क्या आपत्ति है ? यदि अनित्य ज्ञानसे अभिन्नको नित्य न बना रहनेकी आपत्ति देते हो तो अनित्य स्वरूप सम्वेदनसे अभिन्न पुरुषको भी नित्य माननेमे आपत्ति स्वीकार करनी पडेगी ।

ज्ञानसे अभिन्न प्रधानको नित्य मानने वालोको ज्ञानसे अभिन्न पुरुषको नित्य मान सकनेमे अनापत्ति— और, भी देखिये ! सांख्य जन प्रधानको तो नित्य मानते हैं और प्रधानकी परिणति है महान अहंकार आदिक । महानका अर्थ है ज्ञान और यह ज्ञान है प्रधानकी पर्याय जैसे कि प्रधानसे अभिन्न माना है तो देखिये ! जब सांख्यजन अनित्य महदादिक जो व्यक्त हुये हैं उनमे अभिन्न प्रधानको नित्य ही माना है । याने अनित्य हैं वे ज्ञानादिक और उनसे अभिन्न माननेपर प्रधानको फिर भी यह कहा है कि अनित्य वे ज्ञानादिक ही हैं प्रधान अनित्य नही है । तो जैसे अनित्य ज्ञानसे अभिन्न प्रधानमे अनित्यताका प्रसङ्ग नहीं मानते इसी तरह अनित्यज्ञानसे अभिन्न पुरुषमे भी अनित्यताका प्रसङ्ग नही मानें । क्योकि घटना दोनो जगह एकसी ही घटित होती है । जैसे ज्ञानसे अभिन्न प्रधान है और वह नित्य माना जाता है ऐसे ही ज्ञानसे अभिन्न पुरुष रहे और उसे नित्य मान लेवे ।

अदृष्ट प्रधानमें ज्ञानाधारत्वकी कल्पना व अनुभूत आत्मामे अज्ञताकी कल्पनामे स्पष्ट विडम्बना— और फिर देखिये ! अचरजकी बात कि ज्ञान परिणामका आश्रय प्रधानको मानते हैं याने प्रधानसे ही ज्ञान व्यक्त होता है सो अब देखिये ! प्रधान तो अदृष्ट है । उसका किसी तरह अनुभव भी नही बन रहा तो ऐसे

अदृष्टकी तो कल्पना की जा रही है और ज्ञानवान जो आत्मा है, जो कि अनुभवमें भी आ रहा है कि देखो इस आत्माने अपना भी निश्चय किया और परका भी निश्चय किया। तो जो ऐसा स्वार्थ व्यवसायात्मक पुरुष अनुभवमें आ रहा, उसकी हानि मान रहा है अर्थात् ज्ञानके आश्रयभूत प्रधानकी तो कल्पना की और पुरुषको ज्ञानसे रहित माना। सो देखिये सभी बुद्धिमान यह कहते हैं कि अनुभवका तो विनाश करना और अदृष्टकी कल्पना करना यह पापमय प्रवृत्ति है। याने जो अनुभवमें आ रहा उसका तो निषेध करना और जो अनुभवमें नहीं आ सकता उसका विधान बनाना यह तो अनुचित बात है। तो ऐसी पापमयी वृत्ति यदि कोई नहीं चाहता है तो उनको यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि ज्ञान दर्शन उपयोगमयी कोई विशिष्ट पुरुष ही कर्मका भेत्ता है समस्त तत्त्वोंका ज्ञाता है, मोक्षमार्गका उपदेशक है, उत्तम शरीरवाला है और विशिष्ट धर्म विशेष पुण्य कर्मके उदय वाला है और उन हीके निकटवर्ती आचार्यजन ध्वनि सुनते हैं। जो समस्त श्रेष्ठ आचार्योंमें श्रेष्ठ है उस ही की मुमुक्षु पुरुष स्तुति करते हैं। यह ही बात प्रमाणसे सिद्ध होती है मूलसे ही भूल निकालना चाहिए पुरुषको ज्ञानसे रहित मानना और प्रधानसे ज्ञान स्वभाव मानना और प्रधानको ही संसारी तत्त्वज्ञानी और कर्मोंका नाशक सर्वज्ञ मानना यह अनुभवसे विपरीत बात है। और, देखिये ! इन सांख्योंका यह कहना कि प्रधान तो मोक्षमार्गका उपदेशक है और मुमुक्षुजन किसी भिन्न आत्माकी स्तुति करते। अरे जो मोक्षमार्गका उपदेशक है उसकी ही तो स्तुति की जानी चाहिए। पर उसकी स्तुतिको मना यों करते कि अचेतनकी स्तुति करना अटपटी सी जचती। तो कितनी विडम्बनाकी बात है कि आत्माको तो अकिञ्चित्कर मान रहे वह कर्ता नहीं मोक्षमार्गका उपदेष्टा नहीं तो यों आत्माको अकिञ्चित्कर मानने वाले दार्शनिकोंके सिवाय और कौन ऐसा कह सकता है कि मोक्षमार्गका प्रणेता तो प्रधान है और मुमुक्षुजनोंको स्तुति ध्यान करना चाहिए आत्माका इस तरह यह निर्णय हुआ कि जैसे महेश्वर मोक्षमार्गका उपदेष्टा सिद्ध नहीं हो सकता उसी प्रकार प्रधान भी मोक्षमार्गका उपदेष्टा नहीं हो सकता।

क्षणिक सिद्धान्तानुयायियों द्वारा अपने अभिमत आप्तके आप्तत्वका प्रस्ताव—अब इस प्रसङ्गमें क्षणिकसिद्धान्तानुयायी बौद्ध कहते हैं कि यदि कपिल मोक्षमार्गका उपदेशक नहीं बन रहा, जैसे कि महेश्वर मोक्षमार्गका उपदेशक नहीं बन सकता तो यह बात बिल्कुल ठीक है। उन दोनोंके ही मोक्षमार्गका उपदेष्टापन सिद्ध नहीं होता। किन्तु सुगत तो मोक्षमार्गका उपदेष्टा है, इसमें तो कोई भी बाधक प्रमाण नहीं आता, याने मोक्षमार्गका उपदेष्टा सुगत ही है क्योंकि उसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं होता। तब अनेक विकल्पोंको छोड़कर यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि सुगत ही मोक्षमार्गका प्रतिपादक है, अतएव जिनको संसार संकटोंसे मुक्ति चाहिए उन्हें एक मन से सुगत और सुगतके स्वरूपका ही ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार क्षणिक-

वादियोके कथनका समाधान करनेके लिए आचार्यदेव कारिकामे कहते हैं —

सुगतोऽपि न निर्वाण मार्गस्य प्रतिपादकः ।
विश्वतत्त्वज्ञताऽपायात्तत्त्वतः कपिलादिवत् ॥ ८४ ॥

क्षणिकवादमे विश्वतत्त्वज्ञता न बननेसे सुगतके निर्माणमार्ग प्रणेतृत्वका अभाव—सुगत भी मोक्षमार्गका प्रतिपादक नही बन सकता क्योकि परमार्थसे सुगतमे समस्त तत्त्वोंके जाननेकी सिद्धि नहीं हो सकती । जैसे कपिल और महेश्वरमे विश्व तत्त्वज्ञता सिद्ध न होनेसे उसे मोक्षमार्गका उपदेष्टा नही कहा गया इसी प्रकार वास्तव मे सुगत भी समस्त तत्त्वोका ज्ञाता नही बन सकता, इस कारण वह भी मोक्षमार्गका प्रतिपादक नही है । जो जो कोई परमार्थसे सर्वज्ञतासे रहित है वह वह निर्वाणमार्गका प्रतिपादक नही बन सकता । जैसे कपिल आदिक वे सर्वज्ञ नही हैं तो मोक्षमार्गके उपदेष्टा नहीं हैं इसी प्रकार सुगत भी सर्वज्ञ नही है, अत मोक्षमार्गका उपदेष्टा भी नही हो सकता । कैसे नही है सुगत सर्वज्ञ सो सुनो ! परमार्थसे सुगत सर्वज्ञतासे रहित है । कैसे समझा जाय कि सुगत समस्त तत्त्वोके ज्ञान करनेसे वंचित है ? यो समझिये कि ज्ञानका कारण क्षणिकवादियोने पदार्थोंको माना है । याने ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है और तभी तो यह व्यवस्था बनती बताते हैं कि यह ज्ञान अमुक पदार्थका है यह कैसे समझा जाय ? यों समझा जाय कि जिस पदार्थसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान उस पदार्थको विषय करता है । ऐसी व्यवस्था बनायी गई है ? तो इसी तरह सुगतको यदि समस्त तत्त्वोका साक्षात्कार करने वाला माना जा रहा है तो वह तभी तो माना जाना चाहिए कि समस्त तत्त्वोसे वह ज्ञान उत्पन्न हो रहा है । सो लो सारे पदार्थ भूत भविष्य वर्तमान तीनो कालके पदार्थ सुगतमे सर्वज्ञताके कारण बन नहीं सकते क्योकि वहां विरोध है जो ज्ञानका कारण नही होता वह ज्ञानका विषयभूत भी नही बन सकता । भला सोचो तो सही कि जो पदार्थ अब तक उत्पन्न नही हुए हैं, सत्तामे नहीं आये हैं उन पदार्थोंसे ज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता ? तो लो यो सुगत अब भविष्यका ज्ञाता तो न रह सका । इसी तरह वर्तमान पदार्थोंसे भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता । कारण यह है कि जिस समयमे कोइ पदार्थ वर्तमान है उस समयमे ज्ञान नही हो रहा । पदार्थ जब नष्ट हो जाता है याने दूसरे क्षण आता है तब वहां ज्ञान बनता है । तो कुछ देरको ऐसा मानलो कि जो भूत पदार्थ है, अतीत है वह सुगतके ज्ञानमे कारण बन जाता है, तो भूत पदार्थोंको सुगतके ज्ञानम कारण मान लेनेपर भी वर्तमान पदार्थ तो सुगतके ज्ञानका कारण नही बन सकता, क्योकि जिस समयमे पदार्थ है उस समयमे ज्ञान नही बन सकता । एक ही समयमे अर्थात् समान समयमें रहने वाले पदार्थमे कार्यकारण भाव नहीं माना गया है । कोई जबरदस्ती यह कह बैठे कि जिस क्षणमें पदार्थ है उसी क्षणमे उसका ज्ञान भी हो रहा है सुगतके तो ऐसा

कोई माने भी तो उनमें कार्य कारणभाव नहीं बनता क्योंकि समान समयमे रहनेवाले पदार्थोंमे अन्वय व्यतिरेक घटित नही हो सकता और जब तक अन्वय व्यतिरेक नहीं बनता तब तक किसीको किसीका कारण कहना युक्त नही है। जिसमे अन्वयव्यतिरेक सिद्ध होता है उसमे ही कार्यकारणपनेकी प्रतीति हुआ करती है। तो लो, सुगत वर्तमान पदार्थोंका ज्ञाता न बन सका। और भविष्यका तो बनेगा ही क्या ? क्योंकि वह पदार्थ है ही नहीं। तो जब तीनों कालके पदार्थोंको सुगत ज्ञान विषय न कर सका तो वह सर्वज्ञ नही है, यह बात तो भली भाँति सिद्ध हो ही जाती है। इस तरह सुगत जब समस्त तत्त्वोका ज्ञाता नहीं बन सकता तो उसे मोक्षमार्गका उपदेष्टा भी नही कहा जा सकता है। इस प्रकार जैसे कि कपिल और महेश्वर विश्व तत्त्वके ज्ञाता न हो सकनेसे मोक्षमार्गके प्रणेता नहीं हैं उसी प्रकार सुगत भी समस्त तत्त्वोका ज्ञाता न हो सकनेके कारण वह भी मोक्षमार्गका प्रणेता नहीं बन सकता।

८१

सर्वज्ञताका अभाव होनेसे मोक्षमार्गप्रणेतृत्वके अभावका समर्थन—सुगतको सर्वज्ञ सिद्ध करनेका प्रयास करने वाले क्षणिकसिद्धान्तानुयायियोके प्रति कहा जा रहा है कि जब समस्त विज्ञानोको परमार्थसे स्वरूपमात्रका अवलम्बन करने वाला माना गया है अर्थात् क्षणिकसिद्धान्तमें यह बताया है कि सभी विज्ञान अपने स्वरूपका ही आलम्बन करते हैं अर्थात् स्वरूपका ही निर्णय रखने वाले हैं तब फिर सुगतका ज्ञान भी स्वरूपमात्रका ही विषय करने वाला स्वीकार करना चाहिए और इस तरह जब सुगत ज्ञानस्वरूप मात्रको ही विषय करने वाला बना तब वह विश्व तत्त्वकाज्ञाता कैसे हो सकेगा ? यदि सुगतज्ञानको बाह्य पदार्थोंका विषय करने वाला माना जाय, जिससे कि उसे सर्वज्ञ कहा जा सके तो यो अगर सुगतज्ञान बाह्य अर्थका विषयकरने वाला हुआ, तो इससे स्वय उनके सिद्धान्तमें विरोध आता है। उनका वचन है कि समस्त ज्ञान और सुख आदिकका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष हुआ करता है तो इस वचनमे तो केवल एक स्वरूप मात्रके विषय करनेकी बात कही है और अब मान लिया सुगतज्ञानको बाह्य अर्थका विषय करने वाला तो परस्पर वचन विरुद्ध बन जायगा, क्योंकि अब यहाँ बाह्य अर्थके आकारसे उत्पन्न होना मान लिया है। यदि शङ्काकार यह कहे कि वास्तवमे तो सुगत ज्ञान स्वरूपमात्रको विषय करता है, पर बाह्य अर्थका विषय करने वाली कल्पना उपचार कल्पना है। यदि उपचारसे सुगत ज्ञान बाह्य अर्थको विषय करता है तब वास्तवमे सुगत ज्ञान बाह्य अर्थका विषय करने वाला न रहा। तब उस सुगतको निर्वाण मार्गका प्रणेता न होनेमे हेतु कहा गया था कि परमार्थतः सर्वज्ञताका अभाव होनेसे सुगत मोक्षमार्गका प्रणेता नहीं है। तो यहाँ जो परमार्थसे यह विशेषण दिया गया है उसका कारण सिद्ध हुआ कि हेतु यह निर्दोष है। इससे असिद्ध नामका दोष नही आता। और, साथ ही यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि विपक्षमें इस हेतुकी प्रवृत्ति नही है, कपिल आदिक जो

सपक्ष बनाये गए हैं अर्थात् जो-जो निर्वाण मार्गका प्रणेता नहीं है उन सबमें यह हेतु पाया जा रहा है अर्थात् तत्त्वतः सर्वज्ञताका अभाव इन सबमें पाया जा रहा है। और जो जो निर्वाणमार्गके प्रतिपादक हैं अर्थात् इस अनुमानके विपक्ष हैं उनमें सर्वज्ञताका अभाव नहीं पाया जाता। जो वीतराग सर्वज्ञ परम पुरुष निर्वाण मार्गके प्रतिपादक हैं, उनमें यह सर्वज्ञताका अभावरूप हेतु नहीं पाया जाता। इससे यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि देखिये ! आप इस प्रकारका अनुमान बना रहे हैं कि सुगत मोक्षमार्गका प्रणेता नहीं है, क्योंकि वह तत्त्वतः सर्वज्ञ नहीं है तो सर्वज्ञतासे रहित हेतु बनाकर मोक्षमार्गके प्रणेतृत्वका निषेध कर रहे हैं। पर देखिये कि दिङ्नाग आचार्य आदिक ये तत्त्वतः सर्वज्ञसे रहित हैं फिर भी मोक्षमार्गका प्रतिपादन उन्होंने किया है। इस तरह हेतु व्यभिचारी हो गया। हेतु यह दिया जा रहा था कि वास्तविकमें जो सर्वज्ञ नहीं है वह मोक्षमार्गका प्रतिपादक नहीं है, मगर अनेक आचार्य हुए हैं जो मोक्षमार्गके प्रतिपादक तो हैं पर सर्वज्ञ नहीं हैं। इस शङ्काके उत्तरमें स्याद्वादी कहते हैं कि दिङ्नाग आचार्य आदिकको भी यहाँ पक्षमें गर्भित कर लिया है अर्थात् ये भी मोक्षमार्गके प्रणेता नहीं हैं। जहाँ सुगतका पक्ष बनाया है कि ये मोक्षमार्गके प्रणेता नहीं हैं तो सुगतके मतके अनुसार जो कोई भी वर्णन करने वाले होंगे उन सबमें भी मोक्षमार्गका प्रतिपादकपना नहीं है।

सर्वज्ञपरम्पराप्रणीत होनेसे स्याद्वादी सूत्रकारोंके भी मोक्षमार्गोपदेशकता—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यदि दिङ्नाग आचार्य आदिक भी यहाँ पक्षमें गर्भित कर लिए गए अर्थात् वे भी मोक्षमार्गके प्रणेता नहीं हैं तो जिनको केवल ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ और इसी कारण जो तत्त्वतः सर्वज्ञतासे रहित हैं ऐसे स्याद्वादी सूत्रकार अर्थात् जैनाचार्य ये कैसे मोक्षमार्गके प्रतिपादक हो सकते हैं? किन्तु इसे मानते हैं कि ये मोक्षमार्गके प्रतिपादक हैं पर इन्हें परमार्थतः केवल ज्ञान हुआ नहीं तो यहाँ साधन व्यभिचारी हो जायगा। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह शङ्का यों सङ्गत नहीं है कि स्याद्वादी सूत्रकार भी सर्वज्ञके कहे गए मोक्षमार्गकी ही परम्परासे देशना कर रहे हैं इसलिए ये सब आचार्य सर्वज्ञके द्वारा कहे गए मोक्षमार्गके प्रतिपादन करने वाले हैं, इस कारणसे ये मोक्षमार्गके प्रणेता सिद्ध होते हैं। याने ये प्रतिपादक हैं। साक्षात् प्रणेता तो नहीं हैं। मोक्षमार्गके साक्षात् प्रणेता तो सर्वज्ञ देव ही हैं। गणधर देव लेकर सूत्रकार आचार्य तक सबके सब अनुवक्ता कहलाते हैं याने साक्षात् प्रतिपादक हैं सर्वज्ञ। और उनका प्रतिपादन करने वाले हैं आचार्य, क्योंकि सर्वज्ञ देवसे अब तक गुरु परम्पराका क्रम निर्बाध चला आया है इस कारणसे स्याद्वादी सूत्रकारोंके साथ इस साधनका व्यभिचार नहीं होता है और यह हेतु निर्दोष होकर सुगतके मोक्षमार्गके प्रतिपादकपनेका अभाव सिद्ध करता है। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि हमारा तो अभिप्राय यह है कि सुगतका ज्ञान समस्त तत्त्वोंमें उत्पन्न

नहीं होता और न समस्त तत्त्वोंके आकारको धारण करता है और न समस्त तत्त्वो का विकल्प करता है अर्थात् निर्णय करता है। तो यो तदुत्पत्ति, तदाकार और तद-ध्यवसायके ढङ्गसे साक्षात्कार करने वाला नहीं मानते। किन्तु इस तरहका प्रमाणका लक्षण व्यवहारी जनोका है। सुगत तो सर्वज्ञ है, उसकी प्रत्यक्षता तो एक विलक्षण ढङ्गसे है। किन्तु इस प्रकारका जो प्रतिपादन किया गया है कि प्रत्यक्षज्ञ नम तदुत्पत्ति ताद्रूप्य और तदध्यवसायका सम्बन्ध है तो यह व्यवहार जनोंके लिए कहा गया है। कहा भी है कि—

"भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः। हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम् ॥"

व्यवहारी जनोंके प्रत्यक्षमे ही तदुत्पत्ति आदि होनेसे सुगतज्ञानमे प्रत्यक्षत्वके अविरोधका शङ्काकार द्वारा समर्थन — इस वाक्यमें यह पूछा गया है कि पदार्थका जब सत्त्व है तब तो ज्ञान नहीं होता और जब पदार्थ नष्ट हो जाता है तब उसका ज्ञान होता है। तो यो पदार्थका होना और ज्ञानका होना भिन्न—भिन्न कालमे है तो जब भिन्न काल हो गए तो प्रत्यक्षता कैसे बनी? यह प्रश्न होनेपर यह कहा गया है कि युक्तिके जानने वाले आचार्यजन प्रत्यक्षपनेका अर्थ यह कहते हैं कि तदाकारके अर्पणमें जो समर्थ हो ऐसे हेतुपनेका नाम है ग्राह्यता अर्थात् प्रत्यक्ष जान लेना। यद्यपि पदार्थके सत्त्वके समयमे ज्ञान नहीं और जब ज्ञान हो रहा है उस समय पदार्थ नहीं है याने पदार्थके नाश होनेके बाद ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, ऐसा क्षणिक वादमें बताया है। पदार्थके सद्भावम उसका ज्ञान होता नहीं तब पूर्वक्षणमें तो पदार्थ था और उत्तरक्षणमे ज्ञान हुआ तो पूर्वक्षणवर्ती पदार्थके ज्ञानमे भिन्न काल ही रहा ना पदार्थ, तो वह ग्राह्य कैसे बन गया? इस प्रश्नके उत्तरमें स्पष्ट बताया है कि पूर्वक्षण याने वह पदार्थ जो नष्ट हो गया है वह अपना आकार छोड़ जाता है। पदार्थ तो नष्ट हो गया पर ज्ञानमें आकार छोड़ गया तब ज्ञान आकारका ग्रहण कर लेता है। तो पदार्थमे आकारके अर्पणका सामर्थ्य है। तो आकारका समर्पण कर देने रूप युक्ति ही ज्ञानके प्रत्यक्ष होनेमें प्रमाण है। इस पद्य द्वारा यह बात बताई गई है कि तदुत्पत्ति और ताद्रूप्यताकी बात व्यवहारीजनोंके लिए कही गई है कि समर्थ लौकिकजन अन्दाज बना लें कि प्रत्यक्षका क्या लक्षण होता है? लेकिन सुगतके ज्ञानके प्रति व्यवहारकी बात घटित नहीं होती अर्थात् हम जो व्यवहारीजन हैं सो हम लोगोके प्रत्यक्ष ज्ञानमे ही ताद्रूप्य है और ताद्रूप्यका लक्षण घटित होता है। हम व्यवहारी जनोके प्रत्यक्षका व्यवहार न कह लिया जाय तो हम लोगोके प्रत्यक्षज्ञान मे तो इस तरहकी बात घटित होती है कि तदुत्पत्ति हो और ताद्रूप्य हो मगर सुगतमें प्रत्यक्षकी यह बात घटित नहीं होती। सुगत ज्ञानके लिए तो प्रमाणका यह ही स्वरूप

मान लेना चाहिए कि जो स्वरूपमात्रका सम्वेदी है, इस तरह स्वसम्वेदन प्रत्यक्षके ही प्रमाणका लक्षण सम्भव होता है। जैसे कि यहाँ स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष अपने आपसे उत्पन्न न होकर भी और अपने आपके आकारको धारण न करके भी और अपने आपमे व्यवसाय याने विकल्पको उत्पन्न न करके भी प्रत्यक्ष माना गया है ना ! क्यो प्रत्यक्ष माना गया है कि प्रत्यक्षका वास्तविक लक्षण यह है कि जो कल्पनासे रहित हो और भ्रान्ति रहित हो वह प्रत्यक्ष कहलाता है। तो देख लीजिए ! हम सब लोगोका जो स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष है, वह स्वसे उत्पन्न नही होता, स्वके आकारको भी धारण नही किए हुए है और स्वमे विकल्प भी नही बना रहता है फिर भी प्रत्यक्ष तो है ना, इसी तरह समझ लीजिए कि योगियोका भी प्रत्यक्ष किसी पदार्थसे उत्पन्न नही होरहा याने परमार्थत भूत और भविष्य किसी भी तत्त्वसे स्वय उत्पन्न नही हो रहा और न उन पदार्थोंके आकारका धारण कर रहा और न उनके विकल्पको उत्पन्न करता है फिर भी यह प्रत्यक्ष है क्योंकि प्रत्यक्षका यह लक्षण कहा गया है कि जो कल्पनासे रहित हो और अभ्रान्त हो वह प्रत्यक्ष है यह लक्षण सुगतज्ञानके व योगीके प्रत्यक्षमें भी घटित हो जाता है। यदि सुगतका ज्ञान समस्त तत्त्वोसे उत्पन्न हो अर्थात् पदार्थों से उत्पन्न हो और पदार्थोंके आकारको ग्रहण करे तथा पदार्थोंका विकल्प बनाये तो सुगत प्रत्यक्ष समस्त पदार्थोंको विषय करने वाला और कल्पनासे रहित कैसे सिद्ध होगा ? तब यह ही स्वीकार करना चाहिए कि सुगतके प्रत्यक्षमे सर्व पदार्थ कारण नहीं हैं अर्थात् सब पदार्थोंमें ज्ञान उत्पन्न हुआ सुगतका। इस तरह हम नही मानते और यदि हम सब पदार्थोसे सुगत ज्ञानका उत्पन्न होना मानते तब तो यह आपत्ति दी जा सकती थी कि लो वर्तमान पदार्थसे भी ज्ञान उत्पन्न हो नही सकता और भविष्य कालीन पदार्थसे भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता तो सर्वज्ञ कहाँ रहा ? सुगतका ज्ञान पदार्थोंसे उत्पन्न नही हो सकता तो सर्वज्ञ कहाँ रहा ? सुगतका ज्ञान पदार्थोंसे उत्पन्न नही हो रहा तब सर्वज्ञताका निषेध नहीं किया जा सकता। जो सिद्धान्तमे तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य है तदध्यवसायका प्रतिपादन किया है वह तो मात्र व्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञानकी अपेक्षा है सुगत भगवानके प्रत्यक्षकी बात नही कही गई है। इसलिए देख लो ! हम लोग किसी चीजको जानते हैं तो हमारे ज्ञानमे पदार्थका आकार आ गया ना ! और उस पदार्थके निर्णयकी बात भी आ गई और लगता भी ऐसा है कि इस पदार्थसे मेरेको ज्ञान पैदा हुआ। तो ये तीनो बातें हम लोगोके प्रत्यक्षज्ञानमे पाई जाती हैं। सुगतके ज्ञानकी बात नही है ऐसी !

सुगतज्ञानकी उत्पत्ति पदार्थोसे न होकर भावनाप्रकर्षसे होनेके कारण सर्वज्ञतामे अविरोधका शङ्काकार द्वारा प्रतिपादन—अब कोई यदि यह जानना चाहे कि सुगतका प्रत्यक्ष किस तरहसे पैदा हुआ तो वह ज्ञान कैसे बना ? सो सुनो ! भावनाकी परम उत्कर्षतासे सुगतका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। समस्त पदार्थोंसे

सुगतका ज्ञान नहीं होता, किन्तु भावनाकी उत्कृष्टतासे उत्पन्न होने वाले ज्ञानको योगिप्रत्यक्ष कहते हैं, ऐसा सिद्धान्तमे कहा गया है। न्यायबिन्दु नामक शास्त्रके रचने वाले आचार्य धर्मकीर्ति बौद्धका उपदेश है कि—"भावनाप्रकर्षपर्यन्तजम् योगिज्ञान" इस सूत्रसे यह सिद्ध हुआ कि भावनाकी जहाँ उत्कृष्टता हो जाती है वहाँ योगियोका प्रत्यक्षज्ञान पैदा होता है। वह भावना क्या है जिसकी उत्कृष्टता होनेसे योगियोका प्रत्यक्षज्ञान बनता है ? सो सुनो ! भावना दो प्रकारकी होती हैं—एक श्रुतमयी भावना, दूसरी चिन्तामयी भावना। श्रुतमयी भावनाका अर्थ है कि जो वाक्य सुने गए, उन सुने जाने वाले वाक्योंसे, परार्थानुमान वाक्योसे जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है जिसे कि श्रुत शब्दसे कहा गया है, ऐसे श्रुतज्ञानसे जो भावना उत्पन्न होती है उसे श्रुतमयी भावना कहते हैं याने उपदेशको सुनकर जो भावना बनती है वह श्रुतमयी भावना है और चिन्तामयी भावना क्या है ? सो सुनो ! यही श्रुतमयी भावना जब प्रकर्षको प्राप्त होती है याने उत्कृष्ट बन जाती है तब वहाँ स्वार्थानुमान वाली चिंता उत्पन्न होती है। उस चिन्तन द्वारा उत्पन्न हुई भावनाको चिन्तामयी भावना कहते हैं सो ऐसी चिन्तामयी भावना वहाँ प्रारम्भ हो तब वह श्रुतमयी भावना उत्कृष्ट बने ! सो उस समयकी प्रारम्भ हुई चिन्तामयी भावना जब बढ़ बढ़कर अन्तिम उत्कर्षताको प्राप्त होती है तो उस भावनासे योगिप्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है। यो सुगत भगवानमें जो सर्वज्ञता प्राप्त हुई है वह चितामयी भावनाकी प्रकर्षतासे हुई है, समस्त तत्त्वोसे उत्पन्न नहीं हुई है। इस तरह सुगतकी वास्तविक सर्वज्ञता सिद्ध है, उसकी वास्तविक सर्वज्ञताका अभाव नही कहा जा सकता। इस तरह सुगत मोक्षमार्गका प्रतिपादक सिद्ध होता है।

भावनाओंके विकल्पात्मक होनेके कारण अवस्तुभूत भावनासे ज्ञान प्रकर्षकी असिद्धि बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान—अब उक्त अभिमतके समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकारका यह समस्त प्रतिपादन विचारको नहीं सह सकता याने जब उसका विचार करेंगे तो उसका तथ्य प्रकट हो जायगा। देखिये ! श्रुतमयी भावना और चितामयी भावना दोनों ही भावना विकल्पात्मक हैं और क्षणिकवादियोके सिद्धान्तमें यह माना गया है कि जो-जो कुछ विकल्पात्मक हो वह-वह वस्तुका विषय करने वाला नहीं होता किन्तु उसका विषय अवस्तु है याने कुछ भी चीज नहीं है तो अवस्तुका विषय करने वाली भावनासे वस्तुविषयक योगिज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है ? योगियोंका ज्ञान तो वस्तुको विषय करता है। पदार्थ जैसा स्वलक्षणात्मक है, क्षणक्षयी है क्षणवर्ती है उसे जानने वाला होता है और ऐसे योगिज्ञानको कहा जा रहा है यह कि वह विकल्पात्मक भावनासे उत्पन्न हो रहा है तो भला बताओ विकल्पात्मक भावनासे निर्विकल्प ज्ञान कैसे हो सकता है ? दूसरी बात यह देखिये कि अवस्तुको विषय करने वाले विकल्पज्ञानसे वस्तुको विषय करने वाला ज्ञान होता ही

सुगतका ज्ञान नहीं होता, किन्तु भावनाकी उत्कृष्टतामें उत्पन्न होने वाले ज्ञानको योगिप्रत्यक्ष कहते हैं, ऐसा सिद्धान्तमें कहा गया है। न्यायबिन्दु नामक शास्त्रके रचने वाले आचार्य धर्मकीर्ति बौद्धका उपदेश है कि—"भावनाप्रकर्षपर्यन्तजम् योगिज्ञान" इस सूत्रसे यह सिद्ध हुआ कि भावनाकी जहाँ उत्कृष्टता हो जाती है वहाँ योगियोका प्रत्यक्षज्ञान पैदा होता है। वह भावना क्या है जिसकी उत्कृष्टता होनेसे योगियोका प्रत्यक्षज्ञान बनता है ? सो सुनो ! भावना दो प्रकारकी होती हैं—एक श्रुतमयी भावना, दूसरी चिन्तामयी भावना। श्रुतमयी भावनाका अर्थ है कि जो वाक्य सुने गए, उन सुने जाने वाले वाक्योंसे, परार्थानुमान वाक्योंसे जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है जिसे कि श्रुत शब्दसे कहा गया है, ऐसे श्रुतज्ञानसे जो भावना उत्पन्न होती है उसे श्रुतमयी भावना कहते हैं याने उपदेशको सुनकर जो भावना बनती है वह श्रुतमयी भावना है और चिन्तामयी भावना क्या है ? सो सुनो ! यही श्रुतमयी भावना जब प्रकर्षको प्राप्त होती है याने उत्कृष्ट बन जाती है तब वहाँ स्वार्थानुमान वाली चिंता उत्पन्न होती है। उस चिन्तन द्वारा उत्पन्न हुई भावनाको चिन्तामयी भावना कहते हैं सो ऐसी चिन्तामयी भावना वहाँ प्रारम्भ हो तब वह श्रुतमयी भावना उत्कृष्ट बने ! सो उस समयकी प्रारम्भ हुई चिन्तामयी भावना जब बढ़ बढ़कर अन्तिम उत्कर्षताको प्राप्त होती है तो उस भावनासे योगिप्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है। यो सुगत भगवानमें जो सर्वज्ञता प्राप्त हुई है वह चितामयी भावनाकी प्रकर्षतासे हुई है, समस्त तत्त्वोंसे उत्पन्न नहीं हुई है। इस तरह सुगतकी वास्तविक सर्वज्ञता सिद्ध है, उसकी वास्तविक सर्वज्ञताका अभाव नहीं कहा जा सकता। इस तरह सुगत मोक्षमार्गका प्रतिपादक सिद्ध होता है।

भावनाओंके विकल्पात्मक होनेके कारण अवस्तुभूत भावनासे ज्ञान प्रकर्षकी असिद्धि बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान—अब उक्त अभिमतके समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकारका यह समस्त प्रतिपादन विचारको नहीं सह सकता याने जब उसका विचार करेंगे तो उसका तथ्य प्रकट हो जायगा। देखिये ! श्रुतमयी भावना और चितामयी भावना दोनों ही भावना विकल्पात्मक हैं और क्षणिकवादियोंके सिद्धान्तमें यह माना गया है कि जो-जो कुछ विकल्पात्मक हो वह-वह वस्तुका विषय करने वाला नहीं होता किन्तु उसका विषय अवस्तु है याने कुछ भी चीज नहीं है तो अवस्तुका विषय करने वाली भावनासे वस्तुविषयक योगिज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है ? योगियोका ज्ञान तो वस्तुको विषय करता है। पदार्थ जैसा स्वलक्षणात्मक है, क्षणक्षयी है क्षणवर्ती है उसे जानने वाला होता है और ऐसे योगिज्ञानको कहा जा रहा है यह कि वह विकल्पात्मक भावनासे उत्पन्न हो रहा है तो भला बताओ विकल्पात्मक भावनासे निर्विकल्प ज्ञान कैसे हो सकता है ? दूसरी बात यह देखिये कि अवस्तुको विषय करने वाले विकल्पज्ञानसे वस्तुको विषय करने वाला ज्ञान होता ही

नही दिखता। इसी कारण यह बात भी बनती है कि जिस समय कोई पुरुष कामसे, शोकसे भयसे, उन्मादसे या स्वप्नादिकसे युक्त होता है याने जिसका ज्ञान काम-विह्वल हो या स्वप्न ले रहे हो तो ऐसे ज्ञानमे बहुतसे पदार्थ सामने खडे हुएसे दीखते हैं। लेकिन वहाँ क्या पदार्थ वास्तवमे हैं ? जैसे कोई पुरुष कामवासनासे विह्वल हो तो सो उसके सामने स्त्री खडी हुई सी नजर आती है। पर वहाँ स्त्री है थोडे ही। कोई पुरुष शोकविह्वल हो तो जिसक उपयोगमे शोक हो रहा है उसकी शकल सामने नजर आती है या जिसमे डर उत्पन्न हुआ हो उसकी भी शकल उसे दीखती है कि लो यह आया अब यह मुझे मारेगा। इसी तरह जब उन्मत्तता हो पागलपन छाया हो तो वहाँ भी सामने पदार्थ नजर आते हैं। और, स्वप्न लेने वाला तो अच्छी तरह समझ ही रहा है कि जिस तरहकी स्वप्नमे कोई चीज देखी जाती है तो वहाँ वही चीज सामने खडी नजर आती है। तो देखो! कामादिकमे विह्वल पुरुषको जो पदार्थ विषयमे हुआ है वह सब अवास्तविक है ना! वह वस्तुविषयक नही है। तो जिनका ज्ञान ज्ञानादियुक्त है उनके कामिनी आदिक पदार्थ सामने खडे हुएकी तरह दीखते हैं। तो यह कहा जा सकता कि उनका ज्ञान अतत्त्वको विषय कर रहा है, तत्त्वको विषय नही करता। तो इसमे भी यह सिद्ध होता है कि विकल्पको उत्पन्न करने वाला ज्ञान वस्तुका विषय नही कर सकता है। तो जब यहाँ श्रुतमयी भावना और चिन्तामयी भावनासे योगियोके ज्ञानका उत्पन्न होना बताया है तो यही आपत्ति आती है कि यह भावना तो विकल्पात्मक है। उन विकल्पात्मक भावनाओमे निर्विकल्प योगिज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है ? ये दोनो भावनायें विकल्पात्मक हैं, इसमे जरा भी सन्देह नही है, क्योकि परार्थानुमानका वाक्य जब सुना तो उससे तो उत्पन्न हुई श्रुतमयी भावना। सुननेमे जो कुछ आता है वह सब परार्थानुमान है। अब किसी वाक्यको सुनकर उसका अर्थ जो विचारा जाता है तो जो अर्थ चिन्तनमे आया उस चिन्तनमे जो ज्ञानभावना उत्पन्न हुई वह चिन्तामयी भावना कहलाती है तो वहाँ भी विकल्प ही तो रहा, किसी पदार्थका आकार निर्णय ही तो प्रतिभासमे आ रहा। तो ये दोनो ही प्रकारकी भावनाये विकल्पात्मक हैं, और इन विकल्पात्मक भावनाओमे सुगतज्ञानका उत्पन्न होना कहा जा रहा है तो वह सुगतज्ञान अवस्तुको विषय करने वाला होगा वास्तविक पदार्थको जान सकने वाला नही हो सकता। यो भी सुगतका ज्ञान अज्ञ बन गया। अवस्तुका ज्ञाता कहलाया। वास्तवमे ज्ञाता ही न रहा तब उसको सर्वज्ञ बननेकी बात कहना तो बहुत ही दूरकी बात है। इस तरह सुगतज्ञान सर्वज्ञतासे रहित है अतएव वह मोक्षमार्गका प्रणेता नही हो सकता।

क्षणिकवादमे ज्ञानकी अभूतार्थविषयताकी पुष्टि—सुगतज्ञान अभूत अर्थको विषय करता है। इस सम्बन्धमे स्वयं क्षणिकवादियोने एक उदाहरण पेश किया है— 'काम-शोक-भयोन्माद-चोर-स्वप्नाद्युपप्लुता। अभूतानपि पश्यन्ति पुरतो-

ऽवस्थितानिव ॥" इसका अर्थ है कि काम शोक भय, उन्माद, चोर और स्वप्न आदिकसे उपद्रवित पुरुष अभूत अर्थको इस तरह देखते हैं जैसे कि मानो वे सामने ही अवस्थित हों। तो जैसे कामादिकसे उपद्रवित पुरुष असत्य अर्थको यों देखता है जैसे कि वे सामने खड़े हों उसी प्रकार सुगतज्ञान भी अवस्तुको ही विषय करने वाला रहा, क्योंकि उसका ज्ञान श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनासे उत्पन्न हुआ है तो विकल्पक ज्ञानसे उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है वह अवस्तुको ही विषय करेगा।

परमज्ञानकी भूतार्थविषयताको सिद्ध करने वाले पदार्थका शकाकार द्वारा प्रस्ताव—अब यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि देखिये! उक्त श्लोकका अर्थ हमारे पक्षमें घटित होता है, इस उदाहरणसे हमें यह प्रेरणा मिलती है कि देखो! जब कामादिककी भावनासे, ज्ञानसे असत्य भी स्त्री आदिक सामने स्थितकी तरह स्पष्ट और साक्षात् जब ज्ञानमें आ रहे हैं तब फिर क्या कारण है कि श्रुतमयी और चिन्तामयी भावना ज्ञानसे चार आर्य सत्योंका साक्षात् प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो। चार आर्य सत्य ये हैं—दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। दुःखका अर्थ दुःख ही है। जैसे कि संसारके प्राणियोंके दुःख पाया जाता है। समुदयका अर्थ है दुःखके कारण। क्या क्या उपाय, क्या क्या वृत्तियाँ दुःखके कारण हैं उन दुःखोंका नाम है समुदय। निरोध का अर्थ है दुःखनिवृत्ति। दुःख जिनसे दूर हो जाय उनको कहते हैं दुःख निवृत्ति अथवा निरोगता। और मार्ग कहलाते हैं दुःख निवृत्तिके उपाय। जिन उपायोंमें चल-कर दुःखोंकी निवृत्ति हो जाय वे मार्ग कहलाते हैं। ये चार आर्य सत्य कहे जाते हैं। तो जो योगी हैं, जिनको प्रत्यक्षज्ञान हो गया है उनको इन चार आर्यसत्योंका स्पष्ट परिचय है। तो उसके लिए यह उदाहरण दिया है कि देखो जब एक कामकी भावना से सामने खड़ी हुई स्त्री नजर आती है, शोकसे उपद्रवित हुए पुरुषको जिसका वियोग हुआ वह सामने खड़ा नजर आता। जो डर गया हो पुरुष जिससे डरा हो उसकी शकल सामने नजर आती है। स्वप्नमें दिखी हुई बात सामने नजर आती है, सो जब खोटी भावनासे भी कोई वस्तु सामने उपस्थित हुई सी दिखती है, तब फिर श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनासे उत्पन्न हुए योगियोंके प्रत्यक्षमें ये चार आर्य सत्य क्यों न स्पष्ट आ जायेंगे। तो योगियोंके प्रत्यक्षमें ये चार आर्यसत्य स्पष्ट नजर आते हैं, इसके लिए उदाहरण बनाइये उस श्लोकको। तो इस पद्यका अर्थ हम इस तरह करेंगे क्योंकि भावनाकी उत्कृष्टतासे प्रत्यक्ष ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। उसमें स्पष्ट ज्ञानका जनक कौन है? इसके लिए उदाहरण दिया है कि देखो! स्पष्ट ज्ञानकी जनक भावना है। जैसे कि सामने स्त्री या इष्ट आदिक नहीं खड़ा लेकिन काम और शोककी भावनासे ही यह खड़ा नजर आता है। इस तरह हम इन सब श्लोक कथित कामादिकको दृष्टान्तरूपसे रखते हैं। दूसरी बात यह है कि श्रुतमयी और चिन्तामयी भावना वाला ज्ञान अवस्तुको विषय नहीं करता, क्योंकि उसमें तत्त्व प्राप्य है। किसी

ने कोई वाक्य सुना और सुनकर उसके अर्थका ज्ञान हुआ और उससे फिर किसी पदार्थका चिन्तन किया तो उस चिन्तनमे कोई चीज प्राप्त तो हुई। तो जहाँ कोई वस्तु प्राप्त हो सकती है उसे अवस्तु कैसे कह सकते हैं?

निर्णायक ज्ञानमें वस्तुविषयत्वकी क्षणिकवादियों द्वारा सिद्धि—देखिये! श्रुत तो होता है परार्थानुमानरूप और चिन्ता होती है स्वार्थानुमानरूप। क्षणिकसिद्धान्तमे जितना जो कुछ भी ज्ञान है और उस ज्ञानमे यदि कोई निर्णय पडा है तो वह सारा अनुमान ज्ञान कहलाता है। प्रत्यक्ष ज्ञानमें निर्णय नही बसा करता किन्तु एक सम्वेदन मात्र है। तो जितने भी निर्णायक ज्ञान हैं वे सब अनुमान ज्ञान हैं वे दो प्रकारके होते हैं स्वार्थानुमान और परार्थानुमान तो परार्थानुमान साधक त्रिरूप लिंगके प्रकाशक वचन भी श्रुत कहलाते हैं। तब अनुमानमें जो साधन बताया करते हैं उनमें तीनरूप रहा करते हैं। १पक्षवृत्ति, २समक्षवृत्ति और ३विपक्षव्यावृत्त। तो ऐसे तीनरूप जिसमे रह सकते हैं ऐसे साधनके प्रकाश करने वाले वचनका नाम है श्रुत और स्वार्थानुमानरूप त्रिरूप लिङ्गके ज्ञानको चिन्ता कहते हैं। जैसे किसीने कहा कि इस पर्वतमे अग्नि है धूम होनेसे तो यह बात कोई किसीको समझानेके लिए कहता है तो जब वचनोसे कहा तो वह परार्थानुमान है, और एक पुरुष पर्वतमें धूम देखकर अग्निका ज्ञान करता है बोलता कुछ नहीं है उसे भी भीतर एक साध्यका ज्ञान हुआ तो वह कहलाता है स्वार्थानुमान। तो अपने लिए जानकारी बनाना स्वार्थानुमान है और दूसरेके लिए अनुमानकी बात कहना परार्थानुमान है। परार्थानुमानरूप त्रिरूप लिङ्गके ज्ञानको श्रुत कहते हैं और स्वार्थानुमानरूप त्रिरूपलिङ्ग ज्ञानको चिन्ता कहते हैं। सो इन दोनो भावना ज्ञानोंका विषय दो प्रकारका है एक प्राप्य और दूसरा आलम्बनीय। प्राप्यका अर्थ है कि जिसे जाना वह चीज भी मिल जाय। और, आलम्बनका अर्थ है कि जिसे जाना वह आलम्बन मात्र है, विषयमात्र है, प्राप्त नहीं हो रही। तो देखो! किसी ज्ञानमे तो प्राप्य विषय होना और किसी ज्ञानमें आलम्बनीय विषय होना और आलम्बनीय भी होना ये दोनो बातें होती है। जैसे जो कामसे पीडित पुरुष है उसको सामने स्त्री दिखे तो वह आलम्बनीय रहा। कही स्त्री प्राप्त तो नही हुई। यो कही भावनाज्ञानका विषय आलम्बन मात्र रहता है कही भावनाज्ञानका विषय प्राप्य है। जैसे पानी पीना है तो पानीको जाना भी, उठाया भी पिया भी। यो किसी भावनाज्ञानमें दोनो प्रकारका विषय बनता रहता है। तो उनमे जो आलम्बनीय साध्य समाया है, जो कुछ विषयभूत हुआ है वह अवस्तु है तो आलम्बनीय विषयकी अपेक्षासे तो उसे कह लीजिए कि वह अवस्तु विषयक ज्ञान है। फिर भी प्राप्यलक्षणकी अपेक्षासे उसे व्यवस्थित किया जाय कि वह वस्तु विषयक है अर्थात् वहाँ वस्तु पायी गई है। देखिये! स्वय क्षणिकवादियोने अपने सिद्धान्तमें कहा है कि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोमें ही जो प्रमाणता है वह वस्तु विषयक है। जैसे प्रत्यक्षकी

प्रमाणता वस्तुविषयक है, उसी प्रकार अनुमानमें भी प्रमाणता वस्तुविषयक है। अर्थात् वहाँ भी विषय प्राप्त है। और, भी स्पष्ट समझ लीजिए कि जिस तरह प्रत्यक्ष से पदार्थको जानकर उसकी प्राप्तिके लिए प्रवृत्त हुए पुरुषको अर्थक्रियामें कोई विसम्वाद नहीं होता इसीलिए ना, वह प्रत्यक्षज्ञान अर्थ क्रियाकारी है और स्वलक्षणरूप वस्तुका विषय करने वाला है, तभी वह प्राप्त कहलाता है याने प्रत्यक्षमें पदार्थको जानकर प्रवृत्ति करने वाले पुरुष अर्थक्रियामें कोई विवाद नहीं उठाते जिस प्यास लगी है उसे सामने तालाब दीखा तो देखकर एकदम तालाबकी ओर बढ़ जाता है और पानी भरता है, पी लेता है। तो प्रत्यक्षसे जानी हुई बातमें अर्थक्रिया करनेमें कोई सकोच नहीं करता इसी तरह परार्थानुमान और स्वार्थानुमानमें भी पदार्थको जानकर उनमें जो प्रवृत्ति करने वाले पुरुष हैं उनको भी अर्थक्रियामें कोई विवाद नहीं होता इसी कारण वह अनुमान ज्ञान भी अर्थक्रियाकारी माना गया है और अपनी योग्यतामें चार आर्य सत्योंको विषय करने वाला भी माना गया है।

प्रत्यक्षकी तरह अनुमानमें भी प्राप्तार्थविषयत्व होनेसे प्रमाणत्वका क्षणिकवादियों द्वारा समर्थन—अब यहाँ देख लीजिए कि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंमें ही प्राप्य वस्तुकी अपेक्षा प्रमाणता सिद्ध है। जैसे प्रत्यक्षके विषयभूत पदार्थका सद्भाव है और प्राप्य होता है उसी प्रकार अनुमानके विषयभूत अर्थका भी सद्भाव है, वह प्राप्य है, इसकी पुष्टिमें सिद्धान्तमें भी कहा गया है—

अर्थस्यासम्भवेऽभावात्प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्॥

इस श्लोकका अर्थ है कि पदार्थके अभावमें प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता इस कारण प्रत्यक्षज्ञानमें प्रमाणता है कि जो ज्ञानमें जाने सो ही पदार्थ प्राप्य हो गया। इसी तरह साध्यके अभावमें इसका त्रिरूप लिङ्ग नहीं होता। तो यों यह साधन प्रतिबद्ध स्वभाव वाला है याने नियन्त्रित हैं, साध्यके साथ अविनाभावी है, ऐसा वह साधन अनुमानमें कारण है सो उसके होनेपर ही अनुमान उत्पन्न होता है और ऐसे साधनके न होनेपर अनुमान उत्पन्न नहीं होता। तो देखिये कि अनुमानज्ञानमें भी प्रमाणता आई। क्योंकि जैसे पदार्थके अभावमें प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता ऐसे ही प्रतिबद्ध स्वभाव वाले साधनके अभावमें प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता। यों प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही एक समान हैं- प्रमाण हैं तो इस प्रमाणवाक्यसे भी यह सिद्ध होता है कि श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनासे उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी पदार्थको विषय करता है। यों उत्कृष्टताको प्राप्त श्रुतमयी और चिंतामयी भावनाज्ञानसे चार आर्य सत्योंका ज्ञान हो जाता है और वह स्पष्ट निर्दोष होता है। ऐसा माननेमें किसी भी प्रकारका विरोध

नहीं है, इस कारण सुगतको सर्वज्ञ मानना ही चाहिए। जैसे कि सुगत परम वीतराग है वहाँ तृष्णाका सर्वथा अभाव है ऐसे ही यहाँ सर्वज्ञता भी पूर्ण है।

सुगत शब्दके अर्थसे भी सुगतज्ञानकी सर्वज्ञता व वीतरागताकी पुष्टि का प्रयास—सुगतका अर्थ भी देखिये! क्या है? कुछ निरुक्तिमे भी सुगतकी विशेषता समझमें आयगी। सुगतका अर्थ है जो सु कहो भली प्रकारसे पूर्णताको गत मायने प्राप्त हो उसे सुगत कहते हैं। जैसे कहते हैं सु पूर्ण कलश तो सुपूर्णका क्या अर्थ है? सम्पूर्ण रूपसे भरा हुआ कलश। ऐसे ही सुगतका अर्थ है—सम्पूर्ण रूपसे प्राप्त हुआ पुरुष। तो सु शब्द यहाँ सम्पूर्ण शब्दका वाचक है। तो सुगतका अर्थ स्पष्ट हो गया कि जो सम्पूर्ण चार आर्य सत्वोंका साक्षात् ज्ञान कर लेता है उसे सुगत कहते हैं। सुगतका दूसरा भी अर्थ सुनो! सु का अर्थ है शोभाको, गतका अर्थ है प्राप्त—जो शोभाको प्राप्त हो उसे सुगत कहते हैं। जैसे स्वरूप। तो वहाँ स्वरूपका अर्थ क्या है? सु मायने तो शोभारूप जिसका है उसे स्वरूप कहते हैं। तो जिसका शोभन रूप हो उसका नाम सुगत है। तो सुगत भगवानका शोभनरूप है ही। यथार्थतया जहाँ अविद्या और तृष्णा न रही, ऐसे ज्ञान सतानका शोभन कहा जाता है, तो सुगत अशोभनीय अविद्या और तृष्णासे रहित है। इस कारण वह शोभनको अर्थात् शुद्ध ज्ञान संतानमे प्राप्त है इसलिए वह सुगत है। इस सुगत शब्दकी निरुक्तिमे यह कहा है कि सुगत निराश्रव चित्तसतान है। जितने जीव हैं वे सब एक क्षणके विचारमात्र हैं। दूसरे क्षणमे जो विचार होता है वह दूसरा जीव है ऐसा क्षणिकसिद्धान्तमें माना गया है। तो ऐसा विचार लगातार होता रहता है जिसमे इसे सतान कहते हैं। तो जैसे चित्त सतानमे अविद्या न रही, जो चित्त सतान निराश्रव हो गया ऐसे चित्त सतानको जो प्राप्त हैं उसका नाम सुगत है। अब सुगतका तीसरा अर्थ सुनो! सु मायने अच्छी तरह गत मायने चला गया जो अच्छी तरह चला गया याने फिर लौटकर न आये उसे सुगत कहते हैं। जैसे कहते हैं सुनष्ट ज्वर, यह ज्वर सुनष्ट हो गया भली प्रकार नष्ट हो गया, अब आगे लौटकर न आयगा। तो इसी तरह जो सुगतपनेको प्राप्त है अर्थात् जो पुनः लौटकर नही आता, अविद्या और तृष्णासे व्याप्त चित्त जिसका न हो, सदा जो चित्तसतान निराश्रव बना है उसे कहते हैं सुगत!

निरालम्बना कृपाके परिणाममे विवक्षाके अभावमे भी सुगतके उपदेशकत्वकी पुष्टिका प्रयास—प्रमाणवार्तिकमे लिखा भी है कि तिष्ठन्त्येव पराधीना एषां तु महती कृपा। सुगतोंकी महान कृपायें दूसरोके लिए हैं अथवा कहो पराधीन हैं। ऐसे सुगतोंकी महान कृपायें सदा ठहरती हैं। अब यहाँ देखिये! कि कृपायें तीन तरहकी होती हैं? सत्वावलम्बना, धर्मावलम्बना और निरालम्बना। याने जो किन्हीं पुरुषोंका आलम्बन लेकर होने वाली कृपा है उसे सत्त्वावलम्बन कहते हैं। जो पुरु

इसी घरँरहमे कृपा की जाती है वह सत्त्वावलम्बना कृपा है। दूसरी कृपा है धर्मावलम्बना याने धर्मकी अपेक्षासे होने वाली जो कृपा है उसे धर्मावलम्बना कहते हैं। जैसे साधु सन्यासियोमे जो कृपा की जाती है वह धर्मावलम्बना कृपा है। तीसरी है निरालम्बना कृपा। याने सत्त्व और धर्मादिक किसीकी भी अपेक्षासे जो नहीं होती अर्थात् अत्यन्त रागनिरपेक्ष है। ऐसी कृपाका नाम निरालम्बना कृपा है। जैसे कोई मेढक पत्थरके टुकडोसे दबा है तो उस मेढकका उद्धार करनेमें जो कृपा बनती है वह निरालम्बना कृपा है। इन तीन तरहकी कृपाग्रोमें ऐसा अन्तर जानना चाहिए कि जहाँ मोह राग मिलकर कृपा बनती है, अपने इष्ट बन्धु जनोंपर कृपा आती है वह तो सत्त्वावलम्बना है और साधु सन्यासी आदिकको निरखकर उनके दुःख निवृत्त करने की जो कृपा होती है वह है धर्मालम्बना, लेकिन जिससे राग आदिक कुछ नहीं हैं सामान्यरूपसे जिस किसी भी जीवकी दया होना यह निरालम्बना कृपा है। तो सुगतो की कृपा निरालम्बना होती है। निरालम्बना कृपा सबसे महान कृपा कहलाती है। इसमे सत्त्व और धर्म दोनोंकी अपेक्षा नहीं रहती। तो निरालम्बना कृपा स्थिर कृपा होती है और किसी मोह रागवश होने वाली कृपा अस्थिर है या किन्हीं इष्ट धर्मात्माग्रोपर की जाने वाली कृपा अस्थिर है, किन्तु एक साधारणतया जिस किसी जीव पर कृपा की जाय तो ऐसी कृपा स्थिर हुआ करती है। तो सुगतकी कृपाका कभी नाश नहीं होता सदा जीवोद्धारमयी कृपा बनी रहती है, क्योंकि सुगत जितने भी हुआ करते हैं वे सभी धर्मोपदेश द्वारा ससारका उपकार करनेमें सदा तत्पर रहते हैं और जगत अथवा लोक या जीव सब अनन्त हैं तब यहाँ इन समस्त अनन्त जीवोका हित करनेके लिए बुद्ध बनू, इस तरहकी भावनासे सुगतोंको एक धर्मविशेषकी प्राप्ति हुई, जिससे कि तीर्थकी प्रवृत्ति बनेगी। तो जिन सुगतोको जगतके उपकारकी भावनासे धर्मविशेष प्राप्त हुआ है उन सुगतोंका विवक्षाके अभावमें भी धर्मोपदेश होता है याने इच्छा नहीं है उनके फिर भी धर्मोपदेश चलता है। यही कारण है कि बुद्धकी वाणी की प्रवृत्ति धर्मोपदेशसे हुई। बुद्ध जो है निर्विकल्प, समस्त कल्पना जालोसे रहित और उनके मोक्षमार्गका उपदेश करने वाली वाणी कैसे बनी ? तो उत्तर है कि उन्होंने यह भावना भायी थी कि मैं विश्वका हित करनेके लिए बुद्ध होऊ। इसमें जो धर्मविशेषका लाभ हुआ उस धर्मविशेषसे उपदेश करनेमे प्रवृत्ति बनती है। इस तरह सुगत ही मोक्षमार्गका प्रतिपादक है, यह भली प्रकार व्यवस्थित होता है, वह मोक्ष का प्रतिपादक है, क्योंकि विश्वतत्त्वज्ञ है। यहाँ साधन है सर्वज्ञता और साध्य है मोक्ष मार्गका प्रतिपादक होना। यह सर्वज्ञ है, क्योंकि सम्पूर्णतया तृष्णारहित हो गया है। इस प्रकार क्षणिकवादियोंमें जो एक सौत्रान्तिक मत वाले बुद्ध हैं उनका यह कथन है। सौत्रान्तिकका मत यह है कि वे बाह्य पदार्थ परमाणु आदिकको मानते हैं और उनका ज्ञान करनेसे सुगतको सर्वज्ञ कहा है और सर्वज्ञ होनेसे वह मोक्षमार्गका प्रणेता है। इसीलिए सौत्रान्तिक अपना यहाँ पक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

शङ्काकार द्वारा प्रस्तुत वस्तुस्वरूपकी सिद्धिके अभावमे तद्विषयक ज्ञानमे सर्वज्ञताकी असिद्धि बताते हुए उक्त शङ्काओका समाधान– सौत्रातिको के उक्त कथनका समाधान करते हैं कि जब उनके द्वारा मानी हुई तत्त्वव्यवस्था ही सम्भव नही बनती फिर उस तत्त्वका जाननहार सुगत है और वह विश्वतत्त्वज्ञ है, यथार्थ ज्ञाता है यह बात सिद्ध कैसे हो सकती है ? और, जब वह विश्वतत्त्वज्ञ सिद्ध नही होता तो मोक्षमार्गका प्रतिपादक भी उसे कैसे कहा जा सकता है ? यह बात तो सब प्रमाण विरुद्ध हैं। जब मूल तत्त्व ही नही सिद्ध हो रहा तब फिर उसके ऊपर शाखा प्रशाखायें बनाना कैसे सङ्गत है ? उन तत्त्वोका ज्ञाता और मोक्षमार्गका प्रतिपादक सुगत है यह कोई व्यवस्था ही नही बनती। देखये ! सौत्रातिकोका अभिमत है कि तत्त्व है बाह्य अर्थ परमाणु। परमाणु जो कि प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है। तो ऐसा प्रतिक्षण विनाशीक बाह्य अर्थ परमाणु न तो प्रत्यक्षसे किसीको अनुभवमे आया है और न अन्य किसी प्रकार ज्ञानमे अनुभव आता है, केवल स्थिर स्थूल और, साधारण आकार वाले ये घट पट आदिक पदार्थ ही प्रत्यक्ष ज्ञानमे प्रतिभासित होते हैं। इन शङ्काकारोका अभिमत है कि जो दिख रहा है उस ही मय घडा चौकी आदिक ये सब झूठे हैं। केवल परमाणु परमाणु ही वास्तविक चीज है। जो कि प्रतिक्षण नष्ट होता है। सो कहा तो यो जाता है और अनुभवमें आता है और ही भांति स्थिर स्थूल साधारण आकार वाले पदार्थ तो प्रत्यक्षसे प्रतीत होते हैं, किन्तु प्रतिक्षण विनाशीक परमाणु ये कुछ भी प्रतीत नही होते। अब यहाँ सौत्रातिक कहते हैं कि देखिये ! प्रत्यक्षज्ञानमे भी जो कुछ प्रतिभास हो रहा है सो वे सब अत्यन्त निकटवर्ती और परस्परके ससर्गसे रहित परमाणु ही प्रत्यक्ष ज्ञानमें विदित हो रहे हैं। वस्तुत. तो यह ही है और ऐसा प्रत्यक्षज्ञानमें जाननेके बाद जो कल्पना उत्पन्न होती है उस कल्पनामे स्थिर स्थूल सामान्याकार दिखाई देता है, यह कल्पना वास्तविक नही है, याने जिस प्रकारसे पदार्थ है उस प्रकार बताने वाली कल्पना नहीं है। पदार्थ तो है भिन्न–भिन्न परमाणुमात्र और प्रतिक्षण विनाशीक और कल्पनामे दिखाई दे रहा है स्थिर, स्थूल और ऐसे मोटे आकार वाला, तो यह कल्पना वास्तविक नही है। और इस कल्पनामे जो आकार विदित हो रहा है वह भी वास्तविक नहीं है वस्तुमे विद्यमान नहीं है, किन्तु उस कल्पनामे सामान्याकार आरोपित होता है यह केवल कल्पनासे ही समझा जा रहा है, वास्तविक चीज नहीं है और इसी कारण नाम, रूप, वेदना, सस्कार, विज्ञान, ये सभीके सभी काल्पनिक कहे जाते हैं। तो इस तरह यही सिद्ध हो गया कि बाह्य अर्थ यह परमाणु ही वास्तविक तत्त्व है और प्रतिक्षण विनाशीक है और वह परमाणु अत्यन्त निकटवर्ती है। सम्बन्ध तो उनमे परस्पर नही है पर अत्यन्त निकट रहनेके कारण प्रतिभास हो रहा है ऐसा कि ये सब पदार्थ इतने लम्बे चौडे हैं। उक्त शङ्काकारके आशयके समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकारको यही तो बताना चाहिये कि निरन्तर क्षणिक परमाणु जिनको अत्यन्त निकटवर्ती बताया जा रहा है तो उनकी

निकटवर्तिता है क्या ? याने अनेक परमाणु निकटवर्ती हो रहे हैं सो उस निकटवर्ती का अर्थ क्या है ?

असम्बद्ध परमाणुओंमें अत्यन्त निकटताकी अनुपपत्ति—शङ्काकार कहता है कि निकटवर्तीका अर्थ यह है कि उन परमाणुओंके बीचमें व्यवधान न होना, एक परमाणुके पास दूसरा परमाणु है, उन दोनोंके बीच अन्तर न रहे उसका नाम है निकटवर्ती होना। इसके उत्तरमें कहते हैं कि अभी जो यह बताया गया कि दो परमाणुओंके बीचमें व्यवधान नहीं रहता तो व्यवधान नहीं रहता इसका अर्थ यह है कि न तो कोई दूसरा सजातीय पदार्थ रहता और न विजातीय। उन दोनों परमाणुओंमें व्यवधान होना तब कहलायगा जब कि कोई तीसरी चीज आ जाय तो उसका व्यवधान कहलायगा। सो व्यवधान नहीं, सो इसका अर्थ है कि उन परमाणुओंके बीच न कोई सजातीय व्यवधायक है और न कोई विजातीय व्यवधायक है। व्यवधायकका अर्थ है व्यवधान करने वाला याने खुद मौजूद होकर उन दो परमाणुओंको अन्तरमें रखा देने वाला, यदि ऐसा व्यवधान न हो तो अर्थ यह रहा कि व्यवधान करने वाले का अभाव है और उसीका ही नाम संसर्ग है, ऐसा मालूम पड़ता है। तो यहाँ यह बताओ कि वह संसर्ग परमाणुओंमें सम्पूर्णपनेसे सम्भव है या एकदेशरूपसे सम्भव है? दो परमाणुओंका जो यह संसर्ग हुआ है याने बीचमें कुछ भी व्यवधान न रहे मिल गए, तो वह मिलना सर्वरूपसे है या एक देशरूपसे है ? यदि कहा जाय कि यह संसर्ग सर्व देशरूपसे है तब तो एक परमाणु ही रहेगा उसका मोटा रूप नहीं बन सकता, स्कंध नहीं बन सकता, क्योंकि एक परमाणुमें दूसरे परमाणुका संसर्ग सर्वरूपसे होगया याने जितनेमें वह परमाणु है उतनेमें ही पूरे रूपसे सम्बन्ध हुआ है तो अर्थ यह हुआ कि दूसरा परमाणु भी उस परमाणुके पेटमें समा गया। तो सर्वरूपसे संसर्ग माननेपर एक परमाणु ही प्रचय कहलायगा। अनेक परमाणु भी मिल जायें तो भी वे सब सर्वरूपसे मिले तो एक ही परमाणु मात्र रहा। तो यों परमाणुओंका परस्पर संसर्ग सर्वरूपसे तो माना न जायगा और एक देशसे भी अगर उन परमाणुओं संसर्ग मानते हो तो इसका अर्थ यह होगा कि परमाणुओंके आनेकी दिशायें ६ हैं। एक परमाणु कहीं पड़ा है तो उसके पास कोई परमाणु पूर्वसे आया, कोई पश्चिमसे आया, कोई उत्तरसे आया कोई दक्षिणसे आया तथा कोई नीचे से आया कोई ऊपरसे आया। तो एक परमाणुसे सम्बन्ध बनाने वाले ६ दिशाओंसे आये हुए ६ परमाणु हुए। तो यो छहों दिशाओंसे ६ परमाणुओं द्वारा एक परमाणुके साथ सम्बन्ध बना, ऐसी बात सिद्ध होनेपर परमाणुमें ६ अंश साबित हुए, क्योंकि ६ ओरसे ६ परमाणुओंका सम्बन्ध बना। तो यो परमाणु अंशसहित हो गया। तो वह अब निरंश न बनेगा। तो स्वयं सिद्धान्तका विरोध आ गया। परमाणुओंको शङ्काकारने प्रतिक्षण विनीशीक और निरंश माना है लेकिन अब यहाँ अंश सिद्ध हो गया।

परमाणुके विषयमें अत्यन्त निकटवर्तिता व असम्बद्धताकी मान्यतामें परस्पर विरोध—इस प्रसङ्गमे सौत्रान्तिक कहते हैं कि इसी कारण तो हम परमाणुओंको असम्बद्ध प्रत्यक्षसे जाना जाता है, ऐसा मानते हैं याने प्रत्यक्षसे परमाणु सम्बन्धरहित ही उपलब्ध होता है। इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि जब प्रत्यक्षसे परमाणु सम्बन्धरहित उपलब्ध होता है फिर उन्हे अत्यन्त निकटवर्ती कैसे कहा जा रहा है? क्योंकि इन दोनो बातोंका परस्परमे विरोध है। जो सम्बन्धरहित है वह निकटवर्ती कैसे हो सकता है? जैसे हिमालय और विन्ध्याचल ये असम्बद्ध हैं तो ये निकटवर्ती भी कैसे? जो असम्बद्ध है वह तो निकटवर्ती नही कहा जा सकता। जैसे एक अगुलीमें ही अनन्त परमाणु हैं तो उन्हे असम्बद्ध कैसे कहा जायगा? सौत्रान्तिक कहते हैं कि यहाँ बात यो समझना चाहिए कि उन परमाणुओंमें दूरदेशका व्यवधान नही है अर्थात् वे दूर देशमे रह रहे हैं, इस कारण उन्हें अत्यन्त निकटवर्ती कहा जाता है। इस आरेकाका समाधान करते हुए बताया जा रहा है कि जब निकटवर्तीका अर्थ यह लगाया कि दूरदेशका व्यवधान नही होता तो इसका दूसरा अर्थ यह ही तो रहा कि समीप देशका व्यवधान है सो समीप देशका व्यवधान माननेकी हालतमे यह तो बतलाना ही पड़ेगा कि समीप देशरूप व्यवधान करने वाली वस्तु व्यवधान जिनका हो रहा है उन परमाणुओंसे मिला हुआ है या व्यवहित है? अन्तर सहित है? याने वह परमाणुओंसे सम्बद्ध है या व्यवहित है? सम्बन्धित तो कहा नही जा सकता क्योंकि सम्बन्ध माननेपर फिर ये दोनो विकल्प उपस्थित होते हैं कि वह सम्बन्ध सर्वदेशसे है या एक देशमे है? सर्वदेशसे माननेपर एकरूप हो जायगा। एकदेशसे माननेपर साथ परमाणु बन जायगा। तो सम्बद्ध तो बता नही सकते और उस समीप देशको व्यवहित भी नही कह सकते क्योंकि उसे व्यवहित कहनेपर फिर अन्य व्यवधानकी कल्पना करनी पड़ेगी। यदि अन्य व्यवधानमें भी सम्बद्ध और असम्बद्धके विकल्प उठेंगे तो ऐसी स्थितिमे यह तत्त्व सिद्ध नहीं हो सकता कि अत्यन्त निकटवर्ती असम्बद्धरूप बाह्य परमाणु तत्त्व है याने जो मूल तत्त्व माना है कि है क्या पदार्थ जगतमें? तो उसका उत्तर दिया करते है शङ्काकार कि बस परमाणु—परमाणु ही बाह्य पदार्थ है, तत्त्व है और वह परस्पर असम्बद्ध है, लेकिन अत्यन्त निकटवर्ती बन जाते है। तो जब परमाणु ही सिद्ध नही होता तो प्रत्यक्षका क्या विषय बनाया जाय?

क्षणिकवादमें बाह्यार्थ परमाणु प्रत्यक्ष और अनुमानका विषय न हो सकनेसे ज्ञानकी अभूतार्थ विषयताकी सिद्धि शङ्काकार द्वारा यह पक्ष बनाया गया था कि सुगतके प्रत्यक्षके विषयभूत सब पदार्थ हैं तो वे पदार्थ ही सम्भव नही हैं तो प्रत्यक्षका विषय क्या बनाया जाय? और, जब वे प्रत्यक्षके विषय नही हैं तो परमाणुरूप कार्यलिङ्ग हेतु अथवा स्वभावलिङ्ग हेतु नहीं बन सकता है। जैसे कि परमाणु साध्य न बन सके तो परमाणु हेतु भी न बन सकेगा, कार्य भी न बन सकेगा

स्वभाव भी न बन सकेगा। तो यो न साध्य रहा न साधन। तो जो कार्यरूप परमाणु हैं उन्हें तो साधन बताया जाता है और जो कारणरूप परमाणु हैं उन्हें साध्य बताया जाता है। तो जब साध्य साधन दोनों प्रसिद्ध हो गये तो कार्य कारणमें कार्य कारण भाव सिद्ध नहीं किया जा सकता और व्याप्य व्यापकमें व्याप्य व्यापक भाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक जब इनमें घटित नहीं है तो कार्य कारण भाव और व्याप्य व्यापक भाव कैसे बताया जा सकता है? तो अब देखिये! कि जब कार्य कारण भाव न बना, व्याप्य व्यापक भाव न बना तो स्वार्थानुमान भी नहीं बन सकता, याने कार्यको देखकर कारणका ज्ञान करना ऐसा अनुमान नहीं बन सकता। तो स्वार्थानुमान न बना, क्योंकि स्वार्थानुमान तब ही बनता था कि साधन तो देखा जाय और साध्य साधनके सम्बन्धका स्मरण बने तो जब सम्बन्ध ही कुछ न रहा तो अनुमान न बन सका और जब स्वार्थानुमान न बना तो परार्थानुमान भी नहीं बन सकता। याने न चिन्ता सिद्ध होती न श्रुत, तो श्रुतमयी और चिन्तामयी भावना जब बनी नहीं तब किसका उत्कर्ष प्रकर्ष बताया जाय जिससे योगि प्रत्यक्ष सिद्ध किया जाय? साराश यह है कि जो शङ्काकारका यह मूल कथन था कि योगि प्रत्यक्ष पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनाकी उत्कृष्टतासे उत्पन्न होती है तो लो बाह्य पदार्थ भी सिद्ध नहीं हुए और श्रुतमयी भावना और चिन्तामयी भावना भी सिद्ध न हुई तब योगि प्रत्यक्ष कैसे बना? तो इससे यह सिद्ध हुआ कि सुगतके वास्तविकमें सर्वज्ञता नहीं है। जब सर्वज्ञता नहीं है तब फिर शब्दकी निरुक्ति बना बनाकर श्रृङ्गार बनाना तो असगत ही है सुगतके जो तीन अर्थ किए थे—पहिला अर्थ सम्पूर्णताको प्राप्त हुआ, दूसरा अर्थ है सु अर्थात् शोभाको प्राप्त हुआ, शोभन हुई वीतरागता, उसका प्राप्त होना सुगत है। तीसरा अर्थ क्या किया कि सु का अर्थ भली प्रकार गत मायने चला गया, याने जिसका जन्म मरण न हो उसे सुगत कहते हैं। सस्कार जिनका नष्ट हो गया इस प्रकार निरुक्ति करके अर्थका श्रृङ्गार करना ये सब असङ्गत बातें हैं। तथा इन निरुक्तियोंको बताकर समस्त अविद्या और तृष्णाके नाशसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान बताना वीतरागता सिद्ध करके उसे विश्वका हितैषी बताना प्रमाणभूत बताना, सर्वथा स्थित बताना, कल्पना ज्ञानसे रहित कहना धर्म-विशेषके कारण शिष्यजनोंके लिए उनकी वाणी बताना ये सभी कल्पनाकी बातें हो गईं। तो देखिये! जब माना गया बाह्य अर्थ परमाणु ही सिद्ध नहीं हो रहा तब फिर उनका ज्ञाता कैसे सिद्ध हो? तो सौत्रान्तिकके मतमें विचारे गए वास्तविक अर्थकी व्यवस्था ही नहीं बनती, इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि सुगत भी मोक्षमार्ग का प्रतिपादक नहीं है, क्योंकि उसके परमार्थतः सर्वज्ञताका अभाव है। जैसे कि कपिल आदिक।

ज्ञानमात्र अर्थकी व्यवस्थाके अभावमें सर्वज्ञताकी असिद्धि—अब यहाँ

योगाचारके अभिप्राय वाले कहते हैं कि ठीक है, न रहा बाह्य अर्थ परमाणु वास्तविक तत्त्व, किन्तु वास्तविक तत्त्व तो हम ज्ञान परमाणुको मानते हैं और वह प्रतिक्षण नाशशील है, अर्थात् बाह्य परमाणु तत्त्व नही किन्तु ज्ञान परमाणु तत्त्व है। सौत्रांतिकोंके सिद्धान्तसे तो बाहरी परमाणु अचेतन जो कि सामने नजर आता है स्कधरूप में उनमे रहने वाला एक एक परमाणु जो निरन्तर असम्बद्ध है वह तत्त्व माना गया और योगाचारके सिद्धान्तसे जो कुछ ज्ञान बना, इकहरा ज्ञान, निरशज्ञान, वह ज्ञान परमाणु ही तत्त्व है। तो योगाचार सिद्ध कर रहे हैं कि ज्ञान परमाणु ही वास्तविक पदार्थ है। बाह्य परमाणु नहीं क्योकि बाह्य परमाणुओको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है। जैसे अवयवी पिण्डोको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है इसी तरह बाह्य परमाणुको भी सिद्ध करने वाला कोई परमाणु नहीं है। तो यो ज्ञान परमाणु ही तत्त्व है और ज्ञान परमाणुका ही ज्ञाता सुगत हैं और ऐसा वह सुगत मोक्षमार्गका प्रतिपादक सिद्ध होता है। उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि योगाचारों द्वारा माना गया ज्ञान परमाणु भी स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं है क्योंकि जो भी ज्ञान बनता है उस ज्ञानमे ज्ञान परमाणुका प्रतिभास नही होता, किन्तु प्रतिभासमें आता क्या है ? सुख दु खादिक अनेक पर्यायोमें रहने वाला अन्य आत्मा ही प्रतिभास मे आता है। सभी लोगोको अपने आपका यो प्रतिभास हो रहा है जैसा कि वे सुख दु खादिक पा रहे हैं। तो सुख दु.खादिक पर्यायोंमें रहने वाला आत्मा ही सबके प्रतिभासमें आता है, ज्ञान परमाणु किसीको भी प्रतिभासमे नहीं आ रहा है। इससे ज्ञान परमाणु वास्तविक तत्त्व नही सिद्ध होता। यहाँ शङ्काकार कहता है कि लोगोंको जो सुख दु.खादिकरूपसे अपना प्रतिभास हो रहा है वह अनादिकालकी अविद्याकी वासना के कारण हो रहा है। चू कि ऐसी ही भ्रान्त धारणा रखता आ रहा है जीव कि अविद्याकी वासनासे ऐसा मालूम होता है कि मे सुखी हू, दु.खी हू, यही मैं हू। जो सुख दु ख पा रहा हूं। तो ऐसा वह ज्ञान भ्रान्त ज्ञान है। वह सच्चा ज्ञान नहीं है। सच्चा तो ज्ञान परमाणु ही है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि शङ्काकारका यह कहना कि सुख दु खादिकरूपसे जो आत्माका प्रतिभास हो रहा है वह भ्रान्तज्ञान है, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योकि सुख दु'खादिकके अनुभवमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। भ्रान्त पुरुष तो वह कहलायगा जिसकी प्रमाणसे बाधा आये, किन्तु सभी जीवोको सुख दु'खादिक पर्यायोमें रहने वाले निज आत्माका सम्वेदन हो रहा है। उसमें किसी प्रकारकी बाधा ही नहीं है। तो जो अबाधित है उसे भ्रान्त कहा जाय और जिसका प्रतिभास ही नहीं हो रहा उसको तत्त्व बताया जाय तो यह विवेकशून्य बात है।

सुखदु:खादिकी असिद्धि करनेकी अशक्यता—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि देखिये ! सुखदु खोसे व्याप्त आत्माका सम्वेदन सिद्ध करनेमे बाधक प्रमाण है। भला बतलाये कोई कि जो यह कहा जा रहा है कि एक आत्मा क्रमवर्ती अनेक सुख

दु:खादिक पर्यायोंमें रह रहा है अथवा वह अपने सहभावी गुणोंमें रह रहा है क्रमवर्ती अनेक सुखदु:खादिक पर्यायोंको और सहभावी गुणोंका एक यह आत्मा क्या एक स्वभावसे व्याप्त करता है अथवा अनेक स्वभावसे व्याप्त करता है ? याने एक आत्माने सुखदु:खादिक अनेक पर्यायोंको धारण किया उन सुखदु:खादिकमें एक आत्मा व्याप गया तो वह इन अनेक पर्यायोंमें एक स्वभावसे व्यापा या अनेक स्वभावसे व्यापा ? यदि यह स्वीकार किया जाय कि एक स्वभावसे वह भूला तो ऐसा कहनेपर सुखदु:खादिक अनेक पर्यायोंमें एकपनेका प्रसङ्ग आयगा वह सब एक बन जायगा, क्योंकि एक स्वभावसे व्याप्त हुआ ना ! यदि कहो कि एक आत्मा सुखदु:खादिक विभिन्न पर्यायोंमे अनेक स्वभावसे व्यापा है तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि जब अनेक स्वभावमें व्यापा है तो वह अनेक कहलायगा, एक नहीं कहला सकता। तो यह बाधक प्रमाण मौजूद है इस कारण उसे बाध अबाधित नहीं कह सकते। योगाचारकी इस कारिकाका उत्तर देते हैं कि उक्त प्रकारसे विकल्प उठाकर सुखदु:खादिकके अनुभव और प्रतिभासमे बाधा आनेकी बात कहना असङ्गत है क्योंकि योगाचारोंने भी तो यह माना है कि एक ज्ञान वेद्याकार और वेदनाकार रूप है याने ज्ञानमें जो प्रतिभास आया वह तो कहलाया ज्ञेयाकार याने वेद्याकार और जो ज्ञान ज्ञानरूपसे बना हुआ है वह कहलाया वेदनाकार। तो एक ज्ञान वेदकाकार और वेद्याकार दोनो ही आकारको एक ज्ञान स्वभावसे व्याप्त करता है फिर भी एकता नहीं माना वे अनेक ही रहते हैं, तो जैसे वेद्याकार और वेदकाकार एक ज्ञानमें रहते हैं, एक ज्ञानस्वभावसे रहते हैं, तो यहाँ यदि योगाचार यह कहता है कि वेद्याकार और वेदनाकारोंकी एकरूपता ही है क्योंकि दोनोंमे ज्ञानरूप पाया जाता है तो यही उत्तर तो यहाँ है कि सुख ज्ञानादिकमे आत्मा एक ज्ञानस्वभावरूपसे ही व्याप रहा है इसलिए वे अनेक होकर भी एक आत्माके रूप हैं इसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं आता। यहाँ योगाचारी पूछते हैं कि यदि ज्ञान सुखदु:खादिकको एक आत्मा एक स्वभावसे व्याप रहा है तो फिर सुखदु:खादिक भिन्न आकारोंका प्रतिभास कैसे हो जाता है ? याने सुख और चीज है, आत्मा और चीज है, ये बातें फिर भिन्न-भिन्न ज्ञानमें आयेंगी। जबकि ज्ञानको एक आत्मस्वभाव ही मान लिया। इसका उत्तर यह ही है कि फिर वे योगाचार भी यह बतायें कि जब वेद्याकार और वेदनाकारका एक सम्वेदन एक ज्ञानरूपता ही है तो वहाँ भी भिन्न आकारका प्रतिभास कैसे हो गया ? याने यह वेद्याकार है यह वेदकाकार है इस प्रकारके भिन्न-भिन्न आकार भी कैसे सिद्ध किए जा सकते हैं ? यदि योगाचार कहें कि वेद्याकार और वेदकाकारकी वासना भिन्न है तो वासनाओंके भेदसे एक ज्ञानमे वेद्याकार और वेदकाकार भिन्न-भिन्न आकार बन जाते हैं। तो यही उत्तर यहाँ ले लो कि सुखदु:खादिक परिणमन भिन्न-भिन्न हैं, तो परिणमनोंके भेदसे एक ही आत्मामे सुखदु:खादिक भिन्न आकारोंका प्रतिभास हो जाता है।

वेद्याकार वेदकाकारकी अशक्यविवेचनताके कारण एक सवेदनरूपता

माननेकी भाँति सुखदु:खज्ञानादिक पर्यायोमे अशक्यविवेचनताके कारण एक आत्मरूपताकी सिद्धि—योगाचार कहते हैं कि सम्वेदन और उसमें रहने वाले वेद्याकारोके विषयमे हमारा यह अभिमत है कि वेद्य और वेदक आकारके प्रतिभास भिन्न होनेपर भी सम्वेदन तो एक ही है। वहाँ उन आकारोका उस ज्ञानसे विश्लेषण याने पृथक्करण नहीं किया जा सकता। चू कि उन वेदकाकार व वेद्याकारोकी अशक्य विवेचनता है इस कारण भले ही प्रतिभास भिन्न-भिन्न हो फिर भी एक सम्वेदन ही है। इसके उत्तरमे स्याद्वादी कहते हैं कि फिर तो जैसे वेद्याकारका प्रतिभास भिन्न होनेपर भी सम्वेदनकी दृष्टिसे एक है इसी तरह यह भी मान लीजिए कि सुख दु:ख आदिक अनेक आकारोका प्रतिभास होनेपर भी आत्मा एक है, क्योंकि सुख ज्ञानादिक जो आकार बने आत्मामे उन आकारोका आत्मासे विवेचन करना, अलग होना अशक्य है। इस तरह सुख दु:खादिक अनुभवरूप आत्मा है, ऐसा मान लीजिए, किन्तु ज्ञान परमाणु तत्त्व है यह न माना जा सकेगा। देखिये ! जिस प्रकार एक सम्वेदनमे वेद्य आदिक आकार कही दूसरे सम्वेदनको प्राप्त नहीं कराया जा सकता, वह सब वेद्याकार सम्वेदना है और इसी कारण आप उन्हें अशक्य विवेचन कहते हैं और इसी बलपर सम्वेदनकी एकता सिद्ध करते हैं। ठीक यही बात यहाँ घटित कर लीजिए कि आत्माके सुखादिकके आकार दूसरे आत्माको प्राप्त नहीं कराया जा सकता याने एक आत्मामे सुख दु:ख ज्ञान आदिक अनेक भाव होते है तो कहीं अनेक भाव होनेसे वे भाव अन्य-अन्य आत्मायें न बन जायेंगी। इसी कारण वह अशक्य विवेचन है। इस प्रकार इन अनेक पर्यायोमे आत्मा एक ही कैसे सिद्ध न हो सकेगा ? जैसा जो कुछ प्रतिभासमे आता है उसका वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए। जैसे वेद्यादिक आकार स्वरूप एक सम्वेदन रूपसे प्रतिभासित होता है तो उस सम्वेदनमे एकपनेका व्यवहार किया जाता है तो सुख ज्ञान आदिक अनेक आकारोंमें एक आत्मा रूपसे ही तो प्रतिभासित हो रहा है आत्मा। इस कारण उन सब पर्यायोमे एक आत्माका व्यवहार करना चाहिए। तो यो अन्तस्तत्त्व तो सुख आदिक अनेकरूप प्रतिभासित होने वाला आत्मा है। ज्ञान परमाणु नही है। ज्ञानपरमाणुरूप अन्तस्तत्त्व मानने वाले ये शङ्काकार यह बतायें कि वह सम्वेदन प्रचयरूप है या एक परमाणुरूप याने एक सवेदनमे जो अनेक वेद्याकार और वेदकाकार प्रतिभासित हुआ है, वह सम्वेदन क्या अनेक परमाणुओका समुदायरूप है या एक परमाणुरूप है ? समुदायरूप तो कह नही सकते। जैसे कि बाह्य अर्थ परमाणुओका समुदाय है मगर निरंशवादी मानते कहाँ हैं ? तो वहाँ तो समुदाय है फिर भी समुदाय सिद्ध नहीं किया जा सकता। लेकिन यहाँ तो ज्ञान परमाणुओंका समुदाय नही बनता। ज्ञानपरमाणुओके प्रचयका जब विचार किया जाय तो वह सम्भव नही होता। अथवा जैसे अर्थपरमाणुओका विचार किया गया था उनका ससर्ग क्या सर्वरूपसे होता या एकदेश रूपसे होता ? दोनो थीं। इस तरह विकल्प करके ज्ञानपरमाणुओंका प्रचय

भी असिद्ध होगा। यदि कहो कि वह सम्वेदन एक परमाणु रूप है तो ऐसा किसीको प्रतिभासमें भी नहीं आता। जैसे बाह्य अर्थका एक परमाणु किसीके प्रतिभासमे नहीं आता इसी प्रकार ज्ञान परमाणु भी किसीके प्रतिभासमे नही आता, तो ज्ञान परमाणु रूप सुगत समस्त सतानोंके ज्ञान परमाणुरूप जो दुःख आदिक चार सत्व हैं उनको वास्तवमें नहीं जानता। योगाचारोंके यहाँ जानने वाले हुए ज्ञान परमाणु और जानने में जो आये हैं वे हैं समस्त सतानोंके ज्ञान परमाणु क्योंकि ज्ञान परमाणुसे अतिरिक्त और कुछ भी तत्त्व माना नहीं जा रहा तो जो चार आर्य सत्य बताये हैं, दुःख सुखके कारण दुःखका निरोध और दुःखनिरोधका उपाय। ये चार आर्य सत्य उनके ज्ञानरूप हैं उनको भी वस्तुत ज्ञान परमाणुरूप सुगत नहीं जानते, क्योंकि अगर जानें तो वेद्यवेदकभावका द्वैत आ जायगा। जाननेवाला सुगत है और जाननेमें आये हुए अनेक ज्ञान परमाणु हैं इस कारणसे वे परमाप्त सर्वज्ञ नही हो सकते। जिनको कि मोक्ष मार्गका प्रतिपादक कहा जा रहा है, मोक्षमार्गके प्रतिपादकपनेको सिद्ध करने वाला जो साधन है सर्वज्ञत्व, वह जहाँ नहीं है, वहाँ मोक्षमार्गका प्रणेतापन भी नही है। अब यहाँ वेदकभावका द्वैत कल्पनासे मानते हैं। वास्तवमें वेद्यवेदकभावका द्वैत नही है, किन्तु वह सवृतिसे याने कल्पनासे है और कल्पनासे ही सुगत समस्त तत्वोंका ज्ञाता है तथा कल्पनासे ही सुगत मोक्षमार्गका प्रतिपादक है। परमार्थतः देखा जाय तो वह तो ज्ञान परमाणुरूप है और अपने ही स्वरूपका सम्वेदन करता है, वहाँ वेद्यवेदकभावका द्वैत नहीं है और परमार्थत वह सब तत्त्वोंका ज्ञाता बने और वह सर्वज्ञ कहाये सो बात नहीं और इसी प्रकार परमार्थतः मोक्षमार्गका प्रतिपादक नहीं, ये सब बातें सम्वृत्तिसे मानी जाती हैं, यह कथन भी कैसे सङ्गत होता, इसे कारिकामे कहते हैं।

संवृत्या विश्वतत्त्वज्ञः श्रेयोमार्गोपदेश्यपि।
बुद्धो वन्द्यो न तु स्वप्नस्ताद् नित्यज्ञचेष्टितम् ॥८५॥

कल्पनासे कल्पित विश्वतत्त्वज्ञ व श्रेयोमार्ग प्रणेतामे वन्द्यताका अनियम—सुगत कल्पनासे ही तो सर्वज्ञ है और कल्पनासे ही मोक्षमार्गका उपदेष्टा है। तो जब कल्पनासे ही उसकी ये विशेषतायें हैं अतएव सुगत वदनीय है, स्वप्न वदनीय नहीं, ऐसा कैसे विवेकी सिद्ध कर सकते हैं। जब कल्पना मात्रकी ही चीज है सुगतमे सर्वज्ञता हो और मोक्षमार्गका उपदेष्टा हो तो स्वप्नमें भी जब जो कुछ देखा जाता है वह भी कल्पनामात्रसे दिख रहा है। यदि कल्पनापनेकी अविशेषता सुगत और स्वप्न दोनोमें है तो उनमेंसे स्वप्न तो वदनीय नहीं होता और सुगत वंदनीय होता, यह भेद कैसे डाला गया? यहाँ शङ्काकार कहता है कि देखिये! यद्यपि सुगत और स्वप्नमें कल्पनाकी अविशेषता है, सुगत भी काल्पनिक है और स्वप्न भी काल्पनिक है फिर भी वदनीय सुगत ही है, क्योंकि वह भूत स्वभाव है भूत कहते हैं सत्यको।

वह वास्तविक है और किन्ही विपरीत प्रमाणो द्वारा बाधित नही होता तथा वह अर्थ क्रियाका कारण भी पड़ता है। वदना सुगतको किया जा रहा है आदिक अर्थक्रियाये भी देखी जाती हैं, इस कारणसे सुगत तो वदनीय है, किन्तु स्वप्न सम्वेदन वदनीय नही है। स्वप्नमे कुछ भी जाना जा रहा हो वह वद्यनीय नही है क्योकि वह सम्वृति से भी बाध्यमान है, इस कारण अभूतार्थ है और अर्थक्रियामे कारण नही है। सम्वृत्ति यद्यपि सुगत स्वप्न दोनोमे है फिर भी स्वप्न अन्य सम्वृतिसे बाध्यमान है अतः सुगत और स्वप्नकी अविशेषता बताकर सुगतकी वदनाका निराकरण करना ठीक नही है। इसके उत्तरमे कह रहे हैं कि जब काल्पनिक मान लिया सुगतको तो उसे भूत याने सत्य कैसे माना जा सकता है? सत्य और असत्यमें तो विरोध है। काल्पनिक असत्य होता है और भूतार्थ सत्य होता है। ये दोनो एक जगह एक साथ कैसे रह सकते हैं? सुगतको जब काल्पनिक स्वीकार कर लिया तो वह यथार्थ स्वभाव कैसे रहा? और यदि सत्य स्वभाव है तो उसे काल्पनिक कैसे कहा जा रहा? भूत सत्यको कहते हैं और साम्वृत मिथ्याको कहते हैं। सत्य और मिथ्या ये दोनो एक जगह एक साथ एक रूपमे कैसे रह सकते हैं? शङ्काकार कहता है कि सम्प्रति सत्यको भूत कहते हैं याने कल्पनामे जो सत्य हो उसका नाम भूत है। तो सुगतके सम्बन्धमे यद्यपि उपचारसे वे विशेषतायें है फिर भी याने सम्वृति होनेपर भी सत्य ही है। इसके उत्तरमे कहते हैं कि सुगत विपरीतसे अबाध्यमान नही है याने वहाँ बाधायें आती हैं। इसलिए स्वप्न सम्वेदनसे सुगतमे कुछ भी विशेषता नही। सुगत भी काल्पनिक है और स्वप्न सम्वेदन भी काल्पनिक है, तब सम्वृति सत्यको भूत कहना, सत्य कहना यह एक नवीन और काल्पनिक परिभाषा है। इस परिभाषामे युक्तिसे बाधा आती है।

अनादि कल्पनासे किसी ज्ञानको वदनीय कहनेपर परमार्थत अवदनीयताकी ध्वनि—इस प्रसङ्गमे योगाचार कहते हैं कि बात यह है कि सम्वृति दो प्रकारकी होती है– एक सादि सम्वृति, दूसरी अनादि सम्वृति। याने दोनो कल्पना है तो अवश्य, किन्तु कोई कल्पना सादि होती है और कोई कल्पना अनादि होती है। तो स्वप्न सम्वेदनमे, स्वप्नमे जो कुछ दीखा वह सादि है, वह कभी शुरू होता है तो सादि सम्वृति तो बाधित हो जाती है, जगनेपर यथार्थ बोध हुआ उससे भी मिथ्या सिद्ध होता है किन्तु सुगत सम्वेदन तो अनादि सम्वृति है अर्थात् यह अनादिसे ही उपचार कल्पना चली आ रही है तो अनादि सम्वृति बाधित नही होती। यद्यपि सुगत और स्वप्न सम्वेदन ये दोनो काल्पनिक है फिर भी स्वप्न सम्वेदन सादि है और सुगत सम्वेदन अनादि है। यह भेद उन दोनोमे पाया जा रहा है। इसके समाधानमे कहते हैं कि यहाँ यह कानून बनाया कि जो अनादि सम्वृति हो वह अबाधित होता है और जो सादि सम्वृत्ति हो वह बाधित होता है। तो इस कानूनके अनुसार ससार अबाधित हो जायगा अर्थात् अनादि ससारका अभाव नही किया जा सकता, मुक्ति प्राप्त नही

की जा सकती, क्योंकि यहाँ भी यह बात स्पष्ट है कि संसार अनादि है, क्योंकि संसार अनादि अविद्याकी वासनाका कारण है तो उसे फिर अबाधित रहना चाहिए था, लेकिन देखा यह जा रहा है कि सम्यग्दर्शन आदिक निर्मल परिणामोके बलसे यह संसार नष्ट हो जाया करता है तो यदि ऐसा नियम बनाया जाय कि जो अनादि हो वह अबाधित होता है तब संसार अबाधित बन बैठेगा। दूसरी बात यह है कि सुगत को यदि सम्वृतिसे याने कल्पनासे वदनीय मान लिया जाय तब यह बतलाओ कि परमार्थसे वदनीय कौन है ? सुगत तो एक कल्पनासे ही वदनीय हुआ। तो जहाँ कल्पना की बात आती है वहाँ उसका प्रतिपक्ष परमार्थ भी कुछ होता है। तब यहाँ बतायें कि परमार्थसे वदनीय कौन है ? शङ्काकार कहता है कि सम्वेदनाद्वैत याने सम्वेदन मात्र परमार्थसे वन्दनीय है। सुगत तो एक सम्वेदनाका स्वामी है, किन्तु सम्वेदन एक अतस्तत्त्व है। यह सम्वेदनाद्वैत वदनीय है। इनके उत्तरमे कहते हैं कि सम्वेदनाद्वैत के न तो स्वय जानकारी बनती है और न किसी अन्य प्रमाण आदिकसे जानकारी बनती है तो सम्वेदनद्वैत तत्त्व ही असिद्ध है फिर भी वदनीय कहा जाय ? इसी बातको कारिकामे कहते हैं।

यत्तु संवेदनाद्वैतं पुरुषाद्वैतवन्न तत्।
सिद्ध्येत्स्वतोऽन्यतो वाऽपि प्रमाणात्स्वेष्टहानितः ॥ ८६ ॥

पुरुषाद्वैतकी असिद्धिकी तरह संवेदनाद्वैतकी असिद्धि —जो सम्वेदनाद्वैत अर्थात् विज्ञानमात्र तत्त्व है वह स्वत सिद्ध नही है। जैसे कि पुरुषाद्वैत ब्रह्माद्वैतको स्वत सिद्ध नही बताते हैं सम्वेदनाद्वैतवादी, उसी प्रकार सम्वेदनाद्वैत भी स्वत. सिद्ध नही बनता तथा अन्य प्रमाणसे वे कोई सम्वेदनाद्वैतको सिद्ध करें तो उसमे अद्वैतकी हानि होती है, क्योंकि अब प्रमाण एक और तत्त्व बन गया फिर एक ही तत्त्व कैसे रहा ? जैसे ब्रह्माद्वैत स्वत सिद्ध नही है क्योंकि स्वरूपका स्वय ज्ञान नहीं होता। जो स्वरूप है ऐसा वह स्वय अपने आपका ज्ञान करले तब कभी भी किसी भी बातका विवाद न होना चाहिए। अत सम्वेदनाद्वैत स्वय सिद्ध नही है। यदि स्वय सिद्ध मान लिया जाय सम्वेदनाद्वैत विज्ञानमात्र तत्त्वको तो ऐसे ही अन्य लोग भी जिनका जो अभिमत है ब्रह्माद्वैतवादी अपने ब्रह्माद्वैतको स्वत सिद्ध मान लेंगे तब आपका सम्वेदनाद्वैत न रहा, फिर तो सभीका सभी कुछ सत्य रह गया। शङ्काकार कहता है कि देखिये ! प्रतिभासाद्वैत तो स्वत नहीं माना जाता, क्योंकि ब्रह्माद्वैतवादी ब्रह्मपुरुषको एक ही विश्वमात्र मानते हैं। उनका कथन है कि सारा विश्व एक ब्रह्ममात्र है दूसरा कोई तत्त्व है नहीं, इस तरह जब वह ब्रह्म सारेके सारे समयोंमें व्याप्त है और सारे क्षेत्रोंमे व्याप्त है तो इस तरहका ब्रह्म किसीके भी अनुभवमें नहीं आ रहा। जब स्वत जाना जा रहा होता तो क्यों नहीं स्वत जाना जा रहा ? क्यों

नहीं सवाद हो रहा ? इसलिए पुरुष द्वैत सिद्ध नही हो सकता। इसके समाधानमे कहते हैं कि जैसे विज्ञानमात्र सारे विश्वको मानने वाले क्षणिकवादी नित्य ब्रह्माद्वैतको असिद्ध कर रहे हैं इसी तरह विज्ञानमात्र तत्त्व भी तो असिद्ध है एक क्षण रहता हो और एक ज्ञान अणुरूप हो, निरंश हो सो ज्ञान परमाणु भी तो किसीके अनुभवमें नहीं आ रहा। ये दोनो सिद्धान्त परस्पर प्रतिपक्षी हैं। ज्ञानाद्वैतवादी तो एक ज्ञानपरमाणु मानते हैं और प्रतिक्षण नष्ट होने वाला मानते हैं जब कि ब्रह्माद्वैतवादी ब्रह्मको नित्य सर्वव्यापक मानते हैं। तो यद्यपि ये दोनो ही अद्वैत सिद्ध नही हैं, फिर पुरुषाद्वैत का खण्डन करने वाले विज्ञानमात्र तत्त्ववादी भी अपना इष्ट कैसे सिद्ध कर सकते हैं? अर्थात् पुरुषाद्वैतकी तरह सम्वेदनाद्वैत भी अनुभवमे नही आता। यदि शङ्काकार यह कहे कि सम्वेदनाद्वैतको हम स्वत सिद्ध नहीं कहते जिससे अन्य प्रमाण तत्त्वको सिद्ध करने लगें। विज्ञानका क्या स्वरूप है और एक विज्ञान परमाणु ही लोकमे है, इस बातको हम प्रमाणसे सिद्ध करेंगे। स्वत सिद्ध करनेमे तो यह आपत्ति दी कि सबको अपना-अपना मत स्वत सिद्ध हो बैठेगा। उत्तरमे कहते हैं कि यदि अन्य प्रमाणसे ज्ञानाद्वैतकी सिद्धि करोगे तो ज्ञानाद्वैत तो बन गया साध्य और जिस प्रमाणसे सिद्ध करोगे वह प्रमाण बन गया साधन। तो यो द्वैत आ गया। साध्य और साधनको स्वीकार करना पडा। तो अब अद्वैत तो न रहा। साराश यह है कि सम्वेदनाद्वैतमे ज्ञानमात्र तत्त्वकी सिद्धि आप प्रमाणसे करेंगे तो वह साधन हो गया और ज्ञानाद्वैत साध्य हो गया। तो दो चीजे हो गयी – साध्य है और साधन है। तब यहाँ एक ज्ञान अद्वैत तत्त्व न रहा। अब द्वैतका प्रसङ्ग आ गया। और जब दो चीजे हो गई तो इसीके विस्तारमे अर्थ परमाणु भी सिद्ध हो जायगा और जगतमे जो जो कुछ भी पदार्थ हैं वे सब सिद्ध हो सकते हैं। ज्ञानाद्वैतकी कल्पना करना व्यर्थ है।

ब्रह्माद्वैतवादियो द्वारा अपने अभिमतका स्वसवेदनाद्वैतवादियोकी भाँति प्रतिपादन यहाँ ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि जिस तरह सम्वेदनाद्वैतवादी अपने सम्वेदनाद्वैतको सिद्ध करते हैं उसी प्रकार ब्रह्माद्वैत भी सिद्ध होता है। सम्वेदनाद्वैतवादियोका यह अनुमान है कि जो जो सम्विदित होता है वह वह सम्वेदन है याने जो ज्ञानमे आता है वह सारा स्वरूप सम्वेदन ही है। जैसे कि सम्वेदनका स्वरूप ज्ञानमे आता है तो वह ज्ञान ही तो है और ये नील आदिक माने गये वाह्य पदार्थ और सुख आदिक माने गए अतरङ्ग पदार्थ ये सब ज्ञान होते हैं। इस कारण सब ज्ञान स्वरूप है। ज्ञानाद्वैतवादियोका यह अभिमत है कि सारा विश्व ज्ञानमात्र है, क्योकि ज्ञानमें प्रतिभास हो रहा है ज्ञेय हो रहा है। जो जो कुछ भी ज्ञात होता है वह सब ज्ञानस्वरूप है। तो जैसे सम्वेदनाद्वैतवादी अपना अद्वैत पक्ष उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार ब्रह्माद्वैत भी तो सिद्ध होता है। इसको भी देखो! यहाँ यह अनुमान प्रयोग है कि यह सब प्रतिभास ही है, क्योकि प्रतिभासमान होता है। जो जो प्रति-

भासमान होता है वह सब प्रतिभासमात्र ही है। जैसे प्रतिभासमानत्व और प्रतिभास-मान यह सारा विश्व है इस कारण यह प्रतिभासस्वरूप ही है। प्रतिभासस्वरूप यह सब जगत प्रतिभासमान है, यह प्रसिद्ध नहीं है। सभी लोगोंके अनुभवमें भी आता और कभी कुछ भी मालूम पड़े कि ये कुछ बाह्य पदार्थ हैं लेकिन प्रतिभासमें आये बिना तो नही कुछ समझ सके। तो वस्तुतः यह प्रतिभासस्वरूप ही है। यदि साक्षात् अथवा परम्परासे यह जगत प्रतिभासमान न हो तो तब यह न किसी शब्दका विषय बनेगा न विकल्पका विषय बनेगा। जब किसी वचनका विषय नहीं बनता तब उसका कथन ही नहीं किया जा सकता। कोई यह सकल भी नहीं कर सकता कि यह है जो कि प्रतिभासमे नही आ रहा प्रतिभासमें न आये यह तो है हो नही। तो सारा जगत प्रतिभासस्वरूप है और जो प्रतिभास है वह आत्मास्वरूप ही है, चेतनस्वरूप ही है क्योंकि चेतनस्वरूपके ही प्रतिभासमानपना बनता है। जो अचेतन है अचिद्रूप है उसके प्रति-भासपना नहीं बनता। तो जो यह चिद्रूप है, चित्सामान्य है उसीको पुरुषाद्वैत कहते हैं और ज्ञानाद्वैत कहते है। इस प्रसङ्गमे तटस्थ पुरुषोंको यह ज्ञान कर लेना चाहिए कि ज्ञानाद्वैत और ब्रह्माद्वैतके सिद्धान्तमे क्या अन्तर है? वैसे ब्रह्माद्वैत भी ज्ञानस्वरूप की बात कह रहा है और ज्ञानाद्वैत भी ज्ञानस्वरूपकी बात कह रहा है किन्तु ज्ञाना-द्वैतवादियोंका वह ज्ञान परमाणुमात्र है जिसे ज्ञानाणु कहते है। साथ ही वह क्षण-वर्ती है, प्रतिक्षण विनाशीक है किन्तु ब्रह्माद्वैतका ज्ञानस्वरूप व्यापक है, कालमें भी व्यापक है, देशमें भी व्यापक है, शाश्वत है और क्षणिकतामें इतना अन्तर है कि एक नित्यवादी है, दूसरा क्षणिकवादी है। खैर यह अन्तर रहे किन्तु जिस ढङ्गसे ज्ञाना-द्वैतवादी अपना पक्ष रख सकते हैं उसी ढङ्गसे ब्रह्माद्वैतवादी भी रख सकते हैं।

एक नित्य व्यापक ब्रह्मस्वरूपका पुरुषाद्वैतवादमें वर्णन—देखिये! ब्रह्माद्वैतवादियोंका यह परम ब्रह्मस्वरूप देश काल और आकारमें कभी नष्ट नहीं हो सकता याने समस्त देशोंमें यह ब्रह्मस्वरूप व्यापक है और अनादि अनन्त समस्त कालोंमें यह ब्रह्मस्वरूप व्यापक है और आकार भी सदा एक समान है। इस कारण पुरुषाद्वैतका नित्यपना सर्वगतद्वैतपना और साकारपना बिल्कुल निर्दोष है। ऐसा कोई भी समय नही है जब कि चित्सामान्यके प्रतिभास न हो अर्थात् प्रत्येक क्षणोंमें चित् सामान्यका प्रतिभास निरन्तर रहता है। भले ही कोई यह सोचे कि प्रतिभास तो नष्ट होते जाते हैं—जैसे नील प्रतिभास होना यह नील है, तो यह ज्ञान सदा तो नहीं रहता, तो ऐसा यह प्रतिभास विशेष नष्ट हो गया। इसी तरह आन्तरिक पदार्थ सुख है। जिस समय सुखका प्रतिभास हुआ तो ऐसा प्रतिभास सदा तो नही रहता, वह भी नष्ट हो जाता है। तो यद्यपि ऐसा प्रतिभास विशेष किसी कालमें नष्ट हो जाता फिर भी प्रतिभास सामान्य तो कहीं नष्ट नहीं हुआ। यहाँ यह बात भी प्रकट है कि प्रतिभास विशेष कही प्रतिभासमान हो रहा, वह दूसरे कालमें प्रतिभासित न ही होरह

क्योंकि समय–समयमे प्रतिभास विशेष नये–नये होते जाते हैं, तो अन्य प्रतिभासविशेष के द्वारा पूर्व प्रतिभास विशेष नष्ट हो गया। यह भी देखा जाता किन्तु समस्त प्रतिभास विशेषो के सम्बन्धमे प्रतिभास सामान्य तो रहता ही है। चाहे कितनी तरहके विशेष होते रहे, ज्ञात होते रहें याने व्यक्तिगत विशेष बनते रहे। यह चौकी है, यह पुस्तक है आदिक कितने ही ज्ञान बन रहे, पर उन सब ज्ञानोमे ज्ञान सामान्य प्रतिभास सामान्य निरन्तर रह रहा है। समस्त प्रतिभास विशेषोके सम्बन्धमे भी प्रतिभास सामान्य रहता है, इस कारण प्रतिभास सामान्यका किसी भी कालमे विच्छेद नही होता सदैव वह बना रहता है। देखिये ! जैसे वह ब्रह्म प्रतिभास किसी भी कालमें नष्ट नही होता, इसी तरह वह देशसे भी नष्ट नहीं होता। यद्यपि किसी देशमे, किसी क्षेत्रमे, कोई प्रतिभास विशेष है और अन्य क्षेत्रमे अन्य प्रतिभास विशेष है तो एक देश वाला प्रतिभास विशेष और अन्य देशका प्रतिभास विशेष ये यद्यपि एक दूसरेसे अलग जचते हैं और उसके द्वारा विच्छेद बन गया है कि यहाँ अन्य प्रतिभास हो रहा है और दूसरे देशमे अन्य प्रतिभास विशेष हो रहा है, लेकिन इसके होनेपर भी प्रतिभास सामान्यका तो विच्छेद नही है। सर्व देशोमे सर्व प्रतिभास देशीय प्रतिभास विशेषमे प्रतिभास सामान्य निरन्तर बन रहा है। यो देशकी अपेक्षासे भी प्रतिभास सामान्यका विच्छेद नही है। इसी प्रकार अब यह विचार कि प्रतिभास सामान्यका आकारसे भी विच्छेद नही है। यद्यपि प्रतिभास विशेषोमे भिन्न–भिन्न आकारोसे प्रतिभास विशेष हुआ करता है तो किसी आकारसे होने वाला जो ज्ञान विशेष है उसके अन्य आकार वाले ज्ञान विशेषसे विच्छेद पाया जाता है याने अन्तर पाया जाता है। एक आकार वाला प्रतिभास दूसरे आकार वाले प्रतिभास विशेषसे निराला जचता है, यही आकार का विच्छेद कहलाता है। तो यो प्रतिभास विशेषोमे आकार विच्छेद होनेपर भी प्रतिभास सामान्य तो समस्त आकार वाले प्रतिभास विशेषमे रहता ही है। इस कारण आकारकी अपेक्षासे भी यह ब्रह्म, यह पुरुषाद्वैत प्रतिभास सामान्य स्वय अविनाशी है, व्यापक है।

विच्छिन्नताको भी प्रतिभासान्त· प्रविष्टताका पुरुषाद्वैतवादियो द्वारा प्रतिपादन—प्रतिभास सामान्यकी सिद्धिमे उक्त युक्तिके अतिरिक्त यह भी तो सोचिये कि जो भी प्रतिभास विशेष, किसी देशमे किसी कालमें, किसी आकारसे हुए हैं वे प्रतिभास विशेष देशकाल, आकारसे विच्छिन्न हैं, तो जिसे भी विच्छिन्न बताया जा रहा वह प्रतिभासमे आ रहा या नही ? यदि प्रतिभासमे नही आ रहे तब तो जिनका विच्छेद बताया जा रहा उनकी व्यवस्था ही न बन सकेगी, सत्ता ही न बन सकेगी। क्योंकि जो प्रतिभासमें नहीं आये उनकी भी सत्ता कायम कर दी जाय तो इसमे बड़ा दोष है। खरगोशके सीग, मनुष्यके सीग, इन सबकी भी सत्ता बन बैठेगी। तो जो प्रतिभास विशेष देश, काल, आकार आदिकसे विच्छिन्न है वे यदि प्रतिभासमान नही

हो रहे तब तो उनकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती और यदि प्रतिभासमान हो रहे तो समझना चाहिए कि वह प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत ही है क्योंकि मूल अनुमान प्रयोग वेदान्तवादका यह है कि जो जो भी प्रतिभासमान होता है वह सब प्रतिभास स्वरूप है, प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत है। जैसे खुद प्रतिभास स्वरूप प्रतिभासमान होता है तो प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत है। इस अनुमानका स्पष्ट भाव यह है कि जो प्रतिभास हो रहा है जानकारीमे आ रहा है, ज्ञात हो रहा है वह सब प्रतिभास स्वरूप है। जैसे कि ज्ञान स्वरूप भी तो ज्ञानमे आता है। तो वह ज्ञान सामान्यरूप है। तो जो जो भी प्रतिभासमे आ रहे हो वे वे सब प्रतिभास स्वरूप हैं और वे निरन्तर व्यापक हैं, सर्वकालमे व्यापक हैं और सब आकारमें व्यापक हैं। ऐसा कोई भी पदार्थ न मिलेगा कि जो प्रतिभासमान तो होता हो और प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत न हो इसी कारण हमारा हेतु अनैकान्तिक दोषसे दूषित नहीं है। जो जो प्रतिभासमान है वह प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत ही है। यदि हेतु विपक्षमे पाया जाता तो अनैकान्तिक दोष कहलाता। याने प्रतिभासमान तो हो कोई पदार्थ और प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत न आता हो तब दोष होता लेकिन जो जो भी प्रतिभास-मान होता है वह सब प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत ही रहता है।

देशकालाचार भेदोकी भी प्रतिभासान्त प्रविष्टताका ब्रह्माद्वैतवादमें प्रतिपादन—अब अन्य बातको भी देखिये। दूसरेके द्वारा माना गया जो देशभेद, कालभेद और आकार भेद है, यो भेदको जताकार पुरुषाद्वैतका खण्डन करना चाहते हैं। जरा वे यह तो बतायें कि वे देश, काल और आकार भेद यदि प्रतिभासमान नहीं हो रहे तो उन भेदोको स्वीकार कैसे किया जा सकता है? देखो जो स्वय प्रति-भासमान नहीं है ऐसा किसी पदार्थको स्वीकार किया जाय तो इसमें तो बडा दोष है। असत्को भी सत् कह दिया जायगा। असत् भी प्रतिभासमान नहीं है, लेकिन वह भी सत् बन बैठेगा, क्योंकि अप्रतिभास होनेपर भी देशभेद, कालभेद, आकारभेदको स्वीकार किया जा रहा है। तो जो स्वय प्रतिभासमान नही हैं उन्हें तो कहा ही नहीं जा सकता। स्वरूप भी नही किया जा सकता। और, यदि देश भेद कालभेद और आकार ये प्रतिभासमान हैं तो वे प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत हैं ही। उससे तो इतना अनुमान पुष्ट होता है कि जो जो प्रतिभासमान हैं वे सब प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत हैं। ये देशभेद, कालभेद, आकारभेद भी अगर प्रतिभासमान है, चाहे किसी रूपसे प्रतिभास हो रहे हो वे सब भी प्रतिभास सामान्यमे प्रविष्ट हैं। तब प्रतिभास सामान्य का विच्छेद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सब प्रतिभास सामान्य स्वरूप ही है। तो स्वरूपसे स्वका विच्छेद नहीं किया जा सकता। याने अपने स्वरूपसे अपना अभाव नहीं होता। खुद ही खुदका अभाव करे ऐसी किसमे सामर्थ्य हैं। जो पदार्थ सत् है वह स्वयं अपनेको असत् बनादे, ऐसा किसी प्रकार हो ही नही सकता।

देशकालाकारविच्छेदोकी प्रतिभामान्त प्रविष्टताका पुरुषाद्वैतवादमें प्रतिपादन—अब एक बात और भी देखिये ! जो लोग कहते हैं कि प्रतिभास सामान्यका भी देश, काल, आकारका विच्छेद हो सकता तो किसी प्रकार कल्पनामे मान ल वे कि प्रतिभास सामान्यका देश, काल, और आकारका विच्छेद हो जाता है तो इतना माननेपर भी यह तो बतायें कि जो उसका विच्छेद हो तो यह बात प्रतिभासमे आयी या नही ? यदि यह प्रतिभासित हो रहा है विच्छेद, तो लो वही प्रतिभास ही बन गया। जो जो प्रतिभासमान हो वे वे सब प्रतिभास स्वरूप ही होते हैं। भले ही उस ा नाम विच्छेद रख लिया लेकिन है तो प्रतिभास स्वरूप क्योंकि प्रतिभासमान हो रहा हैं, और यदि वह विच्छेद प्रतिभासित नही होता तो कैसे कहा जा सकता कि विच्छेद है। अरे जो प्रतिभासमे नहीं है उसे 'है" भी नही कहा जा सकता प्रतिभासित नही होता और "है" इन दोनोमें परस्पर विरोध है। अब यहाँ वेदान्तियो के प्रतियोगाचार कहते हैं कि देखिये ! जो पदार्थ देशसे दूरवर्ती है याने बहुत दूर देश में रह रहे है, जो कालसे दूरवर्ती है याने जो हजारो करोडो वर्ष पहिले हो चुके हैं या आगे होगे तथा जो स्वभावसे दूरवर्ती हैं जैसे परमाणु आदिक तो ये किसी तरह प्रतिभासमें तो नही आ रहे। यहांसे १०० कोशपर रहने वाला कोई गाँव या पेड हमारे प्रतिभासमे तो नही आ रहा, लेकिन जो समझदार हैं वे उसे सत् मान रहे हैं तो ऐसा भी हुआ करता है कि प्रतिभासमे नहीं आया फिर भी सत् है, इसी प्रकार जो कालसे दूरवर्ती है जैसे राम रावण आदिक तो वे अब प्रतिभासमे तो नहीं आ रहे फिर भी वे सत् माने जा रहे, इसी तरह परमाणुको भी सत् समझा जाता है। तो अप्रतिभासित पदार्थ भी आस्तिकोके द्वारा सत् ही कहा जाता है। कोई बाधा नही है। तो इसी प्रकार देश, काल, आकार, से प्रतिभास सामान्यका विच्छेद है और वह प्रतिभास मान भी हो तो भी वह विच्छेद तो है ही, यह सिद्ध हो जाता है। इसके उत्तरमें वेदान्ती कहते हैं कि नही, सर्वथा अप्रतिभासमान किसीको नहीं कहा जा सकता। वे देश काल आकारसे होने वाले विच्छेद भी शब्दज्ञान अथवा अनुमान ज्ञानसे प्रतिभासमे आ ही रहे हैं। यदि शब्दज्ञान अथवा अनुमान ज्ञानसे भी वह प्रतिभासित नहीं होता तो उसका अस्तित्व ही नहीं बन सकता। शब्दसे अनुमानसे कोई आकारसे कुछ प्रतिभास मे आ ही तो रहा है जिसको समझनेकी कोशिश की जा रही है। तो जब प्रतिभासमान हो रहा है तो वह प्रतिभास स्वरूपके अन्तर्गत है। और यदि प्रतिभासमान नही हो रहा है तो उसकी सत्ता ही नही, व्यवस्था ही नहीं। तो यो सर्व कुछ प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत ही है।

अन्तरित पदार्थोंकी प्रतिभासान्त प्रविष्टताका पुरुषाद्वैतवादमें कथन यहाँ योगाचार कहते हैं कि यदि इस तरह मान लिया जाता कि शब्द ज्ञान और अनुमान ज्ञानसे जो प्रतिभाषित हो वह है ही, तब फिर शब्द ज्ञानमें विकल्पमें प्रति-

भासित तो हो रहे हैं अनेक पदार्थ और उन परस्पर विरुद्ध पदार्थके प्रतिपादक अनेक मत मतान्तर वे भी विकल्प ज्ञानमें प्रतिभाषित हो रहे हैं और जैसे कि खरगोशके सींग या मनुष्यके सींग ये भी प्रतिभासमें तो आ रहे हैं, किसी ढङ्गसे समझा तो जा रहा है और जो भूतकालमे पुरुष हुए हैं वे भी प्रतिभासमे आ रहे हैं। जो आगे उत्पन्न होंगे, अभी नहीं हैं वे भी प्रतिभासमें आते हैं। तो उन सबका आप निराकरण कैसे कर सकते है ? जगतके ये सारे पदार्थ विविध, वर्तमान, भूत भविष्यमे हाने वाले अनेक पदार्थ ये सब सत् हैं, इनका निराकरण कैसे किया जा सकता ? और जब निराकरण नहीं किया जा सकता तो आप ब्रह्माद्वैतकी अडपर क्यो बने हुए हैं ? फिर कैसे पुरुषाद्वैतकी सिद्धि हो सकती है ? ऐसे योगाचारके प्रश्नके उत्तरमें वेदान्ती जन कहते हैं कि पुरुषाद्वैतकी सिद्धि यो बनी हुई है कि जितने भी आप प्रतिभासमान विषयभूतकालीन, भविष्यकालीन और वर्तमान कालीन विविध पदार्थ हैं वे सब प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत ही हैं, यह सिद्ध होता है इस कारणसे पुरुषाद्वैतके माननेमे किसी प्रकारका दोष नहीं है। और, तब एक यह नियम बना कि जो जो प्रतिभास हो वे भी सब प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत ही हैं।

पुण्य, पाप, बंध, मोक्ष, कारक, क्रिया आदि सब प्रतिभासोकी प्रतिभासान्त प्रविष्टताका पुरुषाद्वैतवादमे वर्णन—इस सम्बन्धमे स्याद्वादी भी जो कुछ दोष दे रहे हैं वह दोष भी यहाँ सिद्ध नहीं होता।

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते॥

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्या द्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा॥

स्याद्वादी जन यह दोष उपस्थित करते हैं अद्वैत एकान्तके पक्षमें कि यदि अद्वैतका एकान्त हो तो जो भेद दिखाया जा रहा कि यह कारक है, यह क्रिया है, यह भेद फिर नजर न आना चाहिए, क्योकि जो एक है वह-अपनेसे उत्पन्न नहीं होता और इसके अतिरिक्त अद्वैत एकान्तमे पुण्य, पाप कर्म सुख दुःख फल, इहलोक पर लोक, विद्या अविद्या, बंध और मोक्ष ये दो दो तत्त्व नहीं बन सकते हैं, क्योंकि अद्वैत का एकपनेका एकान्त कर लिया गया है, तो ऐसा जो दोष दिया जाता है वह यहाँ लागू नहीं होता। कारण यह है कि जो कुछ भी बताया गया है क्रिया, कारक, पुण्य, पाप, बंध, मोक्ष, साराका सारा प्रतिभाष सामान्यके अन्तर्गत है और उस प्रतिभासपने से तो प्रतिभास सामान्यकी ही पुष्टि होती है। इस कारण एक पुरुषाद्वैत तत्त्व है,

उसमे किसी भी प्रकारकी शङ्का न होनी चाहिए। जो अद्वैतका विरोध करने वाला द्वैत बताया गया है कि क्रिया भी देखी जाती, कारक भी देखा जाता। देखे जावें, प्रतिभास विशेष हो गए मगर सारे प्रतिभास विशेष प्रतिभास सामान्यके ही तो अन्तर्गत हैं। पुण्य पाप दो प्रकारके कर्म बता दिए। प्रतिभास विशेष बन गए, पर हैं तो प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत, इसी तरह अनादि अविद्या बन्ध बन जायगी। इहलोक, परलोक, सुख दुख जो जो भी दो दो बाते कह रहे हैं, वे सब प्रतिभास विशेष हैं और प्रतिभास विशेष प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत हैं। जो ये सब प्रतिभासमान हो रहे सो प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत सिद्ध होते हैं। अगर कहो कि ये सब प्रतिभासमान नही हो रहे, सब अप्रतिभासमान हैं—कारक क्रिया पुण्य पाप आदिक अगर अप्रतिभासमान हैं तो विरोधक बन ही नहीं सकते। जब ये प्रतिभासमे ही नही हैं इनकी सत्ता ही नही है व्यवस्था ही नहीं है तो विरोधक कैसे बन सकने ? साराश यह है कि जो प्रतिभासमान नहीं है वह हमारे पक्षका विरोधक भी नही बन सकता और जो प्रतिभासमान हो तो वे सब प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत हैं। तो इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जितना भी प्रतिभास विशेष हो रहा है वह सब प्रतिभास विशेष प्रतिभास सामान्यका ही ज्ञापक है।

हेतु, साध्य, पक्ष आदिकी भी प्रतिभासान्त प्रतिष्टताका पुरुषाद्वैतवादियो द्वारा प्रतिपादन— जो यह भी कहा जाता है कि यदि हेतुसे अद्वैतकी सिद्धि की जाय तो यहाँ द्वैत आ गया। हेतु और साध्य तो अद्वैत एकान्ती न रहा और यदि हेतुके बिना ही अद्वैतकी सिद्धि की जाय तो इसका अर्थ है कि कहने मात्रसे अद्वैत बन गया। तो यो कहने मात्रसे द्वैत क्यो न बन जायगा ? इस प्रकारकी भी जो लोग आपत्ति देते हैं वह आपत्ति भी सही नही है, क्योकि जो कुछ भी प्रतिभासमान हो, हेतु साध्य, पक्ष, वक्ता श्रोता आदिक वे समस्त पदार्थ प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत हैं। तो हमारा मूल अनुमान प्रयोग यह है कि जो जो भी प्रतिभासमान होते हैं, वे वे सब प्रतिभास सामान्यके अन्तगत हैं। जैसे कि प्रतिभासका सामान्यका स्वरूप वह प्रतिभासमें आ रहा तो वह प्रतिभास सामान्यका ही बन रहा है। तो जो जो भी प्रतिभासमान हो वे सब जब प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत सिद्ध हो गए तो आपके कोई भी पदार्थ, कोई भी प्रतिभास विशेषाद्वैतको सिद्ध नही कर सकता और कोई यह कहे कि हेतुके बिना अगर आगमसे ब्रह्माद्वैतकी सिद्धि कर रहे हो तो द्वैत हो जायगा सो भी द्वैत नहीं होता। वह आगम वाक्य भी तो उस ब्रह्मस्वरूपसे भिन्न नही है, क्योकि प्रतिभासमान हो रहा है, तो जो जो भी प्रतिभासमान हो वे वे सब प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत हैं। यो जगतमे एक प्रतिभास ही ब्रह्म, पुरुषाद्वैत ही तत्त्व है और वह नित्य है, व्यापक है और एकाकार है। अत सम्वेदनाद्वैतवादी जो यह कह रहे है कि यह ज्ञान प्रमाण ही तत्त्व है, जो प्रतिक्षण विनाशीक है, एकदेशीय

है, किन्तु स्वरूप दृष्टिसे एकरूप है और परमाणुमात्र ही है ऐसा ज्ञानाणुरूप ज्ञानाद्वैत तो ठीक नहीं, इसे ज्ञानस्वरूप, प्रतिभास स्वरूप भी नहीं कहा, क्योंकि ज्ञान शब्दसे विशेषका बोध होता है। केवल प्रतिभासमात्र ब्रह्मस्वरूप ही वास्तविक तत्त्व है और उसका जो कहने वाला हो सो ही मोक्षमार्गका प्रणेता बनेगा, किन्तु ज्ञानाणु मोक्षमाग का प्रणेता नहीं बन सकता। ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि किन्हीका यह कहना है—पुरुषाद्वैतके खण्डन करनेमे कि यदि पुरुषाद्वैतकी अनुमानसे सिद्धि की जाय तो वहाँ पक्ष हेतु और दृष्टान्त अवश्य मान रुकेंगे ? क्योंकि इन सबके माने बिना अनुमानकी उत्पत्ति नही होती। तो जब ये सब मानने पडे तब अद्वैत तो न रहा, अनेक बातें बन गई, यों पुरुषाद्वैतकी सिद्धि नही हो सकती। इसके उत्तरमे कहते हैं कि उनका ऐसा सोचना गलत है। ब्रह्माद्वैतवादी वहाँ यो कह रहे हैं कि अनुमान आदिकको अथवा पक्ष आदिकका भेद सिद्ध नहीं है, क्योंकि जो पक्ष हेतु दृष्टान्त आदिक जाने गये वे एक तो प्रतिभासके अन्त प्रविष्ट है। याने पक्ष आदिक क्या प्रतिभासमान हैं या नही? यदि प्रतिभासमान हैं। तब तो वे प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत हैं। और फिर तब पक्ष हेतु आदिकका सिद्ध होना भी प्रतिभास सामान्यका बाधक नहीं है। जैसे कि अनुमान प्रयोग प्रतिभास सामान्यकी सिद्धिमे बाधक नही, किन्तु साधक है तो पक्षादिक भी प्रतिभास सामान्यकी सिद्धिमे साधक ही है। अब दूसरी बात सुनो। यदि पक्ष हेतु दृष्टान्तादिक प्रतिभासमान नहीं हैं तो उनका सद्भाव ही असिद्ध है, उनकी सत्ता और व्यवस्था भी नही है, तो जिसकी सत्ता नही, व्यवस्था नही वह किसी भी तत्त्वका विरोधी कैसे हो सकता है ?

प्रमाण प्रमिति प्रमेय प्रमाता आदिको भी प्रतिभासान्त प्रविष्टताका पुरुषाद्वैतवादियो द्वारा प्रतिपादन—ब्रह्माद्वैतवादी कह रहे हैं कि कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पुरुषाद्वैत तत्त्व अन्य प्रमाणसे प्रतीत होता है, तो जब अन्य प्रमाणसे पुरुषाद्वैतकी सिद्धिकी जा रही है तो प्रमेय भी मानना पडेगा। जिस प्रमाणसे पुरुषाद्वैतकी सिद्धि की जाय वह तो प्रमाण और पुरुषाद्वैत हुआ प्रमेय और पुरुषाद्वैतका जो ज्ञान हुआ वह हुआ प्रमिति। तथा कोई जानने वाला है जो कि प्रमाणको सिद्ध कर रहा है वह हुआ प्रमाता। तो इस तरह ये चार चीजें बन गई प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता। जब ये चार तत्त्व वास्तविक सिद्ध हो गए तब फिर अद्वैत कहाँ रहा ? याने ये अनेक बातें हो गईं। इस सम्बन्धमे ब्रह्माद्वैतवादियोंका यह समाधान है कि प्रमाण आदिक चारो ही प्रतिभासमान हैं या नहीं ? यह बतावें। यदि चार भेद प्रतिभासमान हैं तब तो वह प्रतिभास सामान्यरूप हो रहे। तब परम ब्रह्मसे बाहर नहीं हुए और परम ब्रह्म ही तत्त्व रहा। दूसरा कुछ न रहा।, जो कुछ भी दूसरा बताया जायगा वह ब्रह्मसे अभिन्न है ब्रह्माद्वैतवादी कह रहे हैं कि इसी आधार पर उन लोगोका यह कहना भी खण्डित हो जाता है—जो लोग ऐसा कहते हैं कि

१६ पदार्थ हैं और प्रागभाव आदिक चार अभाव हैं। तो जब १६ पदार्थोंकी जानकारी चल रही है और प्रागभाव आदिक अभावकी जानकारी की जा रही है तो अद्वैत तत्त्व कहाँ रहा ? ये तो अनेक पदार्थ हो गए। ऐसा जो कोई कह रहे हैं उनकी बात भी किसी युक्तिसे निराकृत हो जाती है। वे बतायें कि वे १६ पदार्थ आदिक जो कुछ भी बताये जा रहे हैं वे प्रतिभासमान हैं या नही। यदि वे प्रतिभासमान हैं तो प्रतिभास सामान्यसे अलग नही हो सकता तब उन सबकी जानकारीसे पुरुषाद्वैतके ज्ञानमे कोई बाधा नही आती। यदि वे १६ पदार्थ प्रतिभासमान नही हैं तो जो प्रतिभास नहीं किए जा रहे हैं उनका सद्भाव भी नही बन सकता। तो जिनकी सत्ता और व्यवस्था नहीं है उनसे हमारे पुरुषाद्वैतके सिद्धान्तमे क्या कोई बाधा आ सकती है ? यदि असत् पदार्थसे अव्यवस्थासे पुरुषाद्वैतके सिद्धान्तमे बाधा मान लोगे तो फिर खरगोशके सीग आदिक असत् पदार्थोंको भी इष्ट पदार्थमे माननेकी बाधा आने लगेगी। तात्पर्य यह है कि जो अप्रतिभासमान है, जानकारीमे आ ही नही रहे हैं वे किसीके बाधक नही बन सकते। और जो प्रतिभासित हैं वे प्रतिभासान्त प्रविष्ट हैं। ब्रह्माद्वैतवादी कह रहे है कि इसी आधारपर कोई बात यदि प्रतिभासमान है तो प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत है और यदि प्रतिभासमान नही है तो उसकी सत्ता ही नही है। उससे बाधा क्या आयगी ? अद्वैत मान लेंगे। इस कानूनके अनुसार सांख्य आदिककी मान्यता भी निराकृत हो जाती है। उनका मन्तव्य है कि २५ तत्त्व होते हैं—एक पुरुष तत्त्व और प्रधान आदिक शेष तत्त्व। तो अनेक हो जानेसे पुरुषाद्वैत नही ठहरता। उनका कथन भी इसी आधारपर बाधित होता है। वे बतायें कि वे पुरुष प्रकृति आदिक तत्त्व प्रतिभासमान हैं या नहीं ? यदि प्रतिभासमान है तब तो वे प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत हैं और यदि प्रतिभासमान नहीं हैं तो उनकी सत्ता ही नहीं है उनसे पुरुषाद्वैत मे कैसे बाधा आ सकती है ? कोई ऐसा सोचे कि आत्म साधनाके अङ्ग बहुत हैं यम, नियम, आशय, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये तो ८ योगके अङ्ग हैं और सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात ये दो प्रकारकी समाधियां हैं। विभूति और कैवल्य ये दो योगके फल हैं, जब इतने भेद हैं पदार्थ हैं तब पुरुषाद्वैतकी सिद्धि कैसे हो सकेगी ? ऐसी भी शङ्का न करना चाहिए क्योंकि ये सब भी प्रतिभासमान हैं या नहीं ? यदि प्रतिभासमान हैं तब तो प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत हो गए। यदि प्रतिभासमान नहीं है तो उनकी सत्ता और व्यवस्था ही नही है, फिर वे पुरुषाद्वैतवादी उसके बाधक कैसे बन सकेंगे ?

प्रतिभासितकी प्रतिभासमे अभिन्नताका पुरुषाद्वैतवादियो द्वारा प्रतिपादन—कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि यद्यपि वस्तु प्रतिभासमान तो है लेकिन प्रतिभाससे वह भिन्न है। याने जो समझ बन रही है वह तत्त्व अलग है और समझमे जो आ रहा है वह तत्त्व अलग है। ऐसा प्रतिभासमान होनेके कारण कोई पदार्थ प्रति-

भास सामान्यके अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि प्रतिभास तो ज्ञानको कहते हैं। वह स्वयं प्रतिभासित नहीं होता है। क्योंकि अपने आपमें अपनी क्रिया क्या होगी ? अपनेमें अपनी क्रिया नहीं हुआ करती है इसलिए प्रतिभास अर्थात् ज्ञान अन्य ज्ञानके द्वारा ही प्रतिभासमें आ सकता है। इसके अतिरिक्त प्रतिभासका विषयभूत जो भी पदार्थ है याने समझमें जो कुछ भी पदार्थ आ रहा है वह वस्तु भी स्वयं प्रतिभासमान नहीं है क्योंकि वह ज्ञेय है। जो ज्ञेय है वह ज्ञानके द्वारा जानने योग्य है इस कारण वस्तुको ज्ञानके द्वारा ही प्रतिभास होना सिद्ध होता है। स्वयं कोई प्रतिभासस्वरूप नहीं है। अतएव वेदान्ती जो प्रतिभास सामान्य मात्र सिद्ध करनेके लिए स्वयं प्रतिभासमान मानने रूप हेतु देते हैं वह असिद्ध है और ऐसी स्थितिमें किसी भी पदार्थको प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत नहीं कह सकते हैं। और, परसे प्रतिभासमानपना मानना स्पष्ट विरुद्ध है, क्योंकि वह प्रतिभाससे बाह्य वस्तुको सिद्ध करता है। ऐसी स्थितिमें पुरुषाद्वैत खण्डित हो जाता है। तब एक अद्वैत प्रतिभासकी सिद्धि नहीं हो सकती। ऐसा कथन करने वालेके प्रति ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि उनका अपने कथनका पक्षपात ही है। यदि मध्यस्थ भावसे हो विचार करें तो अनुभव कर लेंगे कि ज्ञान स्वयं प्रतिभासमान है। यदि ज्ञान स्वयं प्रतिभासमान न हो याने ज्ञानस्वरूप अपना प्रतिभास न करता हो तो अन्य ज्ञानसे भी उसका प्रतिभास नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त और भी यह विचार करें कि ज्ञान 'प्रतिभासते" यह जो क्रिया है उसका अर्थ है ज्ञान प्रतिभासित होता है। तो यहाँ प्रतिभासकी एकतासे उसकी स्वतन्त्र रूपसे प्रतीति हो रही है याने प्रतिभासता है, ऐसा कहनेमें स्पष्ट सिद्ध है कि ज्ञान स्वतन्त्र है जाननेमें समझनेमें। यदि ज्ञान स्वतन्त्रतासे अपने स्वरूपको नहीं प्रतिभासता तो वहाँ यह कहना चाहिए था कि प्रतिभास्यते अर्थात् ज्ञान प्रतिभासित होता है, लेकिन ऐसा तो कोई अनुभव नहीं करता। अनुभव यही होता है कि ज्ञान प्रतिभासित है जो दूसरे ज्ञानके द्वारा समझमें आने वाला पदार्थ हो उसमें प्रतिभासमान होता है क्योंकि जाना जा रहा है यो बोध होगा। इसलिए यदि ज्ञानको प्रतिभासित किया जाता है, यह माना जाय तो इसमें अनवस्था दोष आयगा फिर जिस ज्ञानके द्वारा यह ज्ञान प्रतिभासमान हुआ उस ज्ञान शक्तिके द्वारा यह ज्ञान प्रतिभासमान हुआ, इस तरहसे अनेक ज्ञानकी कल्पना करनी पड़ेगी। और, अनवस्था दोष आयगा। और भी विचार कीजिये ! ज्ञान प्रतिभासित होता है, ऐसी जो प्रतीति हो रही है वह भ्रमात्मक प्रतीति नहीं है, इसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

प्रतिभासमें प्रतिभासन क्रियाके अविरोधका पुरुषाद्वैतवादियों द्वारा प्रतिपादन—यदि कोई यह आपत्ति दे कि जब आपमें क्रियाका विरोध है इसलिए यह क्रियाका विरोध उक्त प्रतीतिमें बाधक है अर्थात् ज्ञान प्रतिभासित होता है यह बात सङ्गत नहीं बनती। तो उससे यह पूछा जा सकता है कि आपने जो क्रियाका विरोध

बताया है सो कौन सी क्रियाका विरोध है ? ज्ञप्ति क्रियाका या उत्पत्ति क्रियाका ? अर्थात् ज्ञान अपने अपने आपको नही जानता, इस तरह क्रियाका विरोध है ? या ज्ञान अपनेसे उत्पन्न नही होता, इस तरहकी उत्पत्ति क्रियाका विरोध है ? इन दोनो विकल्पोमे प्रथम विकल्प तो ठीक नही, अर्थात् ज्ञान अपने आपको नही जानता, इस तरह मानना ठीक नही। अपने आपमें ज्ञानकी क्रियाका कोई विरोध नही है। यह बात स्पष्ट जानी जाती है कि ज्ञप्ति नाम है स्वय प्रकाशनका याने जो स्वय प्रकाशन स्वरूप हो उसको ज्ञप्ति कहते हैं। जैसे सूर्यका आलोक वह स्वय प्रकाश स्वरूप है। तो उसका क्या स्वय प्रकाशनमे कोई विरोध आता है ? अथवा आलोक प्रकाशन होता है, प्रदीप प्रकाशित होता है, यह प्रतीति स्पष्ट यह सिद्ध करती है कि प्रकाशन क्रिया का स्वयमे कोई विरोध नही है। ज्ञप्ति भी पदार्थोंके जाननेरूप प्रकाशनका ही नाम है इसलिए ज्ञप्ति क्रियाका तो अपने आपमे कोई विरोध है नही। अब दूसरी बात पर विचार करें कि उत्पन्न क्रियाका विरोध है इस सम्बन्धमें यह समाधान है कि उत्पन्न क्रियाको न हम ब्रह्माद्वैतवादी मानते है और न स्याद्वादी मानते हैं। यह बात स्पष्ट है कि विद्वान लोग ऐसा स्वीकार नही करते कि कोई स्वयंसे उत्पन्न होता है। जो कुछ है वह स्वय सत् है। उत्पन्न होनेकी बात ही क्या है ? साराश यह है कि हम यह मानते नही कि ज्ञान अपनेसे उत्पन्न होता है, ज्ञप्ति क्रियाकी दृष्टिसे देखें तो उसका स्वय प्रकाश है और हम लोगोके ज्ञानकी दृष्टिसे देखें तो हम लोगोके ज्ञानके उत्पादक इन्द्रिय आदिक कारण हैं। तब ज्ञानमें उत्पत्ति क्रियाका विरोध बाधक नही कहा जा सकता। इस कारण ज्ञान अपने स्वरूपसे जाने। इसमें किसी भी प्रकारका विरोध न होगा। और, भी देखिये ! जो कोई भी धातु है उसकी जो कुछ भी अर्थरूप क्रिया है वह तो अपने आपमें प्रसिद्ध ही है। धातुके अर्थरूप क्रियाका स्वात्मामे विरोध नहीं है देखो जब क्रिया प्रयोग किया जाता है ठहरता है, विद्यमान है, होता है, तो इन धातुओका जो अर्थ है उस क्रियाका अपने आपमे क्या विरोध है ? होता है का अर्थ होता है मे समझा ही जा रहा है। यदि कोई यहाँ यह कहे कि देखिये ! ठहरता है, होता है-आदिक जो भी धातुओका प्रयोग है तो ये धातु अकर्मक है तो अकर्मक होनेसे कर्म, क्रिया उत्पन्न नही होती इसलिए अपनी क्रियामे स्वय समर्थ नही है। इस बातका खण्डन इन उदाहरणोको देकर न करें। जो अकर्मक धातु हैं उनकी तो स्वात्मामें क्रिया होना स्पष्ट ही हैं। इसी तरह प्रतिभासित होता है यह धातु भी अकर्मक है। अतएव कर्म भी, क्रिया भी नही बनती। तो अपने आप ही यह सिद्ध हो गया कि इसकी अर्थरूप क्रिया कर्तामे ही बन जाती है। और, यहाँ भी ऐसा ही प्रतिभास होता है, ज्ञान प्रतिभासित होता है ऐसी ही प्रतीति सभीको होती है। साराश यह है कि इस प्रकार ठहरता है, होता है आदिक धातु अकर्मक है। अकर्मक होनेसे उनके कर्ममे क्रिया नही बनती। कर्तामे ही उनकी क्रिया सिद्ध हो जाती है। यह प्रयोग कि "भासित" होता है, यह धातु भी अकर्मक है। और इस कारण कर्मके क्रियाके विरोध

की बात नहीं कह सकते । मतलब यह है कि प्रमावना, क्रिया कर्तामें अपने आप ही सिद्ध हो जाती है । उक्त प्रकारसे ज्ञान स्वय प्रतिभासमान होता है । यह फल भेद सिद्ध हो गया । तब ज्ञान स्वय प्रतिभासमान सिद्ध हो गया तो बाहरके समस्त पदार्थों मे भी वे सब स्वय प्रतिभासमान हैं यह सिद्ध हो जाता है और इसी तरह अर्थात् जैसे ज्ञान स्वय प्रतिभासमान है यह सिद्ध हुआ । बाह्य पदार्थ स्वय प्रतिभासमान हैं यह सिद्ध हुआ, इसी तरह अतरङ्गमे जो सुख आदिक हैं वे भी स्वय प्रतिभासमान हैं यह सिद्ध हो जाता है । देखो ! सुख प्रतिभास होता है, रूप प्रतिभास होता है, उस तरह जो इसमें प्रतिभासन क्रियाका आश्रय है सो देखो ! स्वतत्रताके साथ प्रतिभान क्रिया का अनुभव हो रहा है । सब स्वय प्रतिभासमान यह हेतु असिद्ध नहीं है । जिससे कि प्रतिभासाद्वैतका निराकरण किया जा सके । तथा स्वय प्रतिभासमान होना यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है । क्योकि ये सभी पदार्थ परसे प्रतिभासमान नहीं होते । चू कि प्रतिभासमान है अतः प्रतिभास सामान्यमें ही प्रविष्ट रहता है ।

अन्तरङ्ग ज्ञान व वहिरङ्ग समस्त अर्थोंकी स्वय प्रतिभासमानता व प्रतिभासान्त. प्रतिष्टताका पुरुषाद्वैतवादियो द्वारा प्रतिपादन—इस सम्बन्धमें कोई लाग ऐसा कहते हैं कि ज्ञान स्वव प्रतिभासमान नही हुआ करता । क्योंकि ज्ञान अस्वसवेद्य चीज है । ज्ञानको जाननेके लिए अन्यकी अपेक्षा होती है । ज्ञान स्वय जाना नहीं जाता है । तो ज्ञान अन्य ज्ञानसे प्रतिभासमान हुआ करता अतएव देखो कि प्रतिभासमें तो आ रहा है । ज्ञान क्रिया स्वय प्रतिभासमान नहीं है । तब ब्रह्माद्वैत-वादियोका हेतु विरुद्ध हो जायगा । ऐसा परोक्ष ज्ञान मानने वाले जो भट्ट अथवा प्रभाकर कहते हैं उनकी बात सङ्गत नही है । क्योकि ज्ञान प्रकाशित होता है । बाह्य वस्तु प्रकाशित होती है, इस प्रकारकी सबको प्रतीति हो रही है । फिर वे सब स्वय प्रतिभासमान हैं इसमें किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं दी जा सकती । अब इस सम्बन्धमे इस दिशामे भी विचार कर लेवें कि कोई लोग ऐसा कहते हैं कि उनमें उक्त दूषण देने वाले प्रभाकर तो यह कहते हैं कि आत्मा स्वय प्रकाशित होता है और भट्ट यह कहते हैं कि फलज्ञान स्वय प्रकाशित होता है। तो लो उनके आत्मामें और फल-ज्ञानमें स्वय प्रतिभासपना तो सिद्ध है ना ? तो यह बात तो प्रसिद्ध हो गयी कि कोई चीज स्वय प्रतिभास स्वरूप होती है । अब इसको और समझ लीजिए कि इसके अतिरिक्त समस्त वस्तुओके लिए स्वय प्रतिभासमानपना सिद्ध हो जाता है उसपर विचार कर लीजिए । देखिये ! विचार कोटिमे जो पदार्थ आया हो वह स्वय उप-सस्थित होता है, क्योकि वह प्रतिभासमान है । जैसे भाट्टोने यह माना है कि आत्मा स्वय प्रतिभासमान है, स्वय प्रतिभासित है और प्रभाकरोंने यह माना है कि फलज्ञान स्वय प्रतिभासमान है, स्वय प्रतिभासित है तो प्रतिभासपनाकी विचार कोटिमें रहने वाला ज्ञान और ज्ञेयरूप अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वस्तु है । याने शङ्काकार ज्ञान और

विश्वके समस्त पदार्थोंको वह विवादापन्न रख रहा है कि यह स्वयं प्रतिभासमान नहीं है तो इसपर विचार किया जा रहा है, यह विचार कोटिमे स्थित ज्ञान और ज्ञेय अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वस्तु है। चू कि प्रतिभासमान ही तो है विचारकोटिमे और उस प्रतिभासमानपनेमे इसको देखा जा रहा है तो स्वयं प्रतिभासित हैं सारे पदार्थ, यह अपने आप सिद्ध हो गया। यह ब्रह्माद्वैतवादी ही कह रहे हैं कि हमने जो अनुमान मे प्रतिभासमानपना हेतु बताया है वह हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि सारी वस्तुओके बारेमे ये दो विकल्प बना लिये कि ये समस्त वस्तु प्रतिभासमान है या नही ? यदि समग्र वस्तु प्रतिभासमान हैं तो वह प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत सिद्ध हो जाता है। और यदि कहे कि प्रतिभासमान नही है तो कुछ असत्से पुरुषाद्वैतकी सिद्धिमे बाधा नहीं आ सकती तो कोई साक्षात् और कोई परम्परासे इसको प्रतिभासमान मानेगा ही तो प्रतिभासमानपना हेतु स्पष्ट आदिकसे सिद्ध है। और, जब हेतु सिद्ध है तो हेतुके साथ इसका अविनाभाव बना है, ऐसा साध्य भी सिद्ध हो जाता है। यहाँ साध्य है पुरुषाद्वैत। इसतरह निर्दोषरूपसे पुरुषाद्वैतकी सिद्धि हो जाती है।

पुरुषाद्वैतवादियो द्वारा ज्ञानाद्वैतका निराकरण करके अपने पक्षकी स्थापना—जब पुरुषाद्वैत सिद्ध हो गया तो सम्वेदनाद्वैतका निराकरण हो गया, याने जो लोग ज्ञानपरमाणु ही मानते हैं उनके मतव्यका निराकरण हो जाता है। देखिये! कार्य कारण, ग्राह्य ग्राहक वाच्य वाचक, साध्य साधक, बाध्य बाधक और विशेषण विशेष्यभावका जब निराकरण कर दिया सम्वेदनाद्वैतवादियोंने कि मात्रज्ञान परमाणु ही है। दूसरा कोई तत्त्व नही है तो जो जब ग्राह्य ग्राहक आदिकका निराकरण किया है तो सम्वेदनाद्वैतकी व्यवस्था नही बन सकती याने जब एक सम्वेदन अद्वैत ही माना जा रहा तो वहाँ कार्य कारणभाव नही बन सकता। ग्राह्य ग्राहक भाव नहीं बन सकता। तो अद्वैतकी भी सिद्धि कैसे करेंगे ? ग्राह्य ग्राहक भाव बन जाय ज्ञानका ग्रहण किया, अमुक पदार्थ जाननेमे आया तो द्वैतका प्रसङ्ग होता है और कोई कहे कि हम नही मानते ग्राह्य ग्राहक भाव तो सम्वेदनाद्वैतकी सिद्धि कैसे करेंगे ? एक ज्ञानपरमाणु ही तत्त्व है। इस सिद्धान्तको कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ? इसकी सिद्धि के लिए किसीको साधक मानना होगा और अपना अद्वैत तत्त्व साध्य मानना होगा, दोष सम्वेदनाद्वैतमे आता है, लेकिन ब्रह्माद्वैतवादके सिद्धान्तमे यह दोष नही है, क्योंकि कार्य कारणभाव आदिक सभी बातें हम मानते हैं किन्तु वे सब प्रतिभासमान हैं, अतएव प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत आ जाता है। तो ब्रह्माद्वैतके सिद्धान्तमे ग्राह्य ग्राहक भाव आदिक माननेपर भी प्रतिभास सामान्यकी मान्यतामें किसी भी प्रकारका विरोध नही आता। क्योंकि वे सब प्रतिभासमान है तो प्रतिभास सामान्य मे अन्तर्गत है। यदि प्रतिभासमान नहीं है तो उनकी सत्ता ही नही है। उनकी कल्पनामे भी व्यवहार नही बन सकता। उस हालतमे वे किसीके बाधक कैसे बन

सकोगे ? दूसरी बात यह है कि सम्वेदनाद्वैतमे ज्ञानपरमाणु एक क्षण ठहरने वाला माना गया है। तो जो एक क्षण भर सत्ता रखता हो वह कार्य कुछ नहीं कर सकता वह अपने क्षणमें अपनी उत्पत्ति भर कर सकेगा। तो जब वह ज्ञानाणु कुछ कार्य नहीं कर सकता तो वह वस्तु ही नही है क्योंकि अर्थक्रिया होवे तब वस्तु कहलायी जा सकती है। और, यदि यह मानेंगे कि हां ज्ञान परमाणु कार्य करता है तो कार्य कारणभाव सिद्ध हो जाता है तो इस तरह वह ज्ञानाणु यदि कारण वाला है तो कार्य कारण सिद्ध हो गया। यदि कारण रहित है तो ज्ञानाणु नित्य हो गया, क्यों कि जा कारणरहित हो और विद्यमान हो वह नित्य कहलायगा इस तरह प्रतिभास सामान्यरूप पुरुषाद्वैतकी तो सिद्धि बन जायगी मगर ज्ञानपरिणमनकी सिद्धि नहीं बन सकती।

ब्रह्माद्वैतवादियो द्वारा योगाचारोके प्रति ग्राह्यग्राहकभाव सवेदनाद्वैत में भेद आनेका प्रसङ्ग—ब्रह्माद्वैतवादी ज्ञानाद्वैतवादीसे पूछ रहे हैं कि भला वे यह बतलायें कि क्षणिक सम्वेदनमे ग्राह्यग्राहकपनेका द्वैत नहीं है याने ग्राह्यग्राहकका अभाव है, यह बात किसी प्रमाणसे गृहीत होती है अथवा नही ? याने ज्ञानाद्वैतमे कुछ अश ग्राह्य हैं, कुछ अश ग्राहक हैं इस प्रकारका जो द्वैतभाव नहीं है, इसकी सिद्धि क्या किसी प्रमाणसे है अथवा नहीं है। यदि ग्राह्य ग्राहकका अभाव किसी प्रमाणसे ग्रहण में नहीं आ रहा तब फिर ग्राह्यग्राहक भावका निराकरण कैसे किया जा सकता ? ग्राह्यग्राहक नही है यह बात जब प्रमाणसे सिद्ध हुई तब ही तो ग्राह्यग्राहकका निराकरण होगा कि मात्र अद्वैत ही सम्वेदन मात्र ही तत्त्व है। यदि कहो कि क्षणिक सम्वेदनमें ग्राह्यग्राहकपनेका अभाव प्रमाणसे गृहीत नहीं होता। तो ग्राह्यग्राहकके अभावकी सिद्धि ही कैसे कर सकोगे ? यह तो कह नही सकते कि स्वरूप सम्वेदनसे ही ग्राह्यग्राहकका अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि यदि मात्र अपने स्वरूपके अनुभव के बलसे ग्राह्यग्राहकका द्वैत मिट जाय याने यह जानने वाला है, यह जाननेमें आया, इस प्रकारका द्वैत मिट जाय तो लो जब स्वरूप सम्वेदनमें ग्राह्यग्राहकका अभाव ग्रहण कर लिया तो स्वरूप सम्वेदनमें द्वैतमे स्वरूप सम्वेदन तो ग्राहक बन गया क्योंकि उसने ग्राह्यग्राहकका अभाव जाना। तो ज्ञायक तो बन गया स्वरूप सम्वेदन और ज्ञेय अथवा ग्राहक बन गया ग्राह्य ग्राहकका अभाव तो लो इस तरह ग्राह्यग्राहक भाव तो सिद्ध हो ही गया। फिर अद्वैत तत्त्व कहाँ रहा ? कुछ भी ग्राह्य बने, ग्राह्य ग्राहकका अभाव भी ग्राह्य बने, तो भी कुछ ग्राह्य तो कहलाया। और, उसका ग्रहण करने वाला स्वरूप सम्वेदन हुआ। तो यो कोई अश ग्राह्य है, कोई ग्राहक है, ऐसा द्वैतपना आ गया। फिर सम्वेदनाद्वैत तो न रहा।

ज्ञानाद्वैतका ब्रह्माद्वैतके रूपमें कहनेका ब्रह्माद्वैतवादियो द्वारा प्रतिपादन—इस प्रसङ्गमे योगाचार कहते हैं कि देखिये ! हमारा सिद्धान्त तो यह है कि

बुद्धिसे अनुभव किए जाने वाली कोइ दूसरी चीज है ही नही याने बुद्धिके अतिरिक्त अन्य कोई अनुभव होता ही नहीं है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि बुद्धि ही स्वय प्रतिभासमान होती है। जैसे कि प्रमाण वार्तिकमे कहा है कि "नान्योऽनुभाव्योबुद्धयाऽस्ति तस्य नानुभवोऽपर। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वय सैव प्रकाशते।" याने बुद्धिके द्वारा अनुमान अन्य कुछ चीज नहीं है। वही है अर्थात् ग्राह्यग्राहकपनेकी असत्ता होनेसे स्वय विधि ही प्रकाशमान हो रही है फिर वह ही मात्र तत्त्व है, इसीको सम्वेदनाद्वैत कहते हैं ऐसा सिद्धान्तका वचन है इस कारण विधिसे न तो कोई ग्राह्य है और न किसीकी विधि ग्राहक है। तत्त्व सम्वेदन स्वरूप है, उस स्वरूपमे ही ग्राह्यग्राहक भाव का अभाव है। स्वरूपका अपने आप ही ज्ञान हुआ करता है। यह भी हमारे सिद्धान्त का कानून है और इन कानूनोको जो हम कह रहे हैं यह प्रतिपादन और कल्पनासे है मगर इस कल्पनामे जो बात ग्रहणमे आयी है उस परमार्थकी बातको सिद्ध कर रहे हैं। वास्तवमे तो विधि स्वय ही प्रकाशित होती है, उसमे इतना कहना कि विधि स्वरूपसे प्रकाशमान है यह भी एक कल्पना है। ज्ञान तो स्वय एक ज्योतिर्मय तत्त्व है और वह भी मात्र सारे विश्वमे तत्त्व है। तो यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ कि विधि स्वय प्रकाशित होती है किन्तु वह स्वरूपको ग्रहण नही करती। स्वरूपको ग्रहण करनेकी आवश्यकता क्या ? जब स्वय प्रकाशमान है हां स्वरूपत अभिन्न जो ग्राह्य ग्राहकका अभाव है मायने जो अद्वैत ना है। कोई जाननेमे आया, कोई जानने वाला है, अद्वैतवादका भी अभाव है, उसका यहां सम्वेदन स्वरूपमे जान रहा है। उक्त सिद्धान्तके समाधानमे ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि बहुत ठीक कहा। आ का यह अभिप्राय हमे कोई विरुद्ध न पड़ेगा, क्योकि स्वय प्रकाशमान सम्वेदनको ही तो हम परम पुरुष ब्रह्म कहा करते हैं। वहां यह बात स्पष्ट है कि वह सम्वेदन जिसको कि क्षणिक ज्ञानवादी स्वरूपत प्रकाशमान कह रहे हैं सो है स्वरूपत प्रकाशमान, पर वह पूर्व और उत्तर कालसे विच्छिन्न नही है याने वह ज्ञानपुञ्ज अनादि अनन्त है। पूर्वकालमे भी रहा आया, उत्तर कालमे भी रहा आयगा ऐसा वह ज्ञानपुञ्ज परम पुरुष सम्वेदन स्वरूप वह नित्य है और साथ ही वह बाह्य पदार्थोंसे भी अलग नही है, किन्तु अन्त बाह्य जितने भी पदार्थ प्रतिभासमान होते है वे स्वय प्रतिभासके अन्तगत हैं, और वे नित्य व्यापक हैं।

सवेदनकी नित्यता सिद्ध करके प्रश्नोत्तर द्वारा ब्रह्माद्वैतवादियों द्वारा पुरुषाद्वैतका समर्थन— अब सम्वेदन स्वरूपकी नित्यताकी बात सुनकर योगाचार कहते हैं कि सम्वेदनके पूर्वक्षण और उत्तरक्षणका अभाव है याने सम्वेदन द्वारा न पूर्वक्षणका ग्रहण होता है न उत्तरक्षणका ग्रहण होता है। वह तो एक समयवर्ती है। जिस समयमे जो ज्ञान तत्त्व उत्पन्न हुआ बस उसका वही समय है। उससे पहिले भी नही है, उसके बाद भी नही है। अर्थात् क्षणिक वही सम्वेदन अद्वैत है। इसके समा-

धानमें कहते हैं कि इस तरह तो अर्थात् जैसे सम्वेदनमें पूर्वक्षण और उत्तरक्षणका ग्रहण नहीं होता अतएव पूर्व और उत्तर क्षणका अभाव बतला रहे हो उस सम्वेदनको क्षणस्थायी बतला रहे हो तो पूर्व और उत्तर क्षणोंको इस तरह अभाव बतानेपर हम भी यह कह सकते हैं कि सम्वेदनका अन्य सम्वेदनसे ग्रहण नहीं होता इस कारण स्व-सम्वेदनका भी अभाव हो जायगा। योगाचार सम्वेदनाद्वैतको स्वयं प्रकाशमान मानते हैं, मगर स्वयं प्रकाशमानताका भी ग्रहण तो नहीं हो रहा है। अन्य सम्वेदनसे तो उस सम्वेदनका भी अभाव हो बैठेगा। यदि योगाचार यह कहें कि सम्वेदन तो स्वयं प्रकाशमान है उसे अन्य सम्वेदनसे जाननेकी क्या जरूरत है? यों स्वयं प्रकाशमान होनेसे स्वसम्वेदनका अभाव नहीं कहा जा सकता। तो इसी तरह सुनो—जैसे स्व-सम्वेदन स्वयं प्रकाशमान है अतएव सम्वेदनका अभाव नहीं है इसी तरह पूर्व क्षणवर्ती उत्तर क्षणवर्ती जो स्वसम्वेदन हैं उनका या अन्य सन्तानमें पाये जाने वाले ज्ञानका और नील पट आदिक बाह्य पदार्थोंका भी अभाव कैसे सिद्ध किया जायगा? वे भी स्वयं प्रकाशमान हैं। तब स्वयं प्रकाशमान होनेसे स्वसम्वेदनमात्र तत्त्वकी सिद्धि कर रहे हो तो यह सब भी तो स्वयं प्रतिभाससे आ रहा है। प्रतिभासमान है सो सब व्यवस्थित है। यही प्रतिभास सामान्य परम पुरुष कहलाता है और वह पूर्वक्षण उत्तर क्षणमें रहेगा। यहाँ योगाचार यदि यह पूछें कि पूर्वक्षणवर्ती और उत्तर क्षणवर्ती सम्वेदन स्वयं प्रकाशमान है या अन्य सन्तानमें रहने वाले ज्ञान याने जीव और नील पट आदिक बाह्य पदार्थ ये स्वयं प्रकाशमान हैं यह कैसे जाना जाता है? तो अच्छा योगाचार यह बतायें कि ये सब बातें स्वयं प्रकाशमान हैं यह भी कैसे सिद्ध किया जायगा? यदि योगाचार यह कहे कि स्वसम्वेदनका स्वरूप स्वयं प्रकाशमान है इतने मात्रसे यह सिद्ध हो जायगा कि बाह्य पदार्थ और पूर्वक्षणवर्ती उत्तर क्षणवर्ती सम्वेदन अप्रकाशमान है। जब प्रकाशमान केवल स्वसम्वेदन हो रहा है तो उसके मायने यह हो जायगा कि पूर्वक्षणवर्ती ज्ञान उत्तरक्षणवर्ती ज्ञान अप्रकाशमान है तो इसके उत्तर में सुनो कि यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि पूर्वक्षणवर्ती उत्तरक्षणवर्ती ज्ञानप्रकाश है, इस तरह स्वसम्वेदन अप्रकाशमान क्यों न हो जायगा? यहाँ योगाचार कहते हैं कि यदि स्वसम्वेदन स्वयं प्रकाशमान हो तो आप उसके प्रकाशपनेका अभाव सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि जो कुछ भी निषेध किया जाता है वह विधिपूर्वक होता है। तो जो सब जगह सब कालमें कभी भी सत् नहीं है उसका निषेध तो नहीं किया जा सकता।

नित्य व्यापक एक ज्ञानाद्वैतको ब्रह्मस्वरूप माननेका ब्रह्माद्वैतवादियों द्वारा प्रतिपादन—यहाँ दो सिद्धान्तोंका परस्पर विरोध चल रहा है। ब्रह्माद्वैतवादी तो यह मानते हैं कि सारा विश्व एक ऐसा ज्ञानस्वरूप है कि जो नित्य है और सर्व व्यापक है याने ज्ञानपुञ्जको छोड़कर जगतमें और कोई तत्त्व नहीं है। लेकिन वह

ज्ञानपुञ्ज नित्य है और व्यापक है। अनादिसे अनन्त काल तक रहने वाला है और एक है और सर्वदेशमें व्यापक है, उस ही ज्ञानपुञ्जको ब्रह्म अथवा परम पुरुष कहते हैं और ज्ञानाद्वैतवादी यह कहते हैं कि ज्ञान तो तत्त्व अवश्य है मगर वह पुञ्जरूप नहीं है, किन्तु ज्ञान परमाणुरूप है और वह एक क्षण रहने वाला है। सब देशमें नहीं रहता है। भिन्न-भिन्न देशमे भिन्न-भिन्न ज्ञान परमाणु रहता है। तो इन दोनोंके विवादके प्रसङ्गमे योगाचार यह कह रहे हैं कि ज्ञानके पूर्व समय वाले ज्ञान और उत्तर समय वाला ज्ञान ये प्रकाशमान नही हैं इसलिए उसे नित्य क्यो कहा जा रहा? और पूव पूर्व समयका ज्ञान और उत्तर समयका ज्ञान तो अप्रकाशमान है। हाँ, स्वस वेदन याने जिस समय जो ज्ञान होता है उस समय उस ज्ञानकी जानकारी चल रही है। बस उस एक समयमे स्वसम्वेदन प्रतिभासमान है। स्वसम्वेदन स्वय प्रकाशमान है। यदि स्वसवेदन स्वय प्रकाशमान न हो जाय तो फिर स्वसम्वेवदनमे प्रतिभासमान का अभाव भी सिद्ध नही कर सकते। जो चीज नही है उसका निषेध कैसे किया जा सकता है? इसके उत्तरमें ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि फिर तो यह भी कह सकते हैं कि स्वसम्वेदन जो अनेक क्षण वाला है उसमे भिन्न याने पूर्व समयमें रहने वाला ज्ञान और उत्तर समयमे रहने वाला ज्ञान वे दोनो यदि प्रकाशमान नही हैं तो उनको भी प्रकाशमानपनेका अभा कैसे कह सकते हो? इससे मानना चाहिए कि ज्ञानपुञ्ज ही एक तत्त्व है और वह अनादि अनन्त है, सर्वदेशमे व्यापक है, एक ही परम पुरुष परम-ब्रह्म है। योगाचार कहते हैं कि मालूम तो होता है ऐसा कि ज्ञान पहिले भी था अब भी है और आगे भी रहेगा, मगर पहिले ज्ञान था आगे ज्ञान होगा यह विकल्प उस समय हो रहा है, स्वसम्वेदनसे नही जाना जा रहा है इसलिए स्वसम्वेदनके द्वारा पूर्व क्षणके और उत्तर क्षणके ज्ञानके अभाव कह रहे हैं। इसके उत्तरमे ब्रह्माद्वैत-वादी कहते हैं कि यह कथन सङ्गत नहीं, क्योंकि विकल्पके द्वारा पूर्वक्षणका ज्ञान और उत्तर क्षणका ज्ञान प्रतिभासमे आया है, इसीसे उनको स्वय प्रकाशमान कहा जा रहा है। जो जो विकल्पके द्वारा समझमे आता है वह वह स्वय प्रकाशमान होता है। जिस विकल्पका स्वरूप जिस विकल्पके द्वारा हमने कोई नई चीज समझा तो वह विकल्प खुद हमको विदित है। स्वय प्रकाशमान है ऐसे ही विकल्पका जो आकार आया है वह स्वय प्रकाशमान है। विकल्प द्वारा प्रतिभासित हो रहे ज्ञानके पूर्वक्षण और उत्तरक्षण याने ज्ञानकी धारा पहिले भी थी, आगे भी रहेगी। यह स्वय प्रकाश मे आ रहा है और ये बाह्य पदार्थ भी विकल्प द्वारा जाननेमे आ रहे हैं। भीट चौकी आदिक जो जो कुछ भी दिखते हैं वे सब विकल्प द्वारा प्रतिभासित हो रहे हैं इस कारण वे स्वय प्रतिभासमान हैं। इस तरह पूर्वक्षणका ज्ञान उत्तरक्षणका ज्ञान वर्तमान समयका ज्ञान ये सब एक ज्ञानपुञ्जमें धारा बन रहे हैं। वही ज्ञानपुञ्ज सदा शाश्वत रहने वाला है यह सिद्ध हो जाता है।

सब प्रतिभासोंकी प्रतिभासान्तः प्रविष्टताके कथनका ब्रह्माद्वैतवादियों

द्वारा उपसहार –यदि इस प्रसङ्गमें योगाचार यह कहे कि विकल्पमे तो गधेके सींग, मनुष्यके सींग, आकाशके फूल ये भी विकल्पमे आते हैं तो क्या ये सत्य हो गए ? और जो नष्ट हो गए और जो उत्पन्न हो रहे ऐसे पदार्थ भी विकल्पमे आते हैं वे तो सत् नही हैं। सो आपका यह हेतु व्यभिचरित हो जाता है। सो ऐसा कहना सङ्गत नहीं है, क्योकि जो जो कुछ भी प्रतिभासमे आ रहा हो वह प्रतिभास सामान्यमे समाया हुआ है। वेदान्तवादियोका यह कहना है कि जगतमे केवल एक ज्ञानप्रकाश ज्ञानज्योति ही तत्त्व है और जो प्रतिभासमें आ रहे है ये सब प्रतिभास स्वरूप हैं। तो जो कुछ भी प्रतिभासमें आया वे सब प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत हैं अतएव सभी पदार्थ स्वय प्रकाशमान होते हैं यह सिद्ध हो गया, अगर पदार्थ स्वय प्रकाशमान न हो तो अनेको ज्ञान किए जायें तो भी उनका कभी ज्ञान हो ही नही सकेगा। समस्त पदार्थ स्वय प्रतिभासमान हैं अतएव विकल्पके द्वारा भी वे ज्ञात होते हैं। ज्ञानमे जाना जाता है। अब यहाँ इस बातपर आश्चर्य हो रहा है देखो ! ये क्षणिकवादी योगाचार यह तो स्वीकार कर रहे हैं कि दूर देशके पदार्थ विकल्पमे आते हैं। जैसे यहाँसे हजारो कोश दूर पर रहने वाला कोई नगर हमारे ज्ञानमें आ रहा है अथवा दूर कालके पदार्थ पहिले हो गए राम रावण आदिक वे वे विकल्पमे आ रहे हैं या परमाणु आदिक सूक्ष्म पदार्थ ये भी विकल्पमे आ रहे हैं तो विकल्प बुद्धिमे ये सब स्वय प्रतिभासमान हो रहे हैं। ऐसा तो स्वीकार करते हैं पर ऐसा नहीं कहते कि ये सारे पदार्थ स्वय प्रकाशमान हैं। यदि सब पदार्थोंको स्वय प्रकाशमान मान लिया जाय तो सबके सब प्रतिभास सामान्यमें ही लीन होगे और उससे परम पुरुष ब्रह्मकी ही सिद्धि होगी, किंतु एक क्षणवर्ती ज्ञान परमाणुकी सिद्धि न होगी।

चित्राद्वैतवादका निराकरण करके ब्रह्माद्वैतकी ब्रह्माद्वैतवादियो द्वारा स्थापना—अब इस प्रसङ्गमे जब कि ये दो विवाद चल रहे हैं योगाचार तो यह मान रहे हैं कि सिर्फ एक परमाणु बराबर ही ज्ञान है उसे ज्ञान परमाणु कहते हैं, और वह एक क्षण ठहरता है, और वेदान्ती यह कह रहे हैं कि ज्ञानपुञ्ज तत्त्व है जो कि सर्वत्र व्यापक है, तो इन दोनोके बीच द्वैतवादी कहते हैं कि ठीक है, ज्ञान परमाणु नहीं है। निरश सम्वेदन अद्वैत नहीं है, किन्तु वह चित्राद्वैत है याने ज्ञानमे जब हजारो पदार्थ प्रतिभासमें आ रहे, जाननेमे आ रहे तो यह ज्ञान तो हजाररूप बन गया है। निरश नहीं है। और इससे चित्राद्वैतकी ही सिद्धि होती है। देखो ! तीन कालमें और तीन लोकमें जितने भी पदार्थ हैं उनके जितने भी आकार हैं उनके इस ज्ञानमे प्रतिभास हो रहा है। प्रतिभास होकर भी यह ज्ञान एक ही है, इसे कहते हैं चित्राद्वैत। ज्ञान तो है और वह एक है, मगर चित्र विचित्र है, नानारूप हो रहा है। तो वह नानारूप असक्य विवेचन है याने एक ज्ञानमे जैसे १० रङ्ग एक साथ प्रतिभासमे आ रहे हैं तो हम इस ज्ञानमें यह तो अलग नही कर सकते कि यह तो पीलेका ज्ञान है,

यह नीलेका ज्ञान है। एक ज्ञानमें एक ही जगह जब सैकडो पदार्थ प्रतिभासमे आ रहे हैं तो हम उसमे पदार्थोंके नातेमे हम एक एक ज्ञान तो नहीं बता सकते कि यह अमुक का ज्ञान है यह अमुकका ज्ञान है। एक ही समयमे एक ही ज्ञानमे ५० पदार्थ प्रतिभास मे आये हुए हैं तो व सब प्रतिभास अशक्य विवेचन हैं, उनका न्यारापन नही कर सकते इसलिए ज्ञान तो एक है मगर वह है नाना स्वरूप रूप, चित्र विचित्र है। तो इस तरह ज्ञान एक है और वह नाना पदार्थोंका प्रतिभास करने वाला है। ऐसा चित्र स्वरूप है ऐसे चित्राद्वैतवादीके सिद्धान्त रखे जानेपर वेदान्ती यह कहते हैं कि तुम भी ठीक कह रहे हो कि ज्ञान एक है और वे बाह्य जितने पदार्थ हैं तीन लोक तीन काल के सारे पदार्थोंका ही आकार उस ज्ञानमे आया है और ऐसा माननेसे परम ब्रह्मकी सिद्धि होती है याने वह परम पुरुष वह ज्ञानपुञ्ज केवल एक है नित्य है, सर्वव्यापक है और सर्वजगतरूप है, क्योंकि जो जो कुछ भी जाननेमे आया है वह सब प्रतिभास स्वरूप है। समस्त देशोमे, समस्त समयोमे और सर्व आकारोमे व्याप्त एक ज्ञान सामान्य ही है याने जितने ज्ञान विशेष हैं— चौकीका ज्ञान किया तो वह ज्ञानविशेष कहलाया, चटाईका ज्ञान किया तो वह ज्ञानविशेष कहलाया, लेकिन उन सब ज्ञान-विशेषोमे ज्ञान सामान्य बराबर बना हुआ है। तो ठीक है। मान लीजिए कि ज्ञान एक है और वह तीन काल तीन लोकके समस्त पदार्थोंको जानता है और उसीका नाम है परमब्रह्म। उससे कही चित्राद्वैतकी सिद्धि नही की जा सकती, क्योंकि अगर चित्राद्वैतको सिद्ध करेंगे तो वहां कार्य कारणरूप बनेगा। याने वह चित्र विचित्र जो विधि हुई है वह विधि कारण है। और, उसमें जो प्रकाश हुआ है वह कार्य है। तो इस तरह दो चित्र विधियोको यदि स्वीकार न किया जायगा तो मतलब नित्य बन जायगा। अगर वहाँ कार्यकारणभाव नही है इस भावको तो जाना और यह जाननेमें आया, इस तरहका कार्यकारण भाव नहीं है तो वह नित्य बन जायगा तो उसे चित्रा-द्वैत नही कहो, किन्तु ब्रह्माद्वैत कहो। इस तरह जैसे सम्वेदनाद्वैत, एक ज्ञान परमाणु एक क्षणमे ही रहता है, यह सिद्धान्त ठीक नही है, वैसे ही एक ज्ञान समस्त चित्र पदार्थोंका प्रतिभास करता है और वह भी एक क्षणमे ही रहता है, यह भी सिद्ध नही होता है। सिद्ध यह होता है कि ज्ञानपुञ्ज और वह तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंका प्रतिभास करता है और वह एक है, नित्य है, सर्वव्यापक है।

शून्याद्वैतवादका निराकरण करके पुरुषाद्वैतवादियो द्वारा ब्रह्माद्वैतका समर्थन—क्षणिकवादियोमे जो एक शून्याद्वैतवादी है, जैसे कि इन सब झगडोको सुनकर कोई यह कहेगा कि क्यो झगडते हो ? तत्त्व यह है कि दुनियामे कुछ है ही नहीं। केवल ख्याल ही ख्याल है। कल्पनासे अपने अपने मत बताये जारहे हैं। तो यो सर्वथा शून्य तत्त्व भी व्यवस्थित नही है। यदि शून्य अनुभवमे आये तो वह भी परम ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। कुछ भी निकल्पमे आया बस, वह ही परम ब्रह्म है। तो उसमें

जितने भी आक्षेप प्रतिक्षेप किए जायें उन सबसे परम ब्रह्मकी सिद्धि होती है इसलिए कहते हैं कि सुगत वास्तवमें अथवा कल्पनासे भी सर्वज्ञ नहीं है और वह मोक्षमार्गका प्रतिपादक नहीं है। केवल यह परम पुरुष परम ब्रह्म ही विश्व तत्त्वका ज्ञाता है और मोक्षमार्गका प्रणेता है, यह बात उक्त न्यायसे अपने आप सिद्ध हो जाती है। जब न ज्ञान परमाणु रहा, न चित्राद्वैत रहा, न शून्याद्वैत रहा तो अनुभवमे यह बात आयी कि जगतमे केवल एक ज्ञान सामान्य ही तत्त्व है। लोग भी ऐसा कहते हैं। यदि स्वय के ज्ञानमें कोई विकल्प हो या दु ख हो तो वह कहता है कि सारा जगत दु:खी है। ज्ञानमें यदि सुख हो तो वह सोचता है कि सारा जगत सुखी है। वह उसका ज्ञान ही इस प्रकारका बना। ज्ञान ही एक मात्र तत्त्व है। बाह्य पदार्थ जो तत्त्व माने जाते हैं वे वास्तवमे ज्ञानस्वरूप ही हैं, परम ब्रह्म ही है। चौकी आदिक ये कोई अलगसे तत्त्व नहीं हैं। जैसे स्वप्नमें जो कुछ ज्ञान होता है तो वह सब ज्ञान स्वरूप ही तो है, चीज तो सामने नही है। स्वप्न आ जाय कि सामने शेर खडा है, पर्वत खडा है तो वह ज्ञान ही ज्ञान तो है, वहाँ शेर और पर्वत आदिक कोई चीज तो नहीं है। इसी तरह यहाँ भी जितने जो कुछ भी पदार्थ प्रतिभासमे आ रहे हैं वे समस्त ज्ञान ही ज्ञान हैं, ज्ञान को छोडकर अन्य अन्य कुछ नही है और वह है ज्ञान व्यापक सदा रहने वाला। ऐसा एक ब्रह्माद्वैत ही तत्त्व है, लेकिन उसकी तरङ्गोको देखते है। अगर उसे नहीं देख पाते तो जो इन तरङ्गोकी उपेक्षा करके उस ब्रह्मस्वरूपको ही देखने चलेंगे उनको परम पुरुषकी प्राप्ति होगी और ससारके झझट उनके सदाके लिए विदा हो जायेंगे। इस तरह इस प्रकरणमें यह सिद्ध किया है कि परम ब्रह्म ही तत्त्व है, वही मोक्षमार्गका प्रणेता है, वही आप्त है और वही कर्मभूभृतका भेदने वाला है और वही समस्त तत्त्वोका ज्ञाता है।

प्रतिभास विशेषकी पारमार्थिकता होनेसे पुरुषाद्वैतैकान्तकी असिद्धि बताते हुए उक्त आरेकाओका समाधान—अब पुरुषाद्वैतके सम्बन्धमे समाधान किया जा रहा है कि अद्वैतका एकान्त जैसा कि वर्णन किया जाता है वह विचार करनेपर बनता नहीं है। अभी अद्वैत सिद्धान्तमें प्रतिभास सामान्य चैतन्यरूप परम ब्रह्मकी पारमार्थिकता माना है जो उसमें यह युक्ति दी है कि सदाकाल जो आकारका भेद होनेपर भी प्रतिभास सामान्यका कही भी अभाव नहीं होता इस कारण वह एक और व्यापक नित्य है। हाँ उसके प्रतिभास विशेषोका अवश्य व्यभिचार है अर्थात् अभाव है। जो प्रतिभास विशेष है वह किसी जगह है किसी जगह नहीं है। किसी समय है, किसी समय नही है, कोई आकार लिए हुए है तो अन्य आकार नहीं है इस तरह प्रतिभास विशेषोका तो सदा सर्वत्र अभाव है, किन्तु प्रतिभास सामान्यका कभी भी अभाव नहीं है। अत. वह पुरुषाद्वैत ही पारमार्थिक है। इस सकल्पके विषयमें शङ्काकार जरा यह बतलावें कि प्रतिभास सामान्यको तो पारमार्थिक बताया और

प्रतिभास विशेषको पारमार्थिक नही कहा तो यह बतलायें जरा कि जो वह प्रतिभास सामान्य है सो क्या समस्त प्रतिभास विशेषोंसे रहित है अथवा वहाँ सत् है ? यह तो सिद्ध नही किया जा सकता है कि प्रतिभास सामान्य प्रतिभास विशेषोंसे रहित है। क्योंकि जहाँ कोई भी प्रतिभास विशेष न हो याने समस्त प्रतिभासोंसे रहित हो ऐसा प्रतिभास सामान्य अनुभवमें नहीं आता। याने कोई ज्ञानकी मुद्रा न हो आकार न हो और कहें कि ज्ञान सामान्य है तो प्रतिभास विशेषोंसे रहित ज्ञान सामान्य कुछ नहीं हो सकता। हाँ प्रतिभास विशेषसे सहित ही प्रतिभास सामान्यका अनुभव हुआ करता है। कहीं प्रतिभास विशेषका अभाव है तो रहो दूसरी जगह प्रतिभास विशेषका सद्भाव है। किसी कालमें किसी प्रतिभास विशेषका अभाव है तो रहो, अन्य समयमें कोई प्रतिभास विशेष अवश्य है। इसी प्रकार किसी आकार विशेषसे प्रतिभास विशेष का अभाव हो फिर भी किसी न किसी अन्य दूसरे आकारसे तो प्रतिभास विशेष मिलेगा ही। तो इससे साराश यह निकला कि प्रतिभास सामान्यमें जो प्रतिभास विशेष है वह विशेष चाहे देश विशेष हो, काल विशेष हो, आकार विशेष हो उनकी अपेक्षासे ही तो वह प्रतिभास विशेष है। तो वह जब प्रतिभास विशेष है तब उनका अभाव कहाँ है ? इस तरह प्रतिभास विशेषमे भी पारमार्थिकपना सिद्ध होता है इस विषयमें अनुमान प्रयोग बनाया जा सकता है कि यह प्रतिभास विशेष पारमार्थिक है। जैसे रूपको यह प्रतिभास नित्य है उस रूपसे यह पारमार्थिक है, क्योंकि वह प्रतिभास विशेष कुछ रूपसे अव्यभिचारी है। जो जिस रूपसे अव्यभिचारी है वह उसी रूपसे पारमार्थिक है। जैसे प्रतिभास सामान्य प्रतिभासमानरूपसे ही अव्यभिचारी है विशेष रूपसे तो न तो प्रतिभास सामान्य जब प्रतिभासमानरूपसे अव्यभिचारी है तो वह प्रतिभासमानरूपसे ही पारमार्थिक है, इसी प्रकार यहाँ भी लगाइये कि यह प्रतिभास विशेष अनियत देश, अनियतकाल और अनियत आकाररूपसे अव्यभिचारी है याने उनका उस समय जो आकार है उससे है, अन्यसे नही है तो यो अपने आपके स्वरूपसे अव्यभिचारी है प्रतिभास विशेष, इस कारण प्रतिभास विशेष भी अपने स्वरूपसे पारमार्थिक है। यों प्रतिभास सामान्यकी तरह प्रतिभास विशेष भी पारमार्थिक याने वस्तु सिद्ध हो जाता है। तब यह कहना कि केवल प्रतिभास सामान्यका ही अद्वैत है अन्य कुछ नही है, यह बात घटित नही होती।

प्रतिभास विशेषोंकी सिद्धि—बिल्कुल स्पष्ट अनुभवमे आता है कि जो जिस देशकी अपेक्षा प्रतिभास विशेष है वह उस देशसे व्यभिचारी नही होता। वह वहाँ है ही। यदि जो जिस देशकी अपेक्षासे है वह उससे व्यभिचारी बन जाय तो उसे फिर भ्रान्त कैसे कहा जाना चाहिए। जैसे आकाशके देशसे होने वाला चन्द्रका प्रतिभास होता ही तो है प्रतिभास विशेष इसी प्रकार जो जिस कालका प्रतिभास विशेष है याने जिस समयमें जो प्रतिभास विशेष बना वह उस कालसे व्यभिचारी नहीं है, क्यों

कि जो जिस कालका प्रतिभास विशेष है वह उसका ही व्यभिचारी बन जाय तो वह असत्य कहलायगा मगर है तो यह जैसे रात्रिमें किसीको स्वप्न आया कि इस समय दोपहरका बड़ा तेज घाम है तो ऐसा स्वप्न प्रतिभास उस रूपसे तो बन रहा है इसी तरह जो जिस आकारका प्रतिभास विशेष है वह उस आकारका विसम्वाद करने वाला नहीं है। जो उस आकारका विसम्वादी हो उसे तो मिथ्याज्ञान कहा गया है। जैसे पीलिया रोग वालेको याने जिसके आंखमे पीलिया रोग हो गया है ऐसे पुरुषको सफेद वस्तुमे पीले आकार रूपसे प्रतिभास विशेष होता है तो ये सब है ना इस कारण देश काल और आकारसे जो व्यभिचारी बने ऐसे मिथ्या प्रतिभासोंमे समान इन प्रतिभासोको नहीं समझा जा सकता है जो कि सचमुच रूपसे देश और काल एव आकारसे अव्यभिचारी है, सत्य है, ऊपर जो तीन दृष्टान्त दिए हैं वे तो असत् प्रतिभासके हैं, उनकी तरह कहीं देश, काल, आकार विशेषसे जो ये प्रतिभास विशेष हो रहे हैं इन्हे व्यभिचारी नही कहा जा सकता। इसी कारण यह कथन भी सङ्गत नहीं बैठता कि जो आदिमे और अन्तमे नहीं है वह वर्तमानमें भी नहीं है, और ऐसा कानून बनाकर मिथ्या प्रतिभास विशेषोके समान ही सत्य और सम्भावात्मक प्रतिभास विशेषोको बता देना युक्त नहीं है। जो प्रतिभास विशेष सत्य हैं, आप लोगोके अनुभव मे आ रहे हैं वे आदिमें और अन्तमे भले हो असत् हो याने विद्यमान न हो पर वर्तमानमे तो उनका सत्त्व प्रसिद्ध ही है। देखिये! जिस प्रकार स्वप्नादिक मिथ्याज्ञानोंमें उस सम्बन्धमे भी बाधक प्रमाण उत्पन्न होता है उस तरह जागृत अवस्थामें होने वाले सत्य प्रतिभासमे बाधक प्रमाण नहीं होता। जब जहाँ जिसको जिस आकारसे जान रहे हैं वैसी तो उसकी सिद्धि है। उसको सिद्ध करने वाले साधक प्रमाण ही हैं। उस समय वहाँ स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है कि मैंने उस समय पदार्थ अच्छी तरह देखा क्योंकि वह अर्थक्रियाकारी है। यदि वह मिथ्या होता तो उससे अर्थक्रिया नहीं बन सकती। जैसे इन्द्रजाल, मायाजालमे देखा गया पदार्थ उससे कोई अर्थक्रिया नहीं बनती तो वह मिथ्या है। जैसे तमाशगीर लोग किसीकी टोपी खिसकाकर या कमीज हिलाकर रुपये लटकाते दिखाते हैं तो जो रुपये दिखाये वे अर्थक्रिया नहीं कर सकते, उनसे एक धेलेकी चीज भी नहीं खरीदी जा सकती, तो वे मिथ्या हैं। लेकिन ऐसा तो यहाँके प्रतिभास विशेषकी बात नहीं है। वह अर्थक्रियाकारी है अतएव सत्य है। दूसरी बात यह जानें कि यह ज्ञान मिथ्या है और यह ज्ञान सत्य है। ऐसी [illegible]में तो छोटे मोटे पुरुषोंको भी विवाद नही रहता, विद्वानोंकी बात तो दूर रहे। जो [illegible] आबाल गोपाल हैं वे तक भी यह कहते हैं कि [illegible]न्द्रजाल आदिकमें देखे गए पदार्थ भ्रान्त हैं अभ्रान्त नहीं और जैसा स्पष्ट साक्षात् देख रहे हैं जो व्यवहारमे आ रहे हैं वे अभ्राण्त हैं, भ्रान्त नही। तो इस तरह प्रतिभास विशेषोंमें स्वप्नादिकके उदाहरण देकर उनका भ्रान्त सिद्ध करना युक्त नहीं है।

एकान्ततः प्रतिभास सामान्यकी सिद्धिकी अशक्यता—ब्रह्माद्वैतवादियो

से पूछा जा रहा है कि भला बतलाओ कि वह प्रतिभास सामान्यरूप है अथवा द्रव्यरूप है ? वह जो ज्ञान सामान्य हुआ है यदि सामान्यरूप माना जाय उसे तो ठीक है। वह सत्तारूप ही तो सिद्ध हुआ, क्योंकि प्रतिभास सामान्य भी तो पर सामान्यरूपसे ही व्यवस्था पाता है। याने द्रव्य सामान्य ही सदा है अथवा पर सामान्य रूप है सो ठीक है किन्तु वह सामान्य सब विशेषोंके द्वारा ही बन सकता, इस कारण द्वैतका प्रसङ्ग आ ही जाता है। ऐसा एकान्त करना व्यवस्थित न बन सकेगा कि मात्र यही है दुनियामें अन्य कुछ नहीं। दुनियामें अनन्त पदार्थ हैं, उनमें सामान्य और विशेषकी अपेक्षासे अनेक बातें घटित हो जाती हैं। तो यहाँ वे पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि वह सत्ता सामान्य जिसको विकल्प कोटिमें रखे हैं वे बतलायें कि स्वयं प्रतिभासमान नहीं है। यदि कहो कि वह स्वय प्रतिभासमान है तो बस अचेतन सिद्ध हो गया। जो जो प्रतिभासमान होते हैं वे वे प्रतिभास सामान्यरूप होते हैं। यदि दूसरी बात कहे कि वह सत्ता सामान्य स्वय प्रतिभासमान नहीं है तब उसकी कोई व्यवस्था ही नहीं बना सकता। जब प्रतिभासमे ही नहीं है तब उसकी सत्ता ही नहीं है तो उसकी व्यवस्था क्या बने ? इस तरह सत्ता सामान्यरूप है, ऐसा विकल्प उठाकर प्रतिभास सामान्यका निराकरण करना युक्त नहीं है। इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि देखिये, सत्ता सामान्य क्या है ? सत् सत् इस प्रकारके अन्वय ज्ञानका जो विषय है वही सत्ता सामान्य कहलाता है। और तभी सत्ता सामान्यकी जब अन्वयज्ञानसे व्यवस्था बन गई तो वह स्वय प्रतिभासमान है यह भी प्रसिद्ध हो जाता है। वह तो अन्वय ज्ञानसे विषयभूत होता है। अब तो ऐसा ज्ञान बन रहा है कि सत्ता प्रतिभासित होती है सो ज्ञान तो विषयमे विषयी धर्मका उपचार करनेसे होता है अर्थात् यह विषयी तो है ज्ञान और उसका धर्म है प्रतिभास होना, तो वह विषय याने प्रतिभास होनेकी बात सत्ता सामान्यसे आरोपित किया जाता है। सो ठीक ही है उस आरोपमें निमित्त कारण प्रतिभासमान क्रियाका अधिकरणपना है। याने चूंकि प्रतिभासन क्रियाका अधिकरण सत्ता सामान्य है अतएव सत्ता सामान्यमें ज्ञानके धर्मका याने प्रतिभासनका आरोप किया जाता है। तभी जिस प्रकार ज्ञान प्रतिभासित होता है उस सम्बन्धमे प्रश्न कर्तामे रख रहे हैं उसी तरह उपचारसे ज्ञानका विषयभूत जो पदार्थ है उसमें भी क्रिया स्थित मानी जाती है याने ज्ञान प्रतिभासित होता है इससे जैसे यह बात स्पष्ट समझमें आती है कि प्रतिभासन क्रियाका आधार कर्ता है।

प्रतिभासित पदार्थोंमे प्रतिभासकी तरह कहनेका कारण—कर्तामे स्वय यह प्रश्न पडा है, इसी प्रकार जब सकर्मकरूपसे प्रयोग होगा तो सकर्मक धातुकी क्रिया कर्ता और कर्म दोनोंकी ही स्थिति कहलाती है। जैसे प्रयोग किया गया कि 'ओदन पचति' तो यहाँ जो पचन क्रिया है वह दो जगह पाई जाती है। जो चीज पक रही है उसमे भी प्रतीति होती है और जो कोई पक रहा है उसमें भी इसकी क्रिया

करना प्रतीत हो रही है। इसी तरह यहाँ भी लगायें—जब अकर्मक रूपसे प्रयोग किया जाता कि ज्ञान प्रतिभासित होता है तो उस अकर्मक धातुकी क्रिया कर्तामें स्थित है। उस धातुका अर्थ है कर्तामें स्थित क्रियामात्र और जब सकर्मक रूपसे प्रयोग किया जाय तो वहाँ कर्ममें स्थित भी मालूम होता है, पर वास्तवमें जहाँ कर्मस्थ क्रियाका अभाव है अकर्मक धातुओंमें कर्म नहीं, कर्मस्थ क्रिया नहीं तब वहाँ कर्तामें स्थित क्रिया कर्मको उपचारसे कहा जाता है। ज्ञान प्रतिभासित होता है, ऐसा कहना यह तो सीधा सही है और वस्तु प्रतिभासित होती है इस आग्रहमें ज्ञानकी क्रिया जो प्रतिभास है उसका उपचार ज्ञेय पदार्थमें किया गया है। अब यहाँ पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि देखिये! जब किसी प्रमाणसे ज्ञानमें मुख्यतया स्वयं प्रतिभासना सिद्ध हो तब ही तो अन्य याने ज्ञानके विषयभूत पदार्थमें प्रतिभासनके उपचारकी कल्पना करना सही है। जैसे ज्ञान प्रतिभासित होता है तो जब ज्ञानमें प्रतिभासना मुख्य सिद्ध हो जाय तब ही ज्ञान द्वारा जाने गए पदार्थमें प्रतिभासनेका उपचार किया जा सकता है। जैसे किसी बच्चेको अग्नि कह दिया तो अग्निका काम जब मुख्यतया अग्निमें सिद्ध होता है, जैसे जलाना, प्रकाश आदिक अर्थक्रिया अग्निमें सिद्ध होती है तो वहाँ मुख्यतया सिद्ध हुआ ना! तब अग्निके जलाने आदिक धर्मको देखकर किसी बच्चेमें उस धर्मके उपचारकी बात कही जाती है। तो जब कोई मुख्य पदार्थके अर्थ क्रिया सिद्ध हो तब उपचारसे उसको किसी अन्य पदार्थमें भी कह सकते हैं। जैसे अग्निके जलानेकी अर्थक्रिया प्रसिद्ध है। अग्नि ईंधनको जला देती है। तो जो जलाने वाली हो उसे अग्नि कहते हैं। अब कोई किसी बच्चेको ही अग्नि कहदे, यह बच्चा तो आग है, क्रोध विशेष करता हो या अन्य आचरणसे तो वहाँ बच्चेमें अग्निका उपचार किया गया है। बच्चा परमार्थभूत अग्नि नहीं है, लेकिन ज्ञान तो स्वयं प्रतिभासमान सिद्ध है। वह तो दूसरे ज्ञानसे जाना जाता है इसलिए ज्ञानके प्रतिभासनेका कहीं साधन भी नहीं बना सकता। तब एक यह सिद्धान्त बना कि ज्ञान स्वयं ज्ञानको नहीं जानता, किन्तु दूसरे ज्ञानके द्वारा ज्ञान जाना जाता है। जैसे किसी पदार्थको जान लिया कि यह रस्सी है तो जब यह सोचते हैं कि हमने जो यह जाना कि यह जाना कि यह रस्सी है, यह ज्ञान भी हमारा सही है या नहीं? तो उस ज्ञानको सही समझनेके लिए एक अन्य ज्ञान बनता है ना! तो अब उस अन्य ज्ञानको भी सही समझनेके लिए और अन्य ज्ञान बनेगा तो इस तरह प्रकृत ज्ञानको सही सिद्ध कर ही न सकेंगे। अनेक ज्ञानोंको सही करनेकी पड जायगी। तो जब ज्ञान स्वयं प्रतिभासमान सिद्ध होता ही नहीं है तब ज्ञानकी प्रतिभासन क्रियामें ज्ञेयमें उपचार कैसे किया जा सकता है? यहाँ शङ्काकारका यह अभिमत है कि दो तरहके वाक्य प्रयोग होते हैं एक तो ऐसा कि 'ज्ञान प्रतिभासित होता है' और एक यह कि 'किवाड प्रतिभासित होती है।' तो इन दोनोंमें बडा अन्तर है। ज्ञान तो स्वयं प्रतिभासस्वरूप है। ज्ञान प्रतिभासित होनेकी बात बन सकती है पर किवाड तो प्रतिभासस्वरूप है नहीं। क्यों

कहा जाता कि किवाड प्रतिभासित होते है ? तो उत्तर यह दिया गया था कि प्रतिभासना काम तो ज्ञानका है, पर ज्ञानका विषयभूत बना है किवाड। ज्ञानमे ज्ञेय बना है ऐसे ज्ञानका जो धर्मप्रकाश है, प्रतिभासन है उसको उपचारसे किवाडमे लगा लिया है। इसपर वेदान्ती यह कहते हैं कि उपचार कैसे बन पायगा ? पहिले मुख्य बात तो सिद्ध करलो। ज्ञान स्वय प्रकाशमान है, यह ही सिद्ध नहीं है, क्योंकि ज्ञान अन्य ज्ञान के द्वारा जाना जाता है। इस शङ्काके उत्तरमे स्याद्वादी कहते हैं कि देखिये ! यह दोष उनके लिए आ सकता है जो ऐसा मानते हों कि ज्ञानको अन्य ज्ञानके द्वारा जाना जाता है। जो ज्ञान परोक्ष माना हो उनपर यह दोष है याने अब सिद्धान्त ऐसा है कि ये अन्य ज्ञानके द्वारा प्रकृत ज्ञानका ज्ञान मानते हैं। तो ऐसा परोक्षज्ञान मानने वाले नैयायिक हो, वैशेषिक हो और उनका प्रभेदरूप भट्ट प्रभाकर हो, उनके सिद्धान्तमें तो यह बात कही जाती है, पर स्याद्वाद सिद्धान्तमे यह दोष नहीं होता कि स्याद्वादी जनोका ज्ञान स्वसम्वेदी स्वरूप है अर्थात् ज्ञान स्वयका भी उसी समय ज्ञान कर लेता है और पदार्थका भी ज्ञान कर लेता है। जैसे दीपक जलता है तो तत्काल दीपक बाह्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। इसी तरह ज्ञान जब उत्पन्न होता है तो वह ज्ञान स्वयको भी जानता है और बाह्य विषयभूत पदार्थको भी जानता है।

ज्ञानकी स्वय स्वसवेद्यताका समर्थन - अब इस प्रसङ्गमें भट्टसिद्धान्तानुयायी कहते हैं कि यद्यपि हम परोक्षज्ञानवादी हैं फिर भी दोषके योग्य नही हैं। हमारे सिद्धान्तमे आत्मा तो स्वय प्रतिभासमान माना गया है और जो प्रतिभासन है वह कहलाता है ज्ञान। तो यह प्रतिभासन याने ज्ञान आत्माका धर्म है और आत्मा स्वय प्रतिभासमान है। तो स्वय प्रतिभासमान आत्माके प्रतिभासन धर्मका उपचार ज्ञानमें बन जाता है और घट प्रतिभासित होता है, किवाड प्रतिभाषित होता है यह सब प्रतिभासन ज्ञानके बिना होता नही, इस कारण कारणभूत परोक्ष भी ज्ञान है तो भी उस ज्ञानकी जानकारी बन ही जाती है। जैस कि रूपके ज्ञानसे चक्षुका ज्ञान। कोई अपनी आँखको जान रहा है क्या ? कोई अपनी आँखको नही देख सकता, नही जान सकता। मगर आँख द्वारा सामने रूप जानें कि यह पीला है, तो रूप जाना। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि मेरे आँख भी है अन्यथा मैं रूपको कैसे जान लेता ? तो जैसे रूपके ज्ञानसे चक्षुका ज्ञान बनता है इसी प्रकार आत्माके सम्बन्धसे परोक्ष भी ज्ञान जाननेमे आ जाता है। इसी तरह प्रभाकरसिद्धान्तानुयायी भी कहते हैं कि हमारे यहाँ भी यह दोष नहीं लग सकता। यद्यपि हम करण ज्ञानको और आत्माको परोक्ष मानते हैं यह स्वय प्रतिभासमान नही है, इद्रिय आदिक ये स्वय प्रतिभासमान नहीं हैं आत्मा भी स्वय प्रतिभासमान नहीं है, लेकिन जो फलज्ञान उत्पन्न होता है वह तो स्वय प्रतिभासमान माना है। तब फलज्ञानके धर्मका याने उस प्रभावनाका उपचार आत्मामें और ज्ञानमे लग जाता है। और, भी देखिये ! चू कि फलज्ञान कर्ताके बिना

और करण ज्ञानके बिना बन नहीं सकता इसलिए वह फल कर्ता और करण ज्ञानको सिद्ध करता है कि है कोई कर्ता और कोई करण। जैसे रूपके प्रतिभासनेकी जो क्रिया हुई यही तो फल है। हमने आंखसे देखा ही फल क्या हुआ ? रूप प्रतिभासमें आया। तो जब रूप प्रतिभासमे आया तो दोनों बातें सिद्ध हो गयीं कि करण ज्ञान भी है और आत्मा भी है। इस तरह परोक्षज्ञानवादी अपनी दोषापत्तिका निवारण करते हैं, किन्तु उनके समाधानपर जब विचार किया जाता तो ये दोनो बातें सङ्गत नही उतरतीं। भाट्ट सिद्धान्तमे आत्माको तो मानते है कि वह अपने स्वरूपका प्रतिभास कर लेता है तो जब आत्माको निज स्वरूपका प्रतिभास करने वाला मान लिया तो उसीको ही बाह्य अर्थका प्रतिभास करने वाला भी मान लो और यों जब कि आत्मा अपने स्वरूपका प्रतिभासक है तो परका भी प्रतिभासक सिद्ध हो गया, फिर आत्मासे भिन्न किसी परोक्षज्ञानके माननेकी क्या आवश्यकता पड़ी है ? इसी तरह यही तो प्रभाकर सिद्धान्तमे भी होता है कि जब फलज्ञान अपने स्वरूपका और बाह्य अर्थका जाननहार सिद्ध हो गया तो उससे भिन्न कोई परोक्ष करण ज्ञानकी कल्पना क्यो की जा रही है ? इस विषयमें यदि वे यह उत्तर दें कि बात यह है कि कर्ताका करणके बिना, साधनके बिना क्रियामें व्यापार नहीं होता। तो यद्यपि जाना आत्माने और फल भी मिला जाननेका। लेकिन करणके बिना जानना बनेगा नही। वही करणज्ञान कहलाता है। यो परोक्षज्ञानकी कल्पना करनी पड़ी ऐसा कहना भी यो सङ्गत नहीं है कि जब मन और चक्षु आदिक इन्द्रिय जो भीतर और बाहर करण ज्ञान करनेमें मौजूद हैं तब अन्य करणकी कल्पना करनेमें अनवस्था दोष होता है। देखो ! सुख दुःखादिकका ज्ञान अन्तरङ्ग करणसे हो जाता याने मनसे हो जाता, बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नेत्र आदिक इन्द्रियसे हो जाता तो अब स्व और परकी पहिचान मे ये दो ही करण पर्याप्त हैं और अन्य साधनोको माननेकी क्या आवश्यकता ? तो यो स्व और पर परिच्छेदक जब आत्मा बना अथवा फल ज्ञान बना तो इसमें यथार्थ सिद्धान्त बन ही जाता है कि स्वय प्रतिभासमान आत्मा है अथवा ज्ञान है, उसके प्रतिभासन धर्मका विषयमें विचार किया जाता है तब चाहे यो कहो कि ज्ञान प्रतिभासित होता है चाहे यो कहो कि सदा सामान्य या पदार्थ विशेष प्रतिभासित होता है। दोनो ही घट जाते है उस मुख्यता और उपचारसे। और इस तरह फिर उस पदार्थ विशेषका प्रतिभास मात्रमें प्रवेश सिद्ध नही होता। इससे मानना पड़ेगा कि वास्तवमें ज्ञान स्वय प्रतिभासमान है।

सत्ता सामान्यसे भी अधिक व्यापकत्व प्रतिभास सामान्यमें बतानेका विफल प्रयास—अद्वैतवादी कहते हैं कि हम सत्ता सामान्यको प्रतिभास मात्र नहीं मानते, क्योंकि सत्ता सामान्य द्रव्य गुण कर्ममे ही व्यापक है। सामान्य विशेष समवाय तथा चार प्रकारके अभाव इनमें सत्ता नहीं रहती है। तो सत्ता सामान्यको हम प्रति-

भास सामान्य नहीं कह सकते। प्रतिभास सामान्य व्यापक तत्त्व है, सत्ता सामान्य व्यापक नहीं है याने सत्ता सामान्य वहाँ नहीं है वहाँ भी प्रतिभास मात्र है। तो यों सत्ता सामान्यका नाम प्रतिभास सामान्य न हुआ। तब कोई पूछे कि प्रतिभास सामान्य फिर क्या है ? तो सुनो ! जो समस्त भावात्मक पदार्थोंमे रहे और समस्त अभावों में रहे ऐसा जो प्रतिभास सामान्य है उसे कहते हैं हम प्रतिभास मात्र। इस कारिकाके समाधानमें कहते हैं कि पुरुषाद्वैतके समर्थनमें उक्त वचन भी समीचीन नही हैं, क्योंकि प्रतिभास सामान्य प्रतिभास विशेषोंका अविन भावी है। यदि प्रतिभास विशेष कुछ नही हैं। प्रतिभास विशेषोंके अभावमें प्रतिभास सामान्यकी व्यवस्था नही बनती। इस तरह प्रतिभास सामान्य और प्रतिभास विशेष ये दो मानने ही होंगे और दो की सिद्धि हो जानेपर अब अद्वैत तो न रहा। यदि शङ्काकार यह कहे कि प्रतिभास विशेष है तो सही किन्तु वह सत्य नहीं है और सत्यताके न होनेका कारण यह है कि उनमे समवायकता नही है। याने प्रमाणपना उनमे नहीं है। जैसे स्वप्नादिकके प्रतिभास विशेष। स्वप्नमें जैसे अनेक घटनाओंका प्रतिभास होता है वह प्रतिभास विशेष ध्यानमें तो आया किन्तु वह सत्य नहीं है, इसी प्रकार विधिके समस्त प्रतिभास विशेष भले ही कल्पनामें आते हैं किन्तु वे सत्य नही हैं। यदि ऐसा कहे तब उनके लिए यह प्रसङ्ग आयगा कि इस तरह प्रतिभास सामान्य भी सत्य न ठहरेगा, क्योंकि कहा जा सकता है कि प्रतिभास सामान्य असत्य है क्योंकि वह विसम्वादी है, अप्रमाण है। प्रतिभास सामान्यके सम्बन्धमें समवायकपना नहीं है अर्थात् जाना जाय और सही जान लिया जाय यह बात नहीं बनती। जैसे कि स्वप्नादिक प्रतिभास सामान्य स्वप्न जैसी स्थितिमें जो कुछ प्रतिभास सामान्य होता हो वह जैसे असत्य है इसी प्रकार यहाँ भी कल्पना करके जो प्रतिभास सामान्य कहा है वह भी असत्य है। तो स्वप्नादिक प्रतिभास विशेषका दृष्टान्त देकर सारे प्रतिभास विशेषोंको असत्य ठहराया तो स्वप्नादिक प्रतिभास विशेषको सामान्य असत्य ठहराकर प्रतिभास सामान्य भी असत् ठहराया जा सकता है। यहाँ यह न कहा जा सकेगा कि स्वप्नादिक प्रतिभास विशेष ही विसम्वादी हैं अर्थात् प्रतिभास विशेषोंमें प्रमाणता न आयी। तो यो स्वप्न प्रतिभास विशेष ही अप्रमाण है, उनमें व्याप्त होने वाले प्रतिभास सामान्य अप्रमाण नहीं हैं। यह बात यो न कही जा सकेगी कि स्वप्नादिक प्रतिभास विशेष अप्रमाण हैं, असत् हैं तो उनमें फिर प्रतिभास सामान्य कैसे बताया जा सकेगा ? यदि असत् प्रतिभास विशेषोमे प्रतिभास सामान्य बताया जाय तो खरविषाण आकाश पुष्प कछुवोंके रोम, बध्याका पुत्र आदिक नही है तो भी उनमे व्यापक सामान्यका सद्भाव मानना पडेगा। जब प्रतिभास विशेष कुछ नही है और प्रतिभास विशेषोंमें व्यापक प्रतिभास सामान्य माना जाता तो जो पदार्थ असत् हैं उनमें भी प्रतिभास सामान्य मानना पडेगा।

प्रतिभास सामान्यकी तरह प्रतिभास विशेषोंकी सर्वत्र व्यापकता व

सत्यता—अब यहाँ पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि देखिये ! खरविषाण आदिक तो असत् हैं। वे हैं ही नहीं, उनका अस्तित्व ही नहीं, फिर उनमे व्यापक कोई सत् कैसे हो सकता है ? उनमे प्रतिभास सामान्य कैसे माना जा सकता है ? तो उसका उत्तर यही है कि इसी तरह असत्य प्रतिभास विशेषोंमे जो रहने वाला प्रतिभास सामान्य बताया है वह भी कैसे सत्य ठहरेगा ? जैसे आकाशके फूल कुछ चीज नहीं हैं तो उनमे प्रतिभास सामान्य नहीं ठहरता ऐसे ही सारे प्रतिभास विशेष ज्ञान विशेष जो जो कुछ भी विशिष्ट जानकारियाँ हो रही हैं उन सब ज्ञानोंमें ज्ञान सामान्य कैसे रह सकेगा ? साराश यह है कि यदि प्रतिभास विशेष असत्य है पुरुषाद्वैतके मतमे तो प्रतिभास विशेषोंमें रहने वाला प्रतिभास सामान्य भी असत्य ही ठहरेगा, वह सत्य न हो सकेगा। शङ्काकार यदि यह कहे कि प्रतिभास सामान्य तो सत्य ही है और उसका कारण यह है कि प्रतिभास सामान्यका कहीं भी विच्छेद नहीं है, सर्वत्र निरन्तर है, सब जगह निरन्तर है, सब कालमे निरन्तर है, समस्त आकारोमे निरन्तर है, ऐसा प्रतिभास सामान्य सत्य है तो इसपर विचार कीजिए कि इस कथनमें यही तो बताया गया कि देश, काल, और आकारसे विशिष्ट ही प्रतिभास सामान्य है और वही सत्य है, सब जगह, सब काल और सब आकारमें जो निरन्तर रहे वह प्रतिभास सामान्य है तो इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि देश, काल और आकारसे विशिष्ट ही प्रतिभास सामान्य है। देश, काल, आकारको छोडकर कोई प्रतिभास सामान्य नहीं। यदि प्रतिभास सामान्य समस्त देश विशेषोसे रहित हो तो ऐसे प्रतिभास सामान्यमे यह विशेषण ही नहीं लग सकता है कि सब जगह सब काल और सब आकारोंमें प्रतिभास सामान्य रहता है साराश यह है कि यदि प्रतिभास सामान्य प्रतिभास विशेषोंसे रहित है, देश आदिक विशेषोंसे रहित है तो उसके लिए फिर देश, काल, आकारके सम्बन्ध की बात नहीं कही जा सकती, और इस तरह कहने वालेने देश, काल, आकाश विशेषके सत् प्रतिभास सामान्यको स्वीकार किया। तो देश, काल आदिक तो हुए पर्याय विशेषण और प्रतिभास सामान्य हुआ एक मूल द्रव्यकी तरह। तो इस कथनमें ऐसा ही प्रतिभास सामान्य स्वीकार किया गया जो एक द्रव्य अनन्त पर्यायो रूप हो ऐसा ही प्रतिभास सामान्य स्वीकार किया गया और प्रमाणसे ऐसा ही सिद्ध हो सकेगा। सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही प्रमाणसे सिद्ध होती है। तो किसी भी प्रकार युक्तियाँ लगाकर भी बोलें तो वह वस्तु रूप उतरेगा तो वह सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही ज्ञानमें आयगा।

प्रतिभासविशेषात्मक प्रतिभाससामान्यको पुरुषाद्वैत सिद्ध करनेका प्रयास व समाधान—यहाँ पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि ठीक है। एक द्रव्य और अनन्त पर्यायरूप प्रतिभास सामान्य जो सिद्ध किया है वह हमने स्वीकार किया है लेकिन उसमें यही परम पुरुष ही तो आयगा। यह परम पुरुष ही ज्ञानात्मक प्रकाशसे

निर्मल है। वह ज्ञान ज्योति स्वरूप है और मोहरूपी अंधकारसे रहित है, उसमे मोह रागद्वेषका अंधेरा नही है, वह अन्तर्यामी अर्थात् सर्वज्ञ है। देखिये! लोकमें जो लोकका प्रकाश करने मे समर्थ है ऐसा सूर्य भी तो यही प्रकाशपुञ्ज परम पुरुष है। जिसकी महान महिमा है ऐसा यह प्रसिद्ध सूर्य परम पुरुषके होनेपर ही सब पदार्थोंका प्रकाशन करता है। परम पुरुषके अभावमें सूर्य भी कुछ नहीं है। तो यह जगमगाता हुआ सूय उस परम पुरुषकी ही याद दिलाता है। इसमे जो सन्देह करता है वह अलाभमें रहता है। इस तरह एक द्रव्य और अनन्त पर्यायोरूप प्रतिभास सामान्य सिद्ध होना तो ठीक है। लेकिन यह है यही परम पुरुष। इसके समाधानमे कहते हैं कि भले ही यह भक्तिमे बताया है कि ज्ञानात्मक प्रकाशसे निर्मल है, मोहान्धकारसे परे है, अन्तर्यामी है, तो एसा परम पुरुष है। यह भी समझमे आ रहा है या नहीं? समझमें यदि आ रहा है तो इसके मायने है कि वह ज्ञेयमय हुआ, प्रकाश्य हुआ। तो ज्ञानरूपसे प्रकाशित होने वाला हुआ ना कुछ! वह हुआ ज्ञेय, तो ज्ञानरूपसे ज्ञेय भिन्न ही होता है। अब यहां दो चीजें हो गई—ज्ञान और ज्ञेय। प्रकाश और प्रकाश्य। तो अद्वैत परम पुरुष सिद्ध तो नहीं हो सकता। प्रकाशपुञ्ज भी है और प्रकाश में जो कुछ आ रहा है, ऐसा पदार्थ भी है। यदि शङ्काकार यह कहे कि हम तो समस्त ज्ञेयोको ज्ञानरूप भी मानते हैं, क्योकि वह प्रकाशमान हैं। जैसे ज्ञानका अपने स्वरूपमें ज्ञानमें ज्ञानका स्वरूप आता है, जाना जाता हैं। तो वह ज्ञानस्वरूप ज्ञान मात्र ही तो है। इसी प्रकार जगतमें जितने भी पदार्थ है वे सब प्रकाशमान हैं अतएव सब ज्ञानरूप ही हैं। ऐसा कहने वाले पुरुष ऐसा माननेको बाध्य होंगे ही कि लो ज्ञान भी ज्ञेयरूप बन गया। तो इस हालतमें अब ज्ञेयाद्वैत मान लेना चाहिए। तो अब पुरुषाद्वैत तो न रहा, प्रकाशाद्वैत भी न रहा। अब तो ज्ञेयाद्वैत सिद्ध हो गया, क्योकि समस्त ज्ञेयोको ज्ञानरूप मान लिया। तो चाहे ज्ञानाद्वैत कह लो, ज्ञेय मिटाने के लिए चाहे ज्ञेयको द्वैत कह लो ज्ञान मिटानेके लिए। तो जब प्रधान रूपसे ज्ञेयोंको ज्ञानरूप मानते तो ज्ञेयाद्वैत रहा। यदि शङ्काकार यह कहे कि ज्ञेयाद्वैत कैसे रहा? ज्ञानके अभावमें ज्ञेय कैसे सिद्ध हो सकता है? तो उसके उत्तरमें यह भी तो कहा जा सकता कि ज्ञेयके अभावमे ज्ञान कैसे सिद्ध हो सकता है? ज्ञान ज्ञेका अविनाभावी है। यदि ज्ञेय नही है तो ज्ञान भी कुछ तत्त्व नही है।

ज्ञेयके अभावमें ज्ञानकी सिद्धि न हो सकनेसे द्वैतसिद्धिकी अनिवार्यता

पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि ज्ञेयके बिना भी ज्ञान हो सकता है। जैसे स्वप्नमें जो कुछ देखा या इन्द्रजालमें जो कुछ देखा वहाँ ज्ञेय तो नहीं है लेकिन ज्ञान हो रहा है। तब यह न कहना चाहिए कि ज्ञान ज्ञेयका अविनाभावी है, ज्ञेय न हो तो ज्ञान कुछ न रह सके यह बात नहीं बनती। ज्ञान सर्वोपरि है, सर्व व्यापक है। ज्ञेयके बिना भी ज्ञान रहता है। इसके समाधानमें स्याद्वादी कहते है कि स्वप्न और इन्द्रजाल जैसी

स्थितिमें भी जो ज्ञान होता है वह ज्ञेय सामान्यके सद्भावमे ही होता है। चाहे वहाँ ज्ञेय विशेष वस्तुरूपसे नहीं पाया गया। लेकिन एक आकार तो ज्ञेयरूपसे बना ही। जितने भी ये ज्ञान हैं संशयज्ञान हो, स्वप्नज्ञान हो ये ज्ञेय सामान्यके व्यभिचारी नहीं बन पाते। ज्ञेय सामान्य तो है ही अन्यथा ज्ञान नहीं बनता। हाँ ये सब ज्ञान जो अप्रमाण माने जाते हैं वे ज्ञेय विशेषमें व्यभिचरित होनेसे याने जैसा जाना वैसा ज्ञेय विशेष वहाँ उपस्थित नही है, न अप्रमाण कहा जाता है, पर जाननेके समयमे ज्ञेय सामान्य तो रहता ही है। चाहे कोई यथार्थ ज्ञान हो अथवा अयथार्थ ज्ञान हो सारे ही ज्ञान ज्ञेयको लेकर ही होते हैं। ज्ञेयके बिना किसी भी ज्ञानकी निष्पत्ति नही होती। जैसे संशयमें यह जाना कि यह सीप है या चाँदी तो भले ही वहाँ न सीपका निर्णय है न चाँदीका निर्णय है और वहाँ क्या चीज पडी है उस वस्तुके प्रतिभासमें दृढता भी नही है लेकिन कुछ तो है रूप आदिक वाला ऐसा ज्ञेय सामान्य इस संशयज्ञानमें विषय हो तो रहा है तो ज्ञेय सामान्यके अभावमें संशयज्ञान भी न हो सका। कभी विपरीत ज्ञान भी हो जाय कि पड़ी तो हो सीप और जान गए चाँदी तो चाँदी यद्यपि वहाँ नहीं है और ज्ञान हो रहा है तो वही ज्ञेय नहीं है लेकिन ज्ञेय सामान्य तो है ही। कोई वस्तु ज्ञानमें आ ही तो रही है जिसके प्रति यह विकल्प बना कि यह जुदी है। तो ज्ञेयके बिना कोई भी ज्ञान निष्पन्न हो ही नहीं सकता। तब यह सिद्ध हो गया कि ज्ञेय भी है, ज्ञान भी है। दोनोंको माना और उनमें यदि ज्ञानाद्वैतकी ही हठ रखते हो तो वही क्यो हठ हो? ज्ञेयके अद्वैतकी हठ करने लगो। दूसरी बात यह है कि सारे ज्ञेय स्वयं प्रकाशमान सिद्ध नहीं होते। ज्ञेय स्वय प्रकाशमान नहीं है, स्वय प्रकाशमान तो ज्ञान है और स्वय प्रकाशमान ज्ञानका विषय होनेके कारण ज्ञेयको उपचारसे प्रकाशमान कह दिया जाता है। जैसे ज्ञान प्रतिभासमान है, यह तो है सत्य कथन और चौकी आदिक प्रतिभासित हैं यह है उपचार कथन याने प्रतिभासित तो है ज्ञान और ज्ञानके प्रतिभासपनेका उपचार किया है ज्ञानके विषय में जो ज्ञानका विषयभूत है उसे भी प्रतिभासित कह दिया गया है तो जैसे स्वयं प्रकाशमान तो सूर्य है और सूर्यके प्रकाश पुञ्जसे प्रकाशित ये सारे पदार्थ हैं, इनको भी प्रकाशमान कहा जाता है। तो यहाँ सूर्यका जो प्रकाशमानपना धर्म है उस धर्मका इन पदार्थोंमे उपचार किया गया है। तब जिस प्रकार प्रकाशनेके योग्य पदार्थ न हो तो सूर्य उनको प्रकासित नहीं कर सकता इसी प्रकार जाननेमें आने वाले नील पदार्थ, सुख आदिक पदार्थ यदि ये ज्ञेय पदार्थ न हो तो परम पुरुष उनको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। जैसे परम पुरुषको अभी बोध स्वरूप प्रकाशसे निराला और सर्वज्ञ बताया गया याने कुछ भी न हो दुनियाँमें ये बाह्य पदार्थ तो सूर्य किसे प्रकाशित करे? फिर सूर्य प्रकाशित करनेमें समर्थ न रहा, इसी तरह अगर ये जगतके सारे पदार्थ न हो ये ज्ञेय तत्त्व न हो तो वह परम पुरुष किसे प्रतिभासित करेगा? तो यह सिद्ध हुआ ना, कि यहाँ तक कि जो भीतरी प्रकाशमान तत्त्व हैं, अनन्त पर्याय

शाला है, एक परम पुरुष माना है तो माना ना, सामान्य विशेषात्मक। सो इसी तरह बाहरमें जितने भी पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं वे सब भी अनन्त पर्याय विशिष्ट द्रव्य माने जाने चाहियें। तो इस तरह चेतन द्रव्य भी सामान्य विशेषात्मक सिद्ध हुआ और अचेतन द्रव्य भी सामान्य विशेषात्मक सिद्ध हो जाता है। इस तरहसे चेतन और अचेतन इन दो द्रव्योंकी सिद्धि तो हो ही जाती है। अब केवल एक पुरुषाद्वैत न रहा, जैसे कि सम्वेदनाद्वैत भी नही रहता।

चेतन अचेतन पदार्थोंकी विविधता—अब चेतन और अचेतन ये दो द्रव्य सिद्ध हो जानेके बाद इसका विस्तार देखिए। चेतन द्रव्य सामान्यकी अपेक्षासे एक है याने जितने भी चेतन पदार्थ हैं उन सबमे चेतन सामान्य समस्त रूपसे पाया जा रहा है। तो केवल एक स्वरूपकी दृष्टिसे एक रहा फिर भी कहते हैं कि अपेक्षासे देखा जाय, उनकी परिणति पर्यायोको निरख करके देखा जाय तो ससारी और मुक्त ऐसे दो भेद हुए। फिर उनका और विशेष देखा जाय तो और भी अनेक भेद होते हैं। तो सर्वथा एक चेतन न रहा, क्योंकि सर्वथा एक माननेपर ससार और मुक्त ये भेद नहीं मिल सकते। तो चेतन भी सिद्ध हुआ और वह भी अनेक सिद्ध होगा। इसी प्रकार अचेतन द्रव्य भी जो सामान्य विशेषात्मक रूपसे प्रसिद्ध हुआ था वह भी एक सामान्य तया तो कह लीजिए, पर विशेष अपेक्षासे मूर्तिक और अमूर्तिक ऐसे दो भेद हो जाते हैं। यदि सर्वथा अचेतन द्रव्य एक हो तो मूर्तिक द्रव्य और अमूर्तिक द्रव्य मे भेद नहीं बन सकते हैं। और, यह प्रकट समझमे आ रहा कि जितने ये अचेतन पुद्गल द्रव्य हैं वे सब मूर्तिमान है, लेकिन वे चाक्षुष नही हो रहे हैं, स्कध पृथ्वी आदिक अनेक प्रकारके मूर्तिक पदार्थ प्रकट ज्ञात हो रहे हैं। अब रहा कोई अमूर्तिक द्रव्य तो ऐसे अमूर्त द्रव्य चार प्रकारके हैं—धर्म, अधर्म, आकाश और काल। याने अचेतन होकर अमूर्तिक हो वे द्रव्य चार प्रकारके है और ये चार प्रकारके द्रव्य हैं, ऐसा समझनेमे सन्देह न रखना, क्योंकि जब चार प्रकारके काय देखे जा रहे हैं कि गतियाँ हो रही हैं, चलना हो रहा है फिर भी ठहर जाते हैं। पदार्थका अवगाहन होरहा है, परिणमन हो रहा है पदार्थोंका तो इन कार्योंका अनुमान होता है कि जो गतिमे निमित्तभूत हो सो धर्मद्रव्य है जो स्थितिमे निमित्तभूत हो सो अधर्म द्रव्य है, जो अवगाहनमें निमित्त है सो आकाश द्रव्य और जो परिणमनमे निमित्त है सो काल द्रव्य है। इस तरह ६ द्रव्य सब प्रमाण सिद्ध होते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। और इन ६ द्रव्योंकी अनन्त पर्याय है। प्रथम तो द्रव्यमे अर्थपर्याय होती है जिसमे षट्गुण हानिवृद्धि है। सूक्ष्म है वह ज्ञानगम्य है। फिर उन द्रव्योंकी व्यञ्जन पर्यायें हैं, जिनमे आकार पाया जाय वे तो प्रदेशत्व गुणके विकाररूप हैं, व्यञ्जन पर्याय हैं। जिनमे भाव पाया जाय वे गुणपर्यायें हैं। इस तरह द्रव्य पर्याय सभी ज्ञेय हैं। तब एक पुरुषाद्वैतकी सिद्धि नही हो सकती है। और यह भी नही कहा जा सकता कि ये सारे

द्रव्य समस्त पर्याय जो ज्ञानमें प्रतिभासमान हो रहे हैं वे सब प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत ही हुए। किसी भी प्रकार कुछ भी समझ जायें, ज्ञान और ज्ञेय तो मानना ही पड़ेगा। विषय विषयीका भेद न हो तो न विषय ठहरेगा न विषयी रहेगा। यदि ज्ञान ज्ञेयकी प्रक्रिया न मानी जाय तो न ज्ञान ही ठहरेगा और न ज्ञेय ही ठहर सकता। तो न तो द्रव्यका एकान्त रहा न पर्यायका एकान्त रहा, न ज्ञानका एकान्त रहा, न ज्ञेयका एकान्त रहा। सभी प्रकारके पदार्थ हैं और जो जिस प्रकारसे पदार्थ अवस्थित है वहाँ उस प्रकारसे ज्ञान करना चाहिए। तो प्रतिभासाद्वैत मानने वालोंने जो एक यह रटन लगाया था कि जो कुछ भी बताया जाय उसीका ही प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत कर लेंगे तो यों प्रतिभास सामान्यमें अन्तर्गत न होगा। सारा विश्व प्रतिभास अपनी जगह है और प्रतिभास्य पदार्थ वह अपने स्वरूपमें है।

कर्म क्रिया कारक आदि सबकी सिद्धि—कर्म आदिक कारक और परिस्पदात्मक क्रियाके धात्वर्थ वाली क्रिया इसके भेदकी जो बात रखी उसे भी यों कह कर टाल दिया था कि चूंकि ये भी प्रतिभासमान हो रहे हैं तो प्रतिभासमात्रके अन्तर्गत आते हैं। प्रतिभासमान हो रहे हैं तो ज्ञानके विषय तो हैं। भले ही उनमे प्रतिभासमानपनेकी बात कहकर प्रतिभास सामान्यमें घोल रहा हो लेकिन यह तो विचारें कि उनको प्रतिभासमानपना उपचारसे ही कहा जा रहा है। वास्तवमें प्रतिभासमान यह धर्म ज्ञानका है और ज्ञानमें जो विषय होता है उसे प्रतिभासमान कहा जाता है उपचारसे। तो जो ये बाह्य पदार्थ प्रतिभासमें आ रहे हैं वे प्रतिभास्य हैं किन्तु ज्ञान मात्र नहीं हैं। पुरुषाद्वैतवादियोंके प्रति जिन जिन बाह्य तत्त्वोंकी बात रखी गई, वे उन सबको ही प्रतिभास सामान्यके अन्तर्गत मानकर निराकरण करते आये हैं। वस्तुतः विचार किया जाय तो क्रिया कारक आदिकका जो भेद प्रतिभास है, यह जो हो रहा है, यदि प्रतिभास मात्रके अन्तर्गत हो तो प्रतिभास हो ही नहीं सकता। यह भेद जो सबको दिख रहा है यह भेद कैसे हुआ? प्रतिभासमात्र उनका जनक नहीं हो सकता। जो एक है वह अपनेसे उत्पन्न नहीं होता, याने एक ही स्वयं जन्य हो और वही जनक हो यह बात नहीं बनती। तो जो भी बताया गया है—कर्म दो हैं, फल दो हैं, लोक परलोक हैं विद्या अविद्या है तो जैसे ये स्वयं प्रतिभासमान प्रमाणके विषय हैं, इसी तरह बन्ध मोक्ष ये भी स्वयं प्रतिभासमान प्रमाणके विषय हैं और इनका प्रतिभास हो रहा है, पर है प्रमेयरूपसे व्यवस्था। ज्ञानमें आ रहे हैं, पर ये प्रतिभासमात्रके अन्तर्गत नहीं कहे जा सकते। तो इस तरह प्रतिभासमात्रसे भिन्न ये प्रमेय न माने जायें तो प्रमाणकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। आगम आदिककी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। और, स्याद्वादी ही नहीं किन्तु वैशेषिक नैयायिक सांख्य आदिक अनेक दार्शनिकोंके द्वारा स्वीकार किया गया है कि अनेक पदार्थ हैं। तो उनके स्वीकारसे भी पुरुषाद्वैतमें बाधा आती है। वे सभी पदार्थ जिसने माने हैं किसी न किसी रूपमें वे

ज्ञान विशेषसे प्रतिभासमान हैं और उनका प्रतिभासमात्र नहीं कह सकते प्रतिभासमात्र तो एक ज्ञानमात्र तत्त्व है। तो यों मोक्षमार्गका प्रणेता एक प्रतिभासमात्र परम पुरुष भी नहीं व्यवस्थित होता। इस तरह जब अन्य किसीकी सर्वज्ञताका सद्भाव नहीं बनता तो मोक्षमार्गका प्रणेतापन भी नहीं बनता। तब क्या सिद्ध हुआ इसको आचार्य देव कारिकामें कहते हैं।

सोऽर्हन्नेव मुनीन्द्राणां वन्द्यः समवतिष्ठते।
तत्सद्भावे प्रमाणस्य निर्बाध्यस्य विनिश्चयात् ॥ ८७ ॥

वीतराग सर्वज्ञ अर्हन्तके ही मुनीन्द्रवन्द्यता—जो मोक्षमार्गका प्रणेता है, सर्वज्ञ है, कर्मभूभृतका भेत्ता है वह अरहत ही है। और वही मुनीन्द्रो द्वारा वदनीय है। यहाँ किसी व्यक्तिका नाम अरहत नहीं है, किन्तु जिसका आत्म श्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमणरूप समाधिके बलसे अपने आत्म-प्रकाशमे ही अपना उपयोग लगाया है, वहाँ ही वह मग्न करता है, उसके प्रतापसे कर्मपहाड नष्ट हुए हैं, सर्वज्ञता प्रकट हुई है और धर्मविशेषके कारण दर्शनविशुद्धि भावनाके कारण जो एक तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध हुआ था, उसका अभ्युदय प्राप्त हो तो वह ही मोक्षमार्गका प्रणेता है। ऐसा कोई भी पुरुष हो वह मोक्षमार्गका प्रणेता है। क्योंकि अरहतके सद्भावमे निर्बाध प्रमाण मौजूद है। जिस प्रमाणमे बाधा न आये और निश्चित हो ऐसे प्रमाण द्वारा अरहतके सर्वज्ञपना, कर्मपहाडका भेदनपना और मोक्षमार्गका प्रणयन सिद्ध होता है। ऐसा वह कौन सा प्रमाण है जो अरहतकी इन तीन विशेषताओको सिद्ध करता है? तो सुनो!

ततोऽन्तरिततत्त्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतोऽञ्जसा।
प्रमेयत्वाद्यथाऽस्मादृक्प्रत्यक्षार्थाः सुनिश्चिताः ॥ ८८ ॥

अर्हतके अन्तरित तत्त्वोके स्पष्ट प्रत्यक्ष होनेकी प्रमाणसे सिद्धि—अरहतके सर्वज्ञत्व कर्मभूभृत्त्व और मोक्षमार्ग प्रणेतृत्व सिद्ध करनेके लिए ये प्रमाण दिये जा रहे हैं तो सबसे पहिले सर्वज्ञताकी सिद्धिमे कह रहे हैं कि अतरित पदार्थ अर्थात् जो देशसे दूर हो, कालसे दूर हो और स्वभावसे सूक्ष्म हो वह पदार्थ अरहन्त भगवानकी अवस्थामे प्रत्यक्ष हो रहे हैं, क्योंकि प्रमेय है, जैसे हम लोगोके द्वारा सुनिश्चित् जो प्रत्यक्षभूत पदार्थ हैं वे प्रत्यक्ष हो रहे है। जैसे हमे अपने प्रत्यक्ष पदार्थ अर्थात् जो देशसे दूर हो, कालसे दूर हो और स्वभावसे सूक्ष्म हो वह पदार्थ अरहत भगवानकी अवस्थामे प्रत्यक्ष हो रहे हैं क्योंकि प्रमेय हैं। जैसे हम लोगोके द्वारा सुनिश्चित जो प्रत्यक्षभूत पदार्थ हैं वे प्रत्यक्ष हो रहे है। जैसे हमे अपने प्रत्यक्ष पदार्थ का निश्चित् रूपसे प्रत्यक्ष ज्ञान बन रहा है उसी प्रकार अरहतको भी अतरित पदार्थों

का यथार्थरूपसे प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अन्तरित पदार्थके मायने क्या है? कि जो देश काल और स्वभावसे अन्तरित हो।

अन्तरित तत्त्वोकी प्रत्यक्षगोचरताके प्रतिकूल शङ्काकारकी शङ्का—यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि इन अन्तरित पदार्थोंकी सत्ता सिद्ध करनेमें कोई प्रमाण नही बन रहा है। हम लोगोंका प्रत्यक्ष तो काम नही दे रहा कि उन अन्तरित पदार्थोंको जानें, क्योंकि बहुत दूर देशके बहुत दूर कालके और स्वभावसे जो अत्यन्त सूक्ष्म हैं ऐसे पदार्थ हम लोगोके प्रमाणके विषय नही है, क्योकि प्रत्यक्ष तो वह है जो इन्द्रियके साथ आत्माका सम्बन्ध बनकर ज्ञान उत्पन्न हो। तो उन अन्तरित पदार्थोंकी प्रत्यक्ष प्रमाणसे तो सिद्धि है नही, अनुमान प्रमाण भी उन अन्तरित पदार्थोंका सद्भाव सिद्ध नहीं कर सकता, क्योकि उनका सिद्ध करने वाला कोई अविनाभावी लिङ्ग नहीं है जिस साधनको देखकर निश्चित रूपसे यह कहा जा सके कि यह है अन्तरित पदार्थ आगम प्रमाण भी अन्तरित पदार्थके सद्भावका साधक नहीं हो सकता, क्योकि आगम तो अपने स्वरूप विषयमें ही प्रमाण है और आगमको अपौरुषेय भी कहा जाता है। जो अपौरुषेय आगम है वह तो अपने स्वरूपके विषयमें ही प्रमाण है और जो अपौरुषेय नहीं है याने किसी पुरुषके द्वारा रचे गये हैं उनमें प्रमाणता सम्भव नही है। यदि कोई यह कहे कि जो सर्वज्ञ प्रणीत पौरुषेय आगम हैं उनसे सर्वज्ञकी सिद्धि कर ली जायगी। तो पहिले सर्वज्ञ सिद्धि तो करलें फिर सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत आगमकी दुहाई दी जा सकती है। अर्थापत्ति प्रमाण भी अन्तरित पदार्थोंका सद्भाव सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि जो देश, काल, स्वभावसे विप्रकृष्ट हैं याने दूरवर्ती हैं, उन पदार्थोंके बिना जो उत्पन्न न हो, ऐसा कोई पदार्थ दीखता हो नहीं है। किसी भी प्रमाणसे सिद्ध ही नहीं है, तो अर्थापत्ति भी अन्तरित पदार्थोंके परिचयमें साधक नहीं होसकती। उपमान प्रमाण तो अन्तरित पदार्थोंका अस्तित्व कैसे सिद्ध करे? उनके समान कोई उपमानभूत पदार्थ मिले तब कहा जाय कि उपमान प्रमाणसे अन्तरित पदार्थोंका सद्भाव सिद्ध हुआ है। इस प्रकार उस सत्त्वका सद्भाव सिद्ध करने वाले ५ प्रमाण अन्तरित पदार्थोंकी सिद्धिमें साधक नही हैं तो कैसे कहा जा सकता कि कोई अन्य अन्तरित दूरवर्ती सूक्ष्म पदार्थ है। तो जब अन्तरित पदार्थ ही सिद्ध नहीं हो सकता तो हेतु किसमें रहे? किसको प्रत्यक्ष सिद्ध करे? तो हेतुमें आश्रयासिद्ध दोष होता है।

अन्तरित तत्त्वोंकी ज्ञानगोचरता सिद्ध करते हुए उक्त शङ्काका समाधान—उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि अन्तरित पदार्थोंकी सत्ता सिद्ध करने वाला प्रमाण निर्बाध है। देखो! स्फटिक कांच आदिकका स्फटिक पदार्थ तो हमें प्रत्यक्षसे ही सिद्ध हो रहा है, किसी कांचके पीछे कोई पदार्थ हो तो उसका हमें ज्ञान हो रहा कि नहीं? तो व्यवहित याने अन्तरित पदार्थ ज्ञेय हो सकता है, यह बात

तो हम अपने इस ज्ञानसे ही समझ सकते हैं। और, कोई अन्तरित पदार्थ ऐसा होता है जो अनुमान द्वारा जान लिया जाता है। जैसे दीवालके पीछे आग जल रही है, पर हम धुवेंको देखकर ज्ञान कर लेते हैं कि यहां आग है तो देखो वह दीवालसे व्यवहित है आग लेकिन उसका परिचय हमने अनुमानसे कर लिया, इसी प्रकार कालसे व्यवहित पदार्थ भी जान लिया जाता है। जैसे अभी आध' पौन घण्टेमें वर्षा होने वाली हो तो हम उसी वर्षाका अस्तित्व विशिष्ट मेघ आकाशमे छाये मेघको देखकर कर लेते हैं तो यह एक माद्दा है कि भावी पदार्थ भी जान लिए जाते हैं इसी तरह अतीत पदार्थमें ज्ञानमें आ जाता है। जैसे अग्नि आदिक पदार्थ अब नहीं रहे, वे जलकर राख हो गए तो उस राखको देख करके यह तो समझ लेते हैं कि अग्नि थी। और इन्द्रियकी शक्तियां ये स्वभावसे व्यवहित हैं अर्थात् सूक्ष्म बातें हैं। पर इन्द्रिय शक्तियोंको भी हम अर्थापत्तिसे जान लेते हैं, आंखमे देखनेकी शक्ति है। इस शक्तिको क्या किसीने प्रत्यक्ष समझा है? नहीं समझा। लेकिन चूंकि हम रूपका परिचय करते हैं तो इस रूप ज्ञान के कारण यह जानकारी सही बनती है कि मेरे आंखमे देखनेकी शक्ति है तो इस तरह अतरित पदार्थ प्रसिद्ध है। तब यह नहीं कहा जा सकता कि हेतु आश्रयासिद्ध है, अन्तरित पदार्थ है और अन्तरित पदार्थोंका ही किसीके द्वारा प्रत्यक्षभूत सिद्ध किए जा रहे हैं। अब यहाँ कोई शङ्का कर रहा है कि हम लोगोंके प्रत्यक्ष अनुमानमें आने वाले व्यवहित पदार्थ भी सिद्ध हो जायें और इस तरह हेतुमे आश्रयासिद्ध दोष भी न रहे, लेकिन प्रकृत अनुमान तो अप्रसिद्ध विशेषण है, अर्थात् जो पक्ष बनाया गया है उसका विशेषण असिद्ध है। पक्ष यह बनाया गया है कि अन्तरित पदार्थ अरहत भगवानके प्रत्यक्ष है तो अरहतकी प्रत्यक्षता कही भी सिद्ध नही हो सकती। इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि ऐसी शङ्का करना योग्य नही है। पहिली बात समझिये—योग्य पुरुष विशेषका नाम अरहत है ऐसे योग्य पुरुषके प्रत्यक्ष ज्ञान रहे इसमें, किसी प्रकार का विरोध नहीं है। तो अरहतके प्रत्यक्षता है, वह योग्य पुरुष है, उसकी प्रत्यक्षताकी बात कही जा रही है। यदि सम्बद्ध वर्तमान आदिक पदार्थोंमें अरहतकी प्रत्यक्षताका विरोध हो तो फिर अन्य किसीके भी द्वारा माने गये किसी पुरुषकी प्रत्यक्षता सिद्ध नहीं हो सकती। उक्त बात सुनकर शङ्काकार यहाँ अपना आशय यह दिखा रहा है है कि अन्तरित पदार्थ अरहतमें प्रत्यक्ष है, यह बात तो उपचारसे सिद्ध हुई। जैसे कि ऊपर योग्य पुरुषकी बात कहकर बताया जा रहा है। तो इस तरहकी बात मानना उसके लिए सिद्ध साधन ही है। किसी विशेष पुरुषमें उपचारत भी बात कही जा सकती है। उसका हमें कोई विरोध नहीं है। इसके समाधानमे कहते हैं कि यह शङ्का करना यो ठीक नहीं कि हम अरहत भगवानके परमार्थ प्रत्यक्षकी बात कह रहे हैं। उपचार प्रत्यक्षकी बात नही कह रहे, और इस कारण न हेतुमे सिद्ध साधन दोष है और न आश्रयासिद्ध दोष है। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि जो यह अनुमान बनाया है कि अन्तरित पदार्थ अरहत भगवानके प्रत्यक्ष है, क्योंकि प्रमेय है तो यह हेतु

विपक्षमें रहनेसे अनेकान्तिक दोषसे दूषित है याने प्रमेय होनेसे वह प्रत्यक्ष ही हो सो बात नहीं, किन्तु अप्रत्यक्षमें भी प्रमेयपना पाया जाता है। इस आशङ्काको दूर करने के लिए एक कारिका कहते हैं।

हेतोर्न व्यभिचारोऽत्र दूरार्थैर्मन्दरादिभिः।
सूक्ष्मैर्वा परमाण्वाद्यैस्तेषां पक्षीकृतत्वतः॥ ८९॥

सभी अन्तरित पदार्थोंका भी पक्षी करण होनेसे प्रमेयत्व हेतुमें अनैकान्तिक दोषकी अनुपपत्ति—दूर देशवर्ती मेरु आदिक पदार्थ अथवा सूक्ष्म परमाणु आदिक पदार्थके साथ हेतुका अनैकान्तिक दोष नहीं होता, क्योंकि उनको यहाँ पक्षमें बताया गया है। याने जितने भी दूरदेशवर्ती पदार्थ हैं या सूक्ष्म पदार्थ हैं या बहुत अतीत भविष्यकालके पदार्थ हैं उन सबको पक्षमें ही दिखाया गया है कि वे सभी पदार्थ अरहंतके प्रत्यक्ष हैं। तो प्रमेयत्व हेतु तो अनैकान्तिक तब बनता कि जिसको पक्षमें नहीं बताया है ऐसे विपक्षमें हेतु चला जाता, लेकिन विपक्ष कोई मिलेगा ही नहीं। जितने भी अन्तरित पदार्थ हैं वे सभी पक्षमें दिखाये गए हैं अतएव प्रमेयत्व हेतुका दोषी बताना युक्त नहीं है। अनैकान्तिक दोषका अर्थ यह है कि हेतु सपक्षमें भी पाया जाय और विपक्षमें भी पाया जाय। तो जो हेतु विपक्षमें पाया जाता हो उस हेतुके ज्ञायकता नहीं बन सकती। किन्तु यहाँ जितने भी अन्तरित पदार्थ हैं सभी पक्ष के अन्तर्गत हैं। तो हेतु पक्षमें पाये जा रहे हैं, विपक्षमें कहीं भी नहीं पाया जा रहा है इस कारण इस हेतुको अनैकान्तिक दोषसे दूषित नहीं कह सकते। इस बातको भी स्पष्ट कर सकते हैं।

तत्त्वान्यन्तरितानीह देश-काल-स्वभावतः।
धर्मादीनि हि साध्यन्ते प्रत्यक्षाणि जिनेशिनः॥ ९०॥

जिनेश्वरके धर्मादिक सभी अन्तरित तत्त्वोंकी प्रत्यक्ष गोचरता—सर्वज्ञताकी सिद्धिके लिए जो अनुमान प्रयोग किया गया है उस अनुमानमें देश, काल और स्वभावसे अन्तरित धर्मादिक पदार्थ जिनेन्द्रके प्रत्यक्ष हैं ऐसा सिद्ध किया गया है। देखिये। कितने ही पदार्थ तो देशसे अन्तरित हैं। जैसे धर्म अधर्म तत्त्व देशसे अन्तरित हैं अन्य देशमें रहने वाले पुरुषोंके आश्रयसे हैं। कोई पदार्थ कालसे अन्तरित है याने कालसे अन्तरित प्राणियोंमें भूतकालमें या भविष्यकालके प्राणियोंमें रहने वाले हैं। कोई पदार्थ स्वभावसे अन्तरित है याने वह यद्यपि इस देशमें है इस कालमें है, तो भी स्वभावसे सूक्ष्म है, अतीन्द्रिय है, इन्द्रियके द्वारा विषयभूत नहीं होता। तो जो पदार्थ अतीन्द्रिय है वह स्वभावसे अन्तरित कहलाता है। तो ऐसे ये सभी पदार्थ

और उसी प्रकारसे हिम्मान, मेरुपर्वत, असङ्ख्याते द्वीप समुद्र ये देशसे अंतरित हैं वे भी अरहत भगवानके प्रत्यक्ष सिद्ध किये जा रहे हैं। जो पर्यायें नष्ट हुई हैं और जो पर्याय उत्पन्न नही हुई, भविष्यमे होगी वे पर्यायें कालसे अन्तरित कहलाती हैं, वे सब अरहत भगवानके प्रत्यक्ष हैं और परमाणु वगैरह स्वभावसे अन्तरित पदार्थ हैं, क्योंकि ये इन्द्रियके विषयभूत नही हैं। वे सब भी जिनेन्द्रके प्रत्यक्ष सिद्ध किए जा रहे हैं। तो जब ये सभी पदार्थ पक्षके अन्तर्गत हैं तो हेतु अब व्यभिचारी नहीं कहा जा सकता। यदि पक्षके अन्तर्गत पदार्थोंमे हेतुकी पहिचानपर व्यभिचारी बताया जाय तो सारे अनुमान इस तरह व्यभिचारी बन जायेंगे।। यहाँ शङ्काकार कहता है कि सर्वज्ञता की सिद्धि करने वाला जो अनुमान बताया है उसका हेतु व्यभिचारी तो भले ही न हो लेकिन दृष्टान्त तो साध्य विकल है। याने दृष्टान्तमें साध्य नही रहता है, अथवा दृष्टान्त भी उसका कोई स्पष्ट नहीं विदित होता है। इस शङ्काके समाधान मे कहते हैं—

न चास्मादृक्समक्षाणामेवमर्हत्समक्षता।
न सिद्ध्येदिति मन्तव्यमविवादाद् द्वयोरपि॥ ८१॥

अनन्तरित पदार्थोंकी भी सर्वज्ञज्ञानगोचरता होनेसे प्रमेयत्वहेतुके दृष्टान्तमे साध्यविकलता दोषकी अनुपपत्ति—कुछ लोगोके प्रत्यक्षभूत पदार्थ अरहत भगवानके भी प्रत्यक्ष हैं ही। यहाँ यह न समझना चाहिए कि हम लोगोके प्रत्यक्षभूत पदार्थ हैं उनमें अरहत भगवानकी प्रत्यक्षता नही होगी, क्योंकि इसमें दोनो का भी विवाद नहीं है। वादी और प्रतिवादी सभी यह समझ रहे हैं कि जो पदार्थ हम लोगोके प्रत्यक्ष हो सकते हैं वे पुरुष विशेष अरहतके प्रत्यक्ष क्यो न होगे ? यदि हम लोगोके प्रत्यक्षभूत पदार्थसे अरहतके प्रत्यक्ष न माना जाय तो उस देश और उस कालमे रहने वाले दूसरे पुरुषोको भी उनका प्रत्यक्ष न हो क्योंकि अब तो यह हठ बना ली है कि जो हम लोगोको प्रत्यक्षभूत पदार्थ हो रहे हैं ज्ञानमें, उनका प्रत्यक्ष अन्यसे नही हुआ करता। अरे, जो हमको प्रत्यक्ष हैं वे जिनेश्वरके प्रत्यक्ष तो होंगे ही, दृष्टान्त यहाँ दिया गया था कि हम लोगोके प्रत्यक्षभूत पदार्थ। तो शङ्काकारने यह आपत्ति की थी कि दृष्टान्त साध्यविकल है। साध्य यह है कि जिनेश्वरके प्रत्यक्षभूत है। दृष्टान्त यह दिया कि जैसे हम लोगोके प्रत्यक्षभूत पदार्थ तो। तो हम लोगोके प्रत्यक्षभूत पदार्थमें अरहतकी प्रत्यक्षता नहीं है, ऐसा सोचकर शङ्काकारने दृष्टान्तको साध्यविकल बताया था। लेकिन दृष्टान्त साध्यविकल नहीं है। जिन पदार्थोंको हम-जैसे साधारण पुरुष भी प्रत्यक्षसे जानते हैं और जो सम्बद्ध है, मौजूद भी हैं उन-पदार्थोंको तो अरहत जानते ही हैं। उनमें किसको विवाद हो सकता। क्योंकि अरहत-तो हम लोगोकी अपेक्षासे विशिष्ट पुरुष हैं। कोई भी उनमे विवाद नही करता। अब

दृष्टान्तको साध्यविकल नहीं कहा जा सकता। शङ्काकार यहाँ पूछता है कि सर्वज्ञवादी अरहन्तके प्रत्यक्ष सिद्ध कर रहे हैं अन्तरित पदार्थोंको तो भला अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे अन्तरित पदार्थोंको अरहन्त प्रत्यक्ष बताया जारहा है या इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा प्रत्यक्ष बताया जारहा, सिद्ध किया जा रहा कि जिनेश्वरके सारे अन्तरित पदार्थ प्रत्यक्षमें विषयभूत हैं तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा वे जान रहे हैं या इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा वे जान रहे हैं ? यदि यह कहा जाय कि अरहन्त तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा अन्तरित पदार्थोंको जान रहे हैं तो ऐसा सिद्ध करनेमें दृष्टान्त साध्यविकल हो जायगा। इस अनुमानमें दृष्टान्त यह दिया गया है कि हम लोगोंके प्रत्यक्षा तो हम लोगोंके प्रत्यक्ष किसी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है तो हम लोगोंके प्रत्यक्षभूत पदार्थोंमें अतीन्द्रिय प्रत्यक्षमें अरहन्तमें प्रत्यक्षता नहीं है। यदि कहा जाय कि इन्द्रिय प्रत्यक्षसे ही वह सर्वज्ञ बन जायगा अन्तरित पदार्थोंका ज्ञाता हो जायगा तो यह पक्ष प्रमाण बाधित है। इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा अन्तरित पदार्थोंका परिचय नहीं हो सकता। धर्म अधर्म आदिक या दूर देशवर्ती, दूरकालवर्ती पदार्थ ये इन्द्रिय प्रत्यक्षके विषयभूत कहाँ हैं ? उसे इस तरह भी सिद्धकर सकते हैं कि अरहन्तका इन्द्रिय प्रत्यक्ष धर्मादिक अन्तरित पदार्थोंको जाननेमें समर्थ नहीं है क्योंकि वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। जैसे कि हम लोगोंका इन्द्रिय प्रत्यक्ष अन्तरित पदार्थोंको जाननेमें समर्थ नहीं है। इस अनुमानसे इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा अरहन्तके द्वारा सर्वज्ञता नहीं बन सकती। इस अनुमानमें हमारा हेतु न तो अंजन सहित चक्षु प्रत्यक्षके साथ व्यभिचारी है और न ईश्वरके इन्द्रिय प्रत्यक्षके साथ व्यभिचारी है याने चक्षु इन्द्रिय धर्म अधर्म आदिकको साक्षात् नहीं जान सकता कि कैसा ही विशिष्ट अंजन लगा लो उससे अन्तरित पदार्थ नहीं जाना जा सकता। और ईश्वरवादियोंने ईश्वरको इन्द्रिय प्रत्यक्ष माना नहीं अतः उससे भी दोष नहीं दिया जा सकता। इस तरह जिनेश्वर न तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षमें सर्वज्ञ है और न इन्द्रिय प्रत्यक्षसे सर्वज्ञ हो सकता है।

प्रत्यक्ष सामान्यसे अर्हन्तके प्रत्यक्षत्वकी सिद्धिके पश्चात् अतीन्द्रिय प्रत्यक्षत्वकी सिद्धि—उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यहाँ अरहन्तमें सर्वज्ञत्वमें यो बाधा नहीं आती कि हम प्रत्यक्ष सामान्यसे अन्तरित पदार्थोंको अरहन्तका प्रत्यक्षपना सिद्ध हो जाता है तब धर्मादिक पदार्थोंके साक्षात्कार करने वाले प्रत्यक्षको हेतुओंसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्षरूप सिद्ध करते हैं इसी कारण दृष्टान्तमें साध्यविकलताका दोष नहीं आता। शङ्काकारने जो यह कहा था कि अरहन्तको इन्द्रिय प्रत्यक्षसे अथवा अतीन्द्रिय प्रत्यक्षमें प्रत्यक्ष ज्ञान माननेपर वहाँ साध्य विकलताके दोष आते हैं सो बात नहीं है, क्योंकि हम पहिले प्रत्यक्ष सामान्यसे अन्तरित पदार्थोंका प्रत्यक्षपना सिद्ध कर रहे हैं फिर युक्तियोंसे उनका अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं। यदि इस प्रकारमें भी बाधायें बतायी जायें तो फिर शङ्काकारके इष्ट अनुमानमें भी साध्यविकलताका दोष

आ जायगा, सो देखिये! शङ्काकार शब्दको नित्य स्वीकार करता है और उसको सिद्ध करनेके लिए अनुमान बनाता है कि शब्द नित्य है क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञानका विषय है। जैसे कि आत्मा। आत्मा इस प्रत्यभिज्ञानका विषय है याने यह वही है इस प्रकारका आत्मामे बोध होता है तो वह प्रत्यभिज्ञानका विषय है। इसी प्रकार शब्द भी प्रत्यभिज्ञानका विषय है यह वही शब्द है जिसे कल सुना था। तो यो प्रत्यभिज्ञान का विषय होनेसे शब्दको नित्य सिद्ध किया जा रहा है। तो शङ्काकार सर्वज्ञका अभाव माननेवालेका एक यह अनुमान है, इस अनुमानके बारेमे शङ्काकारसे पूछा जाय कि यहाँ शब्दको जो नित्य सिद्ध किया जा रहा है तो क्या कूटस्थ नित्य सिद्ध किया जा रहा या दूसरे काल तक ठहरने वाला नित्य सिद्ध किया जा रहा है? यदि कहे वे कि हम कूटस्थ नित्य सिद्ध करते हैं तो पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण है। शब्दमे जो विशेषण दिया है कि वह कूटस्थ नित्य है तो कूटस्थपना किसी दूसरे पदार्थमें प्रसिद्ध तो नही है और यदि कूटस्थ नित्य हो कुछ भी जैसी कि शब्दमें कल्पना की जा रही है कि कूटस्थनित्यमें प्रत्यभिज्ञान घटित नही होता क्योंकि कूटस्थ नित्यका अर्थ यह है कि मेरी न कुछ पूर्वमे पर्याय है न उत्तरमे पर्याय है तो पूर्व और उत्तर पर्यायसे जो रहित होता है वह प्रत्यभिज्ञानका विषय नही होता। प्रत्यभिज्ञान तो पूर्व और उत्तर पर्यायमें रहने वाले एक वस्तुके सम्बन्धमे होता है पर कूटस्थ नित्यका तो अर्थ यह हुआ कि न कोई पूर्वमें पर्याय होती न कोई उत्तरमे पर्याय होती तो उसमे प्रत्यभिज्ञान ही सम्भव नहीं है तथा और भी देखिये। कूटस्थ नित्यता पुरुषमें नही मानी गई है क्योंकि वह सातिशय परिणामी नित्य है। उसमे अतिशय है, परिणमन है, कुछ तरगें होती हैं। कूटस्थ नित्य नहीं है। उसका तो साध्य विकल भी हो गया। शङ्काकारका अनुमान तो शब्दको कूटस्थ नित्य मानकर वह अनुमान नही बना। अब यदि कहा जाय कि शब्द कूटस्थ नित्य नहीं है किन्तु दूसरे काल तक ठहरने वाला नित्य है तो ऐसा तो शङ्काकारके मतमे माना ही नही गया। दूसरे काल तक ठहरा रहे ऐसा नित्य शब्दको नही माना। यदि शङ्काकार यह कहे कि हम पहिले शब्दको सामान्यतया नित्य सिद्ध करते हैं तब यही उत्तर प्रस्तुत अनुमानमे भी लगा लीजिए कि अन्तरित पदार्थोंमे आप प्रत्यक्ष सामान्यसे अरहन्तकी प्रत्यक्षता सिद्ध कर रहे हैं उसमे भी कोई दोष नहीं है तब अरहन्त प्रत्यक्षपना सिद्ध करने वाले अनुमानमे न तो अप्रसिद्ध विशेषणका दोष आता है। और न यह दोष आता है कि दृष्टान्त साध्य विकल है। यो अरहत भगवानके समस्त अन्तरित प्रत्यक्ष है यह सिद्ध हो जाता है।

न चासिद्धं प्रमेयत्वं कार्त्स्न्यतो भागतोऽपि वा।
सर्वथाऽप्यप्रमेयस्य पदार्थ स्याव्यवस्थितेः ॥ ६२ ॥
यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात्सर्वज्ञः केन वार्यते।
इति ब्रुवन्नशेषार्थप्रमेयत्वमिहेच्छति ॥ ६३ ॥

चोदनातश्च निःशेष पदार्थज्ञान सम्भवे।
सिद्धमन्तरितार्थानां प्रमेयत्वं समक्षवत् ॥ ६४ ॥

विश्वज्ञता सिद्ध करनेमे प्रमेयत्व हेतुकी शङ्का—अरहन्तके समस्त पदार्थ प्रत्यक्षभूत हैं, उनको सिद्ध करनेके लिए हेतु दिया गया है प्रमेयपना। चाहे देशसे अन्तरित हो कालसे अन्तरित हो, स्वभावसे अन्तरित हो, चूं कि वह प्रमेय है इस कारण वह अवश्य ही अरहन्त सर्वज्ञदेवके प्रत्यक्ष है, तो यहां जो प्रमेयत्व हेतु दिया है उसके सम्बन्धमे कोई यह शङ्का न करे कि प्रमेयत्व हेतु असिद्ध है। ऐसी शङ्का करने वाले न तो सम्पूर्णपनेसे असिद्ध बता सकेंगे हेतुको और न एकदेशरूपसे भी असिद्ध बता सकेंगे। क्योंकि जो सर्व प्रकार अप्रमेय हो ऐसा कुछ भी पदार्थ नहीं होता सभी पदार्थ किसी न किसी प्रमाणके विषयभूत हुआ करते हैं अतएव प्रमेय ही होता है। और, भी देखिये। जो लोग ऐसा कह रहे हैं कि ६ प्रमाणोसे सर्वज्ञ कोई सिद्ध करे तो उसका हम निराकरण नहीं करते। शकाकारका यह सिद्धान्त है कि कोई सर्वज्ञ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा नहीं किन्तु छहों प्रमाणोसे किसी प्रमाणसे कुछ, किसी प्रमाणसे कुछ जाना इस तरह छहों प्रमाणोंसे सर्वज्ञ है कोई, ऐसा माने तो हम मना नहीं करते। ऐसा जो शकाकारने कहा है उससे भी यह सिद्ध होता है कि सारे पदार्थ प्रमेय अवश्य हैं। अब रह गया उनकी जानकारीकी पद्धतिमें विवाद, पर इतना तो सामान्यतया मान ही लें कि समस्त पदार्थ प्रमेय हैं। चाहे किसी प्रमाणके द्वारा समझा जाय। और, भी देखिये। जो लोग ऐसा कहते हैं कि समस्त पदार्थोंका ज्ञान वेदसे सम्भव है तो ऐसा कहने वालोंने इतना तो स्वीकार कर ही लिया कि सारे पदार्थ प्रमेय होते हैं। अब वह प्रमेय किस साधनसे होता है यह एक विषय अलग है, पर यह तो किया ही गया कि सभी पदार्थ प्रमेय होते हैं। तो प्रमेयपना असिद्ध नहीं है। चाहे कोई छहो प्रमाणोंसे अर्थ व्यवस्था स्वीकार करे तो उसने भी यह तो मान ही लिया कि समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है याने सभी पदार्थ प्रमेय होते हैं या जिन्होंने वेदोको माना है कि सर्व पदार्थोंका ज्ञान सम्भव है तो उन्होंने भी यह स्वीकार कर लिया कि सभी पदार्थ प्रमेय होते हैं। तो प्रमेयपना हेतुको असिद्ध नहीं कह सकते कि वह पक्षमें पाया नही जाता।

प्रमाता प्रमेय आदि सभी तत्त्वोंकी प्रमेयरूपता—शकाकार कहता है कि देखिये। चार चीजें हुआ करती हैं–१ प्रमाता, २ करण, ३ फल, और ४ प्रमिति। प्रमाताका अर्थ है जानने वाले। याने आत्मा। करणका अर्थ है जिसके द्वारा जाना जाता है याने ज्ञान और फल है वह जो जानकारी बनी है। और प्रमिति क्रिया कही जाती है जाननेकी क्रिया। तो प्रमेयपना अलग चीज है और प्रमाता, करण, फल, प्रमिति, ये अलग चीज हैं। प्रमेयपना तो केवल कर्मरूप प्रमेय पदार्थोंमें है। प्रमाताने

जिस पदार्थको जाना उस पदार्थमे ही प्रमेयपना है। प्रमातामे प्रमेयत्व न रहा, करण ज्ञानमे प्रमेयत्व न रहा, फल ज्ञानमे प्रमेयत्व नही है और प्रमिति क्रियामे प्रमेयत्व नहीं प्रमेयमें ही तो प्रमेयत्व होता है याने प्रमाणसे जो विषयभूत पदार्थ है उसमे ही प्रमेयपना है। तो लो देखो प्रमेयपना हेतु भागा सिद्ध हो गया याने समस्त पदार्थोंमे न रह सका। पक्ष तो यह था कि सभी पदार्थ प्रमेय होते हैं। अब सब कहां प्रमेय हुए ? केवल प्रमाणके विषयभूत पदार्थ ही प्रमेय कहलाते हैं। प्रमाता प्रमिति आदिक तो प्रमेय न हो सकेंगे। तो यो प्रमेयत्व हेतु असिद्ध दोषसे दूषित होता है। इस शंकाके समाधानमे कहते हैं कि शकाकारका उक्त कथन विवेक पूर्वक नही है क्योकि प्रमाता, करण, फल ज्ञान, प्रमिति ये सबके सब प्रमेय हैं। यदि आत्मा सर्वथा अप्रमेय हो तो जैसे प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा वह नहीं जाना जाता उसी तरह अनुमानसे भी न जाना जा सकेगा। यद्यपि कर्मरूपसे आत्मा प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत नही होता कि लो जैसे हमने चौकीको जाना इस तरह लो आत्माको जाना। तो यह तो शंकाकारका अपना खुद का अभिमत है और ऐसा भी मान लिया जाय तो इसमे यह निषेध तो नहीं होता कि वह किसी भी प्रमाणसे प्रतीत नही होता। यदि आत्मा किसी भी प्रमाणके द्वारा प्रतीत न हो तो आत्माकी व्यवस्था नही बन सकती। इसी तरह करणज्ञान फलज्ञान और प्रमितिके सम्बधमे भी समझ लेना चाहिए कि वे पदार्थ यद्यपि कर्मरूपसे प्रतीत नही होते, मगर करणरूपसे क्रियारूपसे प्रतीत तो हो रहे हैं। शकाकारका यह कथन था कि जैसे एक ज्ञानकी यह मुद्रा बनी कि मैं ज्ञानके द्वारा घटकी जानकारी कर रहा हू घटको जान रहा हू तो इस ज्ञान मुद्रामे घट प्रमेय रहा। जाना किसे गया ? घट को। तो वहां घटके सिवाय आत्मा ज्ञान आदिक कुछ प्रमेय न रहे, लेकिन शकाकार की यह बात उचित यो नही है कि कर्मरूपसे प्रमेय तो न रहा मगर कर्तारूपसे आत्मा प्रमेय है। प्रतीतिमे आ रहा है। करणरूपसे ज्ञानमे आ रहा है। क्रियारूपसे वह ज्ञानन क्रिया प्रतीतिमे आ रही है। तो करण ज्ञान प्रत्यक्षमे कर्मरूपमे प्रतीत नही हो रहा फिर भी ज्ञानके बिना घट आदिक पदार्थोंकी जानकारी नहीं हो सकती। इस अनुमानसे ज्ञानका ज्ञान तो हो रहा है। इस कारण कारणभूत ज्ञानको सर्वथा अप्रमेय नहीं कह सकते। अन्यथा शकाकारने स्वय यह स्वीकार किया है, सिद्धान्तमे बताया है कि ज्ञाता होकर प्रमाता अनुपायसे विधिको जानता है। तो लो प्रतीतिकी बात आ गई ना ! अब इस वचनके साथ विरोध आ गया। वहां हठ यह की जा रही थी कि प्रमेय तो केवल कर्म ही होता है। प्रमाता प्रमिति आदिक नही लेकिन यहां कुछ और ही कह दिया। तो आत्मा भी प्रमेय है करणभूत ज्ञान भी प्रमेय है और फल ज्ञान भी प्रमेय है फलज्ञानको तो शकाकारके मित्र प्रभाकरने सुसम्वेदन प्रत्यक्षसे और अर्थ क्रियारूप अनुमानसे ज्ञाता माना है। तो फलज्ञान भी अप्रमेय न रहा। इस तरह प्रमाता, प्रमिति और करण ज्ञान ये सभी प्रमेय हो जाते हैं। तो प्रमेयपना हेतु भागासिद्ध नहीं है क्या ? जो कुछ भी ज्ञानमे आया वह सब प्रमेय है प्रमेयपना समस्त

वस्तुओंमें पाया जाता है। इस तरह जो प्रकृत अनुमान बताया गया कि समस्त अन्तरित पदार्थ अरहंतके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि प्रमेय हैं। यों प्रमेयपना हेतु समस्त पदार्थोंमें सूक्ष्म स्थूल अन्तरित और स्पष्ट सभी पदार्थोंमें प्रमेयपना हेतु सिद्ध होता है।

यन्नार्हतः समक्षं तन्न प्रमेयं बहिर्गतः।
मिथ्यैकान्तो यथेत्येवं व्यतिरेकोऽपि निश्चितः ॥ ६५ ॥

सर्व तत्त्वोंकी प्रमेयता व अर्हत्प्रत्यक्षता—उक्त प्रसङ्गमें यह बता दिया गया था कि प्रमेयपना हेतु असिद्ध नहीं है। अब इस कारिकामें यह बतला रहे हैं कि प्रमेयपना हेतु संदिग्ध व्यतिरेक भी नहीं है। तो इसकी व्यतिरेक व्याप्तिमें सन्देह हो ऐसा भी नहीं है। इसका व्यतिरेक यों बनेगा कि जो अरहंतके प्रत्यक्ष नहीं है वह प्रमेय नहीं है। उसके लिए दृष्टान्त बनाया जायगा कि जैसे प्रत्यक्षसे बहिर्भूत मिथ्या एकान्त, मिथ्या एकान्त धर्म अरहंतके प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि अवस्तु है तो इस तरह का व्यतिरेक भी यहाँ सम्भव होता है। यों प्रमेयपना हेतुमें संदिग्ध व्यतिरेक नामका दोष भी नहीं कहा जा सकता। यहाँ यह बात स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जो मिथ्या एकान्त ज्ञान है वह तो प्रमेय है, आगम गम्य भी है, अनुमान गम्य भी है और अरहंतके प्रत्यक्ष है तो जो मिथ्या एकान्त ज्ञान है वह यहाँ विपक्षमें न लगाना क्योंकि मिथ्या एकान्त ज्ञानका परिणमन है और वह पर्यायसत है, किन्तु एकान्त विषयका विषयभूत जो कल्पना किया गया धर्म है जैसे पदार्थ निरन्वय क्षणिक होना आदिक वे सब सर्वथा एकान्त कहलाते हैं, वे अरहंतके प्रत्यक्ष नहीं हैं। तो विपक्ष यहाँ क्या बताया गया? याने जहाँ प्रमेयपना न पाया जाय और अरहंतमें प्रत्यक्षता न पायी जाय ऐसा स्थल क्या कहलाया? सर्वथा एकान्त ज्ञानका विषयभूत काल्पनिक तत्त्व। एकान्त ज्ञान तो ज्ञानके परिणमन हैं। उन्हें अप्रमेय नहीं कहा जा रहा है, किन्तु उन ज्ञानोंका विषय जो कुछ कल्पनामें लाया जा रहा है वह है अप्रमेय। वह किसी प्रमाण से जाना नहीं जाता। अतएव अप्रमेय है, याने उनका भाव है उन एकान्त धर्मोंकी सत्ता ही नहीं है तब यह व्यतिरेक बन गया कि जो अरहंतके प्रत्यक्ष नहीं है वह सब प्रमेय नहीं होता। जैसे सर्वथा एकान्त ज्ञानके विषय। तो व्यतिरेक इसीको ही तो कहते हैं कि साध्यके अभावमें साधनके अभावका निश्चय करना। तो यह व्यतिरेक यहाँ सम्भव हो गया। तो प्रमेयपना हेतु निश्चित व्यतिरेक वाला है यहाँ व्यतिरेक व्याप्तिका सन्देह नहीं है। और अन्वय निश्चित है यह बात तो पहिले बता ही दी गई थी कि जो जो प्रमेय होते हैं वे सब अरहंतके प्रत्यक्ष हैं। यह व्यतिरेक व्याप्तिकी बात कही जा रही है जो प्रत्यक्ष नहीं वह प्रमेय भी नहीं। इस तरह अन्वय व्यतिरेक से सहित इस हेतुसे साध्यकी सिद्धि नियमसे होती है।

सुनिश्चितान्वयाद्धेतोः प्रसिद्धव्यतिरेकतः ।
ज्ञाताऽर्हन् विश्वतत्त्वानामेवं सिद्ध्येदबाधितः ॥ ९६ ॥

अर्हन्त देवके सर्वज्ञत्वकी निर्बाध सिद्धिमे शङ्काकारकी आरेका—उक्त युक्तियो द्वारा जब प्रमेयपना हेतुका अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध हो गया तो निश्चित जिसका अन्वय और व्यतिरेक पाया जा रहा ऐसे प्रमेयत्व हेतुसे अरहत भगवानके सर्व पदार्थ विषयक प्रत्यक्षता सिद्ध हो ही जाती है । अब यहाँ सर्वज्ञत्वका अभाव मानने वाला शङ्काकार अपना पक्ष उपस्थित कर रहे हैं कि देखिये ! सर्वज्ञत्वकी सिद्धि करने वाला अनुमान अन्य अनुमानसे बाधा जाता है । प्रस्तुत अनुमान यह था कि सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोका साक्षात्कार करने वाले अरहत हैं क्योकि वे सब पदार्थ प्रमेय हैं । अनुमानमे प्रमाणबाधितपनेका दोष है । पक्षसे प्रमाणमें बाधा आती है और हेतु बाधित विषय है वह किस प्रकार सो सुनो ! पक्ष यह था कि सभी पदार्थ अरहतके प्रत्यक्ष हैं सो यह प्रत्यक्ष अनुमानसे बाधित होता है । बाधक अनुमान यह है कि धर्मादिक पदार्थ किसीके भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकते क्योकि वे पदार्थ सदा अत्यन्त परोक्ष हैं । जो किसीके प्रत्यक्ष है वे सदा अत्यन्त परोक्ष नही होते । जैसे घट पट आदिक पदार्थ । किन्हींको कोई समझ रहा है तो किसी न किसीके ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष है तब वह परोक्ष नही कहलाता, लेकिन धर्मादिक पदार्थ तो अत्यन्त परोक्ष हैं, इस कारण वे किसीके प्रत्यक्ष नही हो सकते । धर्मादिक पदार्थ अत्यन्त परोक्ष हैं, यह बात असिद्ध नहीं है, क्योकि वे सभी समझ रहे हैं कि धर्मादिक पदार्थ कभी किसीके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होते इसलिए कोई भी प्रत्यक्ष धर्मादिक पदार्थोंको विषय नहीं कर सकता । और, भी सुनो ! इस अनुमान प्रयोगसे भी पुष्ट होता है कि धर्मादिक पदार्थ किसीके भी प्रत्यक्षभूत नही हैं । देखिये ! अनुमान प्रयोग यह है कि विवादापन्न प्रत्यक्ष याने विचार कोटिमें रहने वाले ये प्रत्यक्ष धर्मादिक पदार्थोंको विषय नहीं करता । क्योकि वह प्रत्यक्ष शब्द द्वारा वाच्य है । जो जो प्रत्यक्ष शब्द द्वारा कहा जाय वे सब धर्मादिक पदार्थोंको विषय नहीं कर सकते । जैसे हम लोगोके प्रत्यक्ष शब्द द्वारा वाच्य हैं तो ये प्रत्यक्ष धर्मादिक पदार्थोंको विषय नहीं करते, इसी तरह ये विवादापन्न प्रत्यक्ष याने विचार कोटिमे चल रहे अरहत प्रत्यक्ष ये भी प्रत्यक्ष शब्द द्वारा कहे जा रहे हैं तो वे भी धर्मादिक पदार्थोंको विषय नहीं कर सकते । इस अनुमानसे भी यह सिद्ध होता है कि धर्मादिक पदार्थोंको विषय कर सके कोई ऐसा प्रत्यक्ष है ही नहीं । कोई यहाँ ऐसी शङ्का न करे कि जिन पदार्थोंका हमको प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसे पदार्थोंको गृद्ध सूकर चींटीं आदिकके चक्षु स्रोत्र और नासिकायें जानी जाती है याने गृद्धके आंखसे वह जान लिया जाता हो । हम नहीं जानते । सूकरके कानसे जो शब्द सुन लिए जाते वे हम नहीं सुन सकते, चींटीकी नासिकासे जो चीज प्रत्यक्ष होती है उसे हम नही प्रत्यक्ष कर सकते । तो लो इस ज्ञानके साथ हेतुका व्यभिचार

हो जायगा, ऐसी शङ्का न करे कोई क्योंकि गृद्ध, सूकर, चीटी आदिक जो कुछ भी जान रहे हैं जानें, पर वे भी धर्मादिक अतीन्द्रिय पदार्थोंको विषय नहीं करते। और, इसी कारण उनका प्रत्यक्ष भी हम लोगोंके प्रत्यक्षकी तरह है। जैसे पदार्थोंको हम प्रत्यक्ष द्वारा जानते हैं ऐसे ही वे प्रत्यक्ष द्वारा जानते हैं। याने इन्द्रिय द्वारा अपने विषयको ग्रहण करते हैं, अन्य इन्द्रिय विषयको वे नहीं जानते। तो धर्मादिक अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रत्यक्ष वे भी नहीं कर सकते। यों सबको जान जाय ऐसा कोई प्रत्यक्ष नहीं होता।

बुद्धि आदिके अतिशयकी एक विषयमे ही समवताका शाकाकार द्वारा प्रतिपादन—यदि कोई यहाँ यह तर्क उपस्थित करे कि देखिये! बुद्धि प्रतिभा स्मरण, श्रुति, तर्क और प्रबोध, इन शक्तियोका प्रत्येक पुरुषमें अतिशय देखा जाता, किसीमें कम है किसीमे अधिक है। तो इस अतिशयसे यह सिद्ध किया जा सकता कि किसीका प्रत्यक्ष विशेष अतिशय वाला होगा और यह ही अतिशय जब उत्कृष्ट होता तो धर्मादिक सूक्ष्म पदार्थोंका साक्षात्कार करने वाला हो जाता है। यह कथन भी ठीक नहीं है। यद्यपि बुद्धि प्रतिभा आदिक पुरुषोमे न्यूनाधिक पाये जाते हैं सो पाये जायें भले ही, पर यह नहीं हो सकता कि किसीके अतीन्द्रिय पदार्थका भी प्रत्यक्षज्ञान बन जाय। सबकी सीमा होती है। ये इन्द्रिय गोचर पदार्थोंमें अधिक बढ़ जायें पर अतीन्द्रिय पदार्थोंमे अन्तरित पदार्थोंमे यह जान नहीं सकते, इस कारण सर्व पदार्थों को जानने वाला कोई भी ज्ञान नहीं है। शङ्काकार ही कहे जा रहा है कि यदि यहाँ कोई यह कहे कि कोई बुद्धिमान पुरुष जैसे अत्यन्त सूक्ष्म शास्त्रीय विषयोंका परिज्ञान करनेमें समर्थ देखा जा रहा है उसी तरह कोई पुरुष ऐसा भी हो सकता है कि प्रत्यक्षसे धर्मादिक स्थूल पदार्थोंको साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो। ज्ञान ही तो है। ज्ञानमें कितनी उत्कृष्टता बनती है इसकी कोई सीमा नही की जा सकती है। बढता जा रहा है। सर्वको जान ली, बस यह ज्ञानकी उत्कृष्टता है। तब यह न कहा जा सकेगा कि ज्ञान इतना ही हो सकता है, इसकी इतनी ही सीमा है, इससे अधिक ज्ञान नहीं बढ सकता। शङ्काकार अपने पक्षके समर्थनमें कह रहा है कि उक्त विचार सही नहीं है। क्योंकि कोई सा भी ज्ञान हो ज्ञान विशेष ही तो है। वह अपनी जातिका उल्लघन नहीं कर सकता और फिर अपनी जातिमें भी जो कुछ ज्ञानमें विशेषता आती है वह दूसरेके जो छोटे छोटे ज्ञान हैं उनकी अपेक्षा अतिशय मालूम होता है। जैसे कोई पुरुष व्याकरणका बहुत अधिक ज्ञान करले तो यह तो न होगा कि वह नक्षत्र और ग्रह समूहकी गति आदिकका निर्णय इतना बढा सके कि ज्योतिष शास्त्रके ज्ञानियोंका भी उल्लघन कर जाय, क्योंकि वह केवल व्याकरणके बारेमे ही तो उत्कृष्ट ज्ञान रख रहा है। उसकी बुद्धि चलेगी तो शब्दोकी सिद्धिमे चलेगी। कौनसे शब्द सिद्ध हैं कौन से असिद्ध हैं, किस तरह उनकी साधना बनती है, यह ही बुद्धि चलेगी। तो वह दूसरे

वैयाकरणोंको प्रभावित कर सकता है याने व्याकरणोंको प्रभावित कर सकता है याने व्याकरण शास्त्रमे ही इतना ज्ञान बढ गया कि अन्य वैयाकरणोसे अधिक हो गया, लेकिन वह ज्योतिष शास्त्रके विद्वानोको तो प्रभावित न कर सकेगा, इसी तरह जो ज्योतिष शास्त्रके वेत्ता हैं वे चन्द्र सूर्य ग्रहण आदिकका उत्कृष्ट निर्णय करलें, ज्योतिष शास्त्रका प्रकर्ष ज्ञान करलें अन्य ज्योतिषियोसे ऊंचे बढ जायें, अनेक ज्योतिषियो को प्रभावित करदें फिर भी भवति आदिक जो शब्दोकी सिद्धि है उसका प्रकृष्ट ज्ञान तो नहीं रखता। वह वैयाकरणोको तो प्रभावित नही कर सकता। इसी तरह अन्य विषय भी इतिहासमे बडा प्रकृष्ट ज्ञान रखने वाला हो कोई तो बढ जाय, किन्तु स्वर्ग देवता, धर्म अधर्म इनका साक्षात्कार तो नहीं कर सकता। एक शास्त्रके ज्ञानमें अतिशय हैं, रहा आये पर दूसरे शास्त्रका ज्ञान उससे तो न आ जायगा। इस सब निर्णयसे यह समझ लेना चाहिए कि सर्वज्ञता सिद्ध करने वाले जो यह युक्ति दिया करते हैं कि ज्ञान किसी आत्मामें चरम सीमाको प्राप्त हो जायगा, क्योकि ज्ञान बढने वाला है जब बढ रहा है तो कही ज्ञान इतना बढ जायगा कि वह सबको जानले। जैसे परिमाण परमाणुमे छोटे है स्कधमें बढते हैं तो कही चरम सीमाको भी प्राप्त परिमाण है—जैसे आकाश। कितना है आकाश ? अनन्त। तो जो बढने वाली चीज है वह कहीं न कही चरम सीमाको प्राप्त हो जाती है। तो ज्ञान भी बढने वाला है इस कारणसे ज्ञान भी किसी आत्मामें चरम सीमाको प्राप्त हो जायगा। यह कथन भी सङ्गत नही है।

प्रत्यक्ष व अन्य ज्ञानकी चरम सीमामे विश्वज्ञताके अभावका शकाकार द्वारा प्रतिपादन—शङ्काकार कह रहे हैं कि भला बताओ सर्वज्ञतावादीने किसी पुरुषके सर्वज्ञत्वकी सिद्धिमें जो अनुमान बनाया है कि ज्ञान कहीं चरम सीमा को प्राप्त हो जाता है, क्योकि वह बढने वाला है। तो यहाँ जिस ज्ञानसे चरम सीमा को प्राप्त करनेकी बात कही जा रही है वह ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान है या शास्त्रज्ञान, अनुमान आदिक ज्ञान है ? यदि कहो कि प्रत्यक्ष ज्ञान है तो प्रत्यक्ष ज्ञान तो इन्द्रिय जन्य ज्ञान होता है वह प्रत्येक जीवमें बढता भी है, लेकिन अपने विषयका उल्लंघन नही करता। जानेगा तो इद्रिय विषयको जानेगा और सीमामे जानेगा। अपने विषयमे जितनी सीमा बन सकती है उस उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त हो जायगा पर अतीन्द्रिय आदिकको विषय करने रूपसे वह ज्ञान न बन सकेगा। जैसे देखनेमे जो कुशल होता है वह देखनेकी बात बढाले जैसे गृद्ध बहुत दूरसे सूक्ष्म वस्तुको देख लेता है तो देखले, पर अतीन्द्रिय अर्थको ती नही देख सकता। तो इद्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञानको धर्मी बना कर पक्षमे रखकर चरव सीमाको प्राप्त होनेकी बात नहीं कही जा सकती। यदि कहो कि हमारा प्रयोजन शास्त्र अर्थक ज्ञानसे है याने शास्त्रोंके अर्थका ज्ञान किस अर्थ विशेषमें चरम सीमाको प्राप्त हो जाता है। तो ठीक है जो जिस शास्त्रका ज्ञान रखता

है वह शास्त्रमे बढता हुआ अपने ही विषयमें चरम सीमाको प्राप्त होगा। दूसरे शास्त्र के अर्थको विषय न करेगा या धर्मादिक अतीन्द्रियका साक्षात्कार न कर लेगा। तो अन्य कोई भी ज्ञान हो, शास्त्रके अर्थका ज्ञान हो, अनुमान आदिक ज्ञान हो वे उत्कृष्टताको प्राप्त होंगे तो अपने विषयमे ही होगे। धर्मादिक अतीन्द्रिय अर्थका साक्षात्कार न कर सकेंगे। यदि यहाँ कोई यह कहे कि हम तो धर्मी ज्ञान सामान्यको बना रहे हैं याने ज्ञान सामान्य कही परम सीमाको प्राप्त हो जाता है क्योंकि वह बढने वाला है। जैसे कि परिमाण। परमाणुसे बडा है स्कध। उससे बडा और है। तो सबसे बडा आकाश है। प्रमाणमे वृद्धि होनेसे कहीं उत्कृष्ट सीमा बन गई ऐसे ही ज्ञान सामान्य बढ रहा है तो कही उत्कृष्ट बढ जाता है। शङ्काकार कहता है कि यह कथन भी ठीक नही है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदिक ज्ञान विशेषपनेसे किसी एक ज्ञान विशेषकी ही तो उत्कृष्टता सिद्ध हो सकेगी। ज्ञान सामान्य क्या है ? बढ रहा है तो वह ज्ञान होगा वह ज्ञान विशेष ही होगा। ज्ञान विशेषको छोडकर ज्ञान सामान्यकी उत्कृष्टता बनना सिद्ध नहीं है। अरे जो बढेगा वह ज्ञान विशेष ही तो होगा। ज्ञान सामान्यमें बढनेकी बात क्या आयगी क्योंकि ज्ञान सामान्य तो निरतिशय चीज है उसमें हानि वृद्धिकी बात नही आती। तो ज्ञान सामान्यसे इस अनुमानसे पक्ष बनाया जाय, ज्ञान विशेषको न बनाया जाय तो इसमें दोष न आयगा। यह कहना ठीक न रहा क्योंकि प्रकर्षता वृद्धि यदि होती है तो ज्ञान विशेषमें होती है ज्ञान सामान्यमें प्रकर्षताकी बात कहना बिल्कुल असङ्गत है। क्योंकि उसमें अतिशय नहीं होता।

अभ्यासबलसे भी ज्ञानविशेषके अतिशयकी असीमताकी असम्भवता का शकाकार द्वारा प्रतिपादन—जो लोग यह कहते हैं कि श्रुतज्ञान, अनुमानज्ञान, कोई सा भी ज्ञान हो उनका अभ्यास बढाया जाय तो अभ्यास करते करते जब यह ज्ञान पूर्ण अभ्यस्त बन जाता है तब ये पुण्य पाप आदिक अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात् कार कर लेते हैं। तो ज्ञान उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त होता है। शङ्काकार अपने पक्षका समर्थन करता हुआ कहता है कि यह कथन भी युक्त नहीं है वह तो केवल मनकी कल्पना मात्र है ? कभी यह ज्ञान अपने विषयको जान भी ले और यह बडा अभ्यास भी करे तो वह उन विषयोका ज्ञान तो नहीं कर सकता। यहाँ शङ्काकार सर्वज्ञका सद्भाव मानने वालोसे कह रहे हैं कि कोई भी ज्ञान ऐसा नही होता जो विषयोंमें बढा चढा हो जाय। कोई ज्ञान विशेषमें बढ जाय यह बात तो हो सकती है, पर वह सारे विषयोंमें बढ जाय या अपने विषयमें भी अनन्त हो जाय यह बात नहीं हो सकती। जैसे कोई आकाशमे कूदनेका अभ्यास करता है तो एक बालक दो फिट कूद जाता है तो दूसरा बालक ३–४ फिट कूद जाता है। अब कोई यह कहे कि जब एकसे एक बढकर बोलते हैं जो इतनी ऊची कूद मार सकता है तो कोई ऐसा भी बालक होगा कि जो १० हजार हाथ की कूद लगा दे तो यह कैसे सम्भव है ? ज्ञान है तो

कुछ दूर तक बढ़ जायगा, पर उसे अनन्त तो नहीं कह सकते। इस तरह सर्वज्ञकी सत्ताका निषेध करने वाले शङ्काकारोका यह कथन चला कि दुनियामें कोई सर्वज्ञ नहीं है, अतएव सर्वज्ञकी वन्दना करना, सर्वज्ञकी विशेषता बताना यह सब मनःकल्पित बात है।

प्रत्यक्ष शब्द द्वारा वाच्य होनेपर भी प्रत्यक्षोकी विशेषता बताते हुए सर्वज्ञत्वमे शका रखनेवालोके लिये समाधान—अब सर्वज्ञका निषेध करने वालेके प्रति समाधानमें कहा जा रहा है कि देखो! सर्वज्ञके अभाव सिद्ध करने वालेने जो यह कहा था कि विवादापन्न प्रत्यक्ष धर्मादिक अतीन्द्रिय पदार्थोंको नहीं जान सकता, क्योकि वह प्रत्यक्ष शब्दके द्वारा कहा जाता है। जैसे हम लोगोका प्रत्यक्ष इसका नाम प्रत्यक्ष है ना, तो अतीन्द्रिय पदार्थोंको तो नही जान सकता। तो इस उपायमें शङ्काकार यह बतायें कि वह प्रत्यक्ष कौन सा है जिसके लिए अतीन्द्रिय विषयोके ज्ञानका निषेध किया जा रहा? यदि यह कहें कि वह तो हम लोगों जैसा प्रत्यक्ष है जो आत्मा और इन्द्रियका सम्बन्ध होनेपर ज्ञात होता है। ऐसे प्रत्यक्षकी बात यहाँ कह रहे हैं तो सुनो! सबके हम जिस प्रत्यक्षमें सर्वज्ञता सिद्ध कर रहे हैं वह प्रत्यक्ष इन्द्रिय प्रत्यक्षसे भिन्न बोध है। अरहन्त भगवान जिस प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा सर्वको जानते हैं वह प्रत्यक्ष इन्द्रिय प्रत्यक्ष नही है, वह आत्मीय प्रत्यक्ष है। यो प्रत्यक्ष शब्द द्वारा भले ही कह दिया जाय, पर उससे सर्वज्ञताका अभाव सिद्ध नहीं होता। जैसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष शब्द द्वारा कहा जाता है पर वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्षका साक्षात्कार करने वाला नही है ऐसा कहकर यह तो नहीं कहा जा सकता कि दूसरे क्षेत्र और दूसरे कालमे विचार कोटिमे आया हुआ प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष शब्द द्वारा वाच्य है सो वह भी धर्मादिक अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार न कर सकेगा याने इन्द्रिय प्रत्यक्षकी करतूतका इन्द्रिय प्रत्यक्षके साथ समानता बता सकते हैं। तो जैसे प्रत्यक्षकी बात हुई वैसे ही प्रत्यक्षकी समानता बनती है क्योकि वहाँ अविनाभाव बना हुआ है, लेकिन इन्द्रिय प्रत्यक्षको तो उदाहरणमे बताया और अरहन्तके प्रत्यक्षमें उसी तरह अल्पज्ञता सिद्ध करें, यह बात नहीं कही जा सकती क्योकि भिन्न ही ज्ञान है? यहाँ न इन्द्रिय प्रत्यक्ष इन्द्रियसे उत्पन्न होता किन्तु सर्वज्ञका प्रत्यक्ष तो केवल एक आत्मासे ही उत्पन्न होता है। तो दोनोमे यद्यपि प्रत्यक्ष शब्दकी समानता है मगर प्रत्यक्षके अर्थमे तो समानता नहीं। तो सामान्यतया शब्दकी समानता होनेपर भी अर्थभेद है, यदि ऐसा न माना जाय तो देखो गो शब्दका अर्थ वाणी भी है और गाय भी है। तो गो शब्द बोलकर कोई यह कहे कि वाणीमे सींग लगी रहती है, क्योकि वह गो शब्द द्वारा वाच्य है। यहाँ गायमे सींग लगी रहती क्योंकि वह गो शब्द द्वारा कहा जाता है तो यह बात ठीक तो न बैठी। गो शब्दके अनेक अर्थ हैं, पर जो गायमे बात पायी जाती है वह वाणी और किरण आदिमे भी लगायी जाय यह कैसे सम्भव हो सकता है साराश यह

है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अरहंत भगवानका प्रत्यक्ष ये दोनो प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष शब्द द्वारा कहे गए हैं लेकिन अर्थ-दृष्टिसे देखें तो इसमें बड़ा ही अन्तर है। यदि केवल प्रत्यक्ष शब्द द्वारा कहा गया है इतने-मात्रसे दोनोको एक मान लिया जाय। जो बात इन्द्रिय प्रत्यक्षमे है सो अरहंत प्रत्यक्षमें होगी ऐसा यदि समता स्वीकार करली जाय तो वाणी और पशु ये दोनो भी एक हो जायेंगे क्योंकि गो शब्दमे अनेक अर्थ हैं। वाणी भी अर्थ है, पशु भी अर्थ है। तो पशुके जैसे चार पैर है, सीग हैं ऐसे ही वाणी के भी पैर और सींग मान लिए जायें ऐसा प्रसङ्ग आ जायगा। यदि कोई यह कहे कि वाणी और पशु दोनो एक शब्द-द्वारा अवहित हैं। गो शब्दके दोनो अर्थ हैं तो भी पशुमे ही सीग सिद्ध होंगे, क्योंकि पशुमे ही सीग सिद्ध करनेके लिए गो शब्द द्वारा कहा गया यह हेतु बनेगा, वाणी आदिकमे नही क्योकि गो और वाणी, गाय और वचन ये दोनो भिन्न-भिन्न चीजें हैं। तो समाधानमे कहते हैं कि यही बात इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अरहतके प्रत्यक्षमें घटित कर लीजिए दोनोंके ज्ञानको यद्यपि प्रत्यक्ष-शब्द से कहा गया है फिर भी अरहत-प्रत्यक्षमें तो सूक्ष्म आदिक पदार्थोंका विषय करनेकी कला है। इन्द्रिय-प्रत्यक्षमें नहीं है, क्योंकि दोनो प्रत्यक्षके अर्थमे फर्क है।

प्रत्यक्षका मुख्य अर्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष—प्रत्यक्षका अर्थ है अक्षणोति व्याप्नोति जानाति इति अक्ष, अर्थात् जो व्याप्त करे, जाने उसका नाम है अक्ष याने आत्मा। और, अक्षको ही लेकर जो ज्ञान बने उसे कहते हैं प्रत्यक्ष। याने जो ज्ञान आत्मासे ही उत्पन्न हुआ है उसका नाम है प्रत्यक्ष। तो देखिये यह है अरहतका प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय प्रत्यक्षसे भिन्न हुआ ना! हम लोग जिस ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा करते हैं उसका प्रत्यक्ष देखो, प्रत्यक्ष सुनो, तो वह इन्द्रिय द्वारा ही तो उत्पन्न किया गया है। सो इन्द्रिय प्रत्यक्ष सबका जाननहार नही है किन्तु अरहत प्रत्यक्ष सबका जाननहार है। तो यहाँ जो हम प्रत्यक्षकी बात कह रहे हैं वहां अरहतके प्रत्यक्षकी बात कह रहे हैं वही समस्त द्रव्य पर्यायोको जानता है, उसे अनुमान द्वारा सिद्ध कर लीजिए। विचार कोटिमें स्थित अरहत प्रत्यक्ष मुख्य प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह समस्त द्रव्य पर्यायो का जाननहार है। जो मुख्य प्रत्यक्ष नही है वह समस्त द्रव्य पर्यायोका जाननहार नहीं हो सकता। जैसे हम लोगोंका प्रत्यक्ष यह इद्रिय प्रत्यक्ष है, समस्त द्रव्य पर्यायोंका जाननहार नहीं है तो वह मुख्य प्रत्यक्ष भी नहीं कहा जा सकता। परोक्षज्ञान है वास्तविक उपचारसे प्रत्यक्ष कहा जाता है लेकिन समस्त पर्यायोंको जानने वाला अरहन्त प्रत्यक्ष है, इस कारण वही मुख्य प्रत्यक्ष है। अरहत प्रत्यक्ष समस्त द्रव्य पर्यायो को जानता है वह बात असिद्ध नही है, क्योकि क्रमरहित है। क्रमरहित है यह कैसे पहिचाना? याने अरहत भगवानका प्रत्यक्ष क्रम क्रमसे नहीं जानता किन्तु तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानता है, क्योंकि वह मन और इद्रिय द्वारा नहीं उत्पन्न होता। मन और इन्द्रियकी अपेक्षा नही रखता अरहत प्रत्यक्ष। इसका

कारण यह है कि वह निर्दोष है। रागद्वेष रहित है ज्ञान। वहाँ मिथ्यात्व, अज्ञान, अशक्ति आदिक कोई दोष नहीं हैं इस कारण निर्दोषज्ञानमें ऐसी शक्ति होती है कि वह एक साथ समस्त पदार्थोंको जान ले। तो एक साथ समस्त द्रव्य पर्यायोंको अरहंत प्रत्यक्ष जानते वहाँ इस कारण यही मुख्य प्रत्यक्ष कहलाता है।

अरहंतके प्रत्यक्ष ज्ञानकी निर्दोषता—अरहंतके प्रत्यक्षमें मिथ्यात्व आदिक कोई दोष नहीं रहे इसका कारण यह है कि घातिया कर्मोंका नाश हो गया है। मिथ्यात्व का कारण था मोहनीय कर्म वह न रहा। अज्ञानका कारण था ज्ञानावरण वह भी नष्ट हो गया। अदर्शनका कारण था दर्शनावरण वह भी नष्ट हो गया। अशक्तिका कारण था अंतराय कर्म वह भी नष्ट हो गया। तो चार घातिया कर्मोंके विनाश होनेसे वह निर्दोष है और निर्दोष अरहंतका ज्ञान सर्व पदार्थोंको एक साथ जान सकने वाला है। और निर्दोष ज्ञान नहीं होता वह कर्मरहित भी नहीं होता। जैसे हम लोगोंका प्रत्यक्ष निर्दोष नहीं है तो कर्मरहित भी नहीं कह सकते, लेकिन अरहंत प्रत्यक्ष तो मोहादिक कर्मोंसे अत्यन्त परे है, इस कारण वह समस्त पदार्थोंको एक साथ जान लेता है। अरहंत भगवानके मोह आदिक चार कर्म नष्ट हो गये हैं, इसकी सिद्धि इस प्रकार है कि अरहंतके मोह आदिक चार कर्मोंके कारणभूत जो मिथ्यात्व आदिक हैं उनके प्रतिपक्षीमें प्रकर्षता देखी जा रही है। तब यह सिद्ध होता है कि मोहनीय आदिक चार कर्म किसी आत्मामें बिल्कुल नहीं रह सके हैं क्योंकि उनके कारणोंके प्रतिपक्षी प्रकृष्ट हो गए हैं। जहाँ जिसके कारणोंके प्रतिपक्षी प्रबल हो जायें वहाँ उसका सर्वथा नाश देखा जाता है। तो मोहनीय आदिक चार कर्मोंके कारण हैं ये मिथ्यात्व आदिक और उनके प्रतिपक्षी हैं सम्यग्दर्शन आदिक। तो जहाँ सम्यग्दर्शन आदिक उत्कृष्ट पाये जाते हैं उसके मिथ्यात्व आदिक और उनके कारण रंच भी नहीं रहते। यों चार कर्मोंका वहाँ अभाव हो गया है। चार कर्मोंके कारण हैं मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र। क्योंकि ये मिथ्यात्व आदिक हों तब ही वे कर्म रहते हैं। तो जिसके होनेपर जो हो वह उसका कारण कहलाता है। जैसे आँखपर अंधेरा छा जाय तो उसका कारण कीचड है। तो जब मिथ्यात्व आदिक होनेपर मोहादिक चार कर्म रहते हैं तो इससे सिद्ध है कि मिथ्यादर्शन आदिक मोहनीय आदिक कर्मोंके कारण हैं तो अब मिथ्यात्वके प्रतिपक्षीका जब प्रकर्ष हो गया याने सम्यक्त्व आदिक जब उत्कृष्ट बन गए तो मिथ्यात्व आदिककी हानि हो गई। जिसका प्रकर्ष होनेपर, जिसका विनाश देखा जाय उसको प्रतिपक्षी कहते हैं। जैसे कर्णका प्रतिपक्षी है अग्नि। तो इसी तरह जब सम्यक्त्व आदिक उत्कृष्ट बन जाते हैं तो मिथ्यात्व आदिक नष्ट हो जाते हैं। तो यों जब सम्यक्त्व आदिक बस गए, मिथ्यात्व आदिक दूर हो गए तो उनके कारणभूत मोहनीय आदिक चार कर्म भी दूर हो गए हैं, स्वयं सिद्ध हो जाता है। तो यों अरहंत भगवानका प्रत्यक्ष मान निर्दोष है।

इसलिए यह क्रमसे नहीं जानता है किन्तु सब पदार्थोंको एक साथ जानता है। इस कारणसे अरहंत प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष है और उस ही प्रत्यक्षको बात कही जा रही है कि सबको जानने वाला है। यों जो सर्वज्ञ होगा तो कर्मपहाड़ोंका भेदनहार है और वही मोक्षमार्गका प्रणेता हो सकता है और वही वदनीय होता है।

प्रभुके सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्रकी परम प्रकर्षता व सर्वथा निर्दोषता— अब यहाँ सिद्ध करते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र ये तीन उत्कृष्ट तत्त्व कहीं उत्कृष्टताको प्राप्त हो जाते हैं ये ही तीन मिथ्यात्व, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्रके प्रतिपक्षी हैं। अतः सम्यक्त्व आदिक तीनोंकी उत्कृष्टता हो जानेपर मिथ्या॰ त्व आदिक तीनों सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। तो यहाँ कोई यह जिज्ञासा कर सकता है कि सम्यक्त्व ज्ञान, चारित्र परम उत्कृष्टताको कैसे प्राप्त हो जाते हैं? इसकी सिद्धि में यह अनुमान प्रयोग किया जाता है कि सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहीं परम उत्कृष्टताको प्राप्त हैं अर्थात् जो अन्तिम प्रकर्ष है उसको प्राप्त है, क्योंकि ये बढ़ने वाले हैं जो जो बढ़ने वाले हैं, जो जो बढ़ने वाले होते है वे कहीं परम प्रकर्षको प्राप्त हो जाते हैं, जैसे कि परिमाण। परमाणुमें परिमाण सर्व जघन्य है और परि॰ माण यह बढ़ जाता है अनेक प्रकारके स्कंधोंमें तो यह कहीं बढ़–बढ़कर सर्व आकाश के अनन्त परिमाण वाला हो जाता है। ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, ये बढ़ने वाले हैं प्रकृष्यमान हैं इसलिए ये कहीं अन्तिम प्रकर्षको प्राप्त होते ही हैं। इस तरह कोई स्थिति ऐसी होती है जहाँ सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र पूर्ण हो जाते हैं और जहाँ ये पूर्ण हुए वहाँ उसके प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। जहाँ मिथ्यात्व आदिकका नाश हो जाता है वहाँ उनके कार्यभूत मोहनीय आदिक चार कर्म नहीं रहते हैं। यह बात स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है। जहाँ मोहनीय आदिक चार कर्मोंका अभाव है वहाँ उनका कार्य मिथ्यादर्शन, अज्ञान अदर्शन व अवीर्यका भी अभाव है।

प्रभुप्रत्यक्षज्ञानकी युगपत् निरपेक्षतया विश्वतत्त्वज्ञता— जब चार दोष नहीं रहे याने मिथ्यात्व, अज्ञान अविरति और अशक्ति ये चार दोष नहीं रहे तो समस्त दोषरहितपनाकी अरहंतके सिद्धि हो गयी और प्रभुके निर्दोषता सिद्ध होनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि अरहंत भगवानका प्रत्यक्षज्ञान मन और इन्द्रियकी अपेक्षासे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वह निरपेक्ष ज्ञान है, और यह अरहंत भगवानका निरपेक्ष प्रत्यक्षज्ञान यह सिद्ध करता है कि तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको यह प्रत्यक्षज्ञान क्रमरहित एक साथ सबको जान लेता है तो इस तरह अरहंत भगवानका ज्ञान निरपेक्ष ज्ञान है और तीन काल तीन लोकके समस्त द्रव्य पर्यायोंको एक साथ जानता है इस कारण अरहंतका प्रत्यक्षज्ञान मुख्य प्रत्यक्षज्ञान है। शङ्काकारका यह कहना कि प्रत्यक्ष शब्दके द्वारा वाच्य है इस कारण प्रभुका प्रत्यक्ष भी समस्त पदार्थों

को नहीं जान सकता। यह शङ्का सङ्गत नहीं है अरहन्त देवका प्रत्यक्ष मुख्य प्रत्यक्ष है, निर्दोष है निरपेक्ष है और एक साथ सबका जाननहार है। हां सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय सापेक्ष है और मनः सापेक्ष है। मन और इन्द्रियकी सहायतासे ही यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष जान पाता है उसे प्रत्यक्ष क्यों कहते कि वह एक देशसे स्पष्ट है यह सिद्धान्त इस प्रकार जानना चाहिए कि 'प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकारका है—एक मुख्य प्रत्यक्ष, दूसरा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। मुख्य प्रत्यक्ष तो वह कहलाता है जो इन्द्रिय और मनकी अपेक्षासे रहित है। केवल आत्म शक्तिसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान करता है। सो यह मुख्य प्रत्यक्ष ३ प्रकारका है अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमेंसे अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान तो विकल प्रत्यक्ष कहलाते क्योंकि इनका विषय समस्त द्रव्य पर्याय नहीं है किन्तु ये कुछ सीमाको लेकर जान रहे हैं, लेकिन हैं ये इन्द्रिय और मनकी अपेक्षासे रहित और स्पष्ट जानने वाले इस कारण इन्हें भी प्रत्यक्षज्ञान कहा है। सो ये दो ज्ञान अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान विशिष्ट योगियोंके होते हैं। अवधिज्ञान तीन प्रकारका है १ देशावधि, २ परमावधि और सर्वावधि, जिनमें देशावधि तो चारों गतियोंमें हो सकता है, किन्तु परमावधि ज्ञान और सर्वावधि ज्ञान मनुष्यके ही हो सकते हैं। और मनुष्योंमें भी योगियोंके हो सकते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है। केवलज्ञानीके द्वारा समस्त लोकालोक जान लिया जाता है। तो यह केवलज्ञान अरहन्त भगवानके पाया जाता है और वह प्रत्यक्षज्ञान विश्वतत्त्वका जाननहार है। दूसरा जो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बताया गया है वह इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा लेकर उत्पन्न होता है इस कारण वह पूर्ण निर्मल नहीं है, किन्तु एक देश स्पष्ट है। तो प्रत्यक्ष दो तरहके है—तब यह शङ्काकारका कहना उचित नहीं है कि जो प्रत्यक्ष शब्द द्वारा वाच्य हो वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्षकी तरह ही होगा। प्रत्यक्ष दो प्रकारके हैं और उनकी अपने आपमें विशेषता है। तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष तो हम लोगोंके होता है और उन प्राणियोंके भी होता है, किन्तु मुख्य प्रत्यक्ष केवलज्ञान अरहन्तदेवके ही होता है, सिद्ध प्रभुके होता है। तो यों प्रत्यक्ष दो प्रकारके हैं तब यह न कहना चाहिए कि प्रत्यक्ष शब्द द्वारा वाच्य है इस कारणसे अरहन्तका भी प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक प्रत्यक्षकी तरह स्थूल पदार्थोंको ही जान सकेगा। तो जब यह सिद्ध हो गया कि अरहन्त भगवानका प्रत्यक्षज्ञान समस्त तत्त्वोंका जाननहार है तब इस अनुमानको न तो अनुमान बाधित कह सकते और न कालात्ययापदिष्ट कह सकते। उक्त प्रकारसे निर्दोष हेतुसे यह सिद्ध हो गया कि विश्व तत्त्वका ज्ञाता याने सर्वज्ञ अरहन्त भगवान है। क्योंकि अरहन्तकी सर्वज्ञताको सिद्ध करनेवाला प्रमाण है और उसमें कोई बाधक प्रमाण भी नहीं आता।

प्रत्यक्षमपरिच्छिन्दत् त्रिकालं भुवनत्रयम्।
रहितं विश्वतत्त्वज्ञैर्न हि तद्बाधकं भवेत् ॥ ९७ ॥

सकल प्रत्यक्ष विश्वतत्त्वज्ञ केवलज्ञानकी सिद्धिमें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधाका अभाव—अरहन्तका प्रत्यक्ष ज्ञान समस्त तत्त्वोंका जाननहार है, इस अनुमानमें बाधा देने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान तो हो नहीं सकता, क्योंकि हम लोगोंका प्रत्यक्ष सर्वज्ञसे रहित तीन काल और तीन लोकको जान नहीं सकता। जो जब तीन लोक, तीन कालका जाननहारे हम लोगोंका सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नहीं है तो उसके द्वारा सर्वज्ञताका कैसे निषेध कर सकते हैं। सो यो प्रत्यक्ष ज्ञान सर्वज्ञताका बाधक नहीं है। यदि कल्पना करो कि कोई प्रत्यक्ष तीन लोक और तीन कालको जान सकता है तो वही तो बता सकेगा कि तीनों लोक और तीनों कालोंमें सर्वज्ञ नहीं है और यहां मान लिया प्रत्यक्षको यों कि यह तीन लोक, तीन कालका जाननहार नहीं है। तो वह सर्वज्ञका कैसे निषेध कर सकेगा? और जो प्रत्यक्ष तीन लोक तीन कालका जाननहार है वही सर्वज्ञ हो जायगा, फिर सर्वज्ञका वह निषेध ही कैसे कर सकेगा? जैसे सर्वज्ञ भगवान अरहन्त देवके धर्मादिक सूक्ष्म पदार्थ प्रत्यक्ष सिद्ध हैं ज्ञात हैं ऐसे अनुमान बलसे सिद्ध किया था। उसमें बाधक प्रमाणकी कल्पना कोई करे तो बता सकेगा कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति, उपमान, अभाव इनमेंसे कौन बाधक बनेंगे। उनपर क्रमसे विचार कर लीजिये। सर्वज्ञताका बाधक प्रत्यक्षज्ञान तो हो नहीं सकता, क्योंकि हम लोगोंका प्रत्यक्ष तीन काल और तीन जगतको सर्वज्ञसे रहित देख सकता होता तो कह सकते थे कि हमारा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष सर्वज्ञताका बाधक है, लेकिन सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष तीन काल और तीन लोकको जान ही नहीं सकता। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष तो परिमित क्षेत्रमें और परिमितकालमें सम्बन्धित वर्तमान पदार्थोंको जान सकेगा। तब फिर सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष यह कैसे जान सकेगा कि तीन काल और तीन लोकमें सर्वज्ञ नहीं है। यदि वह जानते हैं कि तीन काल और तीन लोकमें है तो इतने मात्रसे ही वह सर्वज्ञ खुद कहलायगा। तब सर्वज्ञका निषेध भी कैसे हो? तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष तो सर्वज्ञका बाधक है नहीं। अब पारमार्थिक प्रत्यक्षकी बात देखो—मुख्य योगि प्रत्यक्ष यह भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है। वह तो सर्वज्ञपनेका बाधक तो क्या होगा वह तो सर्वज्ञत्वका साधक ही है। दूसरे यह बात है कि सर्वज्ञका अभाव मानने वाले लोग योगि प्रत्यक्षको पारमार्थिक प्रत्यक्षको मानते तक भी नहीं हैं, तो उसे सर्वज्ञताका बाधक कैसे कहा जाय?

नानुमानोपमानार्थापत्त्याऽऽगमवलादपि।
विश्वज्ञाभावसंसिद्धिस्तेषां सद्विषयत्वतः ॥ ९८ ॥

नार्हन्निःशेषतत्त्वज्ञो वक्तृत्व-पुरुषत्वतः।
ब्रह्मादिवदिति प्रोक्तमनुमानं न बाधकम् ॥ ९९ ॥

हेतोरस्य विपक्षेण विरोधाभाव निश्चयात् ।
वक्तृत्वादेः प्रकर्षेऽपि ज्ञानानिर्ह्रासससिद्धितः ॥ १०० ॥

अनुमानादि प्रमाणोसे भी सर्वज्ञत्व सिद्धिमे बाधाका अभाव—उक्त कारिकामे यह बताया गया है कि प्रत्यक्षज्ञान सर्वज्ञताका बाधक नहीं है। अब यह बतला रहे हैं कि अनुमान ज्ञान भी सर्वज्ञताका निषेध नही कर सकता। प्रत्यक्षके अतिरिक्त प्रमाण हैं अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, आगम और अभाव। उनमे भी इसी तरह जाना अनुमान अर्थापत्ति व आगम ये तो सत् पदार्थको विषय करते है। इनका विषय अभाव तो है नहीं। तब फिर उन प्रमाणोके द्वारा सर्वज्ञके अभावकी सिद्धि कैसे की जा सकती है?

सर्वज्ञत्वसिद्धिमे अनुमानद्वारा बाधा आनेका शकाकार द्वारा प्रतिपादन—यहाँ कोई यह कहे कि देखिये सर्वज्ञका निषेध इस प्रमाणसे बन जायगा कि अरहन्त समस्त तत्त्वोका ज्ञाता नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है और पुरुष है। जैसे ब्रह्मा। इस तरहका कहा हुआ अनुमान भी बाधक नही है, क्योकि इस अनुमानमे दिया गया हेतु व्यभिचारी हेतु है। शङ्काकार यह समर्थन कर रहा है कि अरहत सर्वज्ञ नही है, क्योकि वह वक्ता है अथवा पुरुष है। इस अनुमानमे शङ्काकार यह स्पष्ट कर रहा है कि जो वक्ता होता है या पुरुष होता है वह सर्वज्ञ नहीं होता। सर्वज्ञका प्रतिपक्षी है अल्पज्ञ और अल्पज्ञका कार्य है वचन। सो वचन जब स्वीकार कर लिया तो वचन अल्पज्ञताको सिद्ध करते है और जब अल्पज्ञता सिद्ध हो गई तो सर्वज्ञताका अभाव बन जायगा, इसे कहेगे विरुद्धकार्योपलब्धि। याने साध्यमे विरुद्धका कार्य पाया जाय उस हेतुसे इष्टका अभाव सिद्ध करना इस अनुमानका कार्य है। जैसे कोई सीपका अभाव सिद्ध करना चाहता है तो धूम देख करके यह सीपका अभाव सिद्ध कर देगा, क्योकि सीपका प्रतिपक्षी है उष्ण अग्नि और उसका कार्य है धूम तो इस विरुद्ध कार्योपलब्धि हेतुके द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि जगतमें कोई सर्वज्ञ नही है। तो वक्तापन सर्वज्ञताके साथ व्याप्त है इसलिए वक्ता होनेके कारण कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसी तरह पुरुषपनेकी उपलब्धि असर्वज्ञताके साथ व्याप्त है, इस कारण पुरुषपनाका पाया जाना भी विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि है। इस कारण सर्वज्ञको यदि वक्ता और पुरुष स्वीकार करते हैं तो वक्तापन और पुरुषपना होनेके कारण उसमे सर्वज्ञता नहीं रहती।

सर्वज्ञत्वसिद्धिमे अनुमान द्वारा बाधा आनेकी असंभवता बताते हुए उक्त शकाका समाधान—शङ्काकारकी उक्त शङ्काका समाधान करते हैं कि शङ्काकारने जो ये दो अनुमान दिये है और सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेके लिए दिये हैं वे

सर्वज्ञके बाधक नहीं है, क्योंकि उन हेतुवोंमें अविनाभावरूप व्याप्ति नहीं पायी जाती, जो हेतु विपक्षसे व्यावृत्त हो वही हेतु साध्यको सिद्ध करनेमें समर्थ होता है। तो यहां साध्य बताया जा रहा है असर्वज्ञ, तो हेतु असर्वज्ञके प्रतिपक्षी सर्वज्ञमें न जाय तब तो हेतु सही कहलाता है लेकिन सर्वज्ञमें हेतु पहुचता है, क्योंकि सर्वज्ञता और वक्तापनका विरोध नहीं है। यदि शंकाकार यह कहे कि सर्वज्ञताका और वक्तापनका तो परस्पर विरोध है तो वे यह बतलायें कि सर्वज्ञताका वक्तापनके साथ विरोध क्या सामान्य रूप से है या विशेषरूपसे ? सामान्यतया तो सवज्ञताका वक्तापनके साथ अविरोध है क्योंकि यदि सर्वज्ञताका और वक्तापनका विरोध मान लिया जाय तब ज्ञानके बढ़नेपर वक्तापनकी हानि हो बैठेगी, लेकिन देखा यह जाता है कि जिस पुरुषके जितना ऊँचा ज्ञान है वह उतना ही ऊचा वक्ता हुआ करता है। जिसका जिसके साथ विरोध होता है उसकी बढ़ोतरी होनेपर दूसरेकी हानि देखी गई है। जैसे अग्निका ठंडसे विरोध है तो अग्निके बढ़नेपर उसके विरुद्ध ठंडेपनका विनाश देखा जाता है लेकिन ज्ञानके बढने पर वक्तापनमें हानि तो देखी नही जा रही इस कारण वक्तापन सर्वज्ञताका विरोधी नहीं है इस कारण वक्ता भी हो और सर्वज्ञ भी हो, इसमें कोई विरोध नहीं आता। तो वक्तापन हेतु विपक्षसे व्यावृत्त नहीं है याने विपक्षसे उसकी व्यावृत्ति संदिग्ध है। है भी, नहीं भी यों संदिग्ध है। तो संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति होनेसे यह हेतु सिद्ध नहीं होता। वक्ता भी हो कोई और सर्वज्ञ भी हो। इसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है। तो वक्तापन हेतु सर्वज्ञताका अभाव सिद्ध नहीं कर सकता। तो वक्तापनका सर्वज्ञताके साथ सामान्यतया विरोध तो रहा नहीं। अब यदि यह कहें कि विशेष वक्तापनके साथ सर्वज्ञताका विरोध है तो हेतु असिद्ध है क्योंकि सर्वज्ञके विशेषवक्तृत्व याने जो युक्तिशास्त्रका विरोधी हो वह वक्तृत्व सम्भव नहीं है। और जैसा वक्तापन सर्वज्ञता का विरोधी हो याने जो युक्ति और शास्त्रका अविरुद्ध वक्तापन नहीं है ऐसा वक्तृत्व सर्वज्ञके नहीं है। हाँ जो युक्ति और शास्त्रका विरोध न रखता हो वह वचन विशिष्ट ज्ञानके बिना नहीं पाया जाता। तो जो वक्तापन समस्त पदार्थोंका विषय करने वाला है वह तो सर्वज्ञके ही सम्भव हो सकता। जो युक्ति शास्त्रके अविरुद्ध वचन है, समस्त पदार्थोंका विषय करने वाला वचन है वह तो सर्वज्ञको ही सिद्ध करेगा। तो इस तरह वक्तापनका सर्वज्ञताके साथ विरोध सिद्ध नहीं होता। अब "पुरुषपना" इस हेतुपर विचार कर लीजिए। पुरुषपना हेतुमें भी सामान्यके पुरुषपने के साथ सर्वज्ञत्वका विरोध रखनेकी बात जो कह रहे हो वहाँ भी संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्तिक हेतु है। अर्थात् इस हेतुका विपक्षमें पाया जाना सम्भव है इस लिए हेतु विपक्षमे नहीं रहता इस निर्णयमें संदेह बन गया है और ऐसा हेतु साध्यको सिद्ध करनेमे समर्थ नहीं है। जो हेतु सपक्ष में भी रह सके और विपक्षमें भी रह जाय तो उस हेतुसे साध्यका नियम तो नही बन सकता। कोई पुरुष भी हो और सर्वज्ञ भी हो उसमें दोनो बातें सम्भव हैं। किसीमें सातिशय ज्ञान हो। सम्पूर्ण

ज्ञान हो और वह पुरुष हो इसमें किसी प्रकारका विरोध नही है। बड़े बड़े सातिशय ज्ञानी महापुरुष यहाँ प्रसिद्ध ही हैं। तो पुरुषपना सर्वज्ञताका विरोधी नही है। यदि कहो कि हम विशेष पुरुषपनाको सर्वज्ञताका विरोधक मानते हैं तो विशेष पुरुषपनाका यही तो अर्थ कर रहे हो कि जो अज्ञान आदिक दोषसे दूषित है तो ऐसा विशेष पुरुषपना हेतु असिद्ध है, क्योंकि सर्वज्ञ अरहृतमें दूषित पुरुषपना सम्भव नही है। अगर यहाँ विशेष पुरुषपना निर्दोषको बताते हो तो उसके साथ कोई विरोध नही है ऐसा निर्दोष पुरुषपना तो सर्वज्ञको ही सिद्ध करेगा तब आपका हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है याने निर्दोषपना होनेसे असर्वज्ञकी सिद्धि करना चाहते हो और होती है सर्वज्ञकी सिद्धि जो अज्ञान आदिक दोषोसे रहित है ऐसा पुरुष सर्वज्ञ ही होगा। तो इस प्रकार निर्दोष पुरुषमें सर्वज्ञत्वकी सिद्धि है तब यह सिद्ध हो गया कि यह सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र कही परम प्रकर्षको प्राप्त होता है, इस बातका कोई अनुमान सर्वज्ञका बाधक न हो सका।

नोपमानमशेषाणां नृणामनुपलम्भतः ।
उपमानोपमेयानां तद्बाधकमसम्भवात् ॥ १०१ ॥

सर्वज्ञत्व सिद्धिमे उपमान द्वारा बाधा आनेकी असभवता—अब सर्वज्ञका बाधक उपमान प्रमाण भी नही है, इसका भी निर्णय कर लीजिए। उपमान सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि उपमान प्रमाण तब प्रवृत्त होता है जब उपमानभूत और उपमेयभूत पदार्थोंका ग्रहण उपमा देना हो व जिसकी उपमा देना हो उसका हो जाय याने जिसकी परिज्ञान हो तब ही तो उपमान प्रमाण बनता है। जैसे कहा जाय कि यह रोझ गायके समान है तो उपमान तो हुआ गाय और उपमेय हुआ रोझ तो जब इन दोनोकी सदृशता प्रसिद्ध होती है तब ही तो यह ज्ञान होता है कि रोझ गायके समान है। तो उपमान प्रमाण उपमान और उपमेय दोनो पदार्थोंका ग्रहण होनेपर होता है, लेकिन यहाँ उपमानभूत हम लोगोका और उपमेयभूत असर्वज्ञ सिद्ध किए जाने वाले पुरुष विशेषका प्रत्यक्ष ज्ञान तो हो नहीं सकता याने हम लोगोका प्रत्यक्ष अल्पज्ञ है सो वह न हम सबका ज्ञान कर सकता है। और न असर्वज्ञका ज्ञान कर सकता है। यह उपमान प्रमाण तब बनता जब असर्वज्ञ पुरुष विशेषका और सारे हम लोगोका प्रत्यक्ष होता लेकिन न तो हमे हम सबका प्रत्यक्ष हो सकता है और जिस पुरुष विशेषको विवादापन्न बताते है न उसका प्रत्यक्ष हो सकता। तो जब दोनोका प्रत्यक्ष ज्ञान न हो सका तो उनकी सदृशता तो नही बतायी जा सकती और जब सदृशता प्रसिद्ध नही है तो ऐसा उपमान प्रमाण नही लगाया जा सकता कि अन्य काल और अन्य देश वाले भी सभी पुरुष असर्वज्ञ हैं, जैसे कि हम लोग। जिसने उपमान और उपमेय दोनोको नही समझा वह उपमान प्रमाण कैसे बना सकता है ?

दृष्टान्त पूर्वक उपमानको सर्वज्ञत्व सिद्धिका अवाधक बताते हुए प्रत्यक्ष अनुमान व अर्थापत्ति द्वारा सर्वज्ञत्व सिद्धिकी अबाधाका समर्थन— जैसे कोई जन्मका अन्धा पुरुष है उसने न कभी दूध देखा और न बगला देखा दूध भी सफेद है और बगला भी सफेद है। कोई उस अन्धे पुरुषसे कहे कि देखो यह दूध बगले के समान सफेद है या बगला दूधके समान सफेद है, तो क्या इसे तरह उसको ज्ञान कराया जा सकता ? नहीं कराया जा सकता। इसी प्रकार सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेका प्रयास करने वाले लोग न तो सर्वदेश, सर्वकालके पुरुषोंका ज्ञान कर पाते जिसे कि असर्वज्ञ बताते हैं और न तीन लोक तीन कालके हम जैसे लोगोंका प्रत्यक्ष हो सकता है तब फिर उपमानमें कैसे असर्वज्ञ सिद्ध किया जा सकता है ? तो उपमान और उपमेय दोनोंका परिचय न करने वाले पुरुष यह सिद्ध न कर सकेंगे कि अन्य काल और अन्य देशके सभी पुरुष असर्वज्ञ हैं। जैसे कि इस काल और इस देशमें रहने वाले हम लोग असर्वज्ञ हैं। यों उपमान प्रमाण सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं कर सकता। यदि कोई यह कहे कि लो, तीन लोक तीन कालके सबका प्रत्यक्ष कर लिया और जब उपमान प्रमाण लिया जायगा तो तीन लोक तीन कालके सब पुरुषोंको जान लिया तो ऐसा जानने वाला ही सर्वज्ञ बन गया फिर उस दिशामें उपमान प्रमाण सर्वज्ञका अभाव कैसे सिद्ध कर सकता है ? सारांश यह है कि सर्वज्ञके अभावकी सिद्धि प्रत्यक्षसे नहीं होती, क्योंकि जहाँ सर्वज्ञका अभाव बताते हैं ऐसा तीन लोक तीन कालका ज्ञान साव्यवहारिक प्रत्यक्षसे नहीं बनता। परमार्थ प्रत्यक्षसे तो सर्वज्ञकी ही सिद्धि बनेगी। अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञताकी सिद्धिका बाधक नहीं है, क्योंकि उसके लिए जो हेतु दिये जायेंगे वे विपक्षमें भी पाये जा सकते हैं। इसी प्रकार उपमानकी प्रवृत्ति होती है उपमान और उपमेय दोनों पदार्थोंका परिज्ञान करनेपर, सो यदि दोनों पदार्थोंका परिज्ञान कर लिया अर्थात् समस्त लोक कालके पुरुषोंका ज्ञान कर लिया तो वही सर्वज्ञ हो गया, और यदि ज्ञान नहीं कर सकते, जैसे कि हम लोगोंमें बात पायी ही जाती। हम लोगोंका ज्ञान समस्त लोक समस्त कालके पुरुषोंको नहीं जान पाता तो उपमान प्रमाणसे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि अन्य काल और अन्य देश वाले सभी पुरुष असर्वज्ञ है। जैसे कि इस काल और इस देशमें रहने वाले मैं हम कुछ लोग असर्वज्ञ हैं यों प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान द्वारा सर्वज्ञका अभाव सिद्ध न हो सका। अब अर्थापत्ति प्रमाण पर विचार करो, उससे भी सर्वज्ञका अभाव सिद्ध न हो सकेगा।

नार्थापत्तिरसर्वज्ञं जगत्साधयितुं क्षमा।
क्षीणत्वादन्यथाभावाभावात्तत्तदबाधिका ॥ १०२ ॥

सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेमें अर्थापत्तिकी अक्षमता—अर्थापत्ति प्रमाण

भी इस जगतको सर्वज्ञ सिद्ध करनेमे समर्थ नही है क्योकि अर्थापत्ति प्रमाण सर्वज्ञका अभाव करनेमे अशक्त है। जो भी अर्थापत्तिमे युक्ति बतावेंगे उसका साध्यके साथ अविनाभाव सम्बन्ध नही है इसलिए अर्थापत्ति भी सर्वज्ञका बाधक नही हो सकती। "ससार सर्वज्ञसे रहित है, क्योकि यदि सर्वज्ञ हो तो सर्वज्ञकृत धर्मादिकके उपदेशका अभाव नहीं हो सकता" इस तरह बनाया गया अर्थापत्ति भी सर्वज्ञके अभावका साधक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञकृत धर्मादिकके उपदेशका अभाव जिसे कि अर्थापत्तिको उत्पन्न करने वाला बताया है वह प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणसे किसी भी प्रमाणसे जाना नही जा सकता। याने किसी भी प्रमाणसे यह प्रतीत न हो सकेगा कि सर्वज्ञकृत अतीन्द्रिय धर्मादिक पदार्थोंका उपदेश नहीं है। यदि यह सिद्ध हो सकता हो कि अतीन्द्रिय सूक्ष्म धर्मादिक पदार्थोंका उपदेश नही है तब तो कहा जा सकता था कि अर्थापत्ति बन गई लेकिन अतीन्द्रिय धर्मादिक पदार्थोंका बताना सर्वज्ञ परम्परासे बराबर चला आ रहा है, इसलिए अर्थापत्ति भी सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेसे समर्थ नही है।

रागयुक्त पुरुष द्वारा व्याख्यात; अपौरुषेय आगमसे धर्मादिके उपदेश की असिद्धि—यहाँ शङ्काकार कहता है कि धर्मादिक अतीन्द्रिय पदार्थोंका उपदेश सर्वज्ञ द्वारा सम्भव नही है, वह उपदेश तो अपौरुषेय वेदसे ही प्रसिद्ध हो सकता है। कहा भी है कि धर्मके विषयमे वेद ही प्रमाण है तो जब वेद ही समर्थ है अतीन्द्रिय पदार्थका उपदेश करनेमे तो कोई पुरुष धर्मादिकका प्रत्यक्षद्रष्टा सम्भव न हो सका। जिससे कि वह धर्मादिकका उपदेश करने वाला बन सके। और यो सर्वज्ञकृत धर्मादिक के उपदेशका अभाव सिद्ध ही है। यो सर्वज्ञका अभाव सिद्ध हो जाता है। उक्त शङ्का के समाधानमे कहते हैं कि शङ्काकारका यह कथन यो सङ्गत नहीं कि धर्मादिकके उपदेशका निश्चय अपौरुषेय वेदसे सम्भव नही होता। वेदसे शास्त्रसे और वह भी अपौरुषेय हो अथवा किसी भी प्रकारका हो धर्मादिक अतीन्द्रिय पदार्थोंका उससे उपदेश नही बन सकता। यदि इसका विवरण चाहते हो तो सुनो! यहाँ यह पूछा जाने योग्य है कि यह वेद किसीके द्वारा व्याख्यान किया गया होकर धर्मका उपदेशक है या व्याख्यान किया गया न होकर धर्मका उपदेशक है? यदि कहो कि व्याख्यान किया गया होकर ही धर्मका उपदेशक है आगम तो यह बताओ कि उस आगमका व्याख्याता जिसने कि व्याख्यान किया है, जिसके द्वारा वह व्याख्यात हुआ है वह वक्ता क्या रागादिक दोषो से युक्त है या रागादिक दोषोसे रहित है? यदि आगम वक्ता, वेदका व्याख्याता रागादिक दोषोसे सम्पन्न है, तो उसके व्याख्यानसे वेदार्थका निर्णय नही किया जा सकता, क्योकि उसमे असत्यपना सम्भव है, आखिर उसका व्याख्याता रागादिक दोषोसे सहित तो हुआ। व्याख्याता जब रागद्वेषसे सम्पन्न है तो रागसे, द्वेषसे अथवा अज्ञानसे मिथ्या अर्थका भी तो व्याख्यान करने वाला हो सकता है इसलिए वह रागी द्वेषी वक्ता वेदार्थ का मिथ्या व्याख्यान भी कर सकता है तो नियम तो कुछ न रहा कि रागादिमान

व्याख्याता वेदार्थका सही ही व्याख्यान करेगा, मिथ्या नहीं। तो जब रागादिक दोषों से युक्त व्याख्याता है तो कैसे उसका सत्य उपदेश बन सकता है? यहाँ शङ्काकार कहता है कि देखिये गुरु परम्परासे क्रमसे चले आये वेदके अर्थको जानने वाले बड़े विशिष्ट पुरुष वेदार्थके व्याख्यान सही कर देंगे ऐसा नियम बन जायगा याने यद्यपि वेदार्थके व्याख्याता रागी पुरुष हैं लेकिन वे सब गुरु परम्पराके क्रमसे चले आये वेदार्थ के जानने वाले हैं। इस तरह वेदार्थका सम्यक व्याख्यान कर देंगे उनसे मिथ्या व्याख्यान न बनेगा तो इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि भला यह भी बतलाओ कि वे महाजन भी जो गुरु परम्पराके क्रमसे चले आये वेदार्थके व्याख्याता बताये जा रहे हैं क्या वे रागादिक दोषसे युक्त हैं? है ही तो वे वेदार्थके यथार्थ जानने वाले हैं यह ही निर्णय न बन सकेगा क्योंकि परम्पराके क्रमसे चला आया व्याख्यान भी तो मिथ्या सम्भव हो सकता है। जैसे उपनिषद वाक्योंका अर्थ लो कोई ब्रह्मत्व कर रहा है तो कोई ईश्वर स्तुति अर्थ लगा रहा है। यहाँ ही देख लीजिए उपनिषद वाक्य, वेद वाक्य ही तो हैं, लेकिन ब्रह्माद्वैतवादी तो उसका अर्थ ब्रह्म लगायेंगे और नैयायिक वैशेषिक आदिक उसका अर्थ स्तुति लगायेंगे। ईश्वर आदिक कहेंगे तो देखा गुरु परम्पराके क्रम से वह वेदार्थ चला आ रहा है। पर उसके सम्बन्धमें ही विवाद है। उसे मीमांसक सही नहीं बताते। मीमांसक वेद वाक्यका अर्थ कोई नियोग बताते कोई भावना कहते सो जिसके व्याख्याता रागादिक दोषसे युक्त पुरुष हैं और वे ही पुरुष उस परम्परासे चले आये व्याख्याता हैं तो वहाँ कैसे निर्णय किया जा सकता है कि यह व्याख्याता निर्दोष है। अब दूसरा पक्ष लीजिए। यदि वेदका व्याख्याता रागद्वेष और अज्ञानसे रहित पुरुष है तो उसी पुरुषको ही सर्वज्ञ क्यों नहीं मान लिया जाता? जो रागद्वेष रहित हैं और यथार्थ व्याख्याता है और वेद द्वारा ही सही जान लिया सबको तो उसी को ही सर्वज्ञ क्यो नहीं समझ लिया जाता?

व्याख्याताके प्रस्तुत विषयमें ही अज्ञानरहितपनेका व रागादि रहितपनेका अनिर्णय—शङ्काकार कहता है कि देखिये वेदार्थके अनुष्ठानमें जो पुरुष प्रवीण है उनको ही हम रागद्वेष रहित मानते हैं क्योंकि वेदार्थके करनेमें ही तो वे रागद्वेष रहित हैं। सर्व विषयोंमें रागद्वेष रहित नहीं हैं। कोई किसी विषयमें रागद्वेष नहीं रख रहा है और दूसरे विषयमें रागद्वेष रख रहा है ऐसा भी तो देखा जाता है तो यों ही यहाँ समझ लीजिए कि वेदार्थका व्याख्यान करने वाला पुरुष वेदार्थके विषयमें ही वह मोहरहित है, सम्पूर्ण विषयोंमें मोहरहित नहीं है, क्योंकि कोई पुरुष किसी विषयमें बड़ा विशिष्ट ज्ञान रख रहा हो तो भी दूसरे विषयमें उसका अज्ञान देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि वेदार्थका व्याख्यान करने वालेके लिए सभी विषयोंका रागद्वेष न होना और सभी विषयोंका पूर्ण ज्ञान होना यह आवश्यक नहीं है। जो जिसका व्याख्याता है उसके उस विषयका अज्ञान नहीं है, रागद्वेष नहीं है,

ऐसा मान करके यही काम चलाना चाहिए क्योंकि वह पुरुष यदि उसी विषयमें रागादिक युक्त होगा तो ठगाई करने वाला हो सकेगा यान अन्यथा प्रतिपादक बन सकेगा। तो बुद्धिमान पुरुष उस पुरुषको उसका व्याख्यान करनेमें रागी नहीं मानते। इसके अन्य विषयोंमें रागद्वेष उसके सम्भव है। तो सब विषयोंमें रागादिक रहित तो न बना। कोई व्यक्ति किसी एक शास्त्रका यथार्थ व्याख्यान करता है तो उसके उसी विषयमें अज्ञानका अभाव है अन्य विषयोंमें अज्ञानका अभाव नहीं है। यदि कोई पुरुष जो कि केवल एक शास्त्रका व्याख्यान करे और उसे मान लिया जाय कि उसके सब विषयोंमें रागादिकका अभाव है तब तो सर्वज्ञ वीतराग ही सब शास्त्रोंका व्याख्याता मान लेना चाहिए। और ऐसा मान लेनेपर फिर असर्वज्ञकृत शास्त्र व्याख्यान का लोक व्यवहार भी न बन सकेगा फिर तो यों कहो कि जितने व्याख्याता हैं वे सभी सर्वज्ञ हैं अथवा असर्वज्ञ ? और सर्वज्ञता भी अन्य कहाँसे लावोगे ? इस कारण यह मान लेना चाहिए कि किसीको कुछ विषयोंका शास्त्रार्थ ज्ञान है और कुछ विषयोमें रागद्वेष रहितपना है तो बस इस ज्ञान और विरागताको ही यथार्थ व्याख्यानका कारण समझ लीजिए क्योंकि यथार्थ व्याख्यानका कारण तो ये दोनों ही बातें हैं कि उस विषयमें अज्ञान न हो और रागद्वेष भी न हो। तो इन दोनोंका अभाव वेदार्थका व्याख्यान करने वाले ऋषी सभीके मौजूद हैं क्योंकि उनके वेदार्थके विषयका अज्ञान और रागद्वेषादिक नहीं है और यह बात प्रसिद्ध ही है जो बड़े बड़े प्रजापति मनु आदिक सन्त हुए हैं वे आगम अर्थके विषयमें अज्ञानी न थे, रागी द्वेषी न थे, यदि ऐसा न होता अर्थात् वे ऋषी सन्त उस शास्त्रार्थ ज्ञानके विषयमें अज्ञानी होते और रागी-द्वेषी होते तो उनका व्याख्यान कोई अन्य पुरुष ग्रहण नहीं कर सकता है। लेकिन आज व्याख्यान बड़े बड़े शिष्ट पुरुषों द्वारा ग्रहण किया जा रहा है और यह परम्परा चल रही है इस कारण समझ लेना चाहिए कि जो आगम अर्थका ही व्याख्याता है वह आगम अर्थके सम्बन्धमें ही ज्ञानी है वह सर्वज्ञ नहीं है और उस शास्त्रार्थके विषय में ही रागद्वेष रहित है, सर्व विषयोंमें रागद्वेष रहित नहीं है तब सर्वज्ञ वीतराग पुरुष विशेष कोई सर्वथा ही स्वीकार किया जाय ऐसा नहीं है। उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यह शङ्काकार विचारशील नहीं है, क्योंकि यदि ऐसी व्याप्ति लगायी जाय कि जो जिसका व्याख्यान कर रहे हैं वे उनके व्याख्यानके सम्बन्धमें ज्ञानी हैं और रागी नहीं हैं तो इस तरह सभी मतोंका व्याख्यान यथार्थ हो जायगा, क्योंकि सभी मतानुयायी अपने अपने शास्त्रार्थ व्याख्यानको अज्ञानी व रागी द्वारा नहीं मानते वे भी सभी अपने शास्त्रार्थके व्याख्याताको ज्ञानी और रागद्वेष रहित समझते हैं। तब कथन मात्रसे तो प्रमाण न बन जायगा। यदि कहने मात्रसे बात प्रमाणभूत हो जाय तो विरुद्ध कहने वाले सभी मतावलम्बियोंकी बात प्रमाणभूत हो जायगी। यहाँ शङ्काकार कहता है कि अन्य मतावलम्बियोंका व्याख्यान यथार्थ नहीं है, क्योंकि उन व्याख्यानोंमें बाधक प्रमाण मौजूद है। जैसे कि लोक प्रसिद्ध मिथ्या उपदेशके

व्याख्यान सही नही है क्योंकि उनका बाधक प्रमाण देखा जाता है तो इसी तरह अन्य मतान्तरोंकी व्याख्या भी यथार्थ नहीं है। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि इस तरह तो कोई वेदार्थके सम्बन्धमें भी कह सकता कि वेदार्थ व्याख्यानमें भी बाधक प्रमाण मौजूद है जैसे कि वेदार्थवादी कहते कि सुगत आदिक मतोके व्याख्यानोंमें परस्पर विरोधका अर्थ भरा है तो उसका प्रतिपादन जो किया जाता है वह ही बाधक प्रमाण है जो यह सिद्ध करता है कि उनका अभिमत यथार्थ नहीं है। तो ऐसी प्रकार यहाँ भी तो देखिये ! वेदार्थ व्याख्यानोमे भी अनेक परस्पर विरोधी अभिमत आये हुए हैं। कोई कहता है कि इसका अर्थ भावना है तो कोई कहता है कि इस वाक्यका अर्थ नियोग है। तो कोई कहता है कि इसका अर्थ विधिरूप है। यों परस्पर विरोधी अर्थका प्रतिपादन यहाँ भी हो रहा है इसलिए वह प्रतिपादन भी मिथ्या हो जायगा। इन व्याख्यानोका केवल भावना ही अर्थ है, केवल नियोग ही अर्थ है या विधि ही अर्थ है, अन्य अर्थ नही, ऐसा दूसरेके माने गए अर्थका निराकरण तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये तीनो ही पुरुष जो कुछ कह रहे हैं उनमें परस्पर कुछ विशेषता नही है। जो जिस अर्थका मानने वाला है वह दूसरे अर्थका निराकरण करनके लिए जो आक्षेप करेगा या कुछ समाधान देगा तो ये दोनो दूसरी जगह भी लग सकेंगे। अर्थात् जो आपत्ति बतायी जाय और जो उनका परिहार किया जाय ऐसी बात अन्य अर्थ वाला भी कर सकता है। तब किसी भी पुरुष द्वारा व्याख्यान किया गया वेद-वाक्यमे धर्मादिकका उपदेश व्यवस्थित न बन सकेगा तो यह पक्ष तो न रहा कि व्याख्याता यथार्थ उपदेशक है।

अव्याख्यात आगमसे उपदेशकी असिद्धि—अब दूसरा पक्ष देखिये ! यदि यह कहे कोई कि व्याख्यान न किए गए वेदसे याने अव्याख्यात वेदसे उपदेश बन जायगा तो यह बात तो सम्भव ही नही है। जिसका कुछ व्याख्यान ही नही किया जा रहा। केवल पुस्तकमे ही लिखे अक्षर हैं उनसे तो उपदेश नहीं बनता, और बिना व्याख्यान किया गया आगम, यदि स्वयं अपने अर्थका उत्पादन करने लगे तो यह बतलावो कि उसके अर्थमे फिर विवाद उठ क्यो रहे हैं ? वहाँ विवाद न रहना चाहिए। यदि बिना व्याख्यान किए गए ही, वेद वाक्य अर्थको बताने लगेगा तो एक ही अर्थ बताया जाना चाहिए। पर वेदार्थ बताने वालोमे उसके अर्थमें विवाद देखा जाता है। कोई वाक्यका अर्थ भावना करता है तो कोई विधि करता है, तो कोई नियोग बताता है, तो ये तीनों अर्थ परस्परमे विरोधी हैं इस लिए वेदको ही धर्मादिकका उपदेशक बताना नहीं बनता, किन्तु उपदेश सर्वज्ञ और वीतराग पुरुष विशेषसे ही सम्भव हो सकता है। हाँ सर्वज्ञ वीतराग पुरुषकी परम्परासे चले आये हुए जो वेद हो वे प्रमाणभूत हैं, क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग उनके मूल व्याख्याता हैं। अथवा उपदेशक हैं अतएव सर्वज्ञकी सिद्धिमें अर्थापत्तिसे बाधा नहीं आ सकती। जो इस तरहकी अर्थापत्ति

बताया है कि सर्वज्ञकृत धर्मादिकका उपदेश असम्भव है इसलिए सर्वज्ञ नहीं है, यह अर्थापत्ति प्रमाणभूत नहीं है। सर्वज्ञत्वकी सिद्धिमे बाधक नहीं हो सकती।

नागमोऽपौरुषेयोऽस्ति सर्वज्ञाभावसाधनः ।
तस्य कार्ये प्रमाणत्वादन्यथाऽनिष्टसिद्धतः ॥ १०३ ॥

पौरुषेयोऽप्यसर्वज्ञ प्रणीतो नास्य बाधकः ।
तत्र तस्याप्रमाणत्वाद्धर्मादाविव तत्त्वतः ॥ १०४ ॥

सर्वज्ञत्व सिद्धिमे आगम प्रमाणकी अबाधकता—उक्त प्रकरणमे यह बता दिया गया है कि सर्वज्ञत्वकी सिद्धिमे प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और अर्थापत्तिमे बाधा नही आती। इसी प्रकार अब यहाँ बतला रहे हैं कि आगम भी सर्वज्ञके अभावको सिद्ध नही कर सकता, क्योकि उस सम्बन्धमे दो विकल्प उत्पन्न होते हैं कि जो सर्वज्ञ के अभावको सिद्ध करने वाला आगम है वह क्या अपौरुषेय है या पौरुषेय है? यदि यह कहा जाय कि अपौरुषेय आगम सर्वज्ञके अभावको सिद्ध करता है तो यह कथन युक्त नही है क्योकि अपौरुषेय आगम तो यज्ञादिक कार्योमें ही प्रमाणभूत है और वही उसके मानने वाले मीमासकोको ही इष्ट है। यदि ऐसा न माना जायगा तो अनिष्ट प्रसङ्ग आयगा। तब अपौरुषेय आगम तो सर्वज्ञके अभावको करनेका विषय ही नही रख रहा है। यदि कहो कि पौरुषेय आगम सर्वज्ञके अभावको सिद्ध कर सकता तो यह बतलाओ कि सर्वज्ञत्वके अभावको सिद्ध करनेके लिए बताये जाने वाला जो पौरुषेय आगम है वह आगम क्या असर्वज्ञ प्रणीत है या सर्वज्ञ प्रणीत है? यदि कहो कि वह आगम असर्वज्ञ याने अल्पज्ञ पुरुष द्वारा रचित है तो वह सर्वज्ञका बाधक नही हो सकता क्योकि वह तो असर्वज्ञ पुरुषका बनाया है। जो सबको नहीं जानता वह सब देश सब कालमें सर्वज्ञ नही है, इसको कैसे बता सकते हैं? तो सर्वज्ञ सिद्धिमें असर्वज्ञ रचित आगम तो बाधक हो नही सकता। अब यदि कहोगे कि सर्वज्ञ पुरुष द्वारा रचित पौरुषेय आगम सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करे तो यह बात तो सर्वज्ञके अभावको सिद्ध करने वाली न बनी। पहिले ही मूलमे सर्वज्ञ मान लिया सो यह बात मीमांसकोको मान्य नही है और उसे सर्वज्ञका बाधक भी नही कहा जा सकता है। जब आगम सर्वज्ञ द्वारा रचित है ऐसा स्वीकार कर लिया तो सर्वज्ञकी सिद्धि तो अपने आप हो ही गई है।

अभावोऽपि प्रमाणं ते निषेध्याधारवेदने ।
निषेध्यस्मरणे च स्यान्नास्तिताज्ञानमञ्जसा ॥ १०५ ॥

न चाशेष जगज्ज्ञानं कुतश्चिदुपपद्यते ।
नापि सर्वज्ञसंवित्तिः पूर्वतत्स्मरणं कुतः ॥ १०६ ॥

येनाशेषजगत्यस्य सर्वज्ञस्य निषेधनम् ।
परोपगमतस्य निषेधे स्वेष्टबाधनम् ॥ १०७ ॥

मिथ्यैकान्तनिषेधस्तु युक्तोऽनेकान्तसिद्धितः ।
नासर्वज्ञजगत्सिद्धेः सर्वज्ञप्रतिषेधनम् ॥ १०८ ॥

सर्वज्ञताका अभाव सिद्ध करनेमें अभाव प्रमाणकी अक्षमता— यहाँ तक यह सिद्ध किया गया कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम ये सर्वज्ञकी सिद्धिमें बाधक नहीं हैं । अब अभाव प्रमाणके सम्बन्धमें विचार किया जा रहा है। जो लोग अभाव प्रमाण मानते हैं और यह बात रखना चाहते हैं कि सर्वज्ञ नहीं दीखता इस कारण सर्वज्ञका अभाव है, ऐसा कहने वाले पुरुष भी अभाव प्रमाण द्वारा सर्वज्ञका अभाव सिद्ध न कर सकेंगे। अभाव प्रमाण तो वहाँ घटित किया जा सकता है कि जिसका अभाव करना है और जहाँ अभाव करना है तो निषेध किए जाने वाली वस्तुके उस आधारका पता तो हो, और फिर जिसका निषेध करते हो उसका स्मरण हो तब अभावका ज्ञान बनता है जैसे कोई पुरुष कहता है कि इस कमरेमें घडा नहीं है तो उस पुरुषके चित्तमें दो बातें आयी—एक तो जिस आधारमें घडेका निषेध किया जा रहा है उस सारे कमरेका उसे ज्ञान होता है और घडेका स्मरण किया है जिसका कि निषेध किया जाता है ? तो निषेध्यका स्मरण हो और निषेध्यके आधारका परिचय हो तब उसे नास्तित्वका ज्ञान हो सकता है । लेकिन किसी तरहसे समस्त जगत का ज्ञान बन नही रहा है और न सर्वज्ञका स्मरण हो रहा है यह बात वही तो कह सकेगा जिसने तीन लोक तीन कालको पहिले जान लिया हो। जहाँ कि सर्वज्ञका अभाव बताते हैं और फिर सर्वज्ञका स्मरण भी हो जिसका कि अभाव बताते हैं तब ही तो अभाव प्रमाण बन पावेगा सो न तो तीन लोक तीन कालका ज्ञान है और न सर्वज्ञका स्मरण है, सर्वज्ञका पहिले कभी ज्ञान ही नहीं हो सका तो स्मरण कहाँसे बने । तो जब ये दोनो नही हो रहे हैं तो सारे ससारमें सर्वज्ञका निषेध करनेकी बात कैसे बन सकती है ? और यदि कोई यह कहे कि दूसरेने सर्वज्ञ माना है तो उसके माने हुए सर्वज्ञको मानकर उसका निषेध करेंगे तो इसमें स्वयके इष्टमें बाधा आती है । और, यदि कोई यह कहे कि फिर स्याद्वादी लोग मिथ्या एकान्तका निषेध कैसे करते हैं ? तो वह निषेध युक्त है । क्योंकि अनेकान्तकी सिद्धि प्रमाणभूत हो रही है । तो अभाव प्रमाणसे किसी भी तरह सर्वज्ञका प्रतिषेध नही किया जा सकता है ।

अदृश्यानुपलब्धिरूप अभावसे सर्वज्ञत्वके अभावकी असिद्धि— कुछ लोग अभावको भी प्रमाण मानते है और अभाव प्रमाण वहाँ है जहाँ पाँचो प्रमाण न रहते हो याने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम ये ५ प्रमाण सद्भावके साधक हैं। इनका विषय सत्ता है। तो अस्तित्वको सिद्ध करने वाले ५ प्रमाणोकी जहाँ निवृत्ति है वहाँ अभाव प्रमाण रहता है। तो अर्थ यह हुआ कि सर्वज्ञ का विषय करने वाले अस्तित्वको सिद्ध करने वाले ५ प्रमाण जहाँ न रहते हो वहाँ अभाव प्रमाण हुआ करता है। तो यहाँ पहिले यह ही निर्णय कर लीजिये कि क्या अभावका इतना ही अर्थ है कि जहाँ पाँचो प्रमाणकी निवृत्ति हो। या अभावका अर्थ यह है कि अन्य वस्तुका परिज्ञान किया जाय उसे अभाव कहते हैं। यदि यह कहा जाय कि सर्वज्ञ विषयक प्रत्यक्ष यदि परमाणु रूपसे आत्माका परिणाम न होना यह ही अभाव है तो यह तो सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नही कर सकता, क्योकि सर्वज्ञके सद्भावमे भी आत्माका ऐसा अपरिणाम बन सकता है। कोई यह नही जान सकता कि यह पुरुष सर्वज्ञ है, क्योकि वह अतीन्द्रिय है, इन्द्रिय द्वारा विषयभूत नही है। तो जैसे कोई दूसरेके मनकी विशेष बातको नही जान सकते हैं उसी तरहसे कोई पुरुष सर्वज्ञ तकको भी सीधा प्रत्यक्ष प्रमाणसे समझ नही सकता है कि यह है सर्वज्ञ। तो जिस प्रकार दूसरेके मनकी विशेष बात जाननेमें नही आती फिर भी उसका सद्भाव माना ही जाता है। तो दूसरेके मनकी बातका अभाव तो नही किया जा सकता। इसी तरह यहाँ भी यह समझें कि किसी भी सर्वज्ञका प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणसे ज्ञान नहीं होता याने उसकी अजानकारी हो तो उससे सर्वज्ञका अभाव नही बताया जा सकता, क्योकि आत्मामे सर्वज्ञविषयक अज्ञान रहनेपर भी उसका सद्भाव बना रह सकता है। याने कोई पुरुष प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोसे सर्वज्ञकी जानकारी न कर सके तो यह उसके लिए ही तो बात हुई। पर इसका यह अर्थ तो न होगा कि सर्वज्ञ कही भी नही है। तो आत्मामे सर्वज्ञविषयक अज्ञान परिणाम बना रहे फिर भी सर्वज्ञका सद्भाव हो सकता है। साराश यह हुआ कि अदृश्यकी अनुपलब्धि अभावकी साधक नहीं बन सकती। याने जो पदार्थ अदृश्य है और वह यदि इसको नही दीख रहा है तो इतने मात्रसे यह अभाव नहीं कहा जा सकता। बतलाइये परमाणुकी उपलब्धि कैसे हो रही है ? लेकिन परमाणुकी उपलब्धि नही हो रही है इतने मात्रसे परमाणु का अभाव तो नहीं बताया जा सकता। तो इसमे अदृश्यानुपलब्धि अभावके साधक नहीं हैं क्योकि दृश्यमान अभावके साधक है याने जो पदार्थ दृश्य हो सकते हैं उनकी अगर अनुपलब्धि हो रही, वे नहीं पाय जा रहे तो अभाव सिद्ध हो सकता। जैसे— घड़ा दृश्य है और वह न दीखे तो कह सकते है कि घड़ेका अभाव है। लेकिन सर्वज्ञ तो अदृश्य है, उसके नही पाया जाता अर्थात् वह जानकारीमे न आये तो इससे कहीं सर्वज्ञका अभाव न बन जायगा। जो बाधा जाने योग्य हो और फिर न पाया जाय तो उसका अभाव बता दिया जाय, पर जो बाधा जाने योग्य नही है उसका अभाव

कैसे कहा जा सकता ? सो सर्वज्ञ उपलब्धिके अगोचर है इसलिए इसके अभावमें प्रमाण से अभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता है। अतः अदृश्यानुपलब्धिरूप अभाव सर्वज्ञत्वके अभावका साधक नहीं है।

निषेध्याधारवेदनरूप अभाव प्रमाणकी भी सर्वज्ञत्वकी असिद्धिमें अक्षमता—वस्तुके अभावकी प्रसिद्धि दो विधियोंसे की गई है—एक तो जो पदार्थ दृश्य हो सकता है फिर उसकी अनुपलब्धि हो तो उससे अभाव जाना जाता है। जैसे घट दृश्य है और फिर वह घट पाया न जाय तो घटका अभाव कहा जाता है। दूसरी विधि यों है कि जिसका निषेध किया जाता है उससे भिन्न अन्य पदार्थकी उपलब्धि पाई जा रही हो। सो पहिली विधिका तो नाम है अदृश्यानुपलब्धि। उससे सम्बन्धमें तो वर्णन किया जा चुका है कि अदृश्यानुपलब्धिमें सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। अब देखिये निषेध्याधारवेदनकी बात अर्थात् जो निषेध किये जानेके योग्य है उससे भिन्न अन्य पदार्थका बोध होना अभावको सिद्ध करता है इसकी बात सुनो! निषेध्यान्यवेदन तब ही तो सम्भव है जब कि जिस ज्ञानमें निषेध्य जाना जा सकता है उस ही ज्ञानसे उसके बजाय अन्य पदार्थ जाना जाता हो यानी एकज्ञानसंसर्गी वस्तुमें यह अभाव प्रमाण घटित होता है। जैसे जब कहा कि इस कमरेमें घट नहीं है तो उसका अर्थ यह है कि घटका भी ज्ञान आंखसे होता था और घटको छोड़कर अन्य पदार्थ याने एक वह कमरा उसका भी ज्ञान आंखसे होता है। तो एक ज्ञानका जिसमें संसर्ग हो वहाँ तो निषेध्यान्यवेदन रूप अभाव बनता है। निषेध्यान्यवेदनका अर्थ है कि जो पदार्थ निषेध्य हो रहा है उसके बजाय अन्य चीजका ज्ञान होना। तो यह अभाव प्रमाण वहाँ ही तो लगेगा कि जहाँ एक ही ज्ञानसे निषेध्यका ज्ञान होता हो और उस ही ज्ञानमें अन्यका ज्ञान हो सकता हो। जैसे कि घटके एक ज्ञानसे संसर्गी भूतलका ज्ञान हुआ तो केवल भूतलको देखकर घटका अभाव बताया जाता है। इसका सारांश यह है कि जैसे घट और कमरा ये एक चक्षुइन्द्रियके ज्ञानसे संसर्गी हैं अब ऐसी स्थिति में कि चाक्षुषज्ञान संसर्गसे घटशून्य भूतलमें यह देखा गया कि जिसका अभाव बताना है ऐसे घटके अतिरिक्त अन्य वस्तुका ज्ञान बना तब उस ज्ञानसे यह कहा जा सकता कि इस कमरेमें घड़ा नहीं है। भावार्थ यह है कि आंखसे ही तो घड़ा देखा जाता है और आंखसे ही कमरा देखा जाता है। अब उस समय आंखसे घटसंसर्गरहित कमरा देखा गया तो उससे घटका अभाव जाना गया। ऐसे ही जिस एक ज्ञानसे सर्वज्ञ जाना जाता हो फिर उस ही ज्ञानसे सर्वज्ञरहित दुनिया जानी गई हो तब तो कह सकते हो कि सर्वज्ञरहित दुनिया है। प्रतिषेध्य तो यहाँ सर्वज्ञ है और उसको छोड़कर उसके बजाय अन्य वस्तुमें ज्ञान हो तब ही तो सर्वज्ञका अभाव हो। लेकिन सर्वज्ञके एक ज्ञानसे संसर्गी जगत नहीं दीख रहा है याने सर्वज्ञ जिस ज्ञानसे जाना जाय उस ही ज्ञानका संसर्ग बने सर्वज्ञशून्य दुनियाका, तब तो सर्वज्ञका अभाव बन सकता था,

लेकिन सर्वज्ञके एक ज्ञानसे संसर्गी हम लोगोका प्रत्यक्षभूत कोई वस्तु स्वीकार नही है अतएव निषेधान्यवेदनरूप अभाव प्रमाणके द्वारा सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नही किया जा सकता।

निषेध्य सर्वज्ञके एक अनुमानादिज्ञानसे संसर्गी जगतका ज्ञान बताकर भी सर्वज्ञके अभावकी असिद्धि—यहाँ शङ्काकार यदि यह कहे कि हम अनुमान आदिक किसी भी एक ज्ञानसे सर्वज्ञ और सर्वज्ञसे भिन्न वस्तुका संसर्ग बना लेंगे और इस बल-बूतेपर सर्वज्ञके एक ज्ञानसे संसर्गी किसी अनुमेय पदार्थमे अनुमान ज्ञान सिद्ध करने लगेंगे। इस तरह तो सर्वज्ञका अभाव सिद्ध हो जायगा। इसके समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकारका यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योकि इस तरह एकज्ञान संसर्गीपना बनाओगे तो कही कभी किसीके सर्वज्ञताकी सिद्धि हो जायगी याने एक ज्ञान संसर्गीका अर्थ यह है कि जिस ज्ञानके द्वारा सर्वज्ञको समझा उस ही ज्ञानसे संसर्गी होवे सर्वज्ञके बजाय अन्यको समझा तो इस विधिमें सर्वज्ञको तो पहिले ही मान लिया तब सब जगह सब कालमे सबके सर्वज्ञका अभाव माननेपर किसी वस्तुका उसके साथ एक ज्ञान संसर्ग नही हो सकता। तब सर्वज्ञान्यवेदनरूप अभाव प्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नही किया जा सकता। जैसे कि घडा और कमरा ये एक चाक्षुष ज्ञान द्वारा जाने जाते है तब इस स्थितिमे जिस समय घटरहित केवल कमरे का ग्रहण हो तब वहाँ यह बात निभेगी कि इस कमरेमे घडा नही है, क्योकि जिस एक ज्ञानसे उपलब्धि योग्य हो सकती थी घडा वह अब उपलब्ध नहीं है। तो जिस निषेध किए जाने वाले पदार्थ और जहा निषेध किया जाना है ऐसी जगह इन दोनो का ग्रहण हो सकता हो तब तो अभाव प्रमाणकी बात लगाई जाय। लेकिन यहा निषेध्यसर्वज्ञका किसी एक ज्ञानसे ग्रहण नहीं है और उस ही एक ज्ञानसे निषेधस्थान तीन लोकका भी तीन कालका भी ग्रहण नहीं है। तो निषेध्यान्यवेदनरूप अभाव प्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव कैसे सिद्ध किया जा सकता है? सर्वज्ञ तो अतीन्द्रिय है और सारा निषेध स्थान याने तीन लोक और तीन काल रूप वस्तु ये इन्द्रिय द्वारा ग्रहणमे आते नहीं हैं। इस कारण निषेध्यसे अन्य वस्तुके ज्ञान होनेरूप अभाव प्रमाण यहा बनता नही है। और भी सोचिये! अनुमान आदिक ज्ञानसे सर्वज्ञ और सर्वज्ञसे भिन्न वस्तुका ग्रहण माना जाय तो ऐसा माननेमे सर्वज्ञको तो पहिले मान लिया गया, फिर सर्वज्ञका अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है।

असर्वज्ञवादियोके यहाँ निषेध्याधारग्रहण व प्रतियोगीस्मरणकी असंभवता होनेसे सर्वज्ञके अभावकी सिद्धिकी असंभवता—यहा प्रकरण यह चल रहा है कि सर्वज्ञपनका अभाव सिद्ध करनेमे अभाव प्रमाण समर्थ नहीं है। इस सम्बन्धमे दो बातो पर प्रकाश डाला है। एक तो अदृश्यानुपलब्धिसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नही किया जा सकता। दूसरे निषेध्यान्यस्वसम्वेदनसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध

नही किया जा सकता। अब तीसरी बात और भी देखिये ! अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति इस प्रकार बतायी गई है कि जहाँ निषेध किया जाना हो उसके सद्भावका तो ग्रहण करें और उसके प्रतियोगीका स्मरण हो, फिर 'नही है" इस प्रकारका इन्द्रिय निरपेक्ष मानसिक नास्तिकता ज्ञात हो तब अभाव प्रमाण प्रवृत्त होता है। तो अब इस विधिके अनुसार इस प्रकरणमे जरा घटित तो कीजिए, कैसे घटित होगा ? निषेध्याधारका पहिले ग्रहण होना चाहिए। निषेध्य है यहाँ सर्वज्ञ सर्वज्ञका निषेध किया जा रहा है तो सर्वज्ञका आधारभूत तीन लोक तीन कालको किसी प्रकारसे पहिले ग्रहण किया जाना चाहिए क्योंकि तीन लोक तीन कालमे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध किया जा रहा है तो इसकी सिद्धिके लिए पहिले तीन लोक तीन कालका ज्ञान होना चाहिए और फिर उसका प्रतियोगी है प्रतिषेध्य सर्वज्ञ, उसका स्मरण होना चाहिए। पर ये सब कुछ हो नहीं रहे हैं इसी कारण सर्वज्ञका अभावरूप मानसिक अभाव भी नही बन सकता है। देखिये ! न तो निषेध्यके आधारभूत तीन लोक तीन कालके सद्भावका ग्रहण सर्वज्ञके अभाव मानने वालोके यहाँ हो सकता। और न ही उसको प्रतिषेध्य सर्वज्ञका स्मरण बन रहा है, क्योंकि उसने सर्वज्ञपनेका कभी अनुभव ही नही किया, सर्वज्ञका ज्ञान ही नही किया। तो जिसका पहिले कभी ज्ञान न हुआ हो उसका स्मरण कैसे बन सकता है ? तो यो सब जगह सब कालमें सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नही किया जा सकता।

सर्वज्ञवादियोकी स्वीकृत सर्वज्ञको स्थापित कर निषेध्याधार ग्रहण व प्रतियोगी स्मरण माननेपर सर्वज्ञके अभावकी असिद्धि व सर्वज्ञकी सिद्धिकी प्रसिद्धि— यहाँ शङ्काकार कहता है कि हम तो सर्वज्ञ नहीं मानते लेकिन सर्वज्ञवादी तो सर्वज्ञ मानते हैं। तो सर्वज्ञवादियोके स्वीकारसे सर्वज्ञ सिद्ध है और इस तरह हम सर्वज्ञका स्मरण करने लगेंगे। अभाव करनेके लिए और सर्वज्ञवादियोके स्वीकार किए गए सर्वज्ञके आधारभूत तीन काल और तीन जगत भी सिद्ध है, इस तरह सुने गए सर्वज्ञका स्मरण कर लिया और सुने गए सर्वज्ञके आधारभूत तीन काल तीन लोक का ग्रहण कर लिया और इस तरह फिर सर्वज्ञके सम्बन्धमें इसका इन्द्रिय निरपेक्ष मानसिक नास्तित्व ज्ञान बन जाता है कि सब जगह और सब कालमें सर्वज्ञ है नहीं। इस तरह अभाव प्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव बन जायगा। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि इस तरह सर्वज्ञका स्मरण और सर्वज्ञके आधारभूत तीन लोक तीन काल का परिचय मान लेनेपर शङ्काकारके इष्ट मतका ही विघात हो जाता है। शङ्काकार ने यहाँ सर्वज्ञवादियोकी स्वीकारताके बलपर सर्वज्ञको सिद्ध माना है तो वे वह बतायें कि सर्वज्ञवादियोका यह स्वीकार प्रमाणभूत है शङ्काकारको या अप्रमाण है ? यदि सर्वज्ञवादियों द्वारा स्वीकार किये गये सर्वज्ञका सद्भाव शङ्काकारको प्रमाणभूत है तो उससे सर्वज्ञ सिद्ध हो ही गया। सर्वज्ञका निषेध करने वाले अभाव प्रमाणका वहाँ

दखल ही क्या रहा ? अब तो अभाव प्रमाण भी बाधित हो गया। यदि शङ्काकार कहे कि सर्वज्ञवादियो द्वारा स्वीकार किया गया सर्वज्ञ हमें अप्रमाण है तो जब सर्वज्ञ-वादियोका सर्वज्ञ असर्वज्ञवादियोको अप्रमाण है प्रमाणभूत ही नहीं है तब समस्या वहीकी वही सामने खडी रही। उससे न तो निषेध्यका स्मरण हो सकता और न निषेध्यके आधारभूत वस्तुका ग्रहण प्रमाण हो सकता, क्योंकि वह सब शङ्काकारको अप्रमाण है, तब उससे न तो सर्वज्ञका स्मरण प्रमाण बना और न सर्वज्ञका आधारभूत तीन लोक तीन काल प्रमाण बना। साराश यह है कि जब सर्वज्ञवादियोका माना हुआ सर्वज्ञ उसकी स्वीकारता मीमासकोके लिए प्रमाण नही है तब फिर निषेध्य स्मरण और निषेध्यके आधारभूत पदार्थका ज्ञान कैसे प्रमाण बन सकता है ? और जब तीन लोक तीन काल और सर्वज्ञ ये नही माने गए तो सर्वज्ञके अभावको सिद्ध करनेमे अभाव प्रमाणकी उत्पत्ति हो ही नही सकती।

अनेकान्तसिद्धिसे स्वय सर्वथैकान्तप्रतिषेधकी सभवता होनेसे असर्वज्ञ-वादियोके उलाहनेकी अशक्यता—शङ्काकार कहता है कि इस तरहकी युक्तियाँ चलाकर अभाव प्रमाणको जो खण्डित किया जा रहा है तो इस तरह तो हम यह भी कह सकते हैं कि फिर स्याद्वादी जन मिथ्या एकान्तका निषेध कैसे कर सकते ? क्योकि मिथ्या एकान्तका स्मरण हो और मिथ्या एकान्तका जहाँ निषेध किया जाता हो उसके आधारभूतका ज्ञान हो तब ही तो मिथ्या एकान्तका निषेध किया जा सकेगा सो मिथ्या एकान्तका स्मरण कर लिया तो मिथ्या एकान्त सिद्ध हो ही गया। फिर निषेध कैसे ? तो जब मिथ्या एकान्त स्याद्वादियोको स्वीकार नही है तो उसका किसी प्रकार ज्ञान ही न हो सकेगा और स्मरण भी न बन सकेगा। और मिथ्या एकान्तका स्मरण किए बिना मिथ्या एकान्तका निषेध नही किया जा सकता है। यदि कहीं कोई मिथ्या एकान्तका अनुभव स्वीकार कर लिया तब फिर मिथ्या एकान्त है ही नही। इस तरह सर्वथा उसका प्रतिषेध नही बन सकता। शङ्काकार ही कह रहे हैं कि स्याद्वादी यदि यह कहें कि हम तो मिथ्या एकान्तको स्वीकार नही करते, किन्तु एका-न्तवादी लोग मिथ्या एकान्तको स्वीकार करते हैं, इस तरह उनके स्वीकारसे प्रसिद्ध और स्मरण किया गया मिथ्या एकान्तका हम निषेध करते हैं तो इसपर स्याद्वादी यह बतायें कि एकान्तवादियोके द्वारा जो मिथ्या एकान्तका स्वीकार होता है तो उनका स्वीकार स्याद्वादियोंको प्रमाणभूत है या अप्रमाण ? यदि मिथ्या एकान्त-वादियोका स्वीकृत मिथ्या एकान्त प्रमाणभूत है तो उससे तो मिथ्या एकान्त ही सिद्ध होता। उसका अभाव सिद्ध करनेके लिए जो भी प्रमाण दिया जाता हो वह स्वयं खण्डित हो गया और यों स्याद्वादियोके इष्टका विघात हो गया। तो पहिली बात तो नहीं बनी। अब यदि स्याद्वादी यह कहे कि हमको एकान्तवादियोका स्वीकार अप्र-माण है याने मिथ्या एकान्तका स्वीकार मिथ्या एकान्तवादियोने किया है वह हमें

प्रमाणभूत नही है। तो सुनो ! जब कि मिथ्या एकान्तवादियोंका स्वीकृत मिथ्या एकान्त स्याद्वादियोको प्रमाणभूत नही है तो अब इस हालतमे स्मरण कैसे बनेगा ? और जब मिथ्या एकान्तका स्मरण न बना तो 'मिथ्या एकान्त नही है' इस तरहका परिचय मिथ्या ही कहलायगा। तो सर्वज्ञके अभावमे बाधा देनेके लिए जो स्याद्वादियोने युक्ति बताई है उससे तो फिर मिथ्या एकान्तका भी अभाव न कहा जा सकेगा। उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि उक्त उलाहना देना ठीक नहीं है। हम एकान्तका निषेध एकान्तवादियोकी स्वीकारताके बलपर नहीं कर रहे हैं, किन्तु अनेकान्तकी सिद्धि हो जानेसे मिथ्या एकान्तका प्रतिषेध स्वय हो जाता है। तो अनेकान्तकी सिद्धि से मिथ्या एकान्तके निषेधकी व्यवस्था है। निश्चयत बाह्य और अन्तरङ्ग वस्तु प्रमाणसे अनेकान्तस्वरूप ही सिद्ध है। तो प्रमाणसे सिद्ध है समग्र वस्तु अनेकान्तात्मक, अब प्रमाणसिद्ध अनेकान्तात्मक वस्तुमें कोई मिथ्या एकान्तका अध्यारोप करेगा तो याने वहाँ कोई मिथ्या एकान्तकी कल्पना करेगा तो ऐसी कल्पनाका यहाँ निषेध किया गया है। जो पुरुष मिथ्याके उदयसे व्याकुलचित्त हैं और उनकी बुद्धिमे एक विपरीत अभिप्रायका निषेध किया जा रहा है। मिथ्या एकान्त कोई वस्तु नहीं जिसका निषेध किया जा रहा हो, किन्तु अनेकान्तात्मक वस्तुके विषयमें मिथ्या एकान्तकी कोई कल्पना करे तो उस अज्ञानीकी कल्पनाका निषेध किया जाता है। याने जिस दुराग्रहसे मिथ्यादृष्टि जीव अनेकान्तात्मक वस्तुमे एकान्तकी कल्पना करते हैं उन्हें समझाया जाता है कि देखो ! वस्तु अनेक धर्मात्मक है। जो अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् है वही वस्तु परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे असत् है। जो ही वस्तु द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है वही वस्तु पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य है। जो ही वस्तु स्वभावदृष्टिसे एक है वही वस्तु परिणमनकी दृष्टिसे अनेक है। यो वस्तु अनेकान्तरूप है। उसको हम किसी एकान्तरूप न मानें। केवल नित्य ही है, केवल अनित्य ही है आदिक रूपसे पदार्थको मत मानें, इस तरह अनेकान्तात्मकताकी प्रसिद्धि करके एकान्तका प्रतिषेध किया जा रहा है। यो मिथ्या एकान्तका निषेध करनेमे स्याद्वादियोके यहाँ किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं हो सकती।

असर्वज्ञसिद्धिसे सर्वज्ञनिषेधकी कल्पना करनेकी अशक्यता—इस प्रसङ्गमे शङ्काकार यह कहता है कि इसी तरह हमारा सर्वज्ञ प्रतिषेध मान लीजिए। याने असर्वज्ञ जगतकी सिद्धि होनेसे ही सर्वज्ञका प्रतिषेध हो जाता है। यहाँ हम यह कह सकते हैं कि प्रमाणसे सर्वज्ञरहित जगत सिद्ध है। और सर्वज्ञवादी यहाँ सर्वज्ञकी कल्पना कर रहे हैं। तो सर्वज्ञ कोई वस्तु नही है जिसका कि तुम निषेध करते हो। किन्तु सर्वज्ञवादियोकी कल्पनाका हम निषेध करते हैं और इस तरह सर्वज्ञका निषेध बन जाता है। यहाँ भी कोई दोष न आयगा। इसके समाधानमें कहते हैं कि इस तरह असर्वज्ञ जगतकी सिद्धि नही की जा सकती, क्योकि किसी भी प्रमाणसे सर्वज्ञ

शून्यकी सिद्धि नहीं बनती। अनेकान्तात्मकताकी तो यही बात है कि प्रत्यक्ष अनुमान आदिक प्रमाणसे वस्तु अनेकान्तात्मक सिद्ध हो जाती है। भली प्रकार अनुभव बन रहा है सबका कि वही वस्तु पहिले भी थी अब भी है, लेकिन उस वस्तुकी स्थिति बदल गई है तो लो यो नित्य और अनित्यपना दोनो ही प्रत्यक्षख्यातसे ख्यात हो रहे तो अनेक ख्यात इस बातको सिद्ध करते हैं कि वस्तु अनेकान्तात्मक है। तो यो जब अनेकान्तात्मक वस्तुकी सिद्धि हो गयी तो वहाँ सर्वथा एकान्तका निषेध बन जाता है। तो जिस तरह प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणसे वस्तुमें अनेकातपना सिद्ध है उसी प्रकार प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणसे असर्वज्ञ जगत सिद्ध नही है।

सर्वज्ञ सिद्धिमे बाधक प्रमाणकी असभवता होनेसे सर्वज्ञसिद्धिकी निर्दोषता—इस सम्बन्धमे तो पहिले बहुत विवरणके साथ कहा जा चुका है कि सर्वज्ञशून्य जगतकी सिद्धि न प्रत्यक्ष प्रमाण से है न अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगमसे है। तो जब सर्वज्ञ रहित जगनकी प्रसिद्धि ही नही है तो असर्वज्ञ जगतकी सिद्धि बताकर सर्वज्ञका निषेध कैसे किया जा सकता है? तो जब इस तरह भी, निषेध न बन सका तो अभाव प्रमाण द्वारा सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेमे वे सभी बाधायें, दोषरूप सिद्ध होती ही हैं याने तीनो ही विधियोसे अभाव प्रमाणकी गति सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेमे घटित नही होती है। न तो अदृश्यानुपलब्धिसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध कर सकते और न निषेध्यान्यवेदनसे सर्वज्ञका अभाव सिद्धकर सकते और न तीसरी विधिमे सर्वज्ञका अभाव बन सकेगा याने न तो निषेध्य सर्वज्ञका स्मरण है, और न निषेध्य सर्वज्ञाधारभूत ३ लोक ३ कालका परिज्ञान है। तो इस स्थितिमें भी सर्वज्ञके अभावको सिद्ध करनेकी बात न ी बन सकती है। इस तरह कुछ दार्शनिकोके द्वारा माने गए ये ६ के ६ प्रमाण सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेमें समर्थ नही हैं। वे ६ प्रमाण ये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, आगम और अभाव। तो जब कोई प्रमाण सर्वज्ञका अभाव सिद्ध न कर सका तो इसमे यह बात निर्बाध सिद्ध है कि वीतराग निर्दोष कोई परम पुरुष सर्वज्ञ होता है।

बाधक प्रमाणका अभाव सुनिर्णीत होनेसे सर्वज्ञकी सिद्धिका निर्णय—असर्वज्ञवादियोंने ६ प्रमाण माने हैं जिनमे ५ प्रमाण तो सत्ताके साधक हैं और अभाव प्रमाण अभावका साधक है। तो ये ६ प्रमाण सर्वज्ञकी सिद्धिमें बाधा नही दे सके हैं। सत्ता साधक प्रमाणका तो अभाव विषय ही नही है और अभाव प्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध हो नही सका कोई यह कहे कि न सही कहीं सर्वज्ञका अभाव तो दूसरे देश काल और दूसरे पुरुषकी अपेक्षासे अभाव बन जायगा, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहनेपर किसी अन्य देश काल और पुरुषकी अपेक्षासे सर्वज्ञका सद्भाव तो मानना ही पड़ेगा। किसी देश कालमे सर्वज्ञ नहीं है, इतना कहनेसे यह तो सिद्ध न होगा कि सर्वत्र सर्व कालमे सर्वज्ञ नहीं है। देशादिक विशेषकी अपेक्षासे अभाव

प्रमाणको सर्वज्ञका बाधक कहा जाय तो उसका अर्थ ही यह निकला कि किसी देशादिक विशेषमें उसका अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया है। तो इस तरह भी सब जगह सर्व समय सर्व पुरुषोंमें सर्वज्ञका अभाव है, यह सिद्ध नहीं हो सकता। इस सम्बन्धमें यह भी जान लेना चाहिए कि किसी देशमें किसी कालमें कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं है यह कथन सर्वथा निषेध करनेका बाधक नहीं है। ऐसा तो है ही। जैसे इस भरत क्षेत्रमें पचम कालमें कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, ठीक ही बात है लेकिन यह बात कहना कि सभी जगह सभी कालोंमें सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता। यह कथन युक्त नहीं है। तो इन सब प्रकरणोंसे यह निर्णय कर लेना चाहिए कि बाधक प्रमाणका भले प्रकार अभाव निश्चित होनेसे सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है। जैसे हम आप लोगोंका सुख इस सुखमें कोई बाधक प्रमाण नहीं आता। देखो सुख परिणतिमें कोई सन्देह तो नहीं करता। सुख है ऐसा सबको अनुभव हो रहा है, क्योंकि सुखकी सत्तामें कोई बाधक प्रमाण नहीं आ रहा। तो जिस किसी भी वस्तुकी सत्ताकी सिद्धि करना होता है वहाँ यह युक्ति देखी जाती है कि इसमें कोई बाधक प्रमाण तो नहीं है। बाधकका अभाव सुनिर्णीत हो, इस विषयको छोडकर अन्य कोई उपाय वस्तु स्थितिका साधक नहीं है अर्थात् प्रमाण कर सकने वाला नहीं है।

सर्वज्ञ परमपुरुषके कर्मभूभृद्भेतृत्वकी सिद्धि—उक्त विवेचनोंसे यो सिद्ध हुआ कि कोई परम पुरुष सर्वज्ञ होता है और वह सर्वज्ञ अरहत ही भले प्रकार सुनिश्चित है क्योंकि अरहतमें ही ऐसा स्वरूप पाया जाता है कि वह रागद्वेष रहित है, कर्मभूभृतका भेदनहार है, ज्ञानके बाधक घातिया कर्मका अभाव है इसलिए वही सर्वज्ञ है। इस स्वरूपमें यदि कोई अपने अभिमत देवको सर्वज्ञ कहे तो कोई बाधा नहीं, पर स्वरूप कोई निराला माने कि कोई कर्मरूप सदा अछूता है वह सर्वज्ञ है या कोई आत्मा ज्ञानरहित है वह सर्वज्ञ है आदिक तो वे बातें निराकृत हैं। इससे सिद्ध है कि अरहन्त ही सर्वज्ञ है और वह अरहन्त कर्मरूपी पहाडका भेदनहार है यदि वह कर्मरूपी पहाडका भेदनहार न होता तो वह सर्वज्ञ भी न बन सकता था। चूँकि समस्त ज्ञान विकास है, अरहतके तीन लोक तीन कालकी समस्त वस्तुओंका बोध है। उससे यह निश्चित है कि कर्मकलंक वहाँ जरा भी नहीं है। कर्मकलंक यदि होता तो यह सर्वज्ञता प्रकट न हो सकती थी।

अनादिप्रवाह होनेपर भी कर्मकलङ्कके प्रक्षयकी सम्भवता—यहाँ शङ्काकार कहता है कि देखिये कर्म कार्यकारण प्रवाहसे अनादिसे चला आया है, ऐसा तो न था कि पहिले इस जीवके कर्म न लगे हों और किसी समय कर्म लग गए हों। तो जो अनादिकालसे चले आये हों उनका विनाश करने वाला कोई कारण नहीं बन सकता। तो जब अनादिसे चले आये हुए कर्मका विनाश सम्भव ही नहीं है तो कर्म पर्वतका कोई सर्वज्ञ भेदक है यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है? कोई सर्वज्ञ हो

भी तो ऐसा यह तो सिद्ध न किया जा सकेगा कि वह कर्म पर्वतोका नाश करनहार है क्योंकि कर्म अनादिसिद्ध हैं और अनादिसिद्धका विनाश करने वाला कारण कुछ बन नही सकता। तो कर्म पर्वतका नाश करने वाला तो न बन सकेगा कोई ? इस शका के उत्तरमे कहते हैं कि यह ख्याल करना गलत है कि जो अनादि हो उसका नाश नहीं होता। अरहत भगवानके कर्मके विपक्षका जब प्रकर्ष पाया जा रहा है तो कर्मोंका नाश सिद्ध होता ही है। भले ही वे कर्म प्रवाहरूपसे अनादिसे चले आये हो, फिर भी कर्मके विपक्षी जो सम्यकदर्शन, ज्ञानचारित्र हैं उनका जब प्रकर्ष पाया जाता है, वे उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं तब कर्मोंका सर्वथा नाश हो गया है, यह सिद्ध होता ही है। यह शका न रखें कि कर्म अनादि प्रवाहसे चले आये हैं तो उनका नाश नही होता। देखिये! सतानकी अपेक्षासे अनादिसे ठढ स्पर्श भी चला आया है लेकिन ठढ स्पर्शका विपक्षी उष्ण स्पर्श जब प्रकर्षको प्राप्त होता है तो ठढ समूल नष्ट हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अनादि होकर भी बात सर्वथा नष्ट हो सकती है। यहाँ एक और स्पष्ट दृष्टान्त लीजिये! बीज और अकुर ये कार्यकारणरूपसे अनादिसे चले आये हैं। जो आज बीज है वह पेडसे ही हुआ और वह पेड पहिले बीज से हुआ वह बीज पहिले पेडसे हुआ। इस तरहसे बीज और वृक्ष ये अनादि सतानसे चले आये हैं। उनमे कोई क्या यह बता सकता है कि बीज सबसे पहिले था या वृक्ष सबसे पहिले था? तो अनादि सतानसे चलो आ रहा है बीज और अकुरका प्रवाह फिर भी बीजको अगर अग्निसे जला दिया जाय तो क्या उसका सर्वथा नाश नही हो गया? तो जैसे कार्य कारणरूपसे प्रवृत्त बीज अकुरकी अनादि सतानको प्रतिपक्षी अग्निसे सर्वथा नष्ट कर दिया गया याने दोनो अनादि है फिर भी जलकर खाक हो गए तो इसी तरह समझना चाहिए कि कर्मका प्रवाह अनादिसे चला आया है फिर भी कर्मोंका प्रतिपक्षी है सम्वर निर्जरा शुद्ध परिणाम, तो उन शुद्ध परिणामो के कारण किसी आत्मविशेषमे जब वह प्रतिपक्षी आत्मीय भाव पूर्णताको प्राप्त होता है तो कर्म सतान भी नष्ट हो जाता है। तो समझ लेना चाहिए कि जिस तरह उष्ण स्पर्शकी उत्कृष्टता होनेसे शीतस्पर्श नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सम्वर निर्जराका प्रकर्ष होनेसे, सम्यक्त्व आदिक गुणोकी उत्कृष्टता होनेसे कर्मपर्वत भी सदाकालको नष्ट हो जाता है इस तरह यहाँ कोई आपत्तिकी बात नही आती। कर्म सतान अनादि प्रवाहसे चले आये हैं फिर भी कर्मपर्वतोंका नाश हो सकता है। यह बात स्याद्वादियो के यहाँ सम्भव है। इसकी चिन्ता तो उनको ही होना चाहिए जो पुरुष अनादि कर्मों का नाश असम्भव मानते हैं। शङ्काकार असर्वज्ञवादी पुरुष कर्मोंको अनादि मानते और उनका नाश होना वे नही मानते तो उन्हे यह आपत्ति आयी, पर स्याद्वादियोके यहाँ यह आपत्ति नही आ सकती कि कर्मप्रवाह अनादि सतानसे चले आये हैं तो उनका नाश कैसे होगा? बीजाकुर दृष्टान्तकी तरह समझ लेना चाहिए कि कर्मपर्वत अनादि होकर भी उसका किसी आत्मविशेषमे सर्वथा नाश हो जाता है। अब

शङ्काकार कहता है कि जो यह बताया गया है कि विपक्षके प्रकर्षसे कर्मपर्वतोका नाश हो जाता है तो वे विपक्षी कौन कौनसे हैं कर्म पर्वतोके? तो प्रश्न कर्म पर्वतोके विपक्षी बतानेके लिए कारिका कही जा रही है।

तेषामागामिनां तावद्विपक्षः संवरो मतः।
तपसा सञ्चितानां तु निर्जरा कर्मभूभृताम् ॥ १११ ॥

आगामी कर्मोंका प्रतिपक्षी संवर—आगामी कर्मोंका विपक्ष तो है सम्वर और संचित कर्मपर्वतोका विपक्ष है तपसे होने वाली निर्जरा इस तरह कर्मभूभृतोके विपक्ष ये सम्वर और निर्जरा तत्त्व हैं। कर्म पर्वत दो प्रकारके होते हैं—एक तो आगामी कर्म, दूसरे संचित कर्म, याने जो कर्म आगे आ सकने हों ऐसे कर्म कहलाते हैं आगामी कर्म और जो पूर्वपर्याय परम्परासे सञ्चित हुए हैं, वर्तमानमे जिनका सत्त्व है वे कहलाते हैं संचित कर्म। तो उन दो प्रकारके कर्मोंमेसे आगामी कर्मपर्वतोका विपक्ष तो हैं सम्वर, क्योंकि सम्वरके होनेपर वे आगामी कर्मपर्वत उत्पन्न नही होते हैं। सम्वर नाम है कर्मोंके आश्रवके निरोध हो जानेका। कर्मोंके आनेके जो द्वार हैं उन्हे आश्रव कहते हैं। तो आश्रव ५ प्रकारके हैं—मिथ्यादर्शन, अविरति प्रमाद, कषाय और योग। इनके होनेपर कर्म आते हैं इसलिए इन्हे आश्रव कहते हैं। आश्रव शब्द का ही अर्थ यह है कि—

"कर्माण्यास्रवन्ति आच्छन्ति यस्मादात्मनि स आस्रवः"

अर्थात् जिस कारणसे आत्मामें कर्म आते हैं उसे आस्रव कहते हैं। तो उन द्वारोंका नाम आस्रव हुआ जिन द्वारोसे कर्म आते हैं। वे भी आत्माकी ही परिणतियाँ हैं। जिन उपायोसे कर्म आते हैं इन्हीं पांचोको बंधके हेतु भी कहा गया है। इन पाँचोंमे मिथ्याज्ञान यह शब्द तो नही बताया गया लेकिन मिथ्याज्ञानका मिथ्या दर्शन मे अन्तर्भाव हो जाता है इस लिए मिथ्याज्ञानका नाम आश्रवमे नहीं कहा गया। तो ये आस्रव ५ प्रकारके हैं और इन आश्रवो के निरोध हो जानेका नाम सम्वर है। जहाँ सम्वरकी प्रकर्षता हो जाती है वहाँ कर्मपर्वतोका समूल नाश हो जाता है। आश्रवका निरोध जिसे कि सम्वर कहा है यह आश्रव निरोध कहीं तो पूर्णरूपसे होता है और कहीं एक देशसे होता है। सम्पूर्ण रूपसे आश्रव निरोध गुप्तियो द्वारा होता है। गुप्ति कहते हैं मन वचन कायके योगको भले प्रकार रोक देना अर्थात् मन, वचन, कायकी क्रियावोका अभाव होना, इससे तो आश्रवका सम्पूर्णतया निरोध होता है और आश्रवका एक देशसे निरोध होनेके उपाय हैं समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र। तो जो परम प्रकर्षरूपसे स्वभाव निरोध है वह अन्तिम समयवर्ती अयोगकेवलीके बताया गया है याने योगका सर्वथा अभाव जहाँ हो वहाँ ही सम्वरका

परम प्रकर्ष है और वहां ही समस्त कर्मपर्वतोका निरोध है याने किसी भी प्रकारका आश्रव वहां नहीं पाया जाता, यही कारण है कि अन्तिम समयवर्ती सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्रको साक्षात् मोक्षका कारण कहा गया है। उमास्वामीने सूत्रजीमें कहा है—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।"

इस सूत्रमें विशेषण तो बहुवचनमे बताया है और विशेष्य एक वचनमे कहा है। यह वचन भेद इस तत्त्वका समर्थक है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यकचारित्र की पूर्ण एकता मोक्षका मार्ग है। पूर्वके गुणस्थानमे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी पूर्ण एकता नही है इसलिए उन्हे परम सम्वर नही कहा जाता।

एकदेश सम्बरकी स्थितियोका सक्षिप्त विवरण—देखिये! परम सम्बर न होनेका कारण क्या? किसी न किसी प्रकारका आश्रव पाया जाना। आश्रव बताये गए हैं ५—१ मिथ्यादर्शन, २ अविरति, ३ प्रमाद, ४ कषाय और ५ योग। इनमेंसे अयोग केवलीके तो एक भी द्वार नही है, किन्तु उससे पहिले सयोग केवली, क्षीण कषाय और उपशान्त मोह याने ११ वें, १२ वें, १३ वें गुण स्थानमे योगका सद्भाव है इससे परम सम्वर नहीं और इससे पहिले सूक्ष्म साम्पराय, अनिवृत्ति बादर साम्पराय, अपूर्वकरण और अप्रमत्त याने ७ वें, ८ वें ९ वें, १० वें, गुण स्थानमे कषाय सहित योग विद्यमान याने यहां योग भी है और कषाय भी है। तो यहां सम्बरकी परम प्र[illegible]षता नही है। आश्रवके दो द्वार पाये जा रहे हैं और इससे पहिले के प्रमत्त गुणस्थानमे याने छठे गुणस्थानमे प्रमाद और कषायसे विशिष्ट योग है याने तीन आश्रव द्वार हैं—प्रमाद कषाय और योग। इससे पहिले सयतासयत और असयत सम्यग्दृष्टि याने चौथे व पाचवें गुणस्थानमे प्रमाद कषाय और अविरति इन तीन द्वारोसे विशिष्ट योग द्वार पाया जाता है अर्थात् यहां चार आश्रवद्वार है—प्रमाद कषाय अविरति और योग। इससे पहिले मिश्र सासादन और मिथ्यात्व याने १, २, ३, गुणस्थानोमे कषाय, प्रमाद अविरति और मिथ्यादर्शन इनसे सहित योगका सद्भाव है याने इस गुणस्थानमे पाचो ही आश्रव पाये जाते है। मिथ्यात्वमे तो स्पष्ट ही मिथ्यात्वप्रकृति है। सासादन और मिश्रमे भी चूंकि सम्यक्त्वका अभाव है इसलिए मिथ्यादर्शनका किसी न किसी रूपमें सद्भाव है। इस तरह पहिले गुणस्थानसे लेकर १३ वे गुणस्थान तक किसी न किसी प्रकारसे आश्रवद्वार है। तो वहां सम्बरका परम प्रकर्ष नही है, सम्बरका परम प्रकर्ष १४ वे गुणस्थानमे कहा गया है तो जहां यह कहा गया हो कि योगका नाम आश्रव है और मन वचन, कायकी क्रियाको योग कहते हैं तो योगको आश्रव कह देनेसे कहीं कोई यह शङ्का न रखें कि फिर मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद और कषाय इन्हे आश्रव न कहना चाहिए। यह शङ्का यो न

रखना चाहिए कि योग तो मिथ्यादर्शन आदिक समस्त आश्रवोंमें व्याप्त है। मिथ्या-दर्शनके बिना योग तो हो सकता—अविरति कषाय, प्रमादके बिना योग तो हो सकता। लेकिन योगके बिना मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय नहीं हो सकते। तो जब योगको आश्रव कहा है तो उससे यह ग्रहण हो जाता है कि मिथ्या-दर्शन आदिक सभी ये आश्रव कहलाते है। एक यह भी बात समझ लीजिए कि योग का निरोध होनेपर तो सभी आश्रवोंका निरोध हो जाता है, क्योंकि अयोग केवलीमें योग नही है तो देखो सभीके सभी नही हैं, अयोग केवलीसे पहिले क्षीण कषायमें कषाय नहीं रही तो कषायसे पहिलेके आश्रव यहाँ नहीं है। मगर योग तो सम्भव है, क्षीणकषाय एक ऐसा शब्द है कि जिसकी कषायें क्षीण हो गयी उन सबको ग्रहण कर लिया जाय। तो यहाँ इस बातका दिग्दर्शन करना चाहिए कि योगको प्रधानतया आश्रव कह दिया। उसका कारण यह है कि जहाँ योग नहीं रहता वहाँ कोई भी आश्रव नहीं रहता इसलिए योगकी प्रधानतासे आश्रवका वर्णन चलता है।

उत्तरोत्तर आस्रवोंका निरोध होनेपर पूर्व पूर्व आस्रवोंके निरोधकी अवश्यभाविता—इन आश्रवोंमें निरोधकी ऐसी प्रक्रिया देखी जा रही है कि जिस आश्रवका निरोध हुआ उससे पहिलेके आश्रवका निरोध तो अवश्य ही होता है। अयोग केवलीमे योगका अभाव है, तो सभी आश्रवोंका अभाव है क्षीण कषायमें कषायका निग्रह है तो मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद इनका भी निग्रह है। प्रमत्तसे क्षीणकषाय उपशान्त कषायसे पहिले पहिले तक प्रमादका निग्रह है। प्रमाद नहीं पाया जाता है तो वहाँ मिथ्यादर्शन और अविरतिका अभाव है। छहवें और पाँचवें गुण-स्थानमें तो सम्पूर्णतया अविरतिका अभाव है और ५ वें गुणस्थानमे एक देशपनेसे अविरतिका अभाव है तो वहाँ मिथ्यादर्शन नही है। सासादन आदिकमें मिथ्यादर्शन का अभाव है तो उसके पूर्ववर्ती आश्रवका अभाव है। तो पहिले पहिलेके आश्रवके अभाव होनेपर आगे आगेके आश्रवका अभाव हो या न हो लेकिन उत्तर आश्रवका निरोध होनेपर पूर्व आश्रवका निरोध अवश्य है। तो जैसे आश्रवके ५ द्वारोंमें यह क्रम बताया है ऐसा ही क्रम योगके सम्बन्धमें भी समझना। योग होते हैं तीन—१ मनोयोग २ वचनयोग, ३ काययोग, उनमेंसे जिनका काययोगका निरोध हो चुका, सर्वथा अभाव हो गया उसके मनोयोग वचनयोगका अभाव निश्चित है और जिस जीवके वचन योगका अभाव हो गया उसके मनोयोगका अभाव तो निश्चित है। काय योग का अभाव भजनीय है। तो इस तरह समस्त योगका जहाँ पूर्णतया निरोध हो जाता है, परम गुप्ति हो जाती है वहाँ समस्त आश्रवोंका निरोध है याने परम सम्वर है। सम्वर यहाँ दो प्रकारके कहे जा रहे हैं—१ परम सम्बर और २ अपर सम्बर। परम सम्बर तो १४ वें गुणस्थानमे पाया जाता है और अपर सम्बर जो कि समिति अनु प्रेक्षाओं द्वारा होता है वह यथायोग्य नीचेके गुणस्थानोंमें पाया जाता है। एक देशमे

आश्रवके निरोध होनेको अपर सम्बर कहते हैं और सम्पूर्णतया आश्रवके निरोध हो जानेको परम सम्बर कहते हैं। तो इन सब विवेचनो से यह ज्ञात कर लेना चाहिए कि जहाँ आश्रवका पूर्णतया निरोध हो जाता है, परम सम्बर होता है वहाँ समग्र कर्मों का अभाव सिद्ध हो जाता है।

कर्मोंकी सहेतुकता व हेतुके अभावमे कर्मोंका सवर एव प्रक्षय—कर्मों के कारणभूत है आश्रव। उनका जब विनाश हो जाता है तो आगामी कर्मोंकी उत्पत्ति हो ही नही सकती। यदि ऐसा न हो अर्थात् आगामी कर्मोंकी उत्पत्तिका अभाव न बने तो कर्म अहेतुक सिद्ध हो जायेंगे। लो आश्रव तो नष्ट हो गए और कर्मोंका आना बना रहा तो इसका स्पष्ट ही यह अर्थ हुआ कि कर्म अहेतुक हैं। उनका कोई कारण नही, स्वय आते हैं। तब तो सभी जीवोके समस्त कर्मोंका आगमन बनता ही रहे ऐसा प्रसङ्ग आ जायगा। यदि कर्म अपने कारणभूत आश्रवके न होनेपर भी आते रहे तो वे अहेतुक बन जायेंगे और जब कर्म अहेतुक हैं तो सभी प्राणियोके सभी कर्म आने चाहिए। और जब सभी प्राणियोके सभी तरहके कर्म रहे तब फिर अमीर गरीब रोगी नरोग चतुर मूर्ख आदिक विषमतायें न पायी जानी चाहिये, क्योकि कर्म तो अहेतुक हैं और सभी जीवोके सभी कर्म आ बैठे हैं तो ऐसी हालतमे यह भेद कैसे सिद्ध होगा कि कोई अमीर होता है और कोई गरीब होता है। जब कर्म सहेतुक माने जाते हैं तो वहाँ यह व्यवस्था बनती है कि जिस प्राणीके जिस प्रकारके आश्रव भाव द्वारा जैसे कर्म आये हैं उस प्रकार के कर्मोंका उदय होनेपर वैसी स्थिति बनती है। तो कर्म सहेतुक माने जानेपर तो व्यवस्था बनती है। कर्म अहेतुक होनेपर व्यवस्था नही बनती है। इससे मानना चाहिए कि कर्म आश्रव हेतुक हैं अतएव जहाँ आश्रवका निरोध हो जाता है वहाँ समस्त कर्मोंका निरोध हो जाता है और जहाँ आगामी समस्त कर्मोंका निरोध हो गया, परम सम्वर हो गया वहाँ सभी प्रकारके कर्मोंका अभाव हो जाता है। इस तरह कोई परम पुरुष समस्त कर्म पहाडोका भेदनहार है, यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है।

सञ्चित कर्मका प्रतिपक्षभूत निर्जरातत्त्व—सञ्चित कर्मोंका प्रतिपक्षी निर्जरा तत्त्व है याने निर्जरा तत्त्वमें होनेसे सञ्चित कर्मोंका क्षय हो जाता है वह निर्जरा दो प्रकारकी है, १ अनुपक्रमा २ औपक्रमिकी। अनुपक्रमा निर्जरा तो अपना समय पाकर सभी ससारी जीवोमे होती है। इस ही को उदय कहा करते हैं। कर्मका बन्ध होनेपर उसकी स्थिति बँधी थी तो जब स्थिति पूर्ण होती है तो उसकी निर्जरा होगी, इस ही निर्जराका नाम उदय है। तो अनुपक्रमा निर्जरासे मोक्षमार्गमे कोई सहायता नही होती। औपक्रमिकी निर्जरा तपश्चरण समाधि आदिकसे सिद्ध होती है। जैसे कि सम्बर तपश्चरण आदिक उपायोसे बनता था इसी तरह औपक्रमिकी निर्जरा भी तपश्चरण सयम आदिक उपायोसे बनती है। तो इस तरह सञ्चित कर्मोंका विपक्ष

निर्जराको कहा गया है। जहाँ निर्जराका परम प्रकर्ष है वहाँ कर्म पर्वतोका विनाश है। शङ्काकार कहता है कि कर्मोंके विपक्षी जो सम्वर और निर्जरा हैं उनका परम प्रकर्ष होता है। यह ही बात कैसे सिद्ध की जा सकती है ? जिस कारणसे कि उनका आत्यंतिक अभाव न बताया जाय। समाधानमे कहते हैं कि—

तत्प्रकर्षः पुनः सिद्धः परमः परमात्मनि।
तारतम्यविशेषस्य सिद्धेरुष्णप्रकर्षवत्॥ ११२॥

परमात्मामे संवर निर्जराके परमप्रकर्षकी सिद्धि—कर्मोंके विपक्षका परम प्रकर्ष परमात्मामें सिद्ध होता है क्योकि उसकी तर्तमता न्यूनाधिकता विशेष पाई जाती है। जैसे उष्ण स्पर्श प्रकर्ष तब समझा जा रहा है जब कि उष्ण स्पर्शकी तर्तमता पायी जा रही है। याने कहीं उष्णस्पर्श कम हैं कहीं ज्यादह वहाँ पर उष्ण स्पर्शकी प्रकर्षता सिद्ध होती है। जहाँ तार्तम्य पाया जाता है कम और अधिकका प्रकर्ष होता है याने न्यून हुआ अब और न्यून हुआ तो कहीं न्यूनताकी उत्कृष्टता भी देखी जाती है जहाँ आधिक्यका प्रकर्ष होता है कि यह अधिक है और अधिक है वहाँ अधिकताका परम प्रकर्ष होता है तो सम्वर और निर्जरा जो कि कर्मके प्रतिपक्षी हैं अथवा सम्वर और निर्जराका तार्तम्य देखा जा रहा है तो उसकी उत्कृष्टता गुणस्थान विशेषोंमें प्रमाणसे निश्चित हो जाती है इस कारण परमात्मामें सम्वर और निर्जरा का परम प्रकर्ष सिद्ध है, ऐसा निश्चयसे जाना जाता है।

दुःखाधिक, व कषायाविषयके प्रकर्षकी सिद्धि होनेसे हेतुकी अव्यभिचारिता—यहाँ शङ्काकार कहता है कि दुःख आदिकके प्रकर्षके साथ यह हेतु व्यभिचरित हो जायगा, याने यहाँ अनुमान यह बनाया है कि जिसकी न्यूनाधिकताका प्रकर्ष देखा जाय वहीं कहीं इसका परम प्रकर्ष भी सम्भव है। तो देखिये आत्माका प्रकर्ष तो देखा जा रहा है। कोई जीव कम दुःखी है कोई अधिक लेकिन कहीं दुःखका परम प्रकर्ष होता हो यह बात नहीं जानी जाती। इससे तार्तम्यता प्रकर्ष परम प्रकर्षको सिद्ध कर सके सो बात नहीं रही। इसके समाधानमे कहते हैं कि यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि दुःखका परम प्रकर्ष भी तो सिद्ध है। ७ वी नरक पृथ्वीमें जो नारकी जीव रह रहे हैं उनमे दुःखका परम प्रकर्ष सिद्ध है जैसे कि सर्वार्थसिद्धिमें जो देव हैं उन्हें सांसारिक सुखका परम प्रकर्ष सिद्ध है उसी प्रकार ७ वें नरकके नारकियोंमें दुःख की उत्कृष्टता सिद्ध है। ७ वें नरकके दुःखोंका वर्णन ग्रन्थोंमे बताया ही गया है। वहाँ शीत वेदनाका परम प्रकर्ष है और उष्ण लेश्याका परम प्रकर्ष है, ऐसी अनेक बातें वहाँ हैं जिससे दुःखका परम प्रकर्ष सिद्ध है। तो तार्तम्यका प्रकर्ष परम प्रकर्षको सिद्ध करता है, इसमे किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं है। कोई ऐसा भी सन्देह न करे

कि क्रोध, मान, माया, लोभका तर्तम्य देखा जाता है। किसीमे ये कषायें कम हैं, किसीमे अधिक, तो उनके साथ इस हेतुका व्यभिचार हो जायगा सो शङ्का न करें। क्रोध, मान, माया, लोभका भी कहीं परम प्रकर्ष पाया जाता है। देखो जो अभव्य और मिथ्यादृष्टि जन हैं उनमे क्रोध, मान, माया, लोभका परम प्रकर्ष सिद्ध है याने अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ वहाँ उत्कृष्टतामे पाया जाता है और वह उन अभव्यो और मिथ्या दृष्टियोमे मौजूद है, क्योंकि उनमे अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक कषायें पायी जाती है,

क्षायोपशमिकज्ञानकी हानिकी परम पुरुषमे प्रकर्षता प्राप्त होनेसे हेतुकी ज्ञानहानिके साथ अव्यभिचारिता—यहाँ शङ्काकार कहता है कि देखिये ! ज्ञान हानिके प्रकर्षके साथ हेतुकी अनेकातिकता दूर कैसे की जा सकती है ? ससारी जीवोमे यह देखा जाता है कि किसीमे ज्ञान कम है किसीमे और भी कम है इस तरह जब ज्ञानकी हानि देखी जा रही है तो कोई जीव ऐसा तो नही है जिसके ज्ञानकी हानि पूरे रूपसे हो जाय। तो ज्ञान हानिके प्रकर्षके साथ हेतु अनेकातिक दोषसे दूषित हो जाता है। समाधानमे कहते हैं कि देखिये ! जिस ज्ञानकी हानि देखी जा रही है वह ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है। कही ज्ञान स्वभावकी बात नही है। तो क्षायोपशमिकरूप ज्ञान जब घटनेका प्रकर्ष रखता है याने किसीमे कम है और भी कम है इस तरह जब घटनेरूप प्रकर्षको रख रहा है तो केवली भगवानमे देखो ! क्षायोपशमिक ज्ञानका अप्रकर्ष याने हानि पूर्ण रूपसे है याने वहाँ क्षायोपशमिक ज्ञान का सर्वथा अभाव हो गया है इसलिए क्षायोपशमिक ज्ञानकी हानिका भी परम प्रकर्ष होता है यह बात भली भाँति सिद्ध है, इस कारण हेतुमे अनेकातिक दोष नही आता। क्षायिक ज्ञानकी तो हानि हो ही नही सकती। जब क्षायिक ज्ञानमे सामान्य प्रकर्ष नही पाया जाता तो उसमे तो सोचना ही नही है कि उसकी हानिका कही परम प्रकर्ष हो। क्षायिक ज्ञान एक बार हो जाय याने केवलज्ञानके हो जानेपर वह सदा बना रहता है। उसकी हानि है ही नही। तब यह अनुमान सिद्ध हो गया कि कही सम्वर और निर्जराका परम प्रकर्ष है क्योंकि उसके तार्तम्यका प्रकर्ष देखा जाता है। अनुमानमे किसी भी प्रकारकी बाधा नही आती। अब शङ्काकार कहता है कि अच्छा। यह बतलाओ कि कर्मपर्वत कहलाता क्या है ? जो कि भेदे जा रहे हैं, जिसके विपक्षी परम प्रकर्ष वाले सिद्ध करते है। इसके उत्तरमे कारिकायें कह रहे है।

कर्माणि द्विविधान्यत्र द्रव्यभावविकल्पतः ।
द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा ॥ ११३ ॥

भावकर्माणि चैतन्यविवर्त्तात्मानि भान्ति नुः ।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिचिदभेदतः ॥ ११४ ॥

तत्स्कंधराशयः प्रोक्ता भूभृतोऽत्र समाधितः ।
जीवाद्विश्लेषणं भेदः सतो नात्यन्तसंक्षयः ॥ ११५ ॥

द्रव्यकर्म और भावकर्म तथा उनका प्रथककरणरूप भेदन—यहाँ कर्म दो प्रकारके कहे गए हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म । तो उन-से जो द्रव्यकर्म है वह तो पौद्गलिक है और अनेक भेद वाले हैं । तथा जो भावकर्म है वह आत्माके चैतन्य परिणाम स्वरूप है, क्योंकि वे क्रोधादिक भाव आत्मासे कथञ्चित् अभिन्न रूपसे अपने आप ही जान रहे हैं, ऐसे ये दो प्रकारके कर्म कहे गए हैं । इन दोनों कर्मोंकी जो स्कंध राशि हैं उनका ही नाम कर्मपर्वत कहा है । उन कर्मपर्वतोंकी जीवसे अलग कर देनेका नाम कर्मपर्वतका भेदन है । भेदनका अर्थ यहाँ पूर्ण विनाश न समझना, क्योंकि जो वह कर्म है पौद्गलिक वह पुद्गल द्रव्य है, सद्भूत हैं उनका बिल्कुल नाश नहीं हो सकता । कर्मके भेदनका अर्थ यह है कि कर्म अब आत्मामें नहीं रहे, आत्मासे बिल्कुल पृथक हो गए । कर्मका अर्थ है जो जीवको परतंत्र करे, अथवा जिसके कारण से यह जीव परतंत्र किया जाय उनको कर्म कहते हैं । वे कर्म दो प्रकारके कहे गए हैं—१ द्रव्यकर्म २ भावकर्म उनमेंसे द्रव्यकर्म तो ज्ञानावरण आदिक ८ कर्म हैं । ये तो मूल प्रकृतियाँ कहलाती हैं । तथा उत्तर प्रकृतियाँ हैं १४८ । ये सभी कर्म जीवकी परतन्त्रताके निमित्त कारण हैं इसलिए इन्हें कर्म कहा जाता है । शङ्काकार कहता है कि यह व्याप्ति बनाना कि जो जीवकी परतन्त्रतामें कारण है वह कर्म कहलाता है । इस व्याप्तिमें तो दोष दिख रहा है । देखो क्रोध जीवकी परतन्त्रताका कारण बन रहा मगर क्रोध तो कर्म नहीं कहलाता । याने क्रोधादिक कषायें पौद्गलिक कर्म नहीं हैं । ये तो जीवके विभाव हैं लेकिन जो यह व्याप्ति बनाया है कि कर्म जीवकी परतन्त्रताके कारण होते हैं या जीवकी परतन्त्रतामें जो कारण हो उन्हें कर्म कहते हैं । तो क्रोधादिक कषायोंसे जीव कितना परतन्त्र है ? सो प्राय सभी लोग जान रहे हैं लेकिन वे पौद्गलिक कर्म तो नहीं कहलाते । इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि देखिये ! क्रोधादिक जीवकी परतन्त्रताके कारणभूत नहीं बताये गए किन्तु क्रोधादिक स्वयं परतन्त्रतारूप भाव हैं याने क्रोधादिक होना यही तो परतन्त्रता कहलाती है । जीवका क्रोधादिक परिणाम स्वयं परतन्त्रता है वह परतन्त्रताका कारण नहीं है इस कारण यह हेतु क्रोधादिकके साथ व्यभिचारी नहीं बनता । सो यह भली भाँति सिद्ध होता है कि जो जीवको परतन्त्र करते हैं उन्हें कर्म कहते हैं ।

ज्ञानावरणादिक आठ कर्म व उनमे घातिया व अघातिया कर्मकी व्यवस्था

शङ्काकार कहता है कि कर्म ८ प्रकारके बताये गए हैं—१ ज्ञानावरण २ दर्शनावरण ३ मोहनीय ४ अंतराय ५ वेदनीय ६ आयु ७ नाम और ८ गोत्र। इनमे पहिले चार कर्म तो घातिया कर्म कहलाते हैं और शेष चार कर्म अघातिया कर्म कहलाते हैं। तो इनमेंसे जीवकी परतन्त्रताके कारणभूत चार घातिया कर्म ही हो सकते हैं। कारण कि ज्ञानावरण अनन्त ज्ञानस्वरूपको घातता है। दर्शनावरण अनन्त दर्शनका घात करता है। मोहनीय कर्म अनन्त सुखका घातक है और अन्तराय कर्म वीर्यका घातक है। तो जीवके जो ये चार स्वरूप हैं—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य, इनका घातक होनेसे चार घातिया कर्मोंको ही परतन्त्रताका कारण कहा जाना चाहिए। नाम, गोत्र वेदनीय और आयु इन कर्मोंको परतन्त्रताका कारण न कहा जाना चाहिए, क्योंकि वे जीवके स्वरूपके घातक नही है। अत: उनकी परतन्त्रताकी कारणता असिद्ध है। और इस कारण हेतु पक्षाव्यापक है याने समस्त पक्षोमे नहीं पाया गया। जैसे कि वनस्पतिमें चेतन सिद्ध करनेके लिए कोई यह कहे कि वनस्पतिमे चेतन है, क्योंकि वह सोता है। तो सोता कहाँ है? यह हेतु पक्षमे कहाँ गया? इसी तरह यह कहना कि ये ज्ञानावरण आदिक ८ कर्म हैं क्योंकि परतन्त्रताके कारण है। तो चार अघातिया कर्म परतन्त्रताके कारण तो नही हैं। फिर यह हेतु सही कैसे रहेगा? इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि देखिये! नाम गोत्र आदिक जो अघातिया कर्म हैं वे भी जीवके स्वरूपके प्रतिबन्धक हैं। आखिर जीवका स्वरूप तो उत्कृष्ट सिद्धपना ही है लेकिन अघातिया कर्म जब तक रहते हैं तब तक सिद्ध अवस्था नही प्रकट होती। इसलिए सिद्ध अवस्थाके घातक होनेसे अघातिया कर्म भी परतन्त्रताके कारण सिद्ध हो जाते हैं। शङ्काकार कहता है कि यदि अघातिया कर्म भी जीवके सिद्धपनेके प्रतिबन्धक हैं और वे परतन्त्रताके कारणभूत बन गए तब फिर इन कर्मोंको अघातिया ही क्यों कहा जा रहा है? किन्तु जीवके शुद्ध चैतन्य स्वरूपको इन कर्मोंने घात लिया तो ये भी घातिया ही कहे जाना चाहिए? इसके समाधानमें कहते हैं कि वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इन चार कर्मोंको घातिया यो कहा जाता है कि ये चार कर्म जीवनमुक्तिके घातक नहीं हैं याने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य जो कि आर्हंत्य लक्ष्मी कहलाती है इस परम विभूतिके घातक नही है इस कारण इन कर्मोंको अघातियां कर्म कहा जाता है और इस दृष्टिसे यह हेतु पक्षाव्यापक भी नही है और साथ ही अविनाभावरूप व्याप्तिमे भी सन्देह नहीं है। देखिये! "पुद्गल परिणामरूप" साध्यके बिना "परतन्त्रताके कारणरूप होना" यह साधन नहीं बन रहा। यहाँ प्रकृतमें जो अनुमान किया गया है उसकी मुद्रा यह है कि कर्म परतन्त्रतामें कारण है, क्योंकि वह पुद्गल परिणामरूप है। जीवकी परतन्त्रतामे जो भी कारण होगा वह जीवके स्वभावसे विपरीत ही होगा। स्वभावकी सदृशता वाला पदार्थ जीवकी परतन्त्रताका कारण नहीं बन सकता। तो पुद्गल परिणामरूप साध्य न हो तो जीवकी परतन्त्रता नही बन सकती। तो यहाँ साध्य साधनका अविनाभावी नियम

भी भली भांति निर्णीत है तथा जिसका जो नाम है उस नामसे उनके कार्यकी प्रतीति भी हो रही है। जैसे ज्ञानावरण कम है तो उसका कार्य है ज्ञानका आवरण करना, दर्शनावरण कर्मका कार्य है दर्शनको न होने देना। तो इस तरह नामके द्वारा भी यह विदित होता है कि यह उनका कार्य है। अर्थात् पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें ऐसी-ऐसी दशायें बनती हैं। तो जब ये कार्य देखे जा रहे हैं तो उनसे यह सिद्ध है कि ये कारणके विना नहीं हो सकते। तो चूं कि जीवमें अज्ञान देखा जा रहा है तो इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। तो जो उनके कारण हैं वे ही कहलाते हैं ज्ञानावरादिक कर्म। इस तरह ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म सिद्ध होते हैं जिनका प्रक्षय बताया जा रहा है, जिनका प्रतिपक्ष है सम्वर और निर्जरा तत्त्व।

भावकर्म और द्रव्यकर्म विश्लेषण—अब भावकर्मकी बात सुनो! भावकर्म चैतन्य परिणामरूप है अर्थात् जीवकी परिणति विशेष है और वह यद्यपि औदयिक है, क्रोधादिक कषायोंके उदयसे होने वाले भाव हैं। जैसे द्रव्य क्रोधप्रकृतिका उदय हुआ तो जीवमे भावक्रोधपरिणाम होता है। इस तरह क्रोधादिक आत्मपरिणाम औदयिक हैं, फिर भी वे कथञ्चित् आत्मासे अभिन्न हैं। याने आत्माकी ही तो उस समय की परिणति विशेष है। इस कारण उन क्रोधादिक भावोंको चेतन रूप कहनेमें कोई विरोध नहीं आता। सो यद्यपि उन क्रोधादिक भावोंको आत्मपरिणाम चेतनपरिणाम, कह दिया है फिर भी इससे यह न समझना कि उन क्रोधादिक भावोंमे ज्ञानरूपता है। वे क्रोधादिक भाव जड हैं, स्वय कुछ ज्ञान नहीं रखते। क्रोधादिक भाव औदयिक हैं। उसमें स्वय ज्ञानरूपता नही है। ज्ञान कभी औदयिक नहीं कहलाता। वल्कि ज्ञानका आवरण करने वाले कर्मोंमें जब हानि देखी जाती है, जहाँ क्षय देखा जाता है तो वहाँ ज्ञानका अभ्युदय पाया जाता है। कहीं कर्मके उदयसे ज्ञान नहीं हुआ करता। तो यो क्रोधादिक आत्मपरिणाम आत्मासे कथञ्चित् अभिन्न हैं, उस काल आत्माकी वह परिणति विशेष है इस कारण उन्हें चैतन्य परिणामरूप कहा गया है। शङ्काकार कहता है कि कर्म तो धर्म अधर्म रूप हैं, जिनका दूसरा नाम पुण्य पाप है। तो ये धर्म अधर्म तो आत्माके गुण कहलाते हैं। इन्हें औदयिक न कहना चाहिए और न पुद्गलपरिणाम स्वरूप कहना चाहिए। धर्म अधर्म आत्माके गुण हैं ऐसी प्रायः लोकमें तन्मयता देखी जा रही है। तो जब धर्म अधर्म आत्माके गुण हैं तो वे औदयिक कैसे और पुद्गल परिणामरूप कैसे कहे गए? तो धर्म अधर्मका तो नाम अदृष्ट कर्म कहा गया है। वे तो अदृष्ट आत्माके ही गुण हैं, उन्हे औदयिक और पुद्गल परिणामरूप स्वीकार करना उचित नहीं है। इस शंकाके समाधानमे कहते हैं कि शङ्काकारका यह कथन भी युक्तिपूर्ण नहीं है क्योंकि यदि कर्म आत्माके गुण न हो तो वे आत्माकी परतंत्रता के कारण नहीं हो सकते। जो जिस वस्तुका गुण होता है वह उस वस्तुकी परतन्त्रता में कारण नही बनता। तो जब आत्माकी परतन्त्रतामें धर्म अधर्म पुण्यपाप कारण न

बनेगा तो आत्माके कभी भी बंध न होगा। जब आत्मा परतन्त्र ही नहीं है तो उसका बंध कैसे बन सकेगा? और जब आत्माके कभी भी बंध सिद्ध न हो सकेगा। तो उसकी मुक्तिका प्रसङ्ग आ जायगा। इससे यह बात प्रकट है कि जो जिसका गुण है वह उसकी परतन्त्रताका कारण नहीं होता। जैसे पृथ्वी आदिकके रूप आदिक गुण हैं तो वे पृथ्वीकी परतन्त्रताके कारण तो नहीं हैं। आत्माका गुण धर्म अधर्म नामका कुछ दार्शनिकोंने स्वीकार किया है, जिसे अदृष्टरूप कर्म कहते हैं। तो ऐसा सिद्धान्त मानने वाले नैयायिक और वैशेषिकोंके यहाँ वह धर्म अधर्म नामका अदृष्ट कर्म आत्मा की परतन्त्रताका कारण तो न हो सकेगा। इस तरह यह स्वीकार करना चाहिए कि पुण्य पाप नामके पौद्गलिक कर्म है और उनके उदयकालमें आत्मामें पुण्य पापरूप परिणाम होते हैं। तो जो पुण्य पापरूप आत्माकी परिणति विशेष है वह तो है आत्मा का परिणमन फिर भी यह आत्माका गुण नहीं है, किन्तु विकार है वह आत्मासे उस कालमें अभिन्न और जो पौदगलिक पुण्य पाप है वह तो वस्तुत. भिन्न है।

कर्मकी मान्यताका अप्रतिषेध और कर्मभूभृत्वका अप्रतिषेध--जो दार्शनिक ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि प्रधानका परिणाम शुक्ल और कृष्ण दो प्रकारका होता है और वही कर्म कहलाता है याने पुण्य पाप धर्म अधर्म यह प्रधानका परिणाम है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रधानका वह परिणाम है, तो रहे। वह आत्मा की परतन्त्रताका कारण तो नहीं हो सकता, इस कारण उसे कर्म न कह सकेंगे। यदि कर्म प्रधानका परिणाम माना जाता है तो वह आत्माको परतन्त्र कैसे कर सकता है? और, जब वह प्रधान आत्माको पराधीन नहीं कर सकता तो उसे कर्म नहीं कहा जा सकता। कर्म वही कहलायगा जो आत्माको पराधीन बनाये। यदि आत्माको पराधीन न बनायें फिर भी उसे कर्म माना जाता है तो कोई भी पदार्थ कर्म बन जायगा। दुनियामें जितने पदार्थ पड़े है वे आत्माको परतन्त्र नहीं बना रहे फिर भी सबका नाम कर्म रख दिया जाय। यदि यह कहा जाय कि प्रधानकी परतन्त्रताका कारण तो है वह शुक्ल कृष्ण कर्म और इसीलिए प्रधान परिणाम कर्म है तो यह कथन यों ठीक नहीं कि जब प्रधानका परिणाम प्रधानकी परतन्त्रताका कारण है तो प्रधानका ही बन्ध हो और प्रधानका ही मोक्ष हो फिर आत्माकी कल्पना क्यों की जा रही है? यदि ऐसा कोई सोचे कि बन्ध और मोक्षके फलका अनुभव पुरुषमें होता है इस कारण पुरुषकी याने आत्माकी कल्पना करना ठीक है। तो यह कहना यों ठीक नहीं कि प्रधानको जब बन्ध मोक्ष माना और पुरुषको बन्ध मोक्षके फलका भोक्ता माना तो इसमें दो दोष आते हैं—१ कृतनाश और २ अकृत स्वीकार। देखो प्रधानने तो बन्ध मोक्ष किया, उसको तो फल मिला नहीं। नाश हो गया। क्योंकि प्रधानने बन्ध मोक्ष किया और उसका फल न पाया तो यह कहलाया कृतनाश और पुरुषने बंध मोक्ष किया ही नहीं और उसका फल भोगना पड़ा। तो इसका अर्थ हुआ अकृत

स्वीकार। तो यह महान दोष कि जो न करे वह बिगड जाय, जो करे वह फल न पाये यह तो बडा दोष आगा। यदि कहो कि पुरुष चेतन है इसलिए वह फल भोगता है, और प्रधान अचेतन है, वह फल नहीं भोग सकता। तो यह कहना यों सम्भव नहीं कि प्रधानके द्वारा किये गए कर्मका आत्मा फल भोगे, ऐसा नियम बना दिया जाय तो मुक्त आत्माको भी कर्मफल भोग लेना चाहिए क्योंकि वह भी चेतन है। यदि कहो कि मुक्त आत्माके साथ प्रधानका ससर्ग नही है इसलिए प्रधानके किए गए कर्म का फल मुक्त आत्माको नहीं भोगना पडता। ससारी जीवके प्रधानका सम्बन्ध है इस लिए उसको ही बन्धका फल भोगना होता है तो ऐसा माननेपर सही बात आ गयी कि लो पुरुषमें बन्ध सिद्ध हो गया। बन्धका ही नाम ससर्ग है। चाहे यह कहो कि बन्ध है। तो इस तरह आत्माका बन्ध कारणके बिना सम्भव नहीं है। इसी कारण पुरुषका जो मिथ्यादर्शन आदिक परिणाम है उसे बन्धका कारण मानना चाहिए। इस तरह जीवके बन्ध भी सिद्ध हुआ, मोक्ष भी सिद्ध हुआ, सम्वर निर्जरा भी सिद्ध हुये, कर्म भी सिद्ध हुए और यह सर्वज्ञ उन कर्म पर्वतोंका भेदनहार है, यह भली भांति सिद्ध हो जाता है।

प्रधानकी पुद्गलकर्मरूपता—भगवान आप्तको कर्मपर्वतका भेदनहार कहा गया है। जब यहां यह शङ्का की थी किसीने कि कोई कर्म पर्वत ही नहीं होते फिर उनका भेदनहार ही क्या कहा जाय? और इस पुष्टिमें यह मतव्य रखा था कि दो ही तत्त्व हैं—प्रधान और पुरुष प्रधानके ससर्गसे बन्धके फलका अनुभव आत्माको करना पडता है। तो इस तरह कहने वालेके समाधानमें बहुत विस्तारसे वर्णन किया जा चुका। अब यहां यह निष्कर्ष निकला कि प्रधानका ससर्ग मुक्त आत्माओंके नहीं होता और ससारी आत्माओंके होता, इसमे कोई कारण न दिखनेसे प्रधानकी सिद्धि नहीं होती। यदि शङ्काकार यह कहे कि प्रधानके ससर्गका कारण तो प्रधानका परिणाम ही है तो सुनो! प्रधानका ही परिणमन यदि प्रधानका ससारी आत्मासे ससर्ग का कारण बने तब तो मुक्त आत्माके भी वह प्रधानपरिणाम प्रधानससर्ग करानेमें कारण बन जायगा, क्योंकि प्रधानका परिणाम प्रधानमें है, तो प्रधानमें परिणमन हो रहा और वह होता है आत्माके साथ ससर्गका कारण। तब सभी आत्माओंके साथ संसर्ग बन जाना चाहिए, किन्तु ऐसा शङ्काकारने भी नहीं माना, इस कारण यह ही बात मान लेना चाहिए कि जो मिथ्यादर्शन आदिक भावकर्म हैं वे तो हैं पुरुषके परिणाम और जो द्रव्यकर्म हैं वे हैं पुद्गलके परिणाम। चूंकि पुरुष परिणामी है, उसका परिणमन ही है इसलिए कर्म ससर्गकी स्थितिमें विभावरूप परिणम रहा है तो यह पुरुष परिणम रहा है। जो भी सत् होता है वह अपरिणामी नहीं होता। परिणमनशील होता। तो यों मिथ्यात्व आदिक भावकर्म तो पुरुषके परिणाम हैं, क्योंकि पुरुष अपरिणामी नहीं है। अपरिणामी तो कोई पदार्थ ही नहीं होता। जैसे शङ्काकारकी,

दृष्टिमे क्षणिकवादियों द्वारा माना गया क्षणिक चित्त नहीं है क्योंकि वह एक क्षणको हुआ फिर न रहा। उसमे परिणमनकी बात ही नहीं आ पाती। दूसरे क्षण रहे तो परिणमनकी बात वहाँ चलायी जाय। तो जैसे अपरिणामी क्षणिक चित्त वस्तु नही मानी गई उसी प्रकार अपरिणामी पुरुष भी वस्तु नही हो सकता। तो जो मिथ्यात्व आदिक भावकर्म हैं वे पुरुषके परिणाम हैं और जो द्रव्यकर्म हैं ज्ञानावरण आदिक वे सब पुद्गलपरिणामात्मक हैं तब प्रधान कहो या पुद्गल कहो नामका ही भेद रहा। जैसे कोई दार्शनिक प्रधान कहकर बंधमोक्षकी व्यवस्था बनाते हैं वह भी कर्म जैसी ही स्थिति प्रधानकी मानकर बना सकते हैं। तो जिसको पुद्गल कहते हैं उसे ही कोई प्रधान बतलाते हैं। तो पुद्गलका ही तो एक नाम बना दिया। स्वरूपमें अन्तर नहीं डाल सकते। जो स्वरूप कर्म पुद्गलका है उसी तरहका स्वरूप प्रधानका माना जाय तो व्यवस्था बनती है। तब नामभेद हुआ लक्षणभेद न रहा।

बुद्ध्यादि परिणामोंकी पुरुषपरिणामात्मकता—यदि शङ्काकार यहाँ यह सोचे कि ... कह दिया कि प्रधान पुद्गलका परिणाम है तो वह सुने! देखो, प्रधान, पृथ्वी आदिकका परिणाम है यह तो माना ही गया है। शङ्काकार द्वारा तो वह पृथ्वी आदिकका परिणाम पुरुषके तो नहीं माना गया। इससे सिद्ध है कि पुरुषका परिणाम पुरुषके ढङ्गसे होगा और प्रधानका परिणाम पुद्गलके ढङ्गसे होगा। तो पुरुष पुद्गल द्रव्य नही तो उसका परिणाम पृथ्वी आदिक भी नहीं। पुरुषके तो बुद्धि अहङ्कार आदिक परिणाम हो सकते हैं। जिसमे प्रतिभासका सम्बन्ध है वह ही परिणाम पुरुषके हो सकता है। प्रधानमें बुद्धि आदिक परिणाम नही बन सकते। शङ्काकारने भले ही माना है यह कि प्रधानमे बुद्धि अहङ्कार आदिक परिणमन होते हैं और इसके अतिरिक्त शरीर इन्द्रिय आदिक भी परिणमन माने हैं। तो शरीर आदिक तो प्रधानके परिणमन बन जाते, पर बुद्धि अहङ्कार आदिक प्रधानके परिणमन नही बन सकते। प्रधान और पुद्गल एक ही बात है। तो शरीर तो पुद्गलका परिणमन है और बुद्धि अहङ्कार ये पुरुषके परिणमन हैं। अनुमानसे भी यह बात सिद्ध होती है कि प्रधान बुद्धि आदिक परिणामरूप नही है, प्रधान पृथ्वी आदिकके परिणामरूप है। जो बुद्धि आदिक परिणामरूप होता है वह पृथ्वी आदिकके परिणामरूप नहीं देखा गया है। जैसे पुरुष आत्मा, चेतन, ये पृथ्वी आदिकके परिणामरूप नहीं हैं। तो बुद्धि आदिक परिणाम तो उसके ही सिद्ध होते हैं। और, पृथ्वी आदिकके परिणामरूप प्रधानसिद्ध होता है। इस कारण बुद्धि अहङ्कार जैसे विभावको प्रधानके परिणाम नहीं कहा जा सकता, वह पुरुष विभावरूप परिणाम है। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यदि पुरुषमें बुद्धि आदिक परिणाम मान लिए जायें तब तो दृष्टान्त सही बताया जा सकता था, लेकिन पुरुषमें बुद्धि आदिक परिणाम सिद्ध ही नही होते। तब पुरुषका यह दृष्टान्त देना कि चूँकि पुरुष बुद्धि आदिक परिणामरूप है अतएव प्रधानका

परिणाम नहीं है, यह कहना सङ्गत नहीं हो सकता। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि पुरुषमें बुद्धि आदिक परिणाम हैं, इनको सिद्ध करने वाला अनुमान प्रयोग है और वह अनुमान इस प्रकार है कि पुरुष बुद्धि आदिक परिणामस्वरूप है, क्योंकि वह चेतन है। जो बुद्धि आदिक परिणामरूप नहीं होता वह चेतन नहीं देखा गया। जैसे घटादि, ये बुद्धि आदिक परिणामरूप नहीं हैं तो ये चेतन भी नहीं है और चेतन पुरुष है, इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुष बुद्धि आदिक परिणामात्मक है। इस तरह प्रधान और पुद्गल ये तो एक ही बात हुए। बुद्धि अहङ्कार आदिक ये पुरुषके क्षणिक परिणमन हैं तथा विभावरूप परिणमन हैं।

प्रधानमें आकाशपरिणामात्मककी असिद्धि—अब शङ्काकारके दूसरे मंतव्यके सम्बन्धमें विचार किया जा रहा है कि शङ्काकारने प्रधानको आकाशपरिणामात्मक माना है। जैसे कि प्रधानसे महान् अहङ्कार, गण, शरीर, इन्द्रिय आदिक तत्त्व प्रकट होते हैं, ऐसा कहा है तो उसमें आकाश तत्त्व भी माना है। तो प्रधानको जो आकाशपरिणामात्मक कहा है वह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जो-जो मूर्तिमान पृथ्वी आदिकका परिणामरूप होगा वह-वह अमूर्तिक आकाशका परिणाम नहीं बन सकता। पृथ्वी आदिक मूर्तिमान हैं और इससे जो परिणाम देखा जाता है वह सर्वविदित है, तो जो परिणमन पृथ्वी आदिक मूर्तिक पदार्थोंमें देखा जाय वह परिणमन अमूर्तिक आकाशमें नहीं बन सकता, क्योंकि पृथ्वीके परिणमन और आकाशका परिणमन ये दोनो परस्पर विरुद्ध हैं और आकाशको प्रधानका परिणाम सिद्ध करनेके लिए जो शङ्काकारने शब्दको शब्दादिक ५ तन्मात्रायें कहा है वे तो पुद्गलके द्रव्यके परिणाम ही है, आकाशके नहीं हैं। जैसे द्रव्यमन पुद्गल द्रव्यका परिणमन है, शरीर वचन रसना आदिक इन्द्रियें पुद्गल द्रव्यके परिणमन हैं उसी प्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द ये ५ मात्रायें भी पुद्गल द्रव्यके ही परिणमन हैं। हाँ, भावमन और ज्ञानात्मक इन्द्रियाँ ये पुरुषके परिणाम सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार भली प्रकार समझमें आ सकने वाले ये दो द्रव्य हैं—जीव और पुद्गल। जीवकी बात भी अनुभवमें आ जाती है और पुद्गल तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्षसे भी सिद्ध हो जाता है। तो मुख्य तो ये दो द्रव्य हैं—जीव और पुद्गल। इनके सिवाय कोई भी द्रव्य हो सकता है तो वह धर्म, अधर्म, आकाश और काल हो सकेगा। इन ६ द्रव्योंको छोडकर अन्य कोई द्रव्य सिद्ध नही होता। प्रधानका कोई स्वरूप व्यवस्थित नही है। प्रधान कोई अलग तत्त्व नहीं है। प्रधानका स्वरूप सिद्ध करनेके लिए जो सत्त्व, रज और तमकी बात कही गई है सो यह सत्त्व, रज और तम ये तीन द्रव्यरूप हैं और भावरूप हैं। जो भावरूप सत्त्व, रज, तम हैं वे तो पुरुषके परिणमन होंगे और जो द्रव्यरूप सत्त्व, रज, तम हैं वे पुद्गल द्रव्यके परिणमन होंगे अथवा सामान्यतया सत्त्व, रज और तम द्रव्यरूप हों, भावरूप हो ये पुद्गल और जीवके परिणाम हो सकते हैं। यदि सत्त्व, रज, तमको

जीव, पुदगल इन दोनोके परिणाम न माना जाय तो सत्व, रज, तमकी सिद्धि ही नही हो सकती। शङ्काकारका सिद्धान्त यह है कि सत्व, रज और तम इन तीनकी साम्य अवस्थाका नाम प्रधान है सो ये तीन जीव और पुद्गलके ही परिणमन हैं। जीव और पुद्गलके आधारको छोडकर अन्य किसी सत्व, रज और तमकी व्यवस्था नही पायेंगे। इस कारण यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रधान कोई अलग तत्व नहीं है, क्योंकि प्रधानका स्वरूप जो सत्व, रज, तम कहा है वह जीव और पुदगलको छोडकर अन्यमें कही पाया नही जाता। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि द्रव्यकर्म तो पुदगल परिणामरूप है और भावकर्म जीवके परिणामरूप है।

कर्मोंकी विशालता व दुर्भेद्यताकी दृष्टिसे पर्वतरूपताका प्रतिपादन— अब और देखिये ! द्रव्यकर्म पुदगल स्कध है, क्योकि केवल परमाणु परमाणुरूप द्रव्य-कर्म हो तो उनमे कर्मत्व नही आ सकता, कर्मत्व नही होता भिन्न भिन्न अणुओमें, इसका कारण यह है कि भिन्न भिन्न अणु जीव स्वभावके प्रतिबन्धक नही बन सकते। वे कर्म अणु जब स्कध रूपमे होते हैं तो ऐसे स्कध ही जीव स्वरूपकी प्रतिबन्धकताको प्राप्त कर सकते है। यो कर्मस्कध सिद्ध हुए और जो कर्मस्कध है वे हैं बहुत इसलिए उन्हें तो कर्मस्कधकी राशि कहना चाहिए। तो जब कर्मस्कधकी राशि बन गयी तो वह पर्वतोकी तरह विशाल सिद्ध होती है और दुर्भेद्य सिद्ध होती है। ससारी जीवोपर जो कर्मका आवरण छाया है वह विकट और विशाल है और, उसे दूर किया जाना कठिनतासे बन सकता है, इस कारण कर्मपर्वत दुर्भेद्य है। ऐसे दुर्भेद्य कर्मपर्वतका जो भेदन कर देता है वही आप्त परमात्मा कहलाता है। इन कर्मपर्वतोका भेदन करनेका अर्थ यह है कि उस कर्मोंमे कर्मत्वका विश्लेषण कर दिया जाय यानी जुदा हो जानेका नाम कर्मभेदन है सो यो उन कर्मस्कधोंमे कर्मत्व नही रहता। इस ही के मायने कर्म-पर्वतका भेदन करना कहलाता है। कही कर्म सत्तासे नष्ट नहीं किये जा सकते। कर्म तो पुद्गल द्रव्य है जो सत् होता है उसका कभी नाश नही बन सकता। तो कर्मपर्वतों का भेदन करनेका तात्पर्य है उनका जुदा कर देना। आत्मासे कर्म जुदा हो जायें, उन कर्मोंमें कर्मत्व न रहे यह ही कर्मपर्वतका भेदन कहलाता है क्योकि जो सत्तास्वरूप द्रव्य है उसका तो विनाश नही होता यह बात सर्व लोकमे प्रसिद्ध है। आविष्कारक, वैज्ञानिक सभी यह जानते हैं कि जो भी अणु सद्भूत है उसका समूल नाश नहीं होता। तो कर्म भी सत् है और कर्मोंका समूह कर्मस्कध है। कर्मस्कध विशाल है अत: वह कर्म स्कध पर्वतकी तरह कहा जाता है, यह दुर्भेद्य है। इस कर्मपर्वतका भेदन करने वाला आप्त परमात्मा कहलाता है। इस प्रकार जिस मगलाचरणके आधारपर यह ग्रन्थ बनाया गया है उसमें जो तीन विशेषण दिए गए हैं कर्मपर्वतका भेदनहार, विश्वतत्त्वका ज्ञाता और मोक्षमार्गका नायक। उनमें दो विशेषण ठीक निर्दोष कहे गए हैं। आप्त भगवान कर्मपर्वतके भेदनहार हैं और समस्त तत्त्वोके

जाननहार हैं। जैसे कि मोक्षमार्गके नायक हैं प्रभु, यह बात निर्दोष सिद्ध होती है उसी प्रकार शेष दो विशेषण भी निर्दोषतया सिद्ध हो जाते हैं। अब यहाँ कोई जिज्ञासु यह जानना चाह रहा है कि मोक्षका स्वरूप क्या है ? कर्मपर्वतका भेदन हो जानेसे जो मुक्ति प्राप्त होती है उस मुक्तिका स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर आचार्यदेव कारिका मे करते हैं।

स्वात्मलाभस्ततो मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयान्मत. ।
निर्जरासंवराभ्यां नुः सर्वसद्वादिनामिह ॥ ११६ ॥

संवर और निर्जरा तत्त्वके द्वारा उद्भूत स्वात्मलाभकी मोक्षरूपता-निर्जरा और सम्वर तत्त्वके द्वारा जब समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है तो उन कर्मों के क्षयसे जो स्वात्मलाभ होता है, अपना सहज आत्मतत्त्व प्रकट होता है उसका नाम मोक्ष है। यह बात समस्त आस्तिक लोग मानते हैं। मोक्षके स्वरूपमे दार्शनिकोकी गिनती नहीं है किन्तु मोक्षमार्गमें विवाद है इसी कारण तत्त्वार्थ सूत्रकारने मोक्षके स्वरूपको पहिले नहीं कहा किन्तु प्रथम सूत्रमें ही मोक्षमार्गका वर्णन किया है। जितने भी आस्तिक लोग हैं वे सभी यह मानते हैं कि कर्मका आवरण मल जब आत्मापर नही रहता है तो जो विशुद्ध आत्मलाभ होता है उसका नाम मोक्ष है। इस मोक्षके कारण हैं, सम्वर और निर्जरा। आगामी कर्मोंका तो सम्वर होता अर्थात् कर्म न आ सकें इसका नाम सम्वर है। और, जो पहिले बांधे हुए कर्म हैं उन कर्मोंका प्रलय होनेका नाम है निर्जरा। और सम्वर और निर्जरा इन दोनोंके प्रसादसे कर्मोका क्षय होता है सो समस्त कर्मोंका प्रक्षय होना मोक्ष है। यदि संचित कर्मोंका विनाश तो किया जाय लेकिन आगामी कर्म आते रहें तो फिर मोक्ष कैसे होगा ? और, आगामी कर्मोंका सम्वर हो जाय और संचित कर्म बारी बारीसे आयें तो यह बात कैसे होगी? जहाँ सम्वर होता है वहाँ निर्जरा तत्त्व प्रकट होता है अन्यथा वहाँ सम्वर तत्त्व भी न बन सकेगा तो यो सम्वर और निर्जरा तत्त्व द्वारा आत्माके लाभ होनेका नाम मोक्ष है। इस कारिकामे जो "सर्वसदवादीनाम्" यह प्रयोग किया है उससे यह बात प्रसिद्ध हो जाती है कि सभी आस्तिकोंको मोक्षके स्वरूपमें विवाद नहीं है। मोक्षका स्वरूप सभी यही समझने कि आत्माको छोडकर बाकी तत्त्वोका अभाव हो जाय और केवल आत्मा ही आत्मा रहे, इस हीका नाम है मोक्ष। तो ऐसा मोक्ष स्वरूप सभी दार्शनिक मानते हैं। देखा या आत्माके स्वरूपमें, कर्मके स्वरूपमें अथवा यह भी कह सकते कि मोक्षमार्गके स्वरूपमे विवाद सो आत्माका व कर्मका स्वरूप तथा मोक्षमार्ग क्या है ? यह भली भाँति सिद्ध कर दिया गया है, जो लोग आप्तके स्वरूपमें विवाद करते थे उनकी शङ्काओका निराकरण किया जा चुका है, और जो कर्मके स्वरूपमे विवाद रखते थे उनको भी समाधान दिया जा चुका है। अब प्रमाणसे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन,

अनन्तशक्ति और अनंत आनन्द यह चतुष्टय सिद्ध किया गया है और आत्माका सिद्धत्व स्वरूप है, यह सिद्ध किया गया है, उस प्रसंगमे जीव और कर्मकी वास्तविकता सिद्ध हो ही गई समझिये।

आत्माके चैतन्य स्वरूपपर विवादपरिहारी प्रकाश—यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि अचेतनपना आत्माका स्वरूप नहीं है। यदि अचेतनपना आत्माका स्वरूप होता तो आत्माके साथ ज्ञानका समवाय नहीं बन सकता था। इस प्रसङ्गमें मूल बात यह चल रही थी कि मोक्षमार्गका नेता वही हो सकता है जो विश्व तत्त्वका ज्ञाता हो। तब किसी शंकाकारका यह सिद्धान्त था कि विश्वतत्त्वका ज्ञाता न हो तब भी आप्त बन सकेगा। तो उसके निराकरणमे यह बात कही गई थी कि भला देखो तो सही कि जो विश्वतत्त्वके ज्ञाता नहीं हैं उनके द्वारा प्ररूपित द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय ये कुछ भी सिद्ध नहीं हो पा रहे हैं। उसीसे सवधित शंकाकारने यह बात रखी थी कि ज्ञानका और आत्माके साथ समवाय है और तब यह आत्मा ज्ञाता और सर्वज्ञ बन जाता है तो समवायकी सिद्धि भी तब तक न हो सकेगी जब तक आत्मामे ज्ञानस्वभाव न माना जाय। अगर अज्ञानमे, अचेतनमे, जड आत्मामें ज्ञानका समवाय कहा जाय तो वहाँ यह प्रश्न खडा रह जाता है कि ज्ञानका समवाय जड आत्मामें ही क्यो हुआ ? जड आकाशमें क्यों नही बन जाता ? यदि अदृष्ट विशेषको कारण कहा जाय तो ज्ञानका कारणभूत अदृष्टविशेष भी तो जैसे आकाश आदिक जडमें सम्भव नही हैं उसी प्रकार जड आत्मामे सम्भव नहीं हो सकते। तो अदृष्टविशेषकी बात कहकर भी कोई समाधान नही दिया जा सकता। यदि वे अन्त करणके सयोगकी बात कहकर आत्मामें ज्ञानका समवाय सिद्ध करने चलेंगे तो वह भी बात नही बन सकती। वहाँ भी प्रश्न होगा कि अत करणका सयोग जड आत्मामे तो हुआ और जड आकाशमे नही हुआ। इस व्यवस्थाको कौन बनायगा ? तो युक्तियोसे भी आत्माके अचेतनता सिद्ध नहीं होती और अनुमानसे विचारा जाय तो आत्मामे अचेतनता प्रतीत नही है किन्तु ज्ञान ही प्रतीत होता है। अत॰ आत्माका अचेतनपना स्वरूप नही कहा जा सकता। किसीने यह कहा था कि आत्मा क्या ? तो कर्मपर्वतको भेदे, विश्वतत्त्वको जाने वह तो अचेतन है, उसके निराकरणमें यह प्रकरण चल रहा है कि आत्मा अचेतन नही किन्तु चेतन है।

शाश्वत ज्ञानस्वरूप आत्माकी प्रसिद्धि—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि चेतनरूप ज्ञान तो अनित्य है। तो अनित्य ज्ञान नित्य आत्माका स्वरूप कैसे बन सकता है ? आत्माको ज्ञानरहित इसी कारण माना गया है कि आत्मा तो नित्य है, और ज्ञान अनित्य है। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि शंकाकारकी यहाँ भी भूल हो रही है। ज्ञान अनन्त और अनादि है, इस कारण ज्ञानको सर्वथा नित्य नहीं कह सकते। ज्ञान स्वरूपतः स्वभावतः नित्य है। यदि शंकाकार यहाँ यह कहे कि यह

ज्ञान नित्य है तब आत्माके कभी अज्ञान न बनना चाहिए, किन्तु संसार अवस्थामें, मोह अवस्थामे आत्माके अज्ञान माना गया है। इसके समाधानमें शंकाकार यह समझलें कि आत्मा अज्ञानरूप तो नही होता, किन्तु जब ज्ञानावरण कर्मका उदय होता तो उतने अंशमें वहाँ अज्ञान रहता है। इससे किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती और जब ज्ञानावरण कर्मका उदय होता है तब सर्वज्ञान नहीं हो सकता। इस कथनसे यह भी शंका दूर कर लेना चाहिए कि आत्माका यदि ज्ञानस्वरूप है तो वह समस्त तत्त्वोंका ज्ञाता क्यो नही कहा जाता? ज्ञानावरण कर्मका उदय है ऐसा समझ लेनेपर अज्ञान होनेकी बात, सर्व तत्त्वोके ज्ञान न हो सकनेकी बात समझमें आ सकती है? और, साथ ही आत्मा ज्ञान स्वरूप है और वहाँ ज्ञान शाश्वत है, यह भी समझमे आ सकता है। देखो, समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो उसका नाम है केवलज्ञान। उस केवलज्ञानको प्रकट न होने देना उसका नाम है ज्ञानावरणका उदय। तो ज्ञानको घातनेवाले घातियाकर्मका उदय होनेपर यह सम्भव नहीं है कि ससारी आत्मा समस्त तत्त्वोको जान जाय। हाँ जब ज्ञानावरणका नाश हो जाता है तब यह आत्मा समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायोंको एक साथ स्पष्ट जान लेता है और तब वहाँ सर्वज्ञता प्रकट होती है। साराश यह है कि आत्मामे जब तक घातिया कर्मोंका उदय रहता है तब तक समस्त पदार्थोंका बोध नहीं होता और जब घातिया कर्मोंका अभाव हो जाता है तो समस्त पदार्थ विषयक ज्ञान बन जाता है और तब कोई विशिष्ट आत्मा सर्वज्ञ है यह बात सिद्ध हो जाती है। अब, ज्ञान आत्माका स्वरूप है, आत्माको ज्ञानस्वरूप माननेपर इस दोषमे शङ्का न करें कोई कि ससारीको फिर सारा ज्ञान क्यों नहीं होता अथवा ससारीके अज्ञान क्यो रह जाता है। यह बात भली प्रकार युक्तियोंसे पहिले ही समझा दी गई है।

ज्ञानशून्य पदार्थमे चैतन्यकी असभवता—कुछ लोग कहते हैं कि आत्माका स्वरूप तो चेतनमात्र ही है, ज्ञान नही है। उनका यह कथन भी उक्त विवेचनसे खण्डित हो जाता है, क्योंकि जो कुछ भी वस्तु ज्ञान स्वभावसे रहित हो वह चेतन हो ही नहीं सकता। जैसे आकाश आदिक ज्ञानस्वभावसे रहित हैं तो वे चेतन नहीं हो सकते। तो जब आत्माका स्वरूप ज्ञानरहित माना तो वह चेतन हो ही नहीं सकता, फिर आत्माका चैतन्यमात्र स्वरूप कहना केवल प्रलाप है। कुछ लोग कहते हैं कि प्रकाश स्वरूप जो यह चित्त है इस हीके मायने आत्मा है याने आत्मा क्षणिकप्रतिभास स्वरूप है अर्थात् अपने ही सम्वेदनमे चित्तमें होता है, ऐसा स्वसम्वेदनमात्र चित्तका स्वरूप है। तो क्षणिकवादियोंका यह कथन भी यों खण्डित हो जाता है कि ज्ञान समस्त पदार्थोंका विषय करने वाला सिद्ध किया गया है। जो ज्ञान क्षणिक हो, स्वसम्वेदन मात्र हो वह समस्त पदार्थोंका विषय करने वाला नही हो सकता। और, चूंकि ज्ञान समस्त पदार्थोंको जानता है यह भली भाँति बहुत विस्तारसे सिद्ध कर

दिया गया है। यदि ज्ञानको केवल स्वसम्वेदन मात्र माना जाय याने अपने आपका ही प्रकाश करता है ज्ञान ऐसा माना जाय तो वह ज्ञान समस्त पदार्थोंका साक्षात्कार करने वाला न हो सकेगा। और, माना भी है ज्ञानको सकलार्थ विषयक अन्य दार्शनिकोने भी तो प्रतिभासस्वरूप यह क्षणिक चित्त है, वही आत्मा है, यह बात भी सही नही हो सकती। कुछ लोग कहते हैं कि आत्माके स्वरूप प्रमाणबाधित है, इस कारण आत्माके स्वरूपकी ऐसी बात कहना कि वह अनन्त आनन्दमय है, यह कथन व्यवस्थित नही रह सकता। उनका यह कहना भी सही नहीं है, क्योंकि जो आत्माका स्वरूप विपरीत मानते हो उनके यहाँ तो अव्यवस्था बन सकेगी। पर जहाँ स्याद्वाद शैली से आत्माका स्वरूप सिद्ध किया गया है वहाँ आत्मामे ज्ञानदर्शन आदिक स्वरूपकी प्राप्ति व्यवस्थित है। और, जहाँ अनन्त ज्ञानादिक स्वरूपका लाभ है उसका नाम मोक्ष है। कही आत्माके नाशका मोक्ष नहीं है किन्तु आत्मामे अन्य कुछ न रहे और आत्मा का स्वरूप पूर्णतया विकसित हो उसे मोक्ष कहते हैं। इस प्रसङ्ग तक जो कर्मके मानने मे विवाद करते थे, कर्मके स्वरूपमे विवाद करते थे उनका निराकरण किया गया है। और, कर्मभूभृत्को सिद्ध किया है, और जो कर्म पहाडका भेदनहार है वह विश्वतत्त्वका ज्ञाता है। जो कर्मपहाडका भेदनहार है, विश्वतत्त्वका ज्ञाता है वह मोक्षमार्गका नेता है, यह बात भली भाँति सिद्ध होती है।

सम्वर, निर्जरा और मोक्षके स्वरूपका विश्लेषण—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि अभी मोक्ष और मोक्षमार्गके प्रकरणमें जो सम्वर निर्जरा और मोक्षका विवरण दिया गया है तो इन तीनोमे कुछ भेद ही तो नही मालूम होता। फिर तीनो के वर्णनका क्या मतलब? यो नही मालूम होता कि कर्मोंका अभाव तीनोमे है। सम्वरके मायने क्या है? आगामी कर्मोंका नास्तित्व। निर्जराके मायने क्या है? कर्मों का एक देश दूर होना, मोक्षका अर्थ है कर्मोंका सर्वथा दूर हो जाना। इस तरह सम्वर निर्जरा और मोक्ष ये तीनो ही कर्मोंके अभावरूप हैं इस कारणसे इन तीनोमे कुछ भेद प्रतीत नही होता। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि ३ तत्त्वोके स्वरूप पर दृष्टि दो, भेद ज्ञात हो जाता है। सम्वरका स्वरूप कहा गया है आगामी कर्मोंकी उत्पत्ति न होना। आश्रवके निरोधको सम्वर कहते हैं। तो इन आगामी कर्मोंके अभाव की बात कही गई है, निर्जराका अर्थ है सञ्चित कर्मोंका एक देश क्षय होना सो निर्जरा है। निर्जरामे कर्मोंके अभावकी बात कही गई है और मोक्ष नाम है समस्त कर्मोंका सर्वथा क्षीण हो जाना। सो यहाँ समस्त कर्मोंका अभाव है। तो सम्वरमे आगामी द्रव्य जो भावकर्मका अभाव है, वर्तमानमे भावकर्म नही है वही तो सम्वररूप है निश्चयसे और कर्म आ नही रहे हैं इसका नाम सम्वर है। निर्जरामे सचित द्रव्य और भावकर्मका एक देश अभाव है याने भूतकालीन तो सचित द्रव्यका नास्तित्व है और वर्तमानमे भावकर्मका एकदेश अभाव है। और मोक्षमें आगामी भूतकालीन सब प्रकार

के द्रव्यकर्म, भावकर्म, सबका अभाव है। तो यहाँ एकका स्वरूप दूसरेसे भिन्न है इस कारण इन तीन तत्त्वोमे भेद पाया जाता है। यहाँ कोई शङ्काकार कहता है कि नास्तिक जीवोंके लिए तो मोक्षके स्वरूपमें भी विवाद रहता है, फिर मोक्षको अविवाद कैसे बताया है ? इसके समाधानमें देखिये !

नास्तिकानां च नैवास्ति प्रमाणं तन्निराकृतौ।
प्रलापमात्रकं तेषां नावधेयं महात्मनाम् ॥ ११७ ॥

मोक्षकी निर्विवाद सिद्धि—जो लोग मोक्षका अभाव बतलाते हैं अथवा नास्तिक लोग सभी तत्त्वोंका अभाव बतलाते हैं तो उनका यह केवल प्रलापमात्र है। जब पूछा जाय कि मोक्ष नहीं है यों कहकर नास्तिक लोग जो मोक्षका निराकरण करते हैं उसमें कोई प्रमाण है क्या ? तो प्रमाण तो वे बता न सकेंगे, क्योंकि नास्तिक लोग हैं। प्रमाण क्या बतावेंगे। जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष है उसका मोक्ष विषय नहीं है तो मोक्षका निराकरण करनेमें कोई प्रमाण नही है, इस कारण नास्तिकोंका यह कहना कि मोक्ष कुछ नहीं है, यह सब प्रलापमात्र है, इसी कारण जो कल्याणार्थी जन हैं उनके ध्यान देने योग्य बात नहीं है नास्तिकोंका कथन। नास्तिक लोग केवल एक प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानते हैं तो प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण मान रहे, याने इन्द्रियसे जो कुछ विदित होता है वही ना प्रमाणभूत है नास्तिकोकी दृष्टिमें सो इन्द्रिय प्रत्यक्षका विषयभूत मोक्षका सद्भाव या मोक्षका अभाव नहीं है। तो वे मोक्षका निराकरण करनेके लिए अन्यको प्रमाण कैसे मान सकते हैं ? यदि वे मोक्षका निराकरण करने के लिए कुछ अन्य प्रमाण मान लें तो इससे उन नास्तिकोंके इष्टकी हानिका प्रसङ्ग आता है। क्योंकि उनको इष्ट है केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष, लेकिन अब मानना पड़ा कोई अन्य भी प्रमाण। यदि नास्तिक लोग यह कहें कि दूसरे लोगोंने जो और प्रमाण माने हैं उन प्रमाणोंके द्वारा मोक्षका अभाव सिद्ध कर देंगे तो सुनो—जब अन्य पुरुषों के द्वारा माने गए प्रमाणको कुछ ठीक समझते हैं नास्तिक जिनके द्वारा वे मोक्षका निराकरण करते हैं तो उन प्रमाणोंसे जो मोक्षतत्त्वकी सिद्धि होती है उसे क्यों न मान लिया जाय। व उनके माननेसे मोक्षको ही क्यो न मान लिया जाय ? नास्तिक लोग केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण माना करते हैं तो यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष केवल सद्भावका ही साधक है, उसके द्वारा मोक्षका निषेध तो कर नहीं सकते, तो मोक्षका निषेध करनेके लिए नास्तिकोंको कोई अन्य प्रमाण अनुमान आदिक मानने पड़ेंगे। तो जब अन्य लोगोंके द्वारा माने गए किसी प्रमाणान्तरसे ये नास्तिक लोग मान लेते हैं तो उससे अच्छा तो यह ही है कि उसी प्रमाणान्तरसे मोक्षका सद्भाव भी मान लो। क्योंकि अनुमान आदिक प्रमाणोंसे मोक्षका सद्भाव सिद्ध होता है। और, यदि नास्तिक लोग बिना ही प्रमाणके मोक्षका अभाव कहा करें तो उनका यह केवल

बकवाद है, और वह उपेक्षाके योग्य है। तब मोक्ष तत्त्वको तो निर्विवाद ही स्वीकार करना चाहिए। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यदि मोक्ष अविवाद है तो रहा आवे। पर यह तो बतलाओ कि मोक्षका मार्ग क्या है ? इसका समाधान आचार्यदेव कारिकामे दे रहे हैं।

मार्गो मोक्षस्य वै सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकः ।
विशेषेण प्रपत्तव्यो नान्यथा तद्विरोधतः ॥ ११८ ॥

सम्यग्दर्शनादित्रयात्मक मोक्षमार्गका प्रतिपादन—मोक्षका मार्ग निश्चय से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप है अर्थात् सम्यग्ज्ञान आदिक तीनो रूप मोक्षका मार्ग बन सकता है अन्यथा नहीं। अर्थात् केवल सम्यग्दर्शन या अकेला सम्यक ज्ञान या अकेला सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग नही बन सकता, क्योकि उसमें विरोध है, मोक्षप्राप्तिका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनकी एकता है। अकेला-अकेला कोई मोक्षप्राप्तिका उपाय नहीं है। क्योकि प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोसे ऐसा प्रतीत नहीं होता अर्थात् तीनोकी पूर्णता ही, एकता ही साक्षात् मोक्षमार्ग है। यहाँ मोक्षका मार्ग याने साक्षात् मोक्षकी प्राप्तिका उपाय विशेषरूपसे ज्ञातव्य है क्योकि जो असाधारण कारण होता है वही विशेषरूपसे ज्ञातव्य होता है। जब यह प्रश्न हुआ कि मोक्षमार्गका साक्षात् उपाय क्या है ? याने ऐसा असाधारण कारण बताओ कि जिसके होनेपर नियमसे मोक्ष हो ? तो वह असाधारण कारण इस कारिकामे बताया गया है। असाधारण कारण ही विशेषरूपसे ज्ञातव्य हुआ करते हैं, सामान्यरूपसे नही। क्योकि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप साधारण कारण विद्यमान ही रहता है और इसी कारण वह विशेषरूपसे ज्ञातव्य नही है याने मोक्षप्राप्तिके जो साधारण कारण हैं वे प्राय. सदा विद्यमान हैं तब उनके जाननेके लिए विशेष कामना क्यो होगी ? जो मोक्षप्राप्तिका साक्षात् कारण है, जिसके होनेपर नियमसे मोक्षप्राप्ति हो, वह यहाँ ज्ञातव्य होता है। सो यह मोक्षमार्ग तीन रूप ही समझना चाहिए। एक या दो रूप नहीं। इसके लिए अनुमान प्रयोग भी कर सकते हैं कि मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन आदिक तीन रूप हैं, क्योंकि वह साक्षात् मोक्षमार्ग है। जो सम्यग्दर्शन आदिक तीनरूप नही होता वह साक्षात् मोक्षमार्ग नही है। जैसे जब अकेला सम्यग्दर्शन है तो साक्षात् मोक्षमार्ग नही है। याने सम्यक्त्वके होते ही तुरन्त मोक्ष हो जाय यह बात नहीं बनती। सो जो साक्षात् मोक्षमार्ग होगा वह तीन रूप ही होगा, इस अनुमान प्रयोगमें साक्षात् मोक्षमार्ग तो विचारकोटिमें स्थित है याने विशेषरूपसे मोक्षमार्गकी बात कही जा रही है। तब ही तो साक्षात् विशेषण दिया गया है। साक्षात् मोक्ष मार्ग क्या है ? तो यहाँ पक्ष है साक्षात् मोक्षमार्ग। प्रतिज्ञा इसकी की जा रही है कि इस अनुमानमें धर्मी अप्रसिद्ध नही है याने धर्मी सिद्ध है। यहा मोक्षमार्ग सामान्यको

धर्मी बनाया गया है और साध्य बनाया गया है मोक्षमार्ग विशेषको। तो जो धर्मी है वह सदा प्रसिद्ध हुआ करता है। तो साधारण मोक्षमार्ग सभी मोक्षवादियोंको इष्ट है। प्रत्येक मोक्ष सिद्धान्त मानने वाले दार्शनिक मोक्षमार्गको सामान्यतया मानते ही हैं। हाँ, मोक्षमार्ग विशेषमें ही लोगोंको विवाद है। कैसे विवाद है कि कोई तो सिर्फ ज्ञानको ही मोक्षका मार्ग मानते। तत्त्वज्ञानसे ही मोक्ष होता है, कोई केवल श्रद्धा विशेषको ही मोक्षमार्ग मानते, और कोई केवल क्रियाकाण्ड आदिकको ही मोक्षमार्ग मानते। तो साक्षात् मोक्षमार्गमें विवाद है, पर मोक्ष है और कोई मोक्षमार्ग हुआ करता है। इस सम्बन्धमें कुछ भी विवाद नहीं है। तो मोक्षमार्ग सामान्यमें सब एक मत हैं। तो यही धर्मी है और वह प्रसिद्ध है। इसलिए मोक्षमार्ग सामान्यमें विवाद नहीं, किन्तु मोक्षमार्ग विशेषमें विवाद है।

सम्यग्दर्शनादित्रयात्मक मोक्षमार्गके साधक अनुमानमें पक्षकी प्रसिद्धि मोक्षमार्ग पक्ष है, वह तो विवादसे रहित है, इस कारण यहाँ यह नहीं कह सकता कोई कि इस अनुमान प्रयोगमें पक्ष अप्रसिद्ध विशेष्य है याने पक्ष बिल्कुल प्रसिद्ध है इसलिए कोई दोष नहीं दिया जा सकता और न कोई यह कह सकता कि पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण है, क्योंकि सामान्य मोक्षमार्ग तो धर्मी है, पक्ष है और साक्षात् मोक्षमार्ग साध्य बनाया जा रहा है। सम्यग्दर्शन आदिककी तीन रूपता साक्षात् मोक्षमार्ग है। इसके लिए लोक दृष्टान्त भी देखिए कि रोगनिवृत्तिका मार्ग क्या है? श्रद्धान होना, ज्ञान होना और आचरण होना। रोग और औषधिका श्रद्धान हो, और उस औषधिका परिज्ञान हो, सेवनविधिका परिचय हो और फिर औषधिका सेवन हो तो रोगनिवृत्ति होगी। इसमें तो किसीको भी विवाद नहीं रहता। प्रत्येक रोगी रोगनिवृत्तिके ध्येयसे औषधि लेनेका प्रयत्न करता है, लेकिन विशेषमें विवाद है कौन सी औषधि उपयुक्त है, कौन सी नहीं? तो उस विशेषकी सिद्धि की जाती है। यह बात स्पष्ट है कि रसायनका सामान्य ज्ञान हो अथवा केवल श्रद्धान मात्र हो तो वह रोगनाश करनेमें समर्थ औषधिका केवल श्रद्धान अथवा मात्र ज्ञान अथवा केवल आचरण नहीं है। इसी प्रकार आत्मविषयक मात्र श्रद्धान या केवल मात्र ज्ञान या केवल कुछ भी आचरण ये साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं बन सकते, किन्तु श्रद्धान, ज्ञान, आचरण तीनोंका एकत्व साक्षात् मोक्षमार्ग होता है। तो समस्त कर्मरूपी महाव्याधिका मोक्ष यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और यथार्थ आचरण इन तीन उपायोंकी एकतासे ही प्रसिद्ध हो सकता है। इन तीनोंमेंसे किसी एकका भी अभाव हो तो निर्वाण नहीं बन सकता। इस प्रसङ्गमें सर्वसाधारण जनोंको यह समझ लेना चाहिए कि मोक्षमार्ग चाहे वह किसी प्रकारका क्यों न बताया जाय पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक आचरण इन तीनोंकी एकता होना अनिवार्य है और इसी कारण प्रकृत अनुमान प्रयोगमें पक्ष अप्रसिद्धविशेषण भी नहीं है।

सम्यग्दर्शनादि त्रयात्मक मोक्षमार्गकी सिद्धिमें प्रयुक्त मोक्षमार्गत्व हेतुकी सिद्धि—अब यहा शङ्काकार कहता है कि पक्ष अप्रसिद्ध विशेष्य नही और अप्रसिद्ध विशेषण भी नही, सो रहा आये, लेकिन इस अनुमानमे जो हेतु दिया गया है वह तो एक देशमे असिद्ध है, इसे कहते हैं प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध। जैसे कि शब्दको अनित्य सिद्ध करनेमे कोई शब्दत्वको ही हेतु बना दे तो वह शब्दत्वहेतु प्रतिज्ञार्थैक-देशासिद्ध है याने वही तो प्रतिज्ञामे बात कही जा रही थी और उस ही बातको हेतुमे रख दिया तो वह हेतु इस तरह एक देशसे असिद्ध है। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि इस अनुमान प्रयोगमे हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेश रूपसे भी असिद्ध नही है। प्रतिज्ञा नाम किसका है? धर्म और धर्मीके समुदायको प्रतिज्ञा कहते हैं। तब प्रतिज्ञाका एक देश क्या कहलाया? धर्म अथवा धर्मी। तो इन दोनोमेसे कोई एक असिद्ध हो तब हीं तो यह दोष बताया जा सकता है प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध दोष वही तो बनेगा कि जब धर्म और धर्मी इन दोनोमेंसे कोई असिद्ध हो। तो यहाँ दोनोमेंसे कुछ भी असिद्ध नही है। धर्मी असिद्ध है नही, धर्मी प्रसिद्ध होता है, ऐसा न्यायका वचन है। सूत्र भी कहा गया 'प्रसिद्धो धर्मी' यह कहना भी युक्त नही है कि धर्मत्वके प्रमाणसे भले प्रकार प्रसिद्ध रही है। धर्मी प्रसिद्ध हुआ करता है। इसके सम्बन्धमे यह निर्णय है कि धर्मी कहीं तो प्रमाणसे सिद्ध होता है, कहीं विकल्पसे सिद्ध होता है और कही प्रमाण एवं विकल्प दोनोसे प्रसिद्ध होता है। तो प्रकृत अनुमान प्रयोगमे जो मोक्ष मार्गको धर्मी बनाया है वह मोक्षमार्गरूप धर्मी प्रमाणसे प्रसिद्ध है। तो धर्मी अप्रसिद्ध तो न रहा अतः प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध दोष बताना अनुचित है। यहाँ यदि कोई मनमें यह शङ्का करे कि मोक्षमार्ग धर्मी है और मोक्ष सम्यक्त्व हेतु है इसलिए वह धर्मी नही हो सकता, क्योकि वह सामान्यरूप है और सामान्यरूपका साधन धर्मके रूपसे प्रतिपादन किया है याने सामान्यसे यह हेतु बनाया गया है तो सामान्यका हेतु बनाया जाना धर्मी नही तो ऐसी हालतमे अब कैसे कह सकेंगे कि प्रकृत अनुमानमे मोक्षमार्ग मात्र याने मोक्षमार्ग सामान्यको धर्मी बनाया है। इस शङ्काका आशय यह है कि शङ्काकारकी दृष्टिमें यह बात है कि सामान्य तो हेतु होगया फर्ता इसलिए सामान्य को धर्मी नही कह सकते। लेकिन प्रकृत अनुमानमें सामान्य मोक्षमार्गको धर्मी कहा गया है। सो यह बात कैसे युक्त है? इसका समाधान यह है कि जो शङ्काकार कह रहा है वह कथन अनुकूल ही पड रहा है क्योंकि यदि साधन धर्म याने सामान्य धर्मीरूप नहीं है तो वह प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध नही हो सकता और इस हालतमें फिर हेतुको प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध नही कह सकते। विशेषको धर्मी बनाकर सामान्यको हेतु कहने वाले जो लोग हैं उनको कोई दोष नहीं आता, ऐसा सभी दार्शनिकोंने माना है, जैसे शब्द प्रयत्नका अविनाभावी है याने प्रयत्नके बिना शब्द उत्पन्न नहीं होता यह तो प्रतिज्ञा की और हेतु बताया है क्योकि वह प्रयत्नका अविनाभावी है। तो इस स्थलमें भी विशेष प्रयत्नका अविनाभावी शब्दसे तो धर्मी बनाया और सामान्यरूप प्रयत्नका

अविनाभावीपन हेतु कहा गया तो यहाँ ही यह बात सिद्ध हो गई कि अनुमान,प्रयोगमें सामान्यको हेतु बनाया जाता और विशेषको धर्मी बनाया जाता। यह भी एक सिद्धि की कुञ्जी है। तो शङ्काकारने जो कुछ यहाँ कहा है उस कथनसे तो प्रकृत बात ही सिद्ध होती है याने मोक्षमार्ग सामान्य विवादरहित है, प्रसिद्ध है और यहाँ प्रतिज्ञा की जा रही है मोक्षमार्ग विशेषकी। तो मोक्षमार्गसे इस प्रकार यहाँ साक्षात् मोक्षमार्ग रूप विशेषकी सिद्धि की गई है।

मोक्षमार्गविशेषमें धर्मित्व व मोक्षमार्गत्व सामान्यमे हेतुत्वका विवरण

यहाँ जिज्ञासु यह जानना चाहता है कि प्रकृत अनुमानमे किस विशेषको धर्मी बनाया गया है ? उस जिज्ञासुकी जिज्ञासा पूर्ति करनेके लिए यहाँ यह कथन करना चाहिए कि मोक्षमार्गविशेषको धर्मी बनाया गया है। मोक्षमार्गत्व सामान्य जब हेतु है तो मोक्षमार्गविशेष साध्य है और वही मोक्षमार्ग विशेष धर्मी है। शङ्काकार कहता है कि इस मोक्षमार्ग विशेषको विशेष क्यों कहा जाता है ? इसका समाधान यह है कि चूंकि मोक्षमार्ग विशेष आत्मनिष्ठ मार्ग है याने आत्माके सहज स्वभावसे रहनेवाला है, जिसको कि प्रकट किया गया है तो इस प्रकार आत्मनिष्ठ होनेके कारण मोक्षमार्ग विशेष धर्मी कहा गया है। मार्ग सामान्यको धर्मी न कहना चाहिए, किन्तु जिसका विशेषण मोक्ष है ऐसे मार्गविशेषको धर्मी समझना चाहिए। उपरोक्त जो अनुमान किया गया है कि सम्यग्दर्शन आदिक त्रयात्मकता मोक्षमार्ग है मोक्षमार्गत्व होनेसे। तो इस अनुमानमें मोक्षमार्गविशेषको धर्मी और मोक्षमार्गत्व सामान्यको हेतु कहा गया है और इसी कारण दोष नहीं आता। सभी जगह यह परम्परा है कि सामान्य हेतु द्वारा विशेष धर्मी सिद्ध किया जाता है। शङ्काकार कहता है कि यहाँ जब यह बताया जा रहा है कि आत्मनिष्ठ होनेके कारण यह मोक्षमार्ग विशेष है तो यह तो मान लिया जायगा, किन्तु फिर मोक्षमार्गत्व जिसको कि हेतु बनाया जा रहा है उसे सामान्य कैसे कहा जा सकता है ? जब मोक्षमार्ग विशेष है तो मोक्षमार्गत्व सामान्य कैसे होगा ? इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि मोक्षमार्गत्व अनेक मोक्षमार्गमें रहता है याने मोक्षमार्ग सामान्य शब्दसे जब सोचा जाता है तो उसका अर्थ है छुटकारा पानेका उपाय। अब किसीको मानसिक व्यथा हो, शारीरिक व्याधि हो तो उसका भी मोक्षमार्ग है, याने उन रोगोंसे छुटकारा होनेका कोई उपाय है। जो द्रव्य कर्म और भावकर्मसे छुटकारा बन जाए, जीव इनसे निराला हो जाय इसका भी मार्ग है तो इस कारण मोक्षमार्गत्व यह सामान्य शब्द है और यह मोक्षमार्ग विशेषमे रहता है। जैसे कि शब्दत्व सामान्य बन जाता है और शब्द विशेष कहलाता है। जैसे वहाँ यह कहा जाता है कि शब्दत्व तो जिन शब्दोंको नित्यादिक सिद्ध किया जाता हो या आकाशगुण सिद्ध किया जाता हो उनमें शब्दत्व रहता है याने विचारकोटिमें स्थित वर्ण पदवाक्यरूप शब्द विशेषोंमें शब्दत्व रहता है और जो तत वितत घनसुषिररूपसे

जो चार प्रकारके शब्द बताये गए हैं वाद्यविशेष उनमे भी शब्दत्व रहता है, क्योंकि कर्णेन्द्रियजन्य ज्ञानको उत्पन्न करनेमें यह सब सामर्थ्य है इसलिए शब्दत्व सामान्य सभी प्रकारके शब्दोमे रहता है और इस कारण शब्दत्व सामान्य है और इसी बलपर शब्दविशेषको धर्मी बनाकर शब्दत्व सामान्यको हेतु कहा है दार्शनिकोंने। तो जिन दार्शनिकोने शब्दत्व सामान्य हेतुसे शब्द विशेष धर्मीमे साध्य सिद्ध किया है ऐसा उनका प्रयत्न होता है तो वे भी कहते हैं कि ऐसा सिद्ध करनेमें कोई दोष नही। इसी तरह यहा मोक्षमार्ग विशेषको धर्मी बनाया और मोक्षमार्गत्व सामान्यको साधन कहा है तो ऐसा कहने वालोके भी कोई दोष नही आता।

हेतुमे प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धनामक दोषके अभावका प्रतिपादन— अब दूसरी विधिसे भी इस प्रकरणको समझिये। साध्यधर्म भी तो प्रतिज्ञार्थैकदेश कहलाता है याने प्रतिज्ञाके विषयभूत जो अर्थ हैं उनमेसे एक साध्य भी कहलाता है। तो साध्यधर्म जो कि प्रतिज्ञार्थैकदेश है उसे हेतु बनाया जाय तो प्रतिज्ञार्थैकदेशरूपसे असिद्ध न कहा जा सकेगा। तो जैसे मोक्षमार्ग विशेषको धर्मी कहकर मोक्षमार्गत्व सामान्यको साधन बताया है उन्हे उपालम्भ नही दिया जाता, इसी तरह तो साध्य धर्म प्रतिज्ञार्थैकदेश है और उसीका हेतुरूपसे जब प्रतिपादन किया जाता है तो हेतुको प्रतिज्ञार्थैकदेशरूपसे असिद्ध नही कहा जा सकता। अन्यथा उसका धर्मीके साथ व्यभिचार हो जायगा। प्रतिज्ञार्थैकदेश जो कुछ भी है ऐसे धर्मीमे असिद्धताकी अनुत्पत्ति है। जब धर्मी प्रसिद्ध है और उस धर्मीके रूपसे ही हेतु कहा जाय तो उसे असिद्ध कैसे कहा जा सकेगा ? तो प्रतिज्ञार्थैकदेशरूपसे तो असिद्ध नही है फिर कोई यदि यह जानना चाहे कि असिद्ध फिर किस तरह होता है तो उसका उत्तर यह है कि चूकि वह साध्य है और साध्य असिद्ध है तो साध्यरूपसे ही जो असिद्ध है उसे कहेगे स्वरूप असिद्ध। तो शङ्काकारने जो मोक्षमार्गत्व सामान्यको प्रतिज्ञार्थैकदेश कहकर असिद्ध हेत्वाभास बतानेका प्रयत्न किया था वह उनका प्रयत्न सफल नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शनादि त्रयात्मक मोक्षमार्गकी सिद्धिमे मोक्षमार्गत्वहेतुकी अव्यभिचारिता— अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि प्रकृतमे अनुमान तो यह बनाया गया कि सम्यग्दर्शनादि त्रयात्मकता मोक्षमार्ग है, मोक्षमार्गत्व होनेसे। तो इस अनुमानप्रयोगमें जो हेतु दिया है वह साध्यको सिद्ध करनेमे यो समर्थ नही है कि प्रत्येक अनुमानको समीचीन सिद्ध करनेके लिए विपक्षमें बाधक प्रमाण होना चाहिए। यदि विपक्षमे बाधक प्रमाण नही मिलता है तो वह अनुमान प्रयोग सही नही बनता। तो यो विपक्षमे बाधक प्रमाण न होनेसे हेतु अविनाभावरूप व्याप्तिका निश्चय नही बन सकता और जब हेतुमें अविनाभावरूप व्याप्ति निश्चित नही होती तो हेतु भी गमक नही हो सकता। याने साध्यका साधक नहीं हो सकता। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं

कि शङ्काकारका यह कथन यों ठीक नहीं है कि इस अनुमान प्रयोगकी सिद्धिमें विपक्ष बाधकत्व भी सिद्ध है अर्थात् साध्यसे जो विपरीत हो उसे कहेंगे विपक्ष और विपक्षमें हेतु न पाया जाय और साध्य न पाया जाय तब तो अनुमान सही कहलायगा। तो देखिए! यहाँ साध्य है सम्यग्दर्शन आदिकी त्रयात्मकता तो उसका विपक्ष हुआ केवल सम्यग्दर्शन, केवल सम्यग्ज्ञान व केवल सम्यक्चारित्र। तो इस केवल सम्यग्दर्शनमें अथवा ज्ञानमे अथवा चारित्रमें मोक्षमार्गत्व हेतु नही पाया जाता, याने अकेला सम्यक दर्शन मोक्षमार्ग नही है, अकेला सम्यग्ज्ञान मोक्षमार्ग नहीं है और केवल सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है। तो यों विपक्षमें बाधक प्रमाण मिल तो गया। तो विपक्षमे बाधक प्रमाण मौजूद होनेसे इस अनुमान प्रयोगको सही मान लेना चाहिए। यहाँ साध्यमात्र सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको नही कहा गया किन्तु इन तीनोकी एकताको मोक्षमार्ग कहते हैं। जैसे शारीरिक और मानसिक व्याधिसे छूटनेका उपाय रसायनका सेवन है तो वहाँ केवल रसायनका ज्ञान मात्र व्याधियोसे छुटकारा न करायगा या अकेला श्रद्धान या अकेला आचरण व्याधियोसे छुटकारा न करायगा इसी प्रकार अकेला ज्ञान अथवा अकेला आचरण या अकेला श्रद्धान मोक्षमार्ग न बनेगा। अकेला दर्शन से मतलब ज्ञान न हो चारित्र न हो तो वह दर्शन मोक्षमार्ग न बनेगा। इसी तरह अकेले ज्ञानके मायने श्रद्धान न हो, आचरण न हो तो वह भी मोक्षमार्ग नहीं बनता, इसी तरह अकेला आचरण याने जहाँ श्रद्धान और ज्ञान नहीं है वह भी मोक्षमार्ग नहीं बनता। तो इस तरह साध्यके विपक्षमे बाधक प्रमाण मौजूद है इस कारण इसको व्यभिचारी नही कह सकते। यह अनुमान अपने लक्ष्यको सिद्ध करनेमे पूर्ण समर्थ है।

साक्षात्मोक्षमार्गका प्रतिज्ञापन होनेसे अकेले सम्यक्त्व आदिमे प्रकृत मोक्षमार्गत्वका अभाव—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि परम्परासे मोक्षमार्ग तो अकेला सम्यग्दर्शन भी है याने जिसे सम्यग्दर्शन होगा वह ही कुछ काल बाद मोक्ष प्राप्त करेगा। तो यहाँ हेतु लो अकेले सम्यग्दर्शनरूप साध्यके साथ व्यभिचारी है याने मोक्षमार्ग मिल गया अकेला सम्यग्दर्शन तब अनुमानमें जो यह सिद्ध करना चाह कि तीनोकी एकता मोक्षमार्ग है वह तो सिद्ध न हो सका। समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकारने यहाँ इसपर दृष्टि नहीं दी कि अनुमान प्रयोगमें साक्षात् विशेषण दिया गया है याने निश्चयसे साक्षात् मोक्षमार्गपनमें केवल सम्यग्दर्शनमें नही। मात्र ज्ञानमें नहीं, मात्र आचारमे नहीं, तो साक्षात् मोक्षमार्गपना तब है जब इन तीनोकी पूर्णता हो जाती है। जैसे क्षीणकषाय नामके १२ वें गुणस्थानके अन्तिम समयमे परम आर्हन्त्यरूप जीवन मोक्ष है तो जैसे वहाँ मोक्षमार्गपना सुप्रतीत है उसी प्रकार अयोग केवली नामक १४ वें गुणस्थानके अन्त समयमें जहाँ कि समस्त कर्मोंका नाश होता है वह हुआ मोक्ष। उस साक्षात् मोक्षमार्गमे तीनोकी एकता ही हो रही है। जीवनमुक्त भले ही हैं अरहत, किन्तु साक्षात् मुक्त नहीं हैं, क्योकि परम, शुक्लध्यानरूपी तप विशेष

भी सम्यग्दर्शन कहलाता है। यह परम शुक्लध्यान १३ वें गुणस्थानमें नहीं, १४ वें गुणस्थानमे भी पहिले नही। यह तो १४ वें गुणस्थानके अन्त समयमे होता है। सो १४ वें गुणस्थानके अन्तमें जो समस्त कर्मोंका क्षयरूप मोक्षप्रसिद्ध है उसके मार्गमें रहने वाला साक्षात् मोक्षमार्गत्व तो दर्शन आदिक तीनोकी परिपूर्णताके साथ ही है। यही कारण है कि १३ वें गुणस्थानमे परम शुक्लध्यानरूप तप विशेष नहीं है अतएव वहाँ सम्यग्दर्शन आदिक तीनोकी परिपूर्णता नही रहती। परमशुक्लध्यानरूप तप-विशेष जिसका कि अन्तर्भाव सम्यक्चारित्रमें है वह १४ वें गुणस्थानके अन्तिम समय मे होता है तब अन्त समयमे ही मोक्षमार्गपना कहलायगा। तो यो साक्षात् मोक्षका मार्ग तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकता है। इस तरह जो अनुमान प्रयोग करके यहाँ तीनोकी परिपूर्णताको मोक्षमार्ग कहा है वह सब अबाधित कथन है। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि इस प्रकारके मोक्षमार्गके प्रणेता सर्वज्ञ साक्षात् हैं अथवा परम्परासे ? याने मोक्षमार्गके प्रणेता साक्षात् सर्वज्ञ है या परम्परासे सर्वज्ञ हैं ? इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं !

प्रणेता मोक्षमार्गस्याबाध्यमानस्य सर्वथा ।
साक्षाद्य एव स ज्ञेयो विश्वतत्त्वज्ञताऽऽश्रयः ॥ ११६ ॥

सकलपरमात्मामे साक्षान्मोक्षमार्गप्रणेतृत्व व साक्षात् सर्वज्ञत्व—जो अबाधित मोक्षमार्गका साक्षात् प्रणेता है वही सर्वज्ञताका आश्रय है याने जो सर्व प्रकारसे बाधारहित मोक्षमार्गका साक्षात् प्रणेता है, दिव्यध्वनि द्वारा मोक्षमार्गको प्रकट करता है वही सर्वज्ञ है। यहाँ इस बातको ध्यानमे रखना चाहिए कि हम परम्परासे मोक्षमार्गके प्रणेताको विश्वतत्त्वज्ञ सिद्ध नही कर रहे हैं, परम्परासे मोक्ष-मार्गके प्रणेता तो वे आचार्य कहलायेंगे जिन्होने गुरुपरम्पराका विच्छेद नही किया याने सही धारासे तत्त्वार्थ सार्थके अर्थको जान लिया वे परम्परासे मोक्षमार्गके प्रणेता हैं पर वे साक्षात् विश्वतत्त्वज्ञ नही हैं, क्योकि उसमे प्रतीति विरोध है। इन आचार्यों मे यह प्रतीत नहीं होता कि ये परम्परासे मोक्षमार्गके उपदेशक हैं सो थे साक्षात् सर्वज्ञ हैं। ये परम्परासे सब कुछ जान रहे हैं, पर मोक्षमार्गका साक्षात् प्रणेता तो यथार्थ सर्वज्ञ ही होता है। जो समस्त बाधक प्रमाणोसे रहित मोक्षमार्गका उपदेशक है वही सर्वज्ञताका आधार है। तो सर्वज्ञ है क्योकि साक्षात् विश्वतत्त्वज्ञ नहीं होता कोई सो साक्षात् निर्बाध मोक्षमार्गका प्रणेता भी नहीं हो सकता। भगवान् समस्त पदार्थोंका साक्षात् ज्ञान रखते हैं तो वे साक्षात् मोक्षमार्गके प्रणेता हैं। यदि समस्त पदार्थोंका साक्षात् स्पष्ट ज्ञान न हो भगवानके तो वे साक्षात् मोक्षमार्गका उपदेश भी नही दे सकते। इस कारण यथार्थतया साक्षात् सर्वज्ञ ही मोक्षमार्गका प्रणेता हो सकता है। यह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्रकारके मङ्गलाचरणकी पुष्टिमें बनाया गया है। मङ्गलाचरणमें

कहा है—मोक्षमार्गके नायक कर्मपहाडके भेदनहार, विश्वतत्त्वके जाननहार आप्तको उन गुणोकी प्रसिद्धिके लिए नमस्कार करता हू। तो अब इतने अशपर विचार कर रहे हैं जो इस मङ्गलाचरणमें कहा है—वन्देतद्गुणलब्धये इस अतिमचरणकी व्याख्या करनेकी इच्छासे आचार्यदेव कहते हैं।

वीतनिःशेषदोषोऽतः प्रवन्द्योऽर्हन् गुणाम्बुधिः।
तद्गुणप्राप्तये सद्भिरिति संक्षेपतोऽन्वयः ॥ १२० ॥

अर्हन्तकी वन्द्यताके कारण व वन्दनाके प्रयोजनपर विचार—जो समस्त दोषोंसे रहित हैं, गुणोके समुद्र हैं ऐसे अरहन्त भगवान सत्पुरुषोके द्वारा प्रकर्षरूपसे बन्दनीय हैं और वे बन्दनीय हैं उनके गुणोकी प्राप्तिके लिए। यह है मङ्गलाचरणके चतुर्थ चरणसे सम्बन्धित अश। इस सम्बन्धमें विचार करो। देखिये! जो दयासे रहित साक्षात् मोक्ष मार्गका प्रणेता है वही तो विश्वतत्त्वका ज्ञाता है और वही कर्म पर्वतका भेदनहार है। इस कारण अरहन्त ही मुनीन्द्रों द्वारा अथवा स्तवन करनेवाले आचार्यदेव प्रकर्षरूपसे वद्यनीय कहे गए है। यहाँ अरहन्तदेव योगि सकल परमात्मा समस्त ज्ञान आदिक दोषोसे रहित हैं और अनन्त ज्ञानादिक गुणोके समुद्र हैं, निश्चय से ही समझिये कि जो गुणोंका समुद्र हो वह ही वन्दनीय होता और वह भी वन्धनीय किस प्रयोजनसे होता कि उन गुणोकी प्राप्तिके लिए। न अन्य बन्दनीय हैं और न अन्य कोई प्रयोजन होता है आचार्योंका। इस प्रकार मोक्षमार्गके प्रमुख उपदेशक, कर्मपर्वतके भेदनहार, विश्वतत्त्वके जाननहार अरहन्त सकल परमात्माको उनके गुणों की प्राप्तिके लिए यह वन्दना की गई है। तो इन विशेषणोको देनेकी क्या आवश्यकता हुई? यह प्रश्न मूलमें उठा था, जिसका उत्तर कारिका द्वारा यह कहा गया कि यह विशेषण अन्य योगव्यवच्छेदके लिए है याने जो मोक्षमार्गका प्रणेता है वह वद्य है। जो मोक्षमार्गका प्रणेता नहीं है वह वन्दनीय नहीं है। जो कर्मपर्वतका भेदनहार है वह ही बन्दनीय है, उससे अतिरिक्त अन्य बन्दनीय नही। इस प्रकार जो समस्त तत्त्वोंका जाननहार है वह ही बन्दनीय है, उसके अतिरिक्त अन्य वन्दनीय नही है। तो अन्य योगका व्यवच्छेद करनेके लिए यह विशेषण कहा गया है ऐसा जो ग्रन्थके प्रारम्भमे बताया गया है वह कथन युक्तिसङ्गत सिद्ध होगा। परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन जो यहाँ किया जा रहा है सक्षेपसे साम्परायका विच्छेद नही होता। इस तरह जो परमेष्ठीके गुणोका स्तवन करके परम्पराका अनुसरण किया गया है या पूर्व परम्पराका विच्छेद न हो इस विधिसे बताया गया है सो यह सब पदोके अर्थसे ही सिद्ध हो जाता है। अब यहाँ एक और जिज्ञासा प्रारम्भ होती है अथवा जो अभी अभी जिज्ञासा आई है कि अरहतदेव ही क्यों वद्यनीय हैं? इसकी जो पुष्टि अब तक की गई सो भले ही यह सिद्ध हो गई कि अरहत बन्दनीय हैं लेकिन बन्दना करनेका

श्रम क्यो किया जा रहा है ? उसका प्रयोजन क्या है ? कौनसा यहा कारण है कि जिस कारणसे श्रेष्ठ पुरुष भगवान अरहन्तकी बन्दना किया करते है ?

प्रभुवन्दनाका अलौकिक प्रयोजन—प्रभुमें ३ विशेषण सिद्ध हो गए। मोक्षमार्गके प्रणेता भी हैं, कर्मपर्वतके भेदनहार हैं, विश्वतत्त्वके जाननहार हैं, उनकी बन्दना की जा रही है। ठीक हैं, पवित्रात्मा हैं, पूज्य हैं, बन्दनाके योग्य हैं। किन्तु यह तो स्पष्ट बताओ कि उन बन्दनाओंका प्रयोजन है क्या ? जिज्ञासुकी इस जिज्ञासा से इतना भाव तो स्पष्ट हो जाता है कि उसकी समझमे यह पूर्णतया आ जायगा कि ससारमे श्रेष्ठ आत्मा वही कहलायगा जो कर्मरहित है, सब तत्त्वोंका जाननहार है। दुनियाके जीवोको सङ्कटसे छुटकारा पानेका उपाय बताते हैं। ठीक है, पवित्र आत्मा हैं, पर बन्दना जैसे विशिष्ट श्रमको रखनेका क्या प्रयोजन है ? इस जिज्ञासामें यह भी ध्वनित होता है कि सकल परमात्माकी बन्दना करने वाले अनेक पुरुष हैं और सभी पुरुषोंका अपना जुदा-जुदा प्रयोजन होता है। प्रयोजनके बिना कोई भी पुरुष प्रयत्नशील नही होता। तो जब यहाँ प्रयोजन नाना देखे जा रहे हैं, कोई सुखकी अभिलाषासे बन्दना करता है तो वहाँ यह शङ्का होती कि क्या वे सुखको दे देते हैं ? या सुखकी अभिलाषासे बन्दना करनेमे कोई सफलता प्राप्त होती है ? तो लोक कामनाओंके उद्देश्यसे सकल परमात्मस्वरूपकी जो बन्दना की जाती है वह क्या प्रयोजनके तथ्यको लिए हुए है ? दूसरी बात यह है कि मङ्गलाचरणमे जो यह कहा है कि उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिए बन्दना की जाती है तो क्या यह सम्भव है कि प्रभुकी बन्दना करनेसे प्रभुके गुण प्राप्त हो जायेंगे ? जबकि वस्तुस्वरूप यह बताया गया है कि जो जिसके गुण हैं वे उस हीमें अनन्य होकर रहते हैं। उन गुणोंका विच्छेद नही होता। तो प्रभुके गुण कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं ? तब क्या यह अर्थ होगा कि जैसे प्रभुके गुण हैं उस ही प्रकारके जो गुण हो उन गुणोकी प्राप्तिके लिए बन्दना की जाती है। बन्दना करनेका प्रयोजन क्या है ? इस प्रयोजनका समाधान पानेके लिए यहाँ जिज्ञासु यह जिज्ञासा रख रहा है। उस जिज्ञासाकी पूर्तिके लिए आचार्यदेव अन्तिम छन्दमें प्रभुकी बन्दनाका प्रयोजन बताते हैं।

मोहाऽऽक्रान्तान्न भवति गुरोर्मोक्षमार्गप्रणीतिर्न ते-
तस्याः सकलकलुषध्वंसजा स्वात्मलब्धिः ।
तस्यै वन्द्यः परगुरुरिह क्षीणमोहस्त्वमर्हन्-
साक्षात्कुर्वन्नमलकमिवाशेषतत्त्वानि नाथ ! ॥ १२१ ॥

मोहाक्रान्त गुरुसे मोक्षमार्गप्रणीतिकी असम्भवता—इस छन्दमें यह बता रहे हैं कि अरहत प्रभु ही क्यो बन्दनीय हैं ? और उनकी बन्दनासे लाभ क्या

प्राप्त होता है ? इस तथ्यकी पुष्टि करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जो मोहसे आक्रान्त हो ऐसे गुरुसे मोक्षमार्गकी प्रणीति नहीं हो सकती । जो स्वय मोहाक्रान्त है, मोह, अज्ञान, रागद्वेषसे भरा हुआ है भले ही गुरु हो, भेष बनाये रखे, लेकिन उससे मोक्षमार्गकी रचना नहीं हो सकती है । स्वय ही मोक्षमार्गमें नहीं है, मिथ्यात्व अविरत दशामे है, ऐसे किसी भी भेषधारी गुरुसे मोक्षमार्गका प्रणयन नही हो सकता । अथवा देव संज्ञा भी दे दी गई हो और देवों जैसा समारोह भी जो कराता हो तिसपर भी मोहसे आक्रान्त होनेके कारण उनसे मोक्षमार्गका प्रणयन नहीं हो सकता । जब मोक्षमार्गकी रचना न हो सकी तो मोक्षमार्गकी रचना हुए बिना स्वात्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती है । आत्माकी उपलब्धि होती है समस्त पापोके नष्ट हो जानेसे, और समस्त पापोका विनाश होता है सम्यग्ज्ञानकी आराधनासे, सम्यग्ज्ञानरूप बर्तावसे और सम्यग्ज्ञानरूप बर्ताव तभी हो सकेगा जब तत्त्वज्ञान और सम्यक्त्व हो । और, यह तत्त्वज्ञान भी तब सम्भव है जब यथार्थ उपदेश उसको सुने और चिन्तनमें आये । यह बात मोहाक्रान्त गुरु द्वारा नहीं हो सकती अतएव मोही गुरुसे मोक्षमार्ग नहीं चलता ।

क्षीणमोह सर्वज्ञ अर्हन्तदेवसे मोक्षमार्ग प्रणीतिका उद्भव—मोक्षमार्ग न चलनेसे लोग अपने पापोको ध्वसका उपाय कैसे कर सकेगा ? और, पापोके ध्वस उपाय न बननेसे अपने आत्माकी उपलब्धि नही हो सकती । आत्माकी उपलब्धि न हो तो सर्वत्र, क्लेश ही क्लेश है । अपने ज्ञानमय आत्माकी ओर जिसकी दृष्टि नहीं है, जो यहाँ निर्दोष नहीं हो सकता वह बाहरमें अनेक पदार्थोपर उपयोग लगा लगाकर विषाद अनुभव करता रहता है । तो स्वात्माकी उपलब्धि इस जीवको अत्यन्त आवश्यक है । उस स्वात्माकी उपलब्धिके लिए उत्कृष्ट गुरु वन्दनीय है । और वह उत्कृष्ट गुरु कौन है ? तो हे अरहतदेव ! तुम ही क्षीणमोह उत्कृष्ट गुरु हो । आपने तत्त्वज्ञान का अभ्यास किया था, उस अभ्यास बलसे सम्यक्त्व पाकर इन्द्रियके विजयमें आप प्रयत्नशील हुए, इन्द्रियविजयके लिए आपने भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और विषय इनसे निराला अपने आपको समझो । जैसे भावेन्द्रिय तो होती हैं खण्डज्ञानरूप, लेकिन अपने आपको देखा अखण्ड ज्ञानस्वभाव तो अखण्ड स्वभावके दर्शन द्वारा खण्डभावका विजय प्राप्त किया । द्रव्येन्द्रिय होती हैं पौद्गलिक और आत्मा है चेतन तो द्रव्येन्द्रिय से निराले चेतन आत्माकी भावना द्वारा द्रव्येन्द्रियपर विजय किया यह विषय प्रसङ्ग कहलाता है सङ्ग 'अन्य चीज' इन सङ्गोसे रहित निसङ्ग अपने आपका अनुभव करके आप विषयका विजय प्राप्त किया । यो इन्द्रिय विषय पाकर आप क्षीणमोह बने । और उस क्षीणमोहताके प्रतापसे आप विश्वतत्त्वके ज्ञाता हुए । ऐसे हे विश्वतत्त्वज्ञ क्षीणमोह जिनेन्द्रदेव आपसे ही मोक्षमार्गका प्रणयन होता है और उस मोक्षमार्गके उपदेशसे अथवा शासनसे अनेक भव्य जीव स्वात्माकी उपलब्धिका उपाय बना लेते हैं,

इस प्रकार हे नाथ ! आप ही क्षीणमोह हो और आप ही समस्त तत्त्वोंको हाथपर रखे एक आवले की तरह साक्षात्कार करने वाले हो।

मोहाक्रान्तताका विवरण—यहाँ मोह शब्दका अर्थ लेना है अज्ञान और रागद्वेषादिक दोषोंका समूह उस ज्ञान और रागादिकसे आक्रान्त जो गुरु हो उससे मोक्षमार्गका प्रणयन नहीं हो सकता। क्योंकि जो रागद्वेष अज्ञानसे पराधीन हो याने जिसका मन अज्ञान रागद्वेषके वश बन गया हो ऐसा कोई पुरुष यदि अपनेको सच्चे गुरुके रूपसे लोगोंको प्रदर्शित करे तो करे, लेकिन उससे तो यथार्थ उपदेशकी रचना तो नहीं हो सकती। उस गुरुमें यथार्थ उपदेशकता नहीं आ सकती है। इसका कारण यह है कि जब वह रागद्वेष मोहमे आक्रान्त है तो वह मिथ्या अर्थका प्रतिपादन कर सकता है, क्योंकि मिथ्या अर्थके प्रतिपादन करनेके ये तीन ही कारण होते है—अज्ञान, राग और द्वेष। वस्तुत्वके तथ्यका कुछ ज्ञान नहीं है तो उसका सही कैसे वह प्रदर्शन कर सकेगा? यदि किसी जीवसे राग है तो उस जीवके प्रतिकूल कोई बात वह कैसे बोल सकेगा? और, जब रागवश अनुकूल ही वचन बोलने की विवशता आती है तो धर्मके अगका तथ्य कैसे कह सकेंगे? इसी प्रकार किसी पर द्वेषभाव बना हो तो उसे भी कैसे यथार्थ उपदेश कर सकेंगे? तो जो मोहसे आक्रान्त है उस पुरुषमे यह शङ्का निरन्तर है कि वह मिथ्या अर्थका भी कथन करदे तो पहिले तो यहाँ ही रुकावट आ गई। वह सम्यक अर्थका प्रतिपादन ही नहीं कर सकता। तो मोक्षमार्गके प्रणयनकी बात तो बहुत ही दूर रहेगी।

मोक्षमार्ग प्रणयनके लाभ—यहाँ यह निर्णय हुआ कि मोक्षमार्गकी प्रणीति मोहसे आक्रान्त गुरुसे नहीं बन सकती है। किन्तु मोक्षमार्गका प्रणयन होना जरूरी है। क्यो जरूरी है सो देखिये ! जब मोक्षमार्गकी प्रणीति न हो सके तो मोक्षमार्गकी रचनाके विना आत्माकी उपलब्धि कैसे हो सकती है? आत्माकी परम उपलब्धिका नाम निर्वाण है। तो यों किसीका निर्वाण ही न हो सकेगा। निर्वाण तो तब सम्भव था जब मोक्षमार्गकी भावना उत्कृष्ट रूपसे पाई गई होती और समस्त कर्मोंकी कलुषताका प्रध्वस हो पाया होता तब ही तो आत्माकी लब्धि होती। यह स्वात्मलब्धि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्तिस्वरूप हैं। अथवा आत्मलब्धि नाम परम निर्वाणका है सो किसीके भी निर्वाण सिद्ध न हो सकता था। अपने धर्म विशेष के अभ्युदयसे मोक्षमार्ग प्रणयन किया। आत्माकी प्राप्तिके लिए अनन्त चतुष्टयसम्पन्न अरहत अवस्थाके लाभके लिए भव्य जीवोंकी प्रवृत्ति ऐसी होती है कि वे परमगुरु अरहत देवकी शास्त्रकी आदिमे वन्दना करते हैं। सो हे नाथ ! तुम ही परम गुरु हो इस कारणसे शास्त्रकी आदिमें आपकी वन्दना की गई है। क्यो हैं ये परमगुरु? क्योंकि ये क्षीणमोह हो गए हैं और जब ये क्षीणमोह हो गए हैं तब हथेलीपर रखे गए स्फटिक

मणिकी तरह समस्त तत्त्वार्थोंका साक्षात्कार कर लेते हैं तो ऐसे सर्वज्ञदेव वीतराग अरहत प्रभु ही मोक्षमार्गकी प्रणीतिके लिए समर्थ हैं। यदि कोई मोक्षमार्गकी प्रणीति मे समर्थ नही है तो उसे परमगुरु नहीं कहा जा सकता। इस तरह मोहाक्रान्त पुरुष कोई उन भव्य जीवोके द्वारा वन्दनीय नही हो सकता जो परम निश्रेयसत्ताकी आकांक्षा रखता है।

मोक्षमार्ग प्रणेता प्रभुके शासनकी परम्परासे मोक्षमार्गका उपदेश करनेवाले आचार्योंके पपम्परया मोक्षमार्ग प्रणेतृत्वकी सिद्धि— अब इस प्रसङ्ग में कोई शङ्काकार फिर कहता है कि इस प्रकरणमें यह सिद्ध किया गया है कि मोक्ष से आक्रान्त गुरुवोंको मोक्षमार्गका उपदेश नहीं हो सकता। तो इस वाक्यमें व्यभि-चार आता है, यह बात इसीसे परख सकते हैं कि जो सर्वज्ञ नहीं हैं। अरहत नहीं हैं ऐसे आचार्य ऋषी सत भी वदनीय माने गए हैं, यदि यह कानून बनाया जाय कि जो मोहसे आक्रान्त हो वह गुरु नहीं हो सकता तो जिन्होने शास्त्र रचे हैं वे ऋषी महाराज सभी रागी द्वेषी थे। वे क्षीणमोह गुणस्थानमें तो नहीं पहुचे थे। ६ठे ७वें गुणस्थानमे झूलते हुए सतोके कषाय दताये ही गए हैं। तो यदि मोहाक्रान्त गुरुसे मोक्षमार्गकी रचना नहीं होती, ऐसा माना जाय तो आचार्य आदिक वन्दनीय कैसे सिद्ध हो सके ? इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि इस आचार्यदेवने परम गुरुके वचनका ही अनुशरण किया है और परमगुरु वचनके अनुसारी होनेके कारण जो उनकी प्रवृत्ति हो रही है, रचना हो रही है वह सत्य है, क्योकि ऐसे आचार्य एकदेश से मोहरहित कहे गए हैं, वास्तविक पद्धतिसे जिनका मोह दूर हो चुका हो और क्रोधादिक कषायें सिलसिलेसे शान्त होती जाती हों ऐसे गुरु मोहरहित अवश्य ही होते हैं। इसी कारण परापर गुरुवोका स्तवन शास्त्रके आदिमें किया गया है। अर-हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन ५ परमेष्ठियोंमें गुरुत्वका लक्षण उत्पन्न होता है। कुछ परमेष्ठियोमें एकदेशरूपसे क्षीणमोहता है और अरहत सिद्धपरमेष्ठियों में सर्वदेशसे क्षीणमोहता है। तो जब ये क्षीणमोह सिद्ध हो गए तो समस्त तत्त्वार्थोंके ज्ञाता भी हैं यह बात भी सुप्रसिद्ध हो जाती है। इस तरह जब विश्वतत्त्वज्ञ हैं, मोक्ष-मार्गके प्रणेता हैं, यथार्थ वर्णन करने वाले हैं तो इनके उपदेशमें यह कभी शङ्का नही हो सकती कि ये मिथ्या अर्थका वर्णन कर रहे हों इसी कारण क्षीणमोह सर्वज्ञ आदिक परम गुरुवोकी गुरुता उत्पन्न हो जाती है। ऐसे गुरुजनोंके प्रसादसे स्वर्ग और मोक्षकी सप्राप्ति होती है, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं। जैसे यहाँ अनेक कार्योंमें निमित्त नैमित्तिक विधिसे सिद्धि पायी गई है इसी तरह जो यथार्थ उपदेश करने वाले गुरुवचनके अनुसार अपने आपके भावोको बनायेंगे वे अवश्य ही स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति करेंगे। इस प्रकार इस उपसंहारमें प्रतिपाद्य मङ्गलाचरणके विषयकी ही पुष्टि की गई है कि जो मोक्षमार्गके प्रणेता हैं, कर्मपर्वतके भेदनहार हैं, विश्वतत्त्वके ज्ञाता

हैं वे ही पुरुष, वे ही भगवान वद्यनीय होते हैं और वंदना करनेका प्रयोजन भी यह है कि जसे प्रभुने अपने आत्माकी प्राप्ति की है वैसे ही मुझे भी अपने आपके शुद्ध ज्ञानमय आत्मतत्त्वकी प्राप्ति हो। इस प्रकार आप्तके स्वरूपका निर्णय करनेके लिए यह आप्तपरीक्षा ग्रन्थ बना है। सो यह आप्त परीक्षण मूल विद्वान्के द्वारा बारबार चित्तमें विचार करने योग्य है। ऐसा विचार वह ही पुरुष कर सकता है जो हित और अहित के परीक्षणमें कुशल होता है। इस ही तत्त्वको कारिकामे बताते हैं।

न्यक्षेणाऽऽप्तपरीक्षा प्रतिपक्षं क्षपयितुं क्षमा साक्षात्।
प्रेक्षावतामभीक्ष्णं विमोक्षलक्ष्मीक्षणाय संलक्ष्या॥ १२२॥

अन्ययोगव्यवच्छेद पद्धतिसे आप्तपरीक्षाकी रचना—यह आप्त परीक्षा ग्रन्थ प्रतिपक्षीका सम्पूर्णतया निराकरण करनेमे समर्थ है। आप्तपरीक्षामें वीतराग सर्वज्ञ आप्तका वर्णन किया गया है, उनकी ही परीक्षा हुई है। तो ऐसे आप्तके प्रतिपक्ष कहलाया आप्ताभास। जो आप्त तो नही हैं उनका निराकरण इस ग्रन्थमे भली प्रकार किया गया है। इसका उद्देश्य यह है कि प्राणोसे हटे हुए हैं समीचीन उपदेश के अनुसार ज्ञान आचरण बनानेसे और समीचीन उपदेशकी प्राप्ति होती है सच्चे गुरुजनोसे, आप्त पुरुषोसे। अतएव हित पानेके लिए इस समस्याका सुलझाना प्रथम आवश्यक है कि आप्त कौन है? इस ही समस्याको इस ग्रन्थमे सुलझाया गया है। तो विद्वान् पुरुषोको मोहलक्ष्मीका दर्शन करनेके लिए अर्थात् मोक्षका उपाय बनानेके लिए इस ग्रन्थमे बताये गए तत्त्वका विचार करना चाहिए और तथ्य स्वरूपकी दृष्टि बनाना चाहिये।

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलनिधे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथित-पृथु-पथं स्वामि-मीमांसितं तत्,
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै १२३

सत्यवाक्यार्थसिद्धिके लिये प्रस्तुत रचनाका जयवाद—इस छन्दमें यह बात बतलाई जा रही है कि विद्यानन्द स्वामीने अपनी शक्तिके अनुसार जिस किसी भी प्रकार हुआ समीचीन वाक्यकी सिद्धिके लिए आप्तकी मीमांसाका कथन किया है,

सो सर्वप्रथम तो तत्त्वार्थ शास्त्ररूपी समुद्रके उत्तम रत्नोंके उद्भवका स्थान है और रचनाके प्रारम्भके समयमें समस्त विघ्नोंका नाश करनेके लिए शास्त्रकारने जो मङ्गल स्तोत्र रचा है, जो कि तीर्थके तुल्य है, जैसे तीर्थ पूज्य और उपासनीय है उसी प्रकार यह स्तवन भी पूज्य और उपासनीय है। उमास्वामीने जो 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि मङ्गल स्तोत्र बनाया है वह महान पथको प्रसिद्ध करने वाला है। महान् पथ क्या है? संसारके सकल सङ्कटोंसे छूटनेका जो उपाय है वही महान् पथ है सो वह गुणस्थानकी उच्च परम्पराको प्राप्ति करने वाला है। जिसे मङ्गलाचरणमें बताये गए आप्तकी मीमांसा समन्तभद्र स्वामीने की है, जिसका प्रसिद्ध नाम आप्तमीमांसा है। उस आप्त मीमांसाका व्याख्यान विद्यानन्दस्वामीने किया है। अब यहाँ एक स्वतन्त्र रचना द्वारा विद्यानन्दस्वामीने उस ही मङ्गलाचरणका हृदय खोला है, ऐसी यह आप्तपरीक्षानामक रचना विद्वज्जनोंको सन्मार्गका प्रदर्शन करने वाली बनेगी।

इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्र-स्तोत्र-गोचरा।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं विवाद-विनिवृत्तये ॥ १२४ ॥

विवादविनिवृत्तिके लिये आप्तपरीक्षाका प्रणयन—तत्त्वार्थसूत्रके आदि में जो उमास्वामीने मङ्गलाचरण किया है उस मङ्गलाचरणका हृदय बतानेके लिए आप्तपरीक्षा ग्रन्थ बनाया। इसे विवादकी निवृत्तिके लिए बनाया है। इसमें यश कीर्ति आदिककी कुछ भी भावना नहीं है। तो ऐसे शुद्ध भावसे की गई यह रचना अवश्य ही भव्य जीवोंके विवादको समाप्त करेगी और निर्विवादरूपसे सत्य आप्तके स्वरूप तक पहुंचकर अपने आत्माके स्वरूपका परिचय पाकर रत्नत्रयके पालन द्वारा मुक्तिमार्गके भव्य जीव प्राप्त करेंगे। समस्त ज्ञान, समस्त आचरण मोक्षमार्गका समस्त व्यवहार जिस एक मूल स्रोतसे उत्पन्न होता है, उसका जब तक सही परिचय न हो तब तक एक प्रकारका अपनी सब क्रियावोंमें, अनुरागतामें सन्देह बना रहेगा। अतएव उस मूल आधारके परिचयकी परम आवश्यकता है। वह मूल आधार है आप्त उस हीका वर्णन इस ग्रन्थमें किया गया है।

विद्यानन्द-हिमाचल-मुखपद्म-विनिर्गता सुगम्भीरा।
आप्तपरीक्षाटीका गङ्गावच्चिरतरं जयतु ॥ १ ॥

आप्तपरीक्षाटीकाका जयवाद—अब इस ग्रन्थसे अलग कुछ श्लोकोंमें

ग्रन्थसे सम्बन्धित बातोंपर प्रकाश डाला गया है। यह आप्तपरीक्षा टीका कितनी गम्भीर है और प्रमाणीक है, इसके लिए कहा गया है कि विद्यानन्दरूपी हिमाञ्चलके मुख सरोवरसे निकली हुई यह आप्तपरीक्षा टीका है। जैसे हिमाञ्चलके सरोवरमेंसे गङ्गा नदी निकली है और वह गम्भीर है, पवित्र है इसी प्रकार विद्यानन्द स्वामी तो हुए हिमाञ्चलकी तरह और उनका मुख हुआ सरोवरकी तरह। उनके मुखसे जो टीका उत्पन्न हुई है वह है गङ्गानदीके समान। ऐसी गङ्गानदीके समान यह टीका चिरकाल तक जयवन्त रहो। यह आप्त परीक्षा ग्रन्थ आप्तके स्वरूपका निर्णय करने के लिए लिखा गया है। इससे यह विदित हो जाता है कि गुणग्राही सज्जन पुरुषोंको हित करनेके लिए किस आप्तका आश्रय करना चाहिए। आप्तके स्वरूपका निर्णय कर लेनेसे वह अपने हित और अहितका निर्णय कर लेनेमें समर्थ हो सकता है। ऐसी यह आप्त परीक्षा टीका जो आप्तके स्वरूपको बतानेमे पूर्णतया समर्थ है, गङ्गानदीकी तरह चिरकाल तक जयवन्त रहे।

भास्वाद्भासिरदोषा कुमतमल-भ्रान्ति-भेदन-पटिष्ठा।
आप्तपरीक्षा लङ्कृतिराचन्द्रार्कं चिरं जयतु ॥ २ ॥

आप्तपरीक्षालंकृतिका आचन्द्रार्क जयवाद—यह आप्त परीक्षा नामकी संस्कृत टीका सूर्य और चन्द्रमाके समान निर्मल प्रकाश वाली है। निर्दोष है, मिथ्या मतरूपी अंधकारका नाश करनेमें समर्थ है। यह अलंकृति सूर्य और चन्द्रमा पर्यन्त है अर्थात् जब तक सूर्य और चन्द्रमा कायम रहे तब तक यह जयवन्त रहे। इस ग्रन्थमें जो मूल श्लोक हैं उनका नाम तो आप्त परीक्षा है और उसपर जो विशेष व्याख्यान किया गया है इसका नाम आप्त परीक्षा लकृति है। यद्यपि ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी हैं और टीकाकार भी ये ही हैं तो भी मूलग्रन्थ और टीका इनका भेद पानेके लिए दो नाम दिए गए हैं। यह एक और सुयोगकी बात हुई है कि जो ग्रन्थकार हुआ वही उसपर टीका करे तो उसका विवरण बहुत ही सुन्दर होता है।

स जयतु विद्यानन्दो रत्नत्रय-भूरि-भूषणः सततम्।
तत्त्वार्थार्णवतरणे सदुपायः प्रकटितो येन ॥ ३ ॥

आप्तपरीक्षा व आप्तपरीक्षालंकृति टीकाके प्रणेता पूज्य विद्यानन्दि

स्वामीका जयवाद—वे विद्यानन्द स्वामी चिरकाल तक जयवन्त रहे जो रत्नत्रययुक्त भूषण स्वरूप हैं और जिन्होंने तत्त्वार्थरूप समुद्रकी तरङ्गोंका उत्तम उपाय प्रकट किया है। यह तत्त्वार्थ शास्त्र समुद्रके समान है। उसमें अवगाहन करे और उसका भलि भांति पार प्राप्त करे, उसके लिए यह आप्त परीक्षा ग्रन्थ एक सम्यक् उपाय है, आलम्बन है। जो रत्नत्रयरूप बहुतसे भूषणोंसे दूषित है ऐसी टीकाके रचयिता विद्यानन्द स्वामी जयवन्त रहें। बहुत काल तक उनका प्रभाव बने और वचनोंकी मान्यता इस भूलोकपर प्रवर्तती रहे।